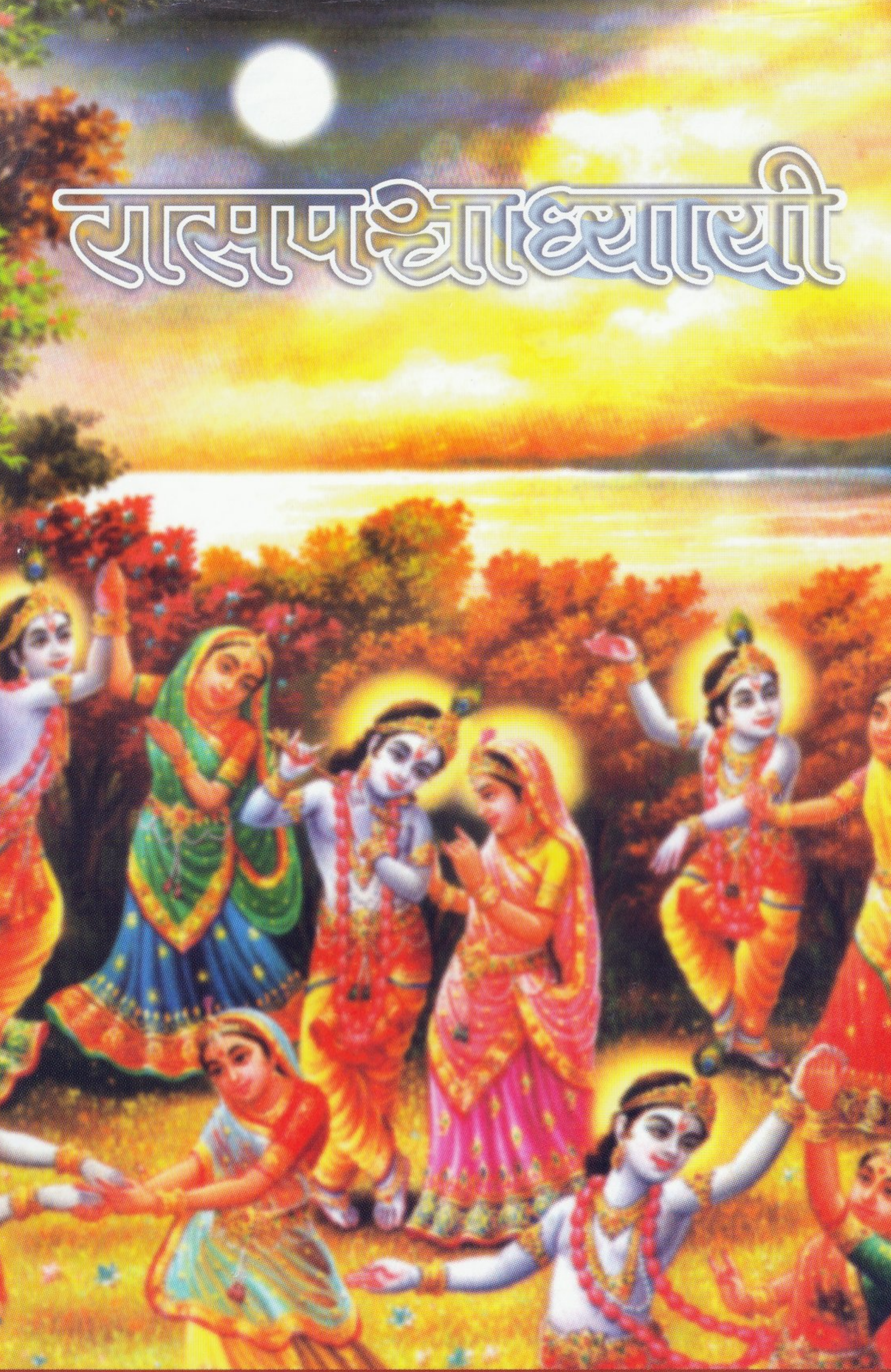
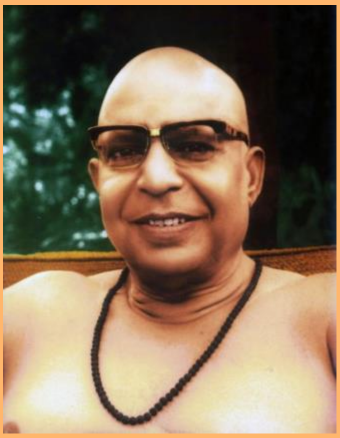
रासपञ्चाध्यायी



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती



महाराजश्री संक्षिप्त परिचय

पितामहकी प्रार्थनाकेठीक नौ मास पूर्ण होनेकेदिन ब्रजकेठाकुर श्रीशान्तनुबिहारीजीकी कृपासे भारतवर्षकेपवित्रतम वाराणसी मण्डलकेमहराई नामक ग्राममें, सरयूपारीण ब्राह्मण वंशमें महाराजश्रीका जन्म संवत् १९६८ श्रावणी अमावस्या तदनुसार शुक्रवार २५ जुलाई १९११ को पुष्य नक्षत्रमें हुआ था। श्रीठाकुरजीकी कृपासे प्राप्त होनेकेकारण बालकका नाम 'शान्तनुविहारी' रखा गया।

बड़े-बड़े ज्योतिषशास्त्रियोंने महाराजश्री की उम्र १९ वर्ष ठहराई। मृत्युका भय महाराजश्रीको आध्यात्मके मार्गकी ओर ले आया। सभी संत महापुरुषोंने स्पष्ट कहा कि प्रारब्धसे प्राप्त मृत्युसे बचनेका उपाय तो हम नहीं कर सकते; किन्तु ऐसा ज्ञान दे सकते हैं जिससे मृत्युकी विभीषिका सर्वदाके लिए मिटा जाये। वस्तुतः ऐसा ही हुआ। महाराजश्रीके अन्तःकरणमें अमृतब्रह्मका आविर्भाव हुआ और मृत्युकी काली छाया सर्वदाके लिए दूर भाग गयी।

एक बार महाराजश्री प्रयागमें झूसीके सुप्रसिद्ध ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीसे मिलने गये थे। वहीं पहली बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके दर्शन हुए थे और उनके साथ वेदान्त सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर हुए। बाबाकी अद्वय-निष्ठा और जीवनमुक्तिके विलक्षण सुखकी मस्ती देखकर महाराजश्री मंत्रमुग्ध हो गये। बाबाका स्नेह और वात्सल्य उन्हें प्राप्त हुआ। महाराजश्रीके संन्यास ग्रहण करनेमें बाबाकी ही अन्तरंग प्रेरणा थी और ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य स्वामी श्री ब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। संन्याससे पूर्व गोरखपुरमें' कल्याण के सम्पादक मण्डलमें महाराज श्री सात वर्ष तक रहे।

सर्वप्रथम दस वर्षकी वयमें इनके पितामहने इनसे श्रीमद्भागवतका पाठ कराया और तबसे लीला संवरण पर्यन्त श्रीमद्भागवत एक सुहृदके समान उनका साथी रहा। उनका नित्यका सत्संग भी निजानन्दकी मस्ती थी, जो १७ नवम्बर १९८७ की सायं सत्संग सभा तक अनवरत चलता रहा। आज भी सत्संग प्रेमी ऑडियो-वीडियो कैसेटों एवं ग्रन्थोंके माध्यमसे उनकी अमृतवाणीका आनन्द लूटते रहते हैं।

१९ नवम्बर, १९८७ मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, प्रातः दो बजेके करीब अर्थात् ब्रह्मबेलामें व्यष्टि-प्राण समष्टि प्राणसे एक हो, सर्वव्यापक हो गये।

महाराजश्रीके जीवनमें प्रत्यक्ष दीखता था कि चाहे कोई किसी भी सम्प्रदायका हो, मूर्ख हो या विद्वान, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, निर्धन हो या धनी, सबके प्रति आपका समान प्रेम था। जो व्यक्ति जिस कामनासे उनके पास आया, उसे वह मिला। चारों पुरुषार्थ एवं पञ्चम पुरुषार्थ भक्तिको वे अन्त तक लुटाते रहे।

महाराजश्री द्वारा स्थापित 'आनन्द-वृन्दावन आश्रम' श्री वृन्दावन धाममें तीर्थराज प्रयाग सदृश है, जहाँ कर्म, भक्ति और ज्ञानका संगम है। आश्रममें सत्संग, श्रीठाकुर-सेवा, गौ-सेवा, संत सेवा, वेद-विद्यालयमें शास्त्रोंका स्वाध्याय, निःशुल्क दवाखाना आदि विभिन्न गतिविधियोंके साथ-साथ महाराजश्रीके द्वारा शुरु की गयी सभी आचार्योंकी जयन्ती मनानेकी प्रथा सांस्कृतिक समन्वयकी दृष्टिसे अविस्मरणीय गी। यह महाराज श्रीके उदार दृष्टिकोणका उत्तम उदाहरण है।

श्रीमद्भागवतान्तर्गत दशमस्कन्धमें वर्णित

श्रीरासपञ्चाध्यायी-प्रवचन

प्रवचनकार :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

अनुलेखन :

डॉ० (श्रीमती) सुशीला मीतल

सम्पादन :

"श्रीविष्णु"

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 19 नवम्बर '96
द्वितीय संस्करण : 14 फरवरी '99 शिवरात्रि
तृतीय संस्करण 17 जुलाई '04 आनन्द जयन्ती
चतुर्थ संस्करण : 26 जनवरी '10 संन्यास जयन्ती
पंचम संस्करण 1100
शिवरात्रि, 2015

●

●

मूल्य : रु. 150/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

रासपञ्चाध्यायी-प्रवचन

नम्र-निवेदन

प्रिय पाठकवृन्द!

लीजिये, हमारे परमपूज्य महाराजश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजकी पावन, गम्भीर एवं रसनिर्झरिणी वाणीका एक और कृपा-प्रसाद आपके सम्मुख प्रस्तुत है; और यह है श्रीरासपञ्चाध्यायी-प्रवचन। श्रीमद्भागवतके विद्वान् मनीषीगण, रसिक सन्तजन एवं प्रेमी भक्तोंकी ऐसी मान्यता है कि रसकी दृष्टिसे श्रीमद्भागवतका सारसर्वस्व है दशमस्कन्ध, दशमस्कन्धमें भी उसका पूर्वार्ध (प्रथम ४९ अध्याय), और पूर्वार्धमें भी रासपञ्चाध्यायीके पाँच अध्याय (२९वें अध्यायसे ३३वें अध्यायतक)। शरीरमें जो महत्त्व पञ्चप्राणोंका है वही प्रेम-शास्त्रमें रासपञ्चाध्यायी - प्रकरणका है। श्रीवृन्दावन-धामकी रस-साधनामें तो रासपञ्चाध्यायीका अद्वितीय स्थान है।

सामान्य भाषामें रासपञ्चाध्यायी-प्रकरणको रासलीला-प्रकरण बोलते हैं। इतना भावमय इसका प्रसङ्ग है कि इसकी कथा कहने और सुननेमें तथा रासमण्डलियों द्वारा प्रस्तुत इसका मञ्चन देखनेमें श्रोता, वक्ता और दर्शकगण प्रेमविह्वल हो जाते हैं। मनुष्यमें जिस ईश्वरीय दिव्य प्रेमकी प्यास अभीतक गुप्त-सुप्त है वह रास-प्रकरणसे जाग्रत हो जाती है और उस प्यासकी मूर्तियाँ जो व्रज गोपिका हैं उनके साथ उनका तादात्म्य होकर प्रेमरससे उनका हृदय सरोबार हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण उनके और हमारे प्रेष्ठ हैं; वे जीवकी प्रेम-पिपासाकी मूर्तिमान् तृप्ति हैं। परन्तु वे ऐसी तृप्ति हैं जो प्यासको अधिकाधिक बढ़ाती रहती है। प्यासेको इस प्रकार तृप्तातृप्त रखनेमें ही शायद हमारे प्यारे श्यामसुन्दरको आनन्द आता है, और

गोपी-जनोंके प्रेमकी विधा यही है कि वे अपने प्यारेके आनन्दमें ही आनन्दित रहती हैं!

एक ओर जहाँ ऐसे दिव्य प्रेम-रसका आस्वादन रसिकजन रासपञ्चाध्यायी-प्रकरणके श्रवण-मननसे करते हैं, दूसरी ओर घोर संसारी मनुष्य रास-प्रकरणको लेकर अनेक अवाञ्छनीय टीका-टिप्पणी भी करते हैं। रसस्वरूप श्रीकृष्ण और उनकी अङ्गभूता व्रजसुन्दरियोंमें सांसारिक कामकी कलुषित छायाका दर्शन करते हैं। यद्यपि ऐसे लोगोंकी बीमार मानसिकताका कोई इलाज नहीं है, तथापि छूतके रोगकी तरह जब उनको कुत्सित विचारोंकी छाया प्रेमरसके साधकोंपर पड़ जाती है, तो वे भी अपने साधन-पथसे डगमगाने लगते हैं। ऐसे समय उनको आवश्यकता होती है एक ऐसे सम्बलकी जो उनकी गिरनेसे बचा ले और प्रेम-पथको स्निग्ध एवं प्रशस्त कर दे। प्रेम-मार्गका साधक बहुत कोमल हृदयका एवं ऋजु बुद्धिका होता है। अतः एक ओर तो उसे संसारी-विचारधारा के लोगोंसे बचना होता है और दूसरी ओर रसविज्ञानके मर्मसे अनभिज्ञ शुष्क तार्किकों और वेदान्तियोंसे भी अपनी साधननिष्ठाका बचाव करना होता है।

जो लोग परमपूज्य महाराजश्रीके व्यक्तित्वसे परिचित हैं वे जानते हैं कि वे श्रीमद्भागवतके न केवल अद्वितीय विद्वान् थे, अपितु वेदान्त-शास्त्रके मर्मस्पर्शी अनुभवी व्याख्याता भी थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णका अपने इन्हीं नेत्रोंसे प्रत्यक्ष दर्शन किया था, उनसे वार्तालाप किया था, और श्रीधाम वृन्दावनमें उनकी अनेक दिव्य लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन भी किया था। उनका हृदय कृष्णमय था और उनकी वाणी उनकी मधुर लीलाओंके कथनमें कभी थकती नहीं थी। अन्ततः तो श्रीकृष्णने और उनके वृन्दावनने उनको अपनेसे एक ही कर लिया और वे उनसे एक हो गये! ऐसे महापुरुषके द्वारा जब गोपी-प्रेमके मूर्धन्य प्रकरण—रासपञ्चाध्यायी-प्रकरणका विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है तो कहना न होगा कि वह विश्लेषण प्रेम-पथके साधकको दोनों विघ्नोंसे—सांसारिकतासे और तर्कवादसे, बचाता हुआ अपने साथ उस मञ्जिलतक ले चलता है जिसका नाम कृष्ण-प्रेम है, जिसकी चरमानुभूति गोपी-कृष्णके रास-रसमें होती है।

यों तो श्रीमद्भागवतके सभी विद्वान् टीकाकारोंने रासपञ्चाध्यायी-प्रकरणपर टीकायें लिखी हैं, और अलग-अलग दृष्टिकोणोंसे लिखी हैं, तथापि सभी टीकायें समानरूपसे रस-निष्पत्ति नहीं करतीं। व्याकरणकी बारीकियोंसे अनेक अर्थ विद्वानोंने निकाले हैं परन्तु रस-निष्पत्तिकी दिशामें उनका मूल्याङ्कन जरूरी है। पारिभाषिक शब्दोंके बोझसे भी रस आवृत हो जाता है। सम्प्रदायोंके आग्रह भी रसार्णवको

सीमाबद्ध कर देते हैं। हमारे महाराजश्रीने प्रायः सभी उपलब्ध टीकाओंका विमर्श किया था और उनके सार-सर्वस्वको आत्मसात् किया था। तदनन्तर उसको अपने अनुभवकी चासनीसे मधुर बनाकर इन प्रवचनोंके माध्यमसे प्रेमी-श्रोताओंतक उनकी दैनिक बोल-चालकी भाषामें सम्प्रेषित किया। भले ही भाषा के विद्वानोंको यह सरल सुबोध रास-रस-निर्झररूप अभिव्यक्ति न रुचे, परन्तु भाव, अर्थ और रसतत्त्वके मधुप इन प्रवचनोंके मकरन्दसे अवश्य तृप्तिलाभ करेंगे। इन प्रवचनोंमें उन सभी टीका-टिप्पणियोंका सार संगृहीत है जो श्रीकृष्ण-प्रेमकी निष्पत्तिमें सहायक हैं।

प्रत्येक प्रवचनके प्रारम्भमें महाराजश्रीका यह प्रयत्न द्रष्टव्य है कि वह श्रोताओंको इस अर्थ-भोग-प्रधान भूमिकासे ऊपर उठाकर धर्म और मोक्ष-सुखसे भी अतीत श्रीकृष्णके दिव्य धाम वृन्दावन तथा उनके दिव्य प्रेमकी भूमिकामें प्रतिष्ठित करते हैं, उसके बाद ही वह प्रस्तुत श्लोकके अर्थमें प्रविष्ट करते हैं। इससे श्लोकके लक्ष्यार्थमें प्रवेश करनेमें सहायता तो मिलती ही है, साथ ही श्रोता सांसारिक वासनापूरति अर्थोंमें अनर्थोंसे भी बच जाता है। प्रवचनोंमें जहाँ सम्भव हो सका है वहाँ प्रेम-सिद्धान्तको वेदान्त-सिद्धान्तसे अविरोधी सिद्ध करनेका प्रयास भी महाराजश्रीने किया है; परन्तु जहाँ समन्वय नहीं है वहाँ दोनों सिद्धान्तोंके दृष्टिकोणको उन्होंने अलग-अलग समझा दिया है जिससे परस्पर विरोध न हो। परन्तु सर्वत्र प्रकरण-प्राप्त रसका भङ्ग नहीं होने दिया गया है। महाराजश्रीके प्रवचनोंकी यह सर्वविदित विशेषता है कि वे कठिन-से-कठिन सिद्धान्तको श्रोताओंके दैनिक जीवनके अनुभवों, पौराणिक कथाओं और सामान्य ज्ञानकी बातोंके द्वारा अत्यन्त सरल रीतिसे समझा देते हैं। महाराजश्रीकी प्रवचन-शैली, उन्हींके शब्दोंमें, हनुमद्-शैली है। इसलिए श्लोक पर विचार करते समय वे पिछले शब्द, पद और श्लोक नये ढंगसे पुनः पुनः विचार करने लग जाते हैं। इससे कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी हो जाती है। परन्तु विषयके गांभीर्य और प्रवाहको बनाये रखनेमें वह सहायक भी होती है जैसे कि नदीका प्रवाह भँवर खाकर फिर और अधिक प्रवाह और गम्भीरतासे आगे बढ़ता है।

महाराजश्रीने ये प्रवचन बम्बईमें किये थे। पाँचअध्यायोंमें-से केवल एक (उन्तीसवें) अध्याय पर ही प्रवचन हो पाये। इस उन्तीसवें अध्यायके प्रत्येक श्लोक पर प्रवचन है, जैसा कि विषय-सूचीसे स्पष्ट है। प्रत्येक प्रवचनके शीर्षकमें तथा प्रारम्भमें वह श्लोक दे दिया गया है जिस पर उस प्रवचनमें विचार है। अन्तिम तीन श्लोकोंके विचारमें महाराजश्रीने पूरी रासपंचाध्यायी पर विचार प्रकट किये

हैं। अतः इन श्लोकोंके प्रत्येक शब्दके स्थान पर पूरे श्लोकके भाव पर ही प्रवचन हैं। इस प्रकार यद्यपि शब्दशः केवल उन्तीसवें अध्याय पर ही प्रवचन है तथापि इनके माध्यमसे पूरी रासपंचाध्यायीके मर्मका प्रकाशन कर दिया गया है।

रासपंचाध्यायीके उन्तीसवें अध्यायमें गोपियोंका प्रणय-गीत है जो इक्तीसवें श्लोकसे इक्तालीसवें श्लोक तक है। इन श्लोकोंका पूरा प्रवचन यहाँ दिया गया है। इक्तीसवें अध्यायमें गोपी-गीत है जिस पर महाराजश्रीके प्रवचन अलगसे 'गोपी-गीत' नामक ग्रन्थमें पहलेसे ही प्रकाशित हैं।

रासपंचाध्यायी पर ये प्रवचन उसी समय टेप कर लिये गये थे। बादमें टेपसे सुनकर उनका अनुलेखन मुम्बईकी **डॉ० श्रीमती सुशीला मीतल** एवं उनके सहयोगी **डॉ० सुरेन्द्र कुमार त्रिपाठी** (चित्रकूट) द्वारा सम्पन्न हुआ। अनुलेखनमें संस्कृतके श्लोकोंकी अशुद्धियाँ थीं; उनमें-से बीच प्रवचनोंकी अशुद्धियाँ आदरणीय ब्रह्मचारी **श्रीगिरीशानन्द**, वृन्दावनने शुद्ध की थीं। एतदर्थ हम उनके आभरी हैं। इतने बृहद् कलेवरके ग्रन्थके अनुलेखनमें उनका परिश्रम श्लाघनीय है। एतदर्थ हम उनके आभारी हैं। इस ग्रन्थके मुद्रणमें सर्वाधिक श्रम **पं० विश्वम्भरनाथ द्विवेदी**को करना पड़ा। लिपि-दोष, वर्तनी एवं शब्द, वाक्य-शुद्धिमें अधिक समय लगा। प्रेसके अक्षर-संयोजन-मुद्रणमें चि० **सोमदत्त** व **शिवदत्त द्विवेदी**का योगदान प्रशंसनीय रहा। महन्त **श्री ओंकारानन्द सरस्वतीजी (महन्तजी)** व सभी सहयोगियोंको को स्नेह सहित शुभाशीष!

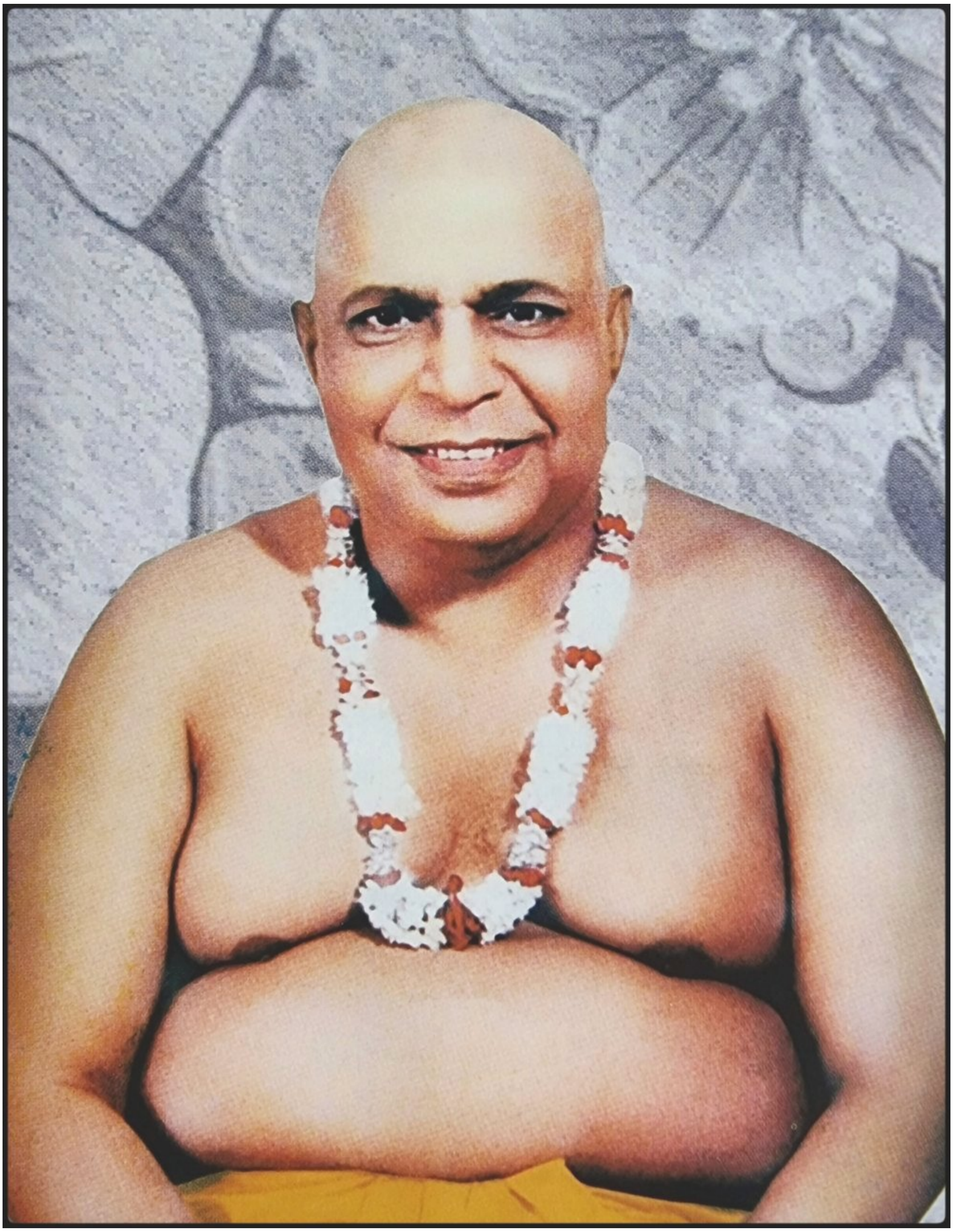
आशा है आप सभी पाठकवृन्द ग्रन्थके माध्यमसे कृष्ण-रसका आस्वादन कर सकेंगे।

आराधन-दिवस
श्रीवृन्दाधाम
दिनांक : १९ नवम्बर १९९६

श्रीगुरुचरणकमलाश्रित
'विष्णु'
(सम्पादक)

रासपंचाध्यायी-प्रवचन

विषय-सूची



स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती

उपक्रम

मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः।
कारं कारं करणविवशन् गोकुलं व्याकुलत्वम्॥

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.१)

अब श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें रास-पञ्चाध्यायीका प्रसंग आपको सुनाते हैं। ऐसा मानते हैं कि ये भागवतके बारह स्कन्ध भगवान्‌के बारह अंग हैं। उनमें-से दशम-स्कन्ध भगवान्‌का हृदय है और हृदयमें जैसे सञ्चारी प्राण होते हैं वैसे ही पाँच प्राणके समान रास-पञ्चाध्यायीके ये पाँच अध्याय हैं। जिस समय हम रास-पञ्चाध्यायीके साथ अपने मन, अपने कान, अपने शरीरका सम्बन्ध जोड़ते हैं—माने कानसे रास-पञ्चाध्यायी सुनते हैं, शरीरको रास-पञ्चाध्यायीमें बैठाते हैं, मनसे रास-पञ्चाध्यायीका चिन्तन करते हैं—उस समय हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के प्राणोंके साथ हो जाता है; उनके श्वासके साथ हमारा सम्बन्ध हो जाता है। जिसके मनमें यह लालसा होवे कि हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ बने, उसके लिए उसमें दो पहलू हैं—एक तो संसारमें अरुचि होवे और दूसरे भगवान्‌में रुचि होवे जिसकी रुचि धनमें, भोगमें, कुटुम्ब-सम्बन्धमें ज्यादा है और दुनियाका काम करनेमें ज्यादा है, उसकी भगवान्‌में ज्यादा रुचि नहीं होती। भक्तोंका तो यहाँतक कहना है कि जिसकी रुचि मोक्षमें होती है, उसकी रुचि भी भगवत्-लीलामें, कथामें ज्यादा नहीं होती है। यह जो भगवत्-लीला-कथा है, यह दो तरहसे मनुष्यका कल्याण करती है; एक तो जो संसारमें फँसकर दुःख भोग रहे हैं उनको उधरसे छुड़ाती है; और दूसरे भगवद्-रसका दान करती है।

कल या परसों वृन्दावनसे एक चिट्ठी आयी थी; वहाँके एक विद्वान्‌की चिट्ठी थी। उसमें एक शब्द लिखा था—'श्रीभगवत् भागवत-रतिपरायण' माने भगवद्रतिपरायण, भागवत-रतिपरायण; अर्थात् जिसका भगवान्‌में और भगवान्‌के भक्तोंमें प्रेम है और उसी प्रेममें लवलीन है, परायण भी है। देखो, संसारमें जितने भी मनुष्य होते हैं, मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी, देवता-दानव भी, प्राणिमात्र,

सबको रस चाहिए। सबको स्वाद चाहिए। मजा न मिले तो मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं होती। थोड़े दिनोंतक खींच-खाँचकर जोर-जबरदस्तीसे कहीं लगे भी तो रसके बिना निष्ठा नहीं होती। 'यदा श्रद्दधाति निष्तिष्ठाति।' छान्दोग्योपनिषद्में यह प्रसंग आया कि जब मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा होती है, तब उसमें निष्ठा होती है। मनुष्यके हृदयमे जब लालसा होती है तब प्रयत्न होता है। जिस वस्तुकी प्राप्तिकी लालसा होती है उसके लिए प्रयत्न होता है, जिसमें श्रद्धा होती है उसमें निष्ठा होती है और जहाँ रस मिलता है उसको पानेकी लालसा होती है। हमारे महात्मा लोगोंको यह मालूम था कि संसारके जीव संसारमें क्यों लगे हैं? किसीको धनमें रस आता है, किसीको कुटुम्बमें रस आता है, किसीको भोगमें रस आता है, किसीको काला धन्धा करनेमें रस आता है; भगवान्‌में तो ये लोग लगते ही नहीं है। इसका मतलब यह है कि भगवद्-रसका आस्वादन इनको नहीं होता—

राम कहनेका मजा जिसकी जबाँपर आ गया।
मुक्त जीवन हो गया, चारों पदारथ पा गया॥

भगवान्‌का भजन करनेमें क्या मजा है, भगवान्‌का स्मरण करनेमें क्या रस-मजा है, भगवद्भक्तिमें, भगवत्-प्रेममें क्या मजा है, यह बात मालूम होनी चाहिए।

श्रीमद्भागवतपर एक टीका है। वह टीका मध्वाचार्यसे पहलेकी है। माने बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीमें मध्वाचार्य हुए और उन्होंने भागवतपर 'भागवत-तात्पर्य-निर्णयः' नामक ग्रन्थ लिखा है; उसमें उस भाष्यकी चर्चा की है। उसका नाम है 'वासना भाष्य'। बड़े प्रसिद्ध आचार्यकी रचना है। 'वासना भाष्य'का अर्थ है कि जैसे तुम्हारे मनमें धनकी वासना है, स्त्री-पुरुषकी वासना है, भोगकी वासना है, इसी तरह चित्तमें भगवान्‌की वासना उत्पन्न करो। भगवान्‌की यह वासना अपने चित्तमें कैसे आयेगी? कुछ वासना तो अपने चित्तमें उदय होती है, देख-देखकर और कुछ उदय होती है सुन-सुनकर। यह श्रवणके द्वारा भगवद् वासनाको अपने हृदयमें भरना है। भगवान् कानके रास्ते हृदयमें जाना पसन्द करते हैं। श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आया है—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

'कर्णरन्ध्रः' माने कानका छेद। जैसे—चोर किसीकी दीवारमें रन्ध्र बना दें, सेंध खोद दें. उसमें जाने-आने का रास्ता बना दें, वैसे कानका एक रास्ता है। तो भगवान् मनुष्यके हृदयमें इसी रास्तेसे प्रवेश करते हैं। जैसे कोई मित्र किसीसे

मिलने जाये और दरवाजा भीतरसे बन्द होवे, तो मित्रने पहले तो पुकारा—भाई! दरवाजा खोल दो, फिर किवाड़ी खट-खटायी, फिर घण्टी बजायी—भीतरसे कोई जवाब नहीं आता है और दरवाजा भीतरसे बन्द है। उसके मनमें आया कि हमारा मित्र तो ऐसा नहीं था कि हमारी आवाज सुनकर दरवाजा न खोले, हो-न-हो वह घरके भीतर किसी विपत्तिमें पड़ा है, कैसे भी हो उसके पास पहुँचना चाहिए। इधर-उधर देखा कि एक खिड़की खुली हुई थी। चढ़ गया, देखा तो उसका मित्र बेहोश पड़ा था। अब उसी खिड़कीसे उसने अन्दर जाकर सफाई की, उसके ऊपर पानी डाला, दवा-दारू की, उसको होशमें लाया और जब वह होशमें आ गया तो उसने भी देखा कि हमारा मित्र घर आया है, बड़े प्रेमसे दोनों मिल गये, बातचीत करने लगे।

इसका दार्ष्टान्तिक यह है कि यह जो जीव है वह अपने हृदयके घरमें मूर्च्छित हो गया है, बन्द हो गया है। भगवान्की मूर्तियाँ सामनेसे निकलती हैं, भगवान्का नाम भी कभी जिह्वासे निकलता है, लेकिन यह भीतरसे जागता नहीं है; तब भगवान् कानके रास्ते इसके हृदयमें प्रवेश करते हैं। और शब्दमें ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि सोते हुएको जगाते हैं, जगाकर होशमें लाते हैं, उसको पानी पिलाते हैं, उसको खिलाते हैं, उससे बातें करते हैं, हँसाते हैं, उससे बोलते हैं। देखो—तुम्हारा जीव कहीं सो तो नहीं गया? वह पैसेमें सो गया, ईश्वरको भूल गया। वह भोगमें सो गया, ईश्वरको भूल गया। वह कुटुम्बमें सो गया, ईश्वरको भूल गया। अपने मालिकको भूलकर मूर्च्छित पड़ा है। उस मूर्च्छित दशासे जगाकर ईश्वरकी ओर ले चलनेवाली यदि कोई चीज है तो इसीका नाम श्रवण है, भगवत्-कथा श्रवण—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्ण सलिलस्य यथा शरत्॥

भगवान् कानके छिद्रसे प्रवेश करके हृदयमें, भाव (कमल) सरोरुहपर आते हैं और वहाँ आकर पहले जो दिलकी गन्दगी है उसको दूर करते हैं—

धुनोति शमलं कृष्णः।

गन्दगी दूर करनेपर याद आयी अपने साथके एक तीर्थयात्रीकी। ऐसा बढ़िया तीर्थयात्री हमको दूसरा नहीं मिला। तीर्थ-यात्रामें जब हमलोग कहीं जाते थे तो नौकरोंको तो वे भेज देते थे बाजारसे सौदा खरीदनेके लिए कि तुम सब्जी ले आओ, तुम रसोई बनानेका बन्दोबस्त करो, तुम कोयला ले आओ और स्वयं जो

मालिक थे वे धर्मशालामें झाड़ू लगाकर उसका बरामदा, उसका कमरा साफ करके, धोकर बिलकुल स्वच्छ कर देते थे। उनके साथ हम एक दिन, दो दिन धर्मशालामें रहते और जब चलने लगते तो नौकर तो सामान चढ़ाते ताँगेपर, मोटरपर जहाँ जैसा प्रसङ्ग होता, और वह अपने हाथसे बरामदेको धोकर, झाड़ू लगाकर, स्वच्छ करके तब वहाँसे निकलते। पूछते भाई! अब तो—यहाँसे निकल रहे हैं, हाँ फिरसे सफाईकी क्या जरूरत है? तो कहते—'हमारे बाद जो इसमें रहने आयेगा, उसको भी तो सफाई चाहिए। वह गन्दा देखेगा तो कहेगा कि पहलेका यात्री बड़ा गन्दा था। कैसी गन्दगी छोड़कर गया है।'

तो नारायण! जिनकी स्वच्छतामें प्रीति होती है वे जहाँ जाते हैं वस्तुको और स्वच्छ बनाते हैं। भगवान्‌का अभ्यास भी क्षीरसागरमें रहनेका है, कमलपर रहनेका है, उनके सामने बन-ठनकर साज-श्रृंगार करके लक्ष्मीजी रहती हैं, वे उनके पांव दबाती हैं। भगवान्‌को मृदुलतामें, कोमलतामें रहनेका अभ्यास है। जब वे जीवके हृदयमें आते हैं तो देखते हैं कि यहाँ तो गन्दगी है। गन्दगी क्या है? ये जो तरह-तरहकी इच्छाएँ हैं, यही गन्दगी है, जो तरह-तरहकी वासनाएँ हैं हृदयमें, यही गन्दगी है। यह गन्दगी दूर कैसे हो? तो भगवान् अपने प्रति वासना उत्पन्न करते हैं! आस्तिक होना—शाम-सुबह भगवान्‌को हाथ जोड़ लेना, नाम ले लेना, यह दूसरी बात है और भगवान्‌के संयोगमें रस लेना तथा भगवान्‌के वियोगमें दुःखी होना, यह दूसरी बात है। यह कथा मैं ब्रह्मके लिए नहीं कह रहा हूँ। ब्रह्म-ज्ञानीके लिए यह कथा नहीं है, यह कथा जो मनुष्य हैं, जो सहृदय हैं, जो संसारकी वासनाओंसे पीड़ित हैं, जो अपने हृदयको स्वच्छ और निर्मल बनाना चाहते हैं, एक भगवान्‌को अपने हृदयमें बसाकर बाकी सब कूड़ा-कचरा निकालकर फेंकना चाहते हैं उनके लिए यह श्रीमद्‌भागवत है। हृदयको शुद्ध करनेवाला और हमारी आँखमें भगवान्‌को भरनेवाला यह श्रीमद्‌भागवत है।

हमारे गाँवमें कहावत है—'छिगुनी पकड़के पहुँचा पकड़ लिया'। पहले तो उँगली छुई और बादमें हाथ ही पकड़ लिया! यह भगवान् श्रीकृष्ण, यह ग्वाला, इसकी पकड़ बड़ी जबरदस्त होती है! एकबार पकड़ ले तो छोड़े नहीं! एक गोपी बोलती है—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरम्।
प्रेमोन्मादपरम्परामुपनय त्यज्यास्य वंशीकलः॥

कोई सखी यमुनाजी जा रही थी। एक ग्वाला उधरसे दौड़ता हुआ आया और बोला—'कृष्ण, कृष्ण, कन्हैया, कन्हैया'। बस बावरी हो गयी, घर भूल गया—

कृष्ण नाम जब ते श्रवन सुन्यौरी आली।
भूलीरी भवन हौं तो बावरी भई री॥

आगे बढ़ी तो एक ओरसे आवाज आयी। अब तो बस प्रमोन्मादिनी हो गयी! इतना मधुर नाम, इतना मीठा नाम—'कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण, कन्हैया! टेढ़ा है यह, अंकुशाकार है—'कृष्ण' में जो 'कृ' है, उसमें अंकुश है। जैसे—किसीके कलेजेमें कोई टेढ़ी चीज गड़ा दी जाये और फिर खींचो तो वह कलेजा ही खींचकर निकले; ऐसे ही यह कृष्ण नाम है। जिसके कलेजेमें गड़ जाता है, उसे वहीं पड़े रहने दो तब-तक तो ठीक है; परन्तु यदि निकालनेकी कोशिश करोगे तो कलेजा ही खींचकर ले जायेगा। 'कृ'में अंकुश है; कृष्ण नाम—यह जबरजस्ती खींचकर अपनेमें जोड़ता है। कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण!

मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानाम्।
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्॥

मधुरसे मधुर—'मधुरादपि मधुरं', मीठे-से-मीठा, और मङ्गलादपि मङ्गलम्' मङ्गलसे भी मङ्गल—यह है भगवान्‌का नाम! यह नाम कानमें पड़े तो भी ठीक था मगर यह तो आँखको भी खींच लेता है। आँखको खींचेगा तो नाकको भी खींच लेगा! नाकको खींचेगा तो जीभको भी खींच लेगा! और जब आँख-कान-नाक-जीभ खिंच जायेंगी तो त्वचाको भी खींच लेगा और यह दिल-दिमागको भी खींच लेगा। इसीलिए कृष्णको कृष्ण कहते हैं क्योंकि यह 'कर्षति आकर्षति'—यह लोगोंके दिल-दिमागको खींच लेता है। जहाँ ब्रह्म बिचारा भोला-भाला अपनी जगहपर रहता है, कोई उसके पास जाये तो मिले, न जाये तो मिले क्योंकि ब्रह्म तो अवधूत है—'ब्रह्म अवधूतवत्'! वहीं यह श्रीकृष्ण अवधूतवत् नहीं हैं। पंढरीनाथकी बात आपने सुनी होगी—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्याः किशोरकः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

अरे! ओ बटोहियो! 'मायात पान्थाः पथि भीमरथ्याः'—भीमानदीके तट पर मत जाना! क्यों? क्योंकि वहाँ एक नौजवान रहता है 'किशोरकः।' अच्छा, हुलिया बता दो पूरी उसकी? कहा—तमाल वृक्षके समान काला है। काले रंगका है, किशोर है। देखो उसका जादू किसीको छूता नहीं, छेड़ता नहीं, बोलता नहीं। हाथ कमरपर रखे है और इतना धूर्त है कि उसकी छठीमें ही धूर्तता डाल दी हैं यशोदा मैयाने। एक जगह खड़े-खड़े ही लोगोंके दिलका जो धन है चित्तवित्त, हृदयकी जो पूँजी, उसको छीन लेता है।

मत जाना उधर, मत जाना।

कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण—पहले यह नाम सुना उस गोपीने; फिर आगे बढ़ी तो वंशी ध्वनि सुनायी पड़ी। यह वंशीध्वनि—तो महाराज! 'ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्यभिन्दन्, सनकादि जैसे परमहंसोंका ध्यान तोड़ दे! बोले—जब वंशीध्वनि आयी तो हम समाधि लगा रहे थे। फिर तोड़ क्यों दी? समाधिका आनन्द लेते! बोले— हमने थोड़े ही तोड़ा, इस वंशीध्वनिने आकर तोड़ा। अच्छा, तो फिर लगा लो! बोले—लगानेकी क्या जरूरत है? समाधि तो इसलिए लगायी जाती है कि रस आये, जब बिना समाधिके, खुली आँख, खुले कानसे वही मजा आ रहा है जो समाधिमें आता है, बल्कि उससे भी ज्यादा मजा आ रहा है, तब आँख बन्द करनेकी जरूरत क्या? कानमें ठेपी क्यों ठूँसे? मनको निर्वृत्तिक, निर्विषय क्यों बनायें? जब सविषय मनमें, सवृत्तिक मनमें, खुली आँखोंमें-खुले कानमें, खुले दिलमें वही मजा आ रहा है, तो बन्द करनेकी जरूरत क्या? '

फिर गोपीके कानमें पड़ा 'कृष्ण'! जिसको हृदय दिया वही वह वंशीवाला, यह साँवरा! इस ध्वनिसे—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन् सुधामधुरिमाणम्।

जो बड़े धैर्यवान् थे उनका हृदय चञ्चल हो गया। उन्होंने कहा—कृष्णका नहीं, अब 'काम' का राज्य होगा। दुनियामें सबके हृदयमें 'काम' होगा, अर्थात् अब सबके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति वासना होगी। क्योंकि— वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदस्य'—कंस निषूदनकी वंशीध्वनि सुन लिया।

वंशीध्वनिका बड़ा वर्णन आता है। ऐसा-ऐसा वर्णन आता है कि शेषजी जब वंशीध्वनि सुनते हैं तो झूमने लगते हैं। ब्रह्माजीके हाथसे जीव और जीवोंका शरीर गिर जाता है=सृष्टि बनाना भूल जाते हैं। देवता लोग स्वर्ग छोड़कर वृन्दावन चले आते हैं। वृक्षोंसे मधुधाराका क्षरण होने लगता है। नदियोंकी गति रुक जाती है। यह वंशीध्वनि कानमें पड़ी तो लगता है कि यह वंशीवाला श्याम, हमारा श्याम है, इतना सुख और कहीं नहीं है! चलो रिश्ता जोड़ेंगे तो इसीके साथ, दिल जोड़ेंगे तो इसीके साथ, मरेंगे तो इसीके साथ, जियेंगे तो इसीके लिए, सारा जीवन इसीके लिए।

वह गोपी—श्रीमतीजी घर लौटीं पर बिना पानी लिये! बिना यमुना-जल लिये ही आ गयीं और तान दुपट्टा सो गयीं। हाय! हाय! यह क्या हुआ? चित्रलेखा सखी एक तस्वीर लेकर आयी और बोली—सखी! आज मैंने एक चित्र बनाया है, देखो तो जरा! 'अरे राम राम इतना सुन्दर!'—

शिशिरयदृशौ द्रष्टा दिव्यं किशोरमितीक्षितः।

अरी! तूने तो कहा—इसके देखनेसे तेरी आँखें ठण्ठी हो जायेंगी, यहाँ तो इसके देखनेसे हमारे हृदयमें बड़वानल प्रज्वलित हो गया। आग लग गयी दिलमें! क्या यही ठण्ठा होना है? 'तो अब क्या करना है? बोली'—अब मरना है! मैं सती साध्वी, भले घरकी बहू-बेटी। एकका नाम सुना कृष्ण-कृष्ण तो उसपर लट्टू हो गयी? एककी वंशीध्वनि सुनी तो उसपर लट्टू हो गयी। एककी तस्वीर देखी तो उसपर लट्टू हो गयी। यह हमारा दिल क्या एक मुसाफिरखाना हो गया है?

एकस्याः पुरुषत्रये रतिरभून् मन्येमृतिश्श्रेयसी।

मैं अकेली और तीन-तीनपर मेरी प्रीति हो गयी—कृष्ण नामवालेमें, यह श्यामसुन्दर मनोहर चित्रवालेमें और उस वंशीवालेमें।

इयं सखि दुराराध्या राधा हृदयवेदना।
कृता यत्र चिकित्साऽपि कुत्सायां पर्यवस्यति॥

सखि! किसीसे बोलने लायक नहीं है, इस बीमारीका कोई इलाज ही नहीं है।

कृपण क्या करते हैं? जैसे संसारमें सुख मानकर संसारी लोग सुखके लिए, रसके लिए, स्वादके लिए संसारमें लगे हुए हैं वैसे ही जो लोग कृष्णकी कथा सुनते हैं उनके हृदयमें श्रीकृष्ण अपनी वासना देते हैं। वासना ही वासनाको काटती है। बच्चेके लिए रोते हैं, भगवान्‌के लिए नहीं रोते! तो भगवान् कहते हैं कि थोड़ा हमारे लिए भी रोना शुरू करो। बच्चेका नाम लेकर दिन भर पुकारते हैं। कृष्ण कहते हैं अब थोड़ा मेरा नाम लेकर पुकारना शुरू करो। लोगोंको भोगमें बड़ा मजा आता है। भगवान् कहते हैं अब हमारे पास आओ, उससे ज्यादा मजा देंगे। बोले भाई! धर्म करनेसे हृदयमें बड़ी पवित्रता आती है। अरे भाई! हमारे पास आओ, हम उससे ज्यादा पवित्रता देंगे। बोले—श्रवण-मनन करनेसे बड़ा ज्ञान होता है। बोले—आओ हमारे पास, देखो हम कैसा रसात्मक ज्ञान देते हैं।

यह जो श्रीमद्भागवत है, दशम स्कन्धकी लीला है, यह मनुष्यके हृदयमें रस-संचार करनेके लिए है। संसारकी वासना काटनेके लिए भगवान्‌की वासना, भगवद्-वासना हृदयमें उदय होनी चाहिए। चार वर्ष भजन करके फिर संसारमें चले गये, ऐसा होता है क्यों? क्योंकि भगवान्‌में रस नहीं आया। महात्मा गाँधीने एक जगह कहा—उन्होंने लिखकर दिया है— मैं आध्यात्मिक साहित्य तो बहुत दिनोंसे पढ़ता था लेकिन जिस दिनसे हमने मदनमोहन मालवीयके मुखसे

श्रीमद्भागवत सुना, शरीरमें रोमाञ्च हुआ, आँखोंमें आँसू आये; कण्ठ गद्गद हुआ—हृदय द्रवित हुआ, उस दिन हमारे हृदयमें धर्म-रसकी उत्पत्ति हुई। बोले—धर्म तो हमारे अन्दर पहलेसे था परन्तु धर्म-रस नहीं था, धर्मका स्वाद नहीं था। धर्मका स्वाद, धर्मका रस तब उत्पन्न हुआ जब श्रीमद्भागवत सुना। ईश्वर अन्तर्यामी या सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, निर्गुण है या निराकार है कि निर्विकार है—ईश्वरके बारेमें सोचना-समझना, ध्यान करना, दूसरी वस्तु है और ईश्वरके रसका अनुभव करना, यह दूसरी वस्तु है। जीवनमें ईश्वररसकी उत्पत्ति होनी चाहिए; यदि रस उत्पन्न नहीं होगा तो जब मजेदार चीज दुनियामें दूसरी मिलेगी तो ईश्वरको छोड़ देंगे और उधर चले जायेंगे। कई लोग वृन्दावनमें होते हैं, वहाँ रासलीला होती है मगर वे सिनेमा देखने जाते हैं आगरा। वे कहते हैं हमें तो रासमें रस नहीं आता है। सिनेमामें रस आता है। इसका मतलब कि भगवद्रसकी उत्पत्ति हृदयमें नहीं हुई तब ही उसको छोड़कर दूसरी जगह जाते हैं। तो हृदयमें एक रस उत्पन्न होना चाहिए। इसीसे निष्ठाका पता चलता है। जिसके जीवनमें रस उत्पन्न नहीं होता वह निष्ठावान नहीं होता। उसका भाव उसका प्रेम टिकाऊ नहीं होता। पूर्वकी हवा आयी तो पश्चिम उड़ गये, पश्चिमकी हवा आयी तो पूर्व उड़ गये। उनका जीवन आँधी-तूफानमें जैसे नाव आती-जाती है वैसे ही रहता है। वह निष्ठा उनके जीवनमें नहीं हो सकती।

यह जो रास पञ्चाध्यायी है, इसका मुख्य काम क्या है? इसका मुख्य काम है हमारे जीवनमें श्रद्धाका रस, भावका रस, भक्तिका रस, प्रेमका रस, भगवद् रस, हमारे हृदयमें पैदा कर देना। भगवान्‌का रस हमारे हृदयमें आवे, तब आपको मालूम पड़ेगा कि कृष्ण किसका नाम है। वही बाँसुरीवाला है और वही साँवरा-सलोना है। दीनता नहीं है, इसमें मरनेकी जरूरत नहीं है। उसके साथ अपनेको जोड़ देनेकी जरूरत है। यह प्रीतिकी रीति बड़ी निराली है। यह तत्त्वकी चर्चा बिलकुल नहीं है। इसमें आध्यात्मिक भाव निकालनेकी आवश्यकता नहीं है। यों लोग निकालते हैं, वर्णन करते हैं, लेकिन जब—'अपूर्वं अनपरं, अनन्तरं अबाह्यम्' यह श्रुति है—'अशब्दं, अस्पर्शं, अरूपं, अगन्धं, अरसवतं' श्रुति है और उसमें-से साफ-साफ अध्यात्मका और तत्त्वका और ब्रह्मका निरूपण निकलता है तो हर जगह उसको भरनेकी क्या जरूरत है? जहाँ जो है वही निकलना चाहिए। रास रासके रूपमें ही मनुष्यके हृदयको भगवान्‌के साथ जोड़नेवाला है। यहाँ यह आध्यात्मिक चर्चा करनेकी नहीं है कि गोपी माने चित्तवृत्ति और कृष्ण माने दो

चित्तवृत्तियोंकी सन्धिमें स्थित चैतन्य। बोले—बाबा—यह बात तो माण्डूक्य कारिकामें सुना देंगे कि दो वृत्तियोंकी सन्धिमें कैसे चैतन्य होता है—

वृत्तयोऽखिलसन्धीनाम् अभावाश्चावभासिताः।

सारी वृत्तियोंकी सन्धि और उनकी वृत्तियोंका अभाव किस तुरीय तत्त्वके द्वारा उद्भासित होता है वह तो वेदान्त के प्रवचनमें साक्षात् बतायेंगे। उसको यहाँ रास-रसमें-से निकालनेकी क्या जरूरत है? अरे! यहाँ तो आओ गोपी-कृष्णका आनन्द लें—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

एक गोपी है और एक कृष्ण हैं, फिर एक गोपी और एक कृष्ण हैं, फिर एक गोपी है कृष्ण हैं। गोपी कोई गोरी है कोई साँवरी है, कोई पीली है कोई लाल है, किसीकी साड़ी पीली है, किसीकी लाल है, किसीकी नीली है, किसीकी हरी है। तरह-तरहका लहँगा पहने तरह-तरहका ओढ़ना ओढ़े. तरह-तरहकी रंग रूपवाली, तरह-तरहकी नाम-रूपवाली हजारों गोपियाँ हैं और गोपीके साथ एक-एक पीताम्बरधारी मुरली मनोहर मोरमुकुटवाले श्यामसुन्दर हैं, मन्द-मन्द मुस्काते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर पाद-विन्यास करते हुए और प्रेम-भरी चितवनसे देखते हुए, आँख नचाते हुए, मुँह मुस्कराते; ठुमुक-ठुमुक कर चलते हुए पीताम्बरको फहराते, प्रत्येक गोपीके साथ एक-एक नन्दनन्दन लगे हैं। अरे! आओ न, अपने मनको इसमें डाल दो। देखो दुनिया भूलती है कि नहीं भूलती है। इस कृष्णकी वासना उत्पन्न करनेके लिए—जैसे हमारा प्रेम श्रीकृष्णके साथ जुड़े इसके लिए यह रास पञ्चाध्यायीकी कथा है। अगर तुम्हारे दिलमें दुनियामें प्रेम न हो, ठोंककर छाती देख लो, जाँच कर लो अपने दिलकी , कहीं तुम्हारा प्रेम न हो तो हम एक बार कह सकते हैं—चलो छुट्टी! तुम अपनी असंगतासे ही मुक्त हो जाओगे। लेकिन जब दुनियामें तुम्हें रस है, दुनियामें प्रीति है तो रसान्तरकी आवश्यकता है, भगवद्-रसकी आवश्यकता है। वह तुम्हारे हृदयमें भगवद्-रसका संचार करके भगवान्‌की ओर ले चलेगा।

२

रासकी भूमिका एवं रासका संकल्प—भगवानपि०

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(भाग० १०.२९.१)

भगवान्‌की रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी, लीलामाधुरी और प्रियामाधुरी—ये जो चार प्रकारकी माधुरी हैं, वे श्रीकृष्णमें विशेष हैं। उनका रूपसौन्दर्य कैसा है कि—'यद् दर्शने दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति'—जब गोपियाँ श्रीकृष्णका दर्शन करती हैं, तो उनको बीचमें, अपनी आँखोंकी पलकका गिरना भी बहुत बुरा लगता है।'पक्ष्मकृतं शपन्ति'—पलक गिरनेवालीको जिसने बनाया उसको गाली देती हैं कि तुमने हमारी पलकें गिरनेवाली क्यों बना दीं ?'पक्ष्मकृतं शपन्ति'—इतना राग है श्रीकृष्णके रूपदर्शनमें कि सर्वलोकके पितामह, चारों वेदोंके वक्ता, भगवत्-स्वरूप, भागवत-धर्मके गुरु ब्रह्माको गाली देती हैं कि तूने हमारी आँखोंमें पलकें क्यों बना दीं ? 'जड उदीक्षतां पक्ष्मकृत् दृशाम्' जो श्रीकृष्णके दर्शनमें लगा हुआ है, उसके आखोंकी पलकें गिरनेवाली जिसने बनायी, वह जड़ है। यह गाली हुई न! यह बात भागवतमें है—

दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति जड उदीक्षतां पक्ष्मकृत् दृशाम्, उदीक्षतां जनानां दृशां पक्ष्मकृतं जडः।

जब किसीसे राग हो जाता है और उस रागमें कोई बाधा डालता है तो क्रोध आता है चाहे कोई ब्रह्मा ही क्यों न हो। इसीसे बाबा! दोके बीचमें नहीं पड़ना चाहिए।

वंशी-माधुरी तो ऐसी है कि एक दिन गोपियोंने किसी प्रकार वंशी चुरा ली। बोलीं-बाँसुरी! हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं, तुमको आशीर्वाद देती हैं। बाँसुरी बोल उठी—ऐसी क्या सेवा मुझसे सम्पन्न हुई कि आप प्रसन्न हैं और आशीर्वाद दे रही हैं ? तो कहती हैं—कारण यह है कि तुम दिनमें चुप रहती हो, हमारे ऊपर करुणा करती हो; 'यद् वासरे मुरलिके करुणां करोषि।' दोपहरके समय तुम्हारी आवाज हमारे कानमें नहीं पड़ती है, तो हम घरका काम कर लेती हैं—रोटी बना

लेती हैं, झाड़ू लगा लेती हैं, अपने पतिकी सेवा कर लेती हैं; इसलिए अरी बांसुरी! हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं। बाँसुरीने कहा—अच्छा देवी, आप लोगोंका प्रसाद, प्रसन्नता सिरपर जो आशीर्वाद देना हो दे लो। बोलीं—पहला आशीर्वाद यह है कि 'निश्छिद्रमस्तु'—

निश्छिद्रमस्तु हृदयं परिपूर्णमस्तु मौखर्यमस्तु त्वमितमस्तु गुरुत्वमस्तु।
कृष्णप्रिये सखि दिशामि सदाशिषस्ते यद् वासरे मुरलिके करुणां करोषि॥

ब्राह्म लोग जब यज्ञ पूरा हो जाता है तब बोलते हैं 'निश्छिद्रमस्तु।' बोलीं—सखि! बाँसुरी! तुम भी निश्छिद्र हो जाओ। जब छेद ही नहीं रहेगा तो बाँसुरी बजेगी कैसे? 'निश्छिद्रमस्तु हृदयं परिपूर्णमस्तु'—तुम्हारा हृदय भर जाय। और फिर 'मौखर्यमस्तु'—तुम्हारे अन्दर बहुत बोलनेका जो दुर्गुण है वह तुम्हारा मिट जाय, बोलती हैं—'मौखर्यमस्तु त्वमितमस्तु गुरुत्वमस्तु'; कृष्ण गोवर्धनको तो उठा लेते हैं, पर सखि! तुम इतनी भारी हो जाओ कि उनके हाथसे न उठो। देखो यह आशीर्वादके व्याजसे शाप है! इसका मतलब यह है कि आप यह समझें कि बाँसुरी उनके चित्तको कितना विकल करती है। यह बाँसुरी तो महाराज! अद्भुत कर देती है। फिर गोपियाँ कहतीं हैं—

मुरहर रन्धनसमये मा कुरु मुरलीरवं मधुरम्।

हे मुरहर! हे मुरारे! बाँसुरी बजाया करो, लेकिन जब हम रसोई बनाया करें, तब तो न बजाया करो। क्योंकि—

नीरसमेधो रसतां कृशानुरप्येति कृशतताम्।

क्योंकि हमारी सूखी लकड़ी गीली हो जाती है, हमारी आग बुझ जाती है, बड़ी कठिनाई होती है। रसोई बनानेके समय बाँसुरी मत बजाया करो।

लीलामाधुरी क्या है? 'प्रातर्व्रजात् व्रजत आव्रजतश्च सायं'—जिस समय प्रात: व्रजसे निकलते हैं और सायं वनसे लौटते हैं, क्या छटा है, क्या लीला करते हैं! झूम-झूमकर चलते हैं—

झूमि झूमि पग धरत धरणिपर गति मातङ्ग लजावहि, लटक लटक, मनमोहन आवनि, झूमि झूमि पग धरत धरणिपर।

लीलापूर्वक पाद-विन्यास करते हैं। ठुमुक-ठुमक कर पाद-विन्यास करते हैं। घूम-घूमकर देखते हैं। एक-एकसे आँख मिलती है। जितनी स्थिरता ब्रह्ममें उतनी ही चंचलता कृष्णमें! प्रतिक्रिया हो गयी, ब्रह्मका स्थायित्व, कृष्णमें चांचल्यके रूपमें परिणत हो गया। कहो—ब्रह्म स्थिर है या चंचल है? बोले—वह दोनों है।

अचल भी वही, चंचल भी वही। चंचल-अचलका अधिष्ठान भी वही है, चंचल अचलका आश्रय भी वही है। चंचल अध्यस्त भी उसीमें है, वही चंचल है, वही अचल है। यह नहीं समझना कि वेदान्ती लोग जिस अचलका विचार करते हैं वह सिर्फ अचल-ही-अचल है, चंचल है ही नहीं। वह सब है—'तदेजति तन्नैजति' वह नाचता है। 'तदेजति' माने 'तद्ब्रह्म तत् कृष्णरूपं ब्रह्म एजति नृत्यति'। और तन्नैजति माने जब गोपियाँ नाचने लगती हैं तब वह एक जगह खड़ा हो जाता है। 'तद्दूरे'—नाचता-नाचता वह दूर चला जाता है; 'तद्वन्तिके'—नाचता-नाचता गोपियोंके बीचमें आ जाता है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य गोपीजनस्य'—वह सब गोपियोंके भीतर है; वह सब गोपयियोंके भीतर घुस जाता है; दो-दोमें एक। और 'तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' वह सब गोपियोंसे बाहर निकल जाता है। यह वेदका मन्त्र है शुक्ल यजुर्वेदका—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

कभी अकेला होता है कृष्ण, बाँसुरी बजा रहा होता है, गोपियाँ नाच रही होती हैं; कभी गोपियोंके साथ नाच रहा है; कभी मण्डल बनाकर गोपियाँ नाच रही हैं और वह भीतर है। कभी नाचता है और कभी नहीं नाचता है। यह कृष्ण-ब्रह्मका वर्णन है, कृष्ण ब्रह्मका। जो ब्रह्मको एकांगी मानते हैं कि ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है—तो जो ब्रह्म ऐसा-नहीं, ऐसा-नहीं होगा वह पूर्ण कैसे होगा? जो 'ऐसा नहीं', 'ऐसा नहीं' होगा वह अद्वितीय कैसे होगा? जो 'ऐसा-नहीं' ऐसा—वह निर्विशेष कैसे होगा? यह परब्रह्म परमात्मा श्यामीभूत ब्रह्म है, साँवरा ब्रह्म है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां, श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥
श्यामच्छबलं प्रपद्ये, शबलात् श्यामं प्रपद्ये।

शबलसे श्याममें और श्यामसे शबलमें! उपनिषद्में है—'शबलात् श्यामं प्रपद्ये श्यामात् छबलं प्रपद्ये।' बोले—अशब्दं, अस्पर्शं तो बहुत सुननेमें आता है पर हमारे वेदान्ती भूल जाते हैं महाराज! कि—'सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वकामः' सारे रस उसमें हैं, सारे गन्ध उसमें हैं, सारे भोग उसमें हैं।

हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः, उसके सुनहले बाल हैं उसके मुखमण्डलसे सुनहली ज्योति निकलती है। बड़े-बड़े उपनिषद् सर्वमान्य-उपनिषद् बोलते हैं—

हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः।

आप देखेंगे कि श्रीकृष्णका रूप जिसको शीशेमें देखकर श्रीकृष्णके मनमें क्या आया—

अहमपि परिभोक्तुं कामये राधिकेव।

शीशेमें श्रीकृष्णने अपनी मुखच्छटा देखी—मुखच्छवि देखी—और बोले—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारिकारी।

मैंने तो कभी नहीं देखा, यह कौन है? बोले—लाला! आखिर चाहते क्या हो? चाहते ये हैं कि मैं राधा होता तो इसीसे ब्याह करता 'अहमपि परिभोक्तुं कामये'—श्रीकृष्णके मनमें कामना हो जाती है जिस अपने प्रतिबिम्बको देखकर, इतने सुन्दर हैं वे कृष्ण—

देखो—बात यह है—योगी लोग जब परमात्माका वर्णन करते हैं तो वे समाधिमें चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध करके जो सत्तामात्र निर्विशेष रहता है उसपर उनका जोर ज्यादा रहता है और वेदान्ती लोग जब दृग्दृश्य विवेक करते हैं, संवित् सम्बन्धका विवेक करते हैं, तो चेतनतापर, सक्षितापर उनका जोर ज्यादा रहता है। यह परमात्माको समझनेकी प्रक्रिया है। परन्तु भक्त लोग जब परमात्माका निरूपण करते हैं तो आनन्दांशपर उनका जोर ज्यादा रहता है। ज्ञानांशमें विवेककी प्रधानता है, सत्तांशमें स्थितिकी प्रधानता है और आनन्दांशमें प्रेमकी प्रधानता है। परमात्मा एक ही है। वही सत् है, वही चित् है और वही आनन्द है। पर जब साधनका निरूपण करना पड़ता है तो सत्तांश स्थितिकी प्रधानतासे—प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि लगा करके अपने अखण्ड सत्स्वरूपमें स्थित होते हैं और वेदान्ती लोग जब विवेक करते हैं, दृग्-दृश्य विवेक करके, साक्षी चित्स्वरूपमें होते हैं और भक्त लोग जब विवेक करते हैं तो भक्तोंका विवेक दूसरा होता है—

रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।

वह रस-स्वरूप है और इस रसको पाकर भक्त भी आनन्दी हो जाता है।

आप एक बार भागवतपर दृष्टि डालें। सायंकाल श्रीकृष्ण गाय चराकर व्रजमें लौट रहे हैं—

गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमत्समेताः॥

नवघन पर मानो झीन बदरिया शोभा रस बरसावति॥

श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका एक नमूना देखो—'गोरजश्छुरित-कुन्तल'—काले

चिकने घने घुँघराले बाल हैं, स्निग्ध हैं, सुच्चिक्कन हैं और सुसूक्ष्म हैं। और उनके ऊपर गायके खुरसे उड़-उड़कर धूल पड़ी हुई है। गोपियोंने देखा—मयूर-पिच्छ बँधा हुआ है। मयूरपिच्छ—'राधा-प्रिय-मयूरस्य बर्हपिच्छं मूर्ध्नि विभर्त्यजः' राधारानीके प्रिय मोरका पंख शिरपर बाँधे हुए हैं। मानो बताते हैं कि—अरे! तुमको ही नहीं, तुम्हारे मोरपंखसे भी इतना प्यार करते हैं! तुम्हारे लिए मोर बननेके लिए भी तैयार हैं। बादलको देख-देखकर जैसे मोर नाचता है, वैसे हम नाचते हैं। हम नाचते हैं कि हमारी आँख ललाटके नीचे न रहें, हमारी आँख ललाटसे भी ऊपर हो जायें कि दूरसे भी तुमको देख सकें! 'बद्धवर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षण चारुहासम्'। वृन्दावनके फूल प्यारे हैं। चितवन प्यारी है, मुस्कान प्यारी है। अपने प्यारको समेटकर ले तो चलो अपने भगवान्के पास।

देखो—गोपियोंने वेणुगीतका श्रवण किया, उनके चित्तमें आकर्षण उत्पन्न हुआ। इसको पूर्व-राग बोलते हैं। पूर्व-राग माने मिलनेके पहले मिलनका प्रेम। अब जिससे प्रेम हुआ उससे मिलनेकी लालसा भी तो होगी न! लालसा होनेपर क्या होगा? प्रयत्न होगा। तो कात्यायिनी देवीकी पूजा हुई। भगवान्ने बताया कि तुम तो हमारी जाति-विरादरीकी हो। हमारी प्रेमिका हो, प्रेयसी हो, गोपी हो। देखो—हम तो मथुराकी जो यज्ञ-पत्नी हैं उनको भी नहीं भूलते हैं। ये सब काम एक साथ हैं—गोपियोंका पहले दूरदर्शन, फिर आँखोंका मिलना, फिर लालसाका उदय होना, फिर प्रयत्न करना, फिर सिद्ध-मनोरथ होना अर्थात् देवी-पूजाके व्रतपर प्रसन्न होकर श्रीकृष्णका उनको रासका वरदान देना और फिर दृष्टान्तके रूपमें यज्ञपत्नियोंकी कथा आना। गोवर्धन-धारणके समय वीररस प्रकट करके पराक्रम दिखाया। पर्वतको धारण करना—यह वीररस, शृंगार रसका पोषक है। इतना बहादुर है वह जिससे हम प्रेम करते हैं। वीरके प्रति आकर्षण होता है। गोपियोंके चित्तमें आकर्षण उदय हुआ और कर्मवादका विध्वंस हुआ। परमात्मा प्रेमसे मिलता है, कर्मसे नहीं मिलता है। इन्द्रका मानमर्दन माने—इन्द्र-देवताके यज्ञयागादि रूप कर्म-साधनका मान-मर्दन। वेदान्ती लोग भी बोलते हैं—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

देखो, हाथका देवता है इन्द्र। पहाड़ भी उठाया तो कृष्णने अपने ऊपर नहीं लिया। उनके हाथमें बैठा हुआ जो इन्द्र था उनके ऊपर ही रख दिया कि लो बेटा, तुमने बहुत सताया है—वर्षा करते हो न! और फिर शत्रुके सामने शत्रुको ही भिड़ा दिया। कैसे? बोले—इन्द्रने पहाड़ोंकी पाँख पहले काट दी थीं तो पहाड़ोंसे उसकी पहलेसे ही दुश्मनी थी। तो बोले—दुश्मनके सामने दुश्मनको खड़ा करो, खुद मत

खड़े हो। इन्द्र और पहाड़ोंकी दुश्मनी है तो इन्द्र और पहाड़को ही भिड़ा दिया। इस प्रकार एक तो वीर-रससे गोपियोंके चित्तमें शृंगार-रसका संचार हुआ। सात दिनतक लगातार आँख मिलानेका मौका मिला, देखनेका मौका मिला; इससे प्रीतिका उदय हुआ और दूसरे कर्मवादका विध्वंस हुआ। व्रजमें इन्द्रादि देवताओंकी पूजाकी अपेक्षा वहाँकी माटीकी पूजा अच्छी है। व्रजका एक कंकड़ भी स्वर्गका देवता है। बोले किसकी पूजा करें ? कृष्णने कहा—स्वर्गके देवताकी नहीं, व्रजकी कंकड़-पत्थरकी पूजा करो। व्रजकी महिमा बड़ी है। गोवर्धन धारण करके अब 'गोविन्द' पदपर अभिषेक हुआ। कर्म गया, कर्मकी साधनता गयी। इन्द्रका यज्ञ मिटानेसे कर्मकी साधनता गयी और प्रीति उत्पन्न हुई व्रज-भूमिमें।

अब वरुणलोकमें गये। परलोकका जो सुख है वह व्रजकी प्रीतिके सामने तुच्छ है। लौट आये। गोपोंको वैकुण्ठमें अपने ऐश्वर्यका दर्शन करा दिया! यह सब रासका अंग है—यह सब रासलीलाकी भूमिका है। सब व्रजवासियोंने वैकुण्ठमें सिंहासनपर बैठे हुए—'कृष्णञ्च तत्रच्छन्दोर्भिः स्तूयमानं सुविस्मिताः।' जब देखा—कि सारे वेद कृष्णकी ही स्तुति करते हैं और ये तो वैकुण्ठमें सिंहासनपर बैठे हुए हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिसनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥

उस कृष्णको देखा—सब व्रजवासियोंके मनमें यह हो गया कि यह साक्षात् भगवान् हैं। यह रासलीला तो आनन्दकी लीला है। तो यह सब—बैकुण्ठ लोकमें अपना नारायणके रूपमें दर्शन देना, कृष्णके रूपमें दर्शन देना; वरुण लोकमें अपनेको देवपूज्य बताना, इससे पारलौकिक ऐश्वर्यको तुच्छा कर दिया। लोकमें कर्मकी साधनाको तुच्छ किया। गोवर्धन-लीलासे और यज्ञकर्ता ब्राह्मणोंकी अपेक्षा यज्ञानधिकारिणी जो उनकी स्त्रियाँ हैं, भक्तिभावके कारण उनकी श्रेष्ठता दिखायी। ये सारी बातें रास पञ्चाध्यायीकी भूमिका है। जो लोग कहते हैं कि रासपञ्चाध्यायी तो अनवसर ही आ गयी। कहाँ वरुणलोकका वर्णन, कहाँ वैकुण्ठलोकका वर्णन और कहाँ रासपञ्चाध्यायीका वर्णन। तो कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रसंगकी संगति है, यह अनवसर नहीं है। यदि इतनी लीला भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट न कर लेते, एकाएक नाचने ही लगते तो सब लोग उनको नचकैया ही समझते न! यह तो कोई नचनिया है। कहा—अरे। नचनिया नहीं है। वरुणके द्वारा पूज्य है, वैकुण्ठका स्वामी है, इन्द्रमयमर्दक है। अधिकारी-अनधिकारीका विचार किये बिना रसदान करनेके लिए आया हुआ है। तो ये सारी बातें जब आ गयीं तब रासका वर्णन आता है।

रासमें भी बड़ी अद्‌भुत-अद्‌भुत बातें हैं। इसका वर्गीकरण होता है—आकर्षण लीला, प्रेम-प्रकाशन लीला इत्यादि। बाँसुरी बजाकर—'रन्तुं मनश्चक्रे' यह आकर्षण-लीला है। गोपियोंके हृदयमें कितना प्रेम है, इसको प्रकट करनेके लिए प्रेम-प्रकाशन लीला है। कह दिया—लौट जाओ, धर्मकी दृष्टिसे गोपियाँ डर गयीं। कितना प्रेम है उनका, यह जाहिर हो गया। गोपियोंमें कितना त्याग है, कितना संसारसे वैराग्य है; श्रीकृष्णसे कितना प्रेम है, यह प्रेमप्रकाशन लीला है। इसके अलावा अनुसन्धान लीला है, अन्तर्धान-लीला है, और भी लीला हैं। रासपञ्चाध्यायीमें बड़े विलक्षण-विलक्षण भाव हैं—आध्यात्मिक व्याख्या करें तो वह भी निकलती है पर जहाँ रसका प्रसंग हो वहाँ अध्यात्म निकालनेकी कोई जरूरत नहीं है। अध्यात्मकी व्याख्या करनी हो तो 'अपूर्वं अनपरं, अनन्तरं' हमारी बहुत-सी श्रुतियाँ हैं। कोई आध्यात्मकी कमी होती तो इसमेंसे निकालकर उसको पूरा करते। अरे, हमारे ऋषि-महर्षि अध्यात्म बोलते हैं तो खुलेआम बोलते हैं, उनको कोई छिपानेकी जरूरत थोड़े ही है। यह तो रासलीला है। 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' परमात्मा क्या है? बोले—रस है। यह हृदयमें जो सरोवर है, उस हृदय-सरमें जो रस है, वह कौन है? कि ब्रह्म है। जैसे सरोवरमें जल होता है वैसे हृदय-सरोवरमें रसात्मक कौन है? तो कहा—ब्रह्म। यह दहर विद्यामें जैसे वर्णित है वैसे। यह छान्दोग्योपनिषद्‌में दहर विद्या है।

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।

अरे! तुमको रस चाहिए कि नहीं! आनन्द चाहिए कि नहीं? सोता रस चाहिए कि जागता रस? शान्तिकी उपाधिसे जो रस मिलता है वह सोता रस है और भक्तिकी उपाधिसे, प्रीतिकी उपाधि से जो रस मिलता है वह जागता रस है। और परमात्मा कौन है? बोले सोतेमें भी रस वही है, जागतेमें भी वही रस है। जिन लोगोंने सोतेका ही नाम परमार्थ रख लिया वे परमात्माको जानते थोड़े ही हैं। उनकी जान-पहचान नहीं है ईश्वरसे। शान्ति हो चित्तमें तब तो परमात्मा और विक्षेप हो तब कौन? सपाधि लग जाय तब तो परमात्मा और काम करें तब कौन? अरे! परमात्मा तो नाच रहा है। स्फुरणात्मक, विमर्शात्मक, विस्फुरणात्मक लालसात्मक, क्रियात्मक और द्रव्यात्मक—छह रूपोंमें परमात्मा प्रकट हुआ। स्वयं प्रकाशरूप एक और स्फुरणरूप द्वितीय, स्पर्श रूप तृतीय और इच्छारूप चतुर्थ और क्रियारूप पञ्चम और द्रव्यरूप षष्ठ, इन रूपोंमें परमात्मा प्रकट हो रहा है, द्रव्य परमात्मा है, सब क्रिया परमात्मा है, सब इच्छा परमात्मा है, सब विमर्श परमात्मा है, सब स्फुरणा परमात्मा है। यह देखो, यह रासलीला क्या है? यह वही स्वयं प्रकाश है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो, माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।

गोपी है कृष्ण हैं, गोपी है कृष्ण हैं, फिर गोपी है कृष्ण हैं। शिर कभी किधर झुकाते हैं कभी किधर झुकाते हैं। कभी दाहिनी तरफ मुकुट झुक जाता है तो कभी बायीं तरफ। दायें स्थित जो राधा रानी हैं—उनको देखनेके लिए शिर दाहिनी तरफ झुका लेते हैं और उनके ऊपर छाया करनेके लिए बायें झुकते हैं। पर दोनोंमें एक बात समान होती है। जो नकबेसर या बुलाक है, जो नाकमें पहनी जाती है, वह दोनों ही हालतमें अधरोंसे, नासिकासे सीधे लटकती है, दाहिने घूमो तो भी और बाँयें घूमो तो भी, दोनोंमें ही बुलाक है, उसको बीचमें-से हटाकर गोपियोंको हाथसे बुलाते हैं। नृत्य आकर्षण है। हट जाओ, आ जाओ। यह नहीं-नहीं जो है न, वह नखरेके अन्तर्गत है, हाव है। अवहित्था, मोटाई इसके बहुत सारे भेद होते हैं। यह तो आपको भाव-शास्त्र बताना पड़ेगा। यह श्रीकृष्णकी लीला है। आप सूक्ष्मतासे देखोगे तो आपका मन कृष्णमें चला जायेगा।

बिहारीने एक दोहा लिखा है—

अजहुँ तर्‌यो नाही रह्यो श्रुति सेवत एक अंग।
नाक वास बेसर लह्यो रहि मुकुतन के संग॥

अजहुँ तर्‌यो नाही रह्यो—अभीतक तुम तरे नहीं हो! अरे ओ! कानके आभूषण! क्यों? बोले—श्रुति सेवत एक अंग। तुम केवल एक अंगका, कानका ही सेवन करते हो, इसलिए तर्‌यो नहीं, रह गये। 'अजहुँ तर्‌यो नाहीं'—अरे ओ मनुष्य! अभीतक तू तरा नहीं, यहीं रह गया? क्यों? कहा—तुम श्रुतिके, वेदके एक अंगका सेवन करते हो, इसलिए। 'श्रुति सेवत एक अंग।' खाली कर्मकाण्डमें लग गये कि, खाली वेदान्तमें लग गये, कि उपासनामें लग गये। बोले-**नाकवास बेसर लह्यो,** देखो! वेसरको नाकवास मिल गया, स्वर्ग मिल गया। नाक माने स्वर्ग होता है संस्कृतमें। कैसे—मिल गया बेसरको स्वर्ग? तो कहा कि वह तो बे-सर है; उसने अपना सिर कटा दिया है। वह कैसे? कि **रहि मुकुतनके संग**—मोतियोंके साथ रहकर। अथवा **'रहि मुकुतनके संग'**—मुक्त परुषोंका सत्संग करके वह बेसिर होकर स्वर्ग-बास कर रहा है। बिहारीके दोहोंके बारेमें है कि—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

तो सिर झुकानेका एक अर्थ हुआ कि देवि गोपी! तुम्हारे सामने अभिमान नहीं करते, शिर झुकाकर बैठे हैं। प्रेमको बुलानेके लिए छोटा बन जाना पड़ता है।

बिना अभिमान छोड़े कोई प्रेम नहीं कर सकता। प्रेमका स्वभाव क्या है? रस है ही द्रव पदार्थ। हृदयकी द्रवता ही प्रेम है। तो कहा—गीली चीज कहाँ जाती है? नीचेकी ओर जाती है। जिनकी तरफ शिर तान दें उनकी तरफ प्रेम नहीं हो पायेगा। श्रद्धा की जा सकती है, पूजा की जा सकती है, हाथ जोड़ सकते हैं, लेकिन शिर तानकर कोई खड़ा हो तो उससे प्रेम नहीं किया जा सकता। प्रेम तो तब आता है जब शिर जरा झुकता है। प्रेम-रसका स्वभाव है; निरभिमानकी ओर जाना। प्रेमका स्वभाव अभिमानीके आश्रित होना नहीं है। तो कृष्णको देखो न!

राधाचरणविलोडितरुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे।

श्रीकृष्णका जो मयूर-पिच्छ है वह राधा रानीके पैर छू आता है मगर गोपियाँ समझती हैं कि वह नाच रहा है। अब वह मयूर-नृत्य किया कि महाराज! राधारानी भी मयूरकी तरह नृत्य करती हैं और कृष्ण भी मयूर की तरह नृत्य करते हैं। मयूर-मयूरीका जैसा नृत्य होता है वैसा। आप लोग कभी व्रज गये हों तो बरसानेमें 'मयूर कुटी' देखी होगी। बरसानेमें एक मयूर कुटी है तो वहाँ दोनों मयूरके रूपमें एक मोर और एक मोरनीके रूपमें दोनों नाच रहे हैं। प्रेममें शिर झुकाना पड़ता है!

यह रास क्या है? अभिमानका जो पत्थर है, अभिमानकी जो कठोरता है वह जबतक गल नहीं जायेगी। तबतक द्रवता-रूप रसकी उत्पत्ति कैसे होगी? इसीलिए इसको रास बोलते हैं। अच्छा, बिना अभिमान छूटे समाधि लगेगी? असंप्रज्ञात समाधि—द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान, अभिमान टूटे बिना लगेगा? अभिमान टूटे बिना सद् वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है? अच्छा तो अभिमान टूटे बिना द्रष्टा साक्षी अपनेको चेतनस्वरूप ब्रह्म अनुभव कर सकते हैं? अभिमान टूटे बिना रसरूप, प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है? चीज तो वही है, रस है। इसीको द्रवावस्था कहते हैं।

प्रेमाद्वयोरसिकयो रविदीप एव, हृद्वेश्म भासयति निश्चल एष भाति।
त्वाराधयं वदनतस्तु विनिर्गतश्चेद्,निर्याति शान्तिमथवा तनुतामुपैति॥

यह प्रेम जो है, वह प्रेयसी और प्रेय दोनोंके हृदय-मन्दिरमें रहता है और दीपकके समाना प्रज्वलित होता है। जैसे—दीपकी लौ वैसे यह ज्योतिर्मय रस दोनोंके हृदयमें प्रज्वलित होता है। इसको हृदय-मन्दिरमें ही रहने दो; यदि मुख-द्वारसे बाहर गया तो हल्का पड़ जायेगा, डावाँडोल हो जायेगा।, डगमगा जायेगा, वाहरकी हवा लग जायेगी। इस प्रेम-दीपकको हृदय-मन्दिरमें रखो। अभिमान नहीं होता इसमें। राधारानीको भी ख्याल नहीं होता कि हमारे श्रीकृष्णका शिर

झुका। तो क्या राधारानीका शिर नहीं झुका? अरे, बोले—बहुत झुका है। प्रेमका जो कोई लक्षण है वह त्यागरूप लक्षण है। अपने प्रियतमके सिवाय अन्यका त्याग। निरभिमानता इसका लक्षण है। रोनेमें भी वही और हँसनेमें भी वही। प्रेमी दूसरेके लिए नहीं रो सकता, अपने प्रियतमके लिए रोता है और प्रेमी दूसरेके लिए नहीं हँसता, अपने प्रियतमके लिए हँसता है। उसका रोना-हँसना दोनों प्रियतमसे आबद्ध हो गया।

अब आप देखो—इसी रससे सृष्टि हुई है।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

यह आनन्द ही रस है। इसीमें सृष्टि उदय होती है, इसीमें सृष्टि स्थिर होती है, इसीमें सृष्टिका प्रलय होता है, 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' तो वही आनन्द, वही रसब्रह्म 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—वही साँवरा-सलोना व्रजराजकिशोर होकर व्रजमें आया, व्रजमें प्रकट हुआ।

यदि कहो कि ब्रह्म बड़ा कि व्रज बड़ा? तो व्रज बड़ा। देखो, अब रासलीलामें प्रवेश कर रहे हैं। विष्णु पुराणमें और हरिवंशमें दोनोंमें एक श्लोक आता है। हमारी दृष्टि तो उनपर बादमें पड़ी पहले तो जयदेवके गीत गोविन्दमें वह पद पढ़ा था। जयदेवजी एक श्लोक लिखते हैं—

कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः।
'हरिः कुञ्जे विहारं कलयन् कैशोरं सफलीकरोति'

भगवान् व्रजके निकुञ्जोंमें विहार करके अपने कैशोरको सफल करते हैं। एक तो भगवान्, दूसरी किशोर-अवस्था और तीसरी किशोर अवस्थाकी सफलता। भगवान् तो सफल हुए तब जब वे व्रजमें कृष्णके रूपमें प्रकट हुए और कृष्णका रूप सफल हुआ तब जब वे किशोरके रूपमें प्रकट हुए—'धर्मी किशोरे वात्र'—व्रजमें जो शिशु-रूप है, जो कुमार-रूप है वह धर्म है और जो किशोर-रूप है वह धर्मी है। माने मूलरूप भगवान्का किशोर है। माँको सन्तुष्ट करनेके लिए शिशु बनते हैं और ग्वालोंको सन्तुष्ट करनेके लिए सखा बनते हैं। ग्वाल जैसे प्रसन्न होवें तो सखा बनकर खेलते हैं, मैया जैसे प्रसन्न हो तो शिशु बनकर दूध पीते हैं। पर मूलमें जब ग्वाल-बाल सो जाते हैं और मैया जब सोती है तो अपना हमेशाका जो रूप है—किशोररूप वह ग्रहण करके नित्य निकुञ्जमें क्रीड़ा करते हैं। तो किशोररूप धर्मी हैं और शिशुरूप और कुमाररूप धर्म हैं। असलमें भगवान् किस उमरमें रहते

हैं? बोले—दस, पन्द्रह, सोलह बरसकी उमर। कुछ-कुछ रेखा—बलोंकी रेखा उठनी शुरू ही हुई है। एक पद है बहुत बढ़िया—'कछुक उठत मुख रेखै'—रेख उठ रही हैं। यह जो रूप है श्रीकृष्णका वही मूलरूप है और यही कृष्ण है जो अवतार लेते हैं।

ये कृष्ण पहले सत्ता-सामान्य ब्रह्मके रूपमें अवतार लेते हैं? देखो, यह वैष्णवोंकी बात सुनाता हूँ। सत्ता-सामान्य ब्रह्मके रूपमें ये कृष्ण प्रकट होते हैं। उनकी ज्योति जो है, वह है उनका नियन्ता अन्तर्यामी रूप। उसके बाद वही कभी मत्स्य बनते हैं, कभी कच्छप बनते हैं, कभी नृसिंह बनते हैं। लेकिन उनका वास्तविक रूप जो है वह कृष्णरूप है जो व्रजमें प्रकट होता है परिपूर्णतः रूपमें। उसमें भी जो किशोररूप है वह गोपियोंके बीचमें ही प्रकट होता है अन्य किसीके सामने नहीं और वही असली रूप है भगवान्‌का। यह रासलीलाका सिद्धान्त है। तो—

सोऽपि कैशोरकवयो मानयन् मधुसूदनः।
रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिता हिताः॥

विष्णुपुराणमें यह प्रसंग आया कि भगवान् अपनी किशोर अवस्थाको सफल बनानेके लिए गोपियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं। अगर गोपियोंके साथ क्रीड़ा न करें तो किशोर होना निष्फल। किशोर क्यों हुए? माँको खुश करनेके लिए किशोर हुए? कहा—नहीं। उनका दूध पीते थे। ग्वालोंको खुश करनेके लिए हुए? कहा—नहीं। उनके साथ तो कुमार होकर घर-घर खेलते थे। तब किशोर क्यों हुए? गोपियोंके लिए हुए। गोपियोंके साथ जो भगवान्‌की लीला है, वही उनके कैशोरको सफल करनेके लिए है—

युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकात्यकालवित्।
कैशोरकं मानयानः सः ताभिर्मुमोद ह॥

हरिवंशमें यह प्रसङ्ग आया है कि भगवान् गोपियोंके साथ जो क्रीड़ा करते हैं, वह ध्यानकी लीला है, वह ज्ञानकी लीला नहीं है। ज्ञानकी लीला जो होती है वह संस्कारका अपवाद करके होती है। प्रियता बनेगी तब ध्यान होगा और संस्कारका अपवाद होगा तब ज्ञान बनेगा। लक्ष्यसे इतरका अपवाद करनेपर लक्ष्यका ज्ञान होगा और ध्येयकी प्राप्तिकी दृढ़ वासना होनेपर ध्यान होगा। यह जो रासलीलाका प्रसङ्ग है, वह भक्तजनोंके ध्यान करनेके लिए है; इसमें राजनीतिकी कोई बात नहीं है, इसमें समाज-सेवाकी भी कोई बात नहीं है। वह बात हम निकालकर बता दें, यह बात दूसरी है। वह तो हम बता देंगे कि इसमें यह राजनीति है, इसमें यह

समाज-सेवा है, इसमें यह वेदान्त है। परन्तु यह असली लीला जो है वह संसारमें भटकते हुए चित्तको समसत्ताक होकर उसका आकर्षण करनेके लिए है। समसत्ताक होकर माने जिस सत्तामें हमारा चित्त भटक रहा है उस सत्तामें आकर भगवान्‌की लीला हमारे चित्तको आकृष्ट करती है। तो आओ लीला प्रारम्भ कर देते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

भगवान् माने बहुत मीठे। भगवान् शब्दका अर्थ है मीठा। गुलाबजामुन, रसगुल्ला जैसा मीठा नहीं। यह महापुरुष होनेपर भी, पुरुषोत्तम होनेपर भी, दूरसे देखनेमें लगे कि कोई लड़की हैं। अब आपको इस शब्दसे यह अर्थ न निकलता हो तो हमें खोलकर बताना होगा। भगवान् शब्दका अर्थ ही यह है कि हो लड़का और दिखे लड़की। संस्कृतका 'भग' शब्द आपको मालूम हो तो इसका अर्थ ठीक-ठीक समझ जायेंगे। भग क्या है ? जो इनकी मीठी आवाज सुन ले वह इनपर लट्टू ; जो इनको छू ले सो लट्टू; जो इनको देखे तो सो लट्टू, जो लख ले सो लट्टू; जो सूँघ ले सो लट्टू—'पिबन्त्य इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त्य इव जिह्वया' यह वर्णन आया है। आँखोंसे कृष्णको पीती हैं; '**पिवन्त्य इव चक्षुर्भ्यां; लिहन्त्य इव जिह्वया**'— माने यह कृष्ण बहुत मीठा है, माधुर्य सारसर्वस्व है। '**भगवानपि**'—भगवान् होनेपर भी '**रन्तुं मनश्चक्रे**'-उसके मनमें विहारका संकल्प उदय हुआ।

'भगवानपि' यह वैसे ही हैं जैसे गीतामें—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥

'अजोऽपि सन् अव्ययात्मा' और 'अजोऽपि सन् सम्भवामि'—मैं अजन्मा होकर भी जन्म लेता हूँ। और यहाँ है कि भगवान् होकर भी विहारका संकल्प लेता हूँ। दोनों को मिलाओ तो जैसे—अजन्माका जन्म सम्भावित है इसी प्रकार भगवान्‌में विहारका संकल्प यद्यपि असम्भावित है तथापि भक्तवात्सल्य—'मुख्यं तु तस्य कारुण्यम्' के कारण सम्भावित है। कहा—नहीं-भाई! राधिकाके प्रेमका इतना प्रबल आकर्षण है कि—'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' उनकी भगवत्तामें कोई व्यवधान नहीं होता है लेकिन राधिकाके प्रेमने खींच लिया। आराधिका राधिका हैं न! बोले—भगवान्‌को डर तो लगता नहीं कि ब्रह्मके सिवाय और कुछ हो जायेंगे। भगवान् प्रेम-परवश हो जाते हैं। इसमें फर्क क्या है ? जो सोचता है कि यदि हम प्रेम-परवश हो जायेंगे तो हमारे ब्रह्मत्वकी हानि हो जायेगी, वह तो अपनेको बचाकर रखेगा। वह अपनेको सम्हालेगा कि कहीं हम जीव न हो जायें। ये नकली

ब्रह्म जितने होते हैं उनको जीव होनेका डर लगा रहता है। ये श्रीकृष्ण असली ब्रह्म हैं। यह जानता है कि हम गोपियोंके अधीन हो जायें, परवश हो जायें तो क्या परवश होनेसे हमारे ब्रह्मत्वकी हानि हो जायेगी? कहा—नहीं यह तो पूर्ण स्वतन्त्र है। कोई क्षति होनेवाली नहीं है।

'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'। अब 'अपि' शब्दका सुन्दर भाव श्रीधर स्वामीने बताया। क्या? कि गोपियाँ चाहती थीं कि श्रीकृष्ण हमारे साथ क्रीड़ा करें—यह तो चीरहरणके प्रसङ्गमें ही जाहिर हो गया था।

नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।

गोपियोंके मनमें तो था ही लेकिन अब श्रीकृष्णके मनमें आया—'भगवान् अपि रन्तुं मनश्चक्रे'में 'आपि'का यही भाव है। और श्रीधर स्वामीका एक भाव और कामके मनमें भी था कि ये संन्यासी लोग जो हैं उन्होंने कामका बहुत तिरस्कार किया है। तो तिरस्कृत होकर वह यह सोचने लगा कि भगवान् हमको स्वीकार करें तो इनके तिरस्कारका जो हमारा दुःख है वह मिट जायेगा।

कामस्तु मनश्चक्रे एव भगवानपि मनश्चक्रे।

काम तो चाहता ही था। इसीको श्रीधर स्वामीने दूसरे ढंगसे कहाकामदेवने ब्रह्माको जीत लिया।

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकंदर्पदर्पहा।

कामने ब्रह्माको जीत लिया सरस्वतीके प्रसंगमें और रुद्रको जीत लिया, मोहनीके प्रसङ्गमें। वृन्दा आदिके कई प्रसङ्ग पुराणोंमें ऐसे आते हैं कि कामने विष्णुको भी जीत लिया। शिवपुराण पढ़ें तो मालूम पड़ता है। वृन्दाके प्रति अतिशय आसक्ति विष्णुकी हो गयी; वह जब जल गयी तो विष्णु उसके चिताकी भस्म शरीरमें लगाकर बैठे और फिर क्या-क्या उपाय किया गया कि फिर पौधेके रूपमें प्रकट हुई। तो यह जो काम है वह बड़ा प्रबल अपनेको माने। इसने छाती ठोंकी। खम ठोंक दिया। ब्रह्माको जीता, रुद्रको जीता, विष्णुको जीता। अब कृष्णको जीत लें तो हम सचमुच अजेय हो जायँ। क्या? बोले—कृष्णने ब्रह्माका मद दूर किया, इन्द्रके मानका मर्दन किया, वरुणसे पूजा करवा ली, यह तो कोई बड़ा मालूम पड़ता है। तो कामने कहा कि हमसे दो-दो हाथ हो जाय! तो चाहता ही था कि हमसे दो-दो हाथ हो जाय! '**भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे**'—अब श्रीकृष्णके मनमें भी दो-दो हाथ करनेकी इच्छा हो गयी कि यह अच्छी क्रीड़ा होगी। 'अपि' से यही संकेत है।

३

रासके हेतु, स्वरूप और काल

भगवानपि ता रात्रीः वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लिमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(भाग० १०.२९.१)

अच्छा! '**भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः**' भगवान्‌ने रास-विलासका संकल्प लिया।

वेदान्त-दर्शनमें निरूपण है कि भगवान्‌का स्वभाव वैसा ही है जैसा लोगोंका स्वभाव होता है। जैसे लोग कभी लोगोंके बीचमें रहना, हँसना, खेलना पसन्द करते हैं, लीला करते हैं और कभी अकेले रहना पसन्द करते हैं; वैसे भगवान् भी कभी लोगोंमें रहना पसन्द करते हैं और कभी अकेले रहना पसन्द करते हैं। वेदान्त-दर्शनमें यह सूत्र ही है—'लोकवत् तु लीलाकैवल्यम्'। अर्थात् कभी लीला, कभी कैवल्य; कैसे? बोले—जैसे लोगोंकी। जैसे कोई आदमी कभी चाहता है कि हमारे पास कोई न रहे, एकान्तमें रहें, वैसे जब भगवान् एकान्त चाहते हैं तो महाप्रलय कर दिया, एकान्तमें चले गये। कभी भगवान्‌के मनमें आया कि अब तो खेलेंगे, सोसाइटी चाहिए, कम्पनी चाहिए, सामाजिक जीवन चाहिए, तो रंगमंचमें आकर तरह-तरहका वेश धारण करते हैं।

तो पहली बात देखो—बाल-धर्मका पालन कर रहे हैं भगवान्। जैसे छोटे-छोटे बालक आपसमें नाचते हैं, गाते हैं, खेलते हैं तो जब भगवान् अवतार लेकर आये तो बाल-धर्मका पालन करना उनका स्वभाव है। बालक बनें और 'ताताथेई' न करें, ऐसा नहीं होता। बचपनमें भाई! सब बालक नाचते हैं, माताएँ नचाती हैं। हम भी नाचे हैं! हमको याद है हमको भी दही मथनेके बाद जो कमोरीमें माखन चिपका रह जाता है—दहेंड़ीमें-से जो निकलती है मलाई—वह तब मिलती थी जब नाचते थे। तो यह नाचना, गाना, बजाना यह तो बालकका स्वभाव है। जब भगवान् बालक रूपमें आये तो बालक-धर्मका पालन करना स्वाभाविक है। नन्हीं-नन्हीं लड़कियोंके साथ बालक बनकर स्वयं भगवान् नाचते हैं।

श्रीमद्भागवतसे जब हम जाँचते हैं कि कितनी उम्रके साथ यह लीला हुई; तो सातवें बरसकी उमरमें गोवर्धन-धारण किया था। 'यः सप्तहायनो बालः'— साफ-साफ लिखा हुआ है। और गोवर्धन धारणके पहले ही चीरहरण हो चुका था। गोवर्धन धारणका तो वर्णन चौबीसवें अध्यायमें आया है और चीरहरणका वर्णन तो बाइसवें अध्यायमें है। अच्छा! चीरहरण हो चुका था। रसकी पुष्टिके लिए गोवर्धन-धारण है। अमावस्याके दिन इन्द्रयज्ञके स्थानपर गोवर्धनकी पूजा हुई और कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाके दिन अन्नकूट हुआ, द्वितीयाको इन्द्रको मालूम हुआ और तृतीयासे सात दिन तक धुआँधार वर्षा हुई। एक रातको सबलोग कालियदहपर सो गये, दावानल प्रकट होकर जहाँ जलाया गया। एकादशीके दिन नन्दबाबाने व्रत किया, द्वादशीको श्रीकृष्ण वरुण लोकमें गये, रोना पीटना होता रहा। इस तरह सातवें बरसकी शरद ऋतु बीत गयी। आठवें वर्षकी जब शरद ऋतु आयी तब आश्विन मासमें भगवान्‌ने रास-लीला की। श्रीजीव गोस्वामीजीने, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने बहुत खोज करके कहा कि इस समय आठ बरसके थे कृष्ण और गोपियाँ। ये बालकवत् नृत्य करते हैं। इसमें कोई वासनाका सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो बालधर्मका पालन है।

दूसरा देखो—मनुष्य-धर्मका पालन, मनुष्य धर्मका पालन क्या है? ये महाराज, आदमी जो हैं ये अर्थके दास हो गये, दिन भर कमाओ पशुकी तरह और शामको चारा खाओ और सो जाओ। उसी बछियाके ताऊ ज़िन्दगी भर बने रहेंगे। 'बछियाके ताऊ' कई लोगोंने नहीं समझा होगा। बछिया माने गायकी बछिया-बछड़ी। उसका ताऊ कौन होगा? बैल ही तो होगा। जिन्दगी भर बछियाके ताऊ। हलमें जोतते रहें, चरसमें जोतते रहें, हेंगा खींचते रहें। बस पैसा कमानेमें ही जिन्दगी भर लगे रहें और घर आये तो जो कुछ खली-भूसा मिला सो पेटमें डाला और सोगये। यह कोई जिन्दगी है! जैसे मनुष्यके जीवनमें अर्थ-पुरुषार्थ है, धन कमाना और कर्म करना, वैसे ही सुख-शान्तिसे रहना, आनन्द मनाना, यह भी मनुष्यका धर्म है। मनुष्यको काम-पुरुषार्थसे वंचित नहीं होना चाहिए। वह गावे, वह नाचे, वह हँसे, वह खेले, वह आनन्द मनावे। तो भगवान्‌को यह भी बताना था ग्वालोंको, गोपियोंको, मनुष्योंको। यह मनुष्य-धर्मका पालन किया कि उसको प्रसन्न रहना चाहिए।

अब देखो—रासलीला करके श्रीकृष्णने एक कूटनीति भी बरती हैं। कंसको शंका थी कि हमको मारनेवाला कहीं पैदा हो गया है। तो उसके ख्यालमें तो यह था कि जो पैदा हो गया है वह कोई वीर पुरुष होगा, कोई बहादुर होगा, सो सामने आकर हमसे युद्ध करेगा और हमको मारेगा। पर श्रीकृष्ण तो इधर नचकैया बन

गये। कहीं चीरहरण करें, कहीं माखन-चोरी करें, कहीं गोपियोंके साथ नाचें; तो उसको धोखा हो गया। यह कूटनीति बरत दी कि कंसको कत्तई पता न चले कि यह नचकैया ही हमको मारेगा। कंसके नाकके नीचे रहकर माखन-चोरी करते रहे, चीरहरण करते रहे, बाँसुरी बजाते रहे, रासलीला करते रहे। उसने सोचा कि यह नचनिया हमारे सामने आकर क्या खड़ा होगा। जब हम शुत्रुके बलको कम कूतते हैं तब धोखेमें पड़ जाते हैं। यह रणनीति है अपने शरीरके रोगको कम समझना, इन्द्रियोंके भोगाभ्यासको कम समझना और शत्रुको कमजोर समझना—ये तीनों बातें भूल हैं। तो कंसको ऐसे धोखेमें डाला कि वह भूल गया।

अब देखो—श्रीकृष्णने देव-धर्मका पालन किया। यह रासलीला थी देवता-धर्मका पालन कैसे? गोपियोंने देवीकी आराधना की। अब उनको देवीकी आराधनासे जो वर मिला, उस वरको पूर्ण करना यह भी तो देव-धर्म है न! जब उनको वरदान दे दिया कि—'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'—तुम इन रात्रियोंमें मेरे साथ बिहार करना, तो देवताका दिया हुआ वरदान झूठा तो नहीं होना चाहिए न! अतः देवधर्मका पालन किया।

अच्छा! श्रीकृष्णने ज्ञानी-धर्मका पालन किया। ज्ञानीका क्या धर्म होता है? ज्ञानीका धर्म है, ज्ञानीकी रहनी, स्वातन्त्र्य। भगवान् वेद-पशु नहीं हैं, वह धर्म-पशु नहीं हैं। धर्मपशुत्व, वेदपशुत्व ईशपशुत्व, यह जो मनुष्योंमें रहता है उससे वह मुक्त है।—'रासपंचाध्यायी' के अन्तमें यह बात आयी है :

यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ताः, योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः॥

जिसका ज्ञान हो जानेपर महात्मा लोग निरंकुश हो जाते हैं, स्वतंत्र हो जाते हैं, वही परब्रह्म परमात्मा जब शरीर धारण करके आया है तो उसके लिए वेदका बन्धन, समाजका बन्धन कहाँ होगा?

भगवान्ने भगवद्धर्मका पालन किया। भगवद्धर्म क्या है? प्रेमके अधीन हो जाना। यह भगवद्धर्म है। प्रेमीके सामने मुक्त भगवान् ही बद्ध हो जाता है। विरक्त भगवान् भी रागी हो जाता है। पूर्ण भगवान् भी नन्हा-मुन्ना हो जाता है। अभोक्ता भगवान् भी भोक्ता हो जाता है, अकर्त्ता भगवान् भी कर्त्ता हो जाता है। भगवान् उसको कहते हैं जो प्रेम-परवश होवे। गोपियोंके प्रेमके अधीन होकर उनके साथ रास करना यह भगवान्का धर्म है। यदि भगवान् डर जायें कि हमारी बदनामी होगी या सोचें कि हम तो नित्य-तृप्त हैं, नित्यानन्दमें मग्न हैं, हमको गोपियोंके

साथ नृत्य करनेकी क्या आवश्यकता; तो भगवान्में असङ्गता तो रही, वैराग्य तो रहा लेकिन अभिमान भी हो गया। भगवान् आनन्द-स्वरूप तो हैं परन्तु उसका आस्वादन तभी होगा जब अपने बड़प्पनका अभिमान छोड़कर छोटेकें साथ मिलेंगे। इसलिए रासके द्वारा भगवान् प्रेमपरवश होते हैं, इस मर्यादाकी स्थापना हुई।

अब देखो—दूसरी बातें—रस-मर्यादाका पालन किया भगवान्ने। रस-मर्यादा क्या है? रस-मर्यादा यह है कि अपने हृदयमें जो रस है उसको दूसरेके हृदयमें स्थापित कर दिया जाय। यह रसकी मर्यादा है। जैसे आपके घरमें कभी मिठाई बनती हैं, बूँदी बनाते हैं, तो पहले फीकी बूँदीको घीमें तलते हैं और जब चासनीमें डाल देते हैं तब वह बूँदी भी रसीली हो जाती है। यही है रसकी मर्यादा। क्या? कि स्वयं तो रस है ही दूसरेको भी रसीला बना दे, यह रसकी मर्यादा है। कड़ुवेको मीठा बना दें। आज हमारे पास करैलेका मुरब्बा आया है, पंजाबसे। हमारे एक भक्त हैं होशियारपुरमें उन्होंने तैयार करके करेलेका मुरब्बा भेजा है। तो रसकी मर्यादा यह है कि वह कड़वे करेलेको भी मीठा बना दे। आप कभी बनारास गये होंगे तो वहाँ बाँसका मुरब्बा बनता है और बाजारमें बिकता है। तो रसकी मर्यादा यह है कि बाँस जैसी सूखी नीरस लकड़ीको खाने लायक बना देता है। तो यह भगवान्का रास क्या है? कि जो भगवद्रस है, भगवान्का रस है, उसको गोपियोंके हृदयमें स्थापित करना, जनताके हृदयमें स्थापित करना; उस रसका साधारणीकरण कर देना, कि जो इसको पढ़ेगा, सुनेगा, देखेगा उसका हृदय भी रसमय बन जायेगा। यह रस मर्यादाकी पुष्टि हुई। रसमर्यादाकी पुष्टिके लिए भगवान्ने रास किया।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने रासका प्रयोजन ही यही बताया है कि ब्रह्मानन्द भगवान्में हमेशा रहता है क्योंकि स्वयं ब्रह्म है। पर जब कोई साधनमें थक जाता है और उसको वे पुष्टि देना चाहते हैं तो भगवान्के पास ब्रह्मानन्द तो स्वतः सिद्ध है तो स्वतः सिद्ध ब्रह्मानन्दसे भी बड़ा जो भजनानन्द है, भक्ति-आनन्द, प्रेम-आनन्द, रसानन्द, उसको गोपियोंके हृदयमें स्थापित करनेके लिए भगवान् रासलीला करते हैं। ब्रह्मानन्द शान्त आनन्द है! आप कभी गंगा-किनारे बैठें—पर धारा शान्त हो, आप उसको थोड़ी देर देखते रहिये मन एकाग्र हो जायेगा। समाधि लग जायेगी। गंगाकी धारामें मनको एकाग्र करनेकी शक्ति है। पर जिस समय शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु चलती है और आश्विनकी रात्रि हो या शारदीय प्रातःकाल हो और झिलमिल-झिलमिल थोड़ी लहरें उठती हों, तो वह लहरोंका उठना रसानन्द

है। एक शान्तानन्द है और एक रसानन्द है। स्फुरणशील आनन्द रसानन्द है। स्फुरणतामें रसानन्द है। रासलीलामें जो नृत्य है वह स्फुरणताका आनन्द है।

इस तरहसे किसी भी दृष्टिसे आप देखो—यह भजनानन्दका वितरण करनेके लिए, अपने प्रेमियोंके हृदयमें प्रेमानन्दका आधान करनेके लिए, सारी सृष्टिको चिन्मयी-सन्मयी-रसमयी बनानेके लिए, नेति-नेतिके जो उस पार है उस सच्चिदानन्दको सर्वसाधारणके लिए सुलभ बना देनेके लिए, यह भगवान्‌की रसमयी रासलीला है।

'रसानां समूहो रासः' रास माने रसोंका समूह। रसोंका समूह क्या? अब देखो—आप फल खायें तो जीभपर स्वाद ही तो मालूम पड़ेगा, स्वादके ज्ञानका नाम ही भोजन है। पेट फुलानेका नाम भोजन नहीं है। हमारे एक भगत ऐसे हैं कि उनसे पूछो कि तुम्हारा लाया जो भोजन है उसमें-से कितना हमारे पेटमें चला जाय तब तुमको संतोष होगा? तो बोलेंगे—महाराज! एक कटोरी तो खा ही लो। उस स्वादका वजन एक कटोरी बताते हैं। स्वादमें वजन नहीं होता। स्वाद ज्ञानात्मक होता है। जीभपर जो ये मिर्च है, नमक है, परवल है, चावल है, दाल है इसका जो पृथक्-पृथक् ज्ञान होता है, उस ज्ञानको ही स्वाद बताते हैं। जीभमें जो स्वाद होते हैं वह अलग-अलग स्वाद बताते हैं। स्वाद हमेशा ज्ञानात्मक होता है। इतना ही स्वाद रस नहीं है, कानसे जो 'आसावरी' सुनते हैं, जो षडक्षरी, केदारा, भैरवी सुनते हैं, यह कानका रस है। और त्वचासे जो सुकोमल प्रिय वस्तुका स्पर्श होता है, वह स्पर्शका रस है। नाकसे अपने प्यारेकी गन्ध सूँघते हैं, गुलाबकी गन्ध सूँघते हैं, कमलकी गन्ध सूँघते हैं, वह ज्ञान ही है सब। यह नाकका रस है। नाकसे रस, जिह्वासे रस, आँखसे रस, त्वचासे रस, कानसे रस—इन सबका सामूहिक रस रास है। तो यह रास क्या है? कि 'रसानां समूहः' । कहो तो एक-एक उद्धरण देकर बता दें!— **'कुलपतेरिहवातिगन्धः'** श्रीकृष्णके शरीरमें-से वह गन्ध निकलती है जिससे पशु-पक्षी भी एकबार समाधिस्थ हो जाते हैं। गोपियोंको तो—**'ददौ ताम्बूलचर्वितम्'**—**'गण्ड गण्डे संदधत्यादात ताम्बूलचर्वितम्**—ताम्बूलचर्वितका स्वाद है। वहाँ नेत्रका रस है—कृष्ण देख रहे हैं, देखे जा रहे हैं! स्पर्शका रस हैं। नाचते हैं न **'बाहुंप्रियांस उपधाय'** प्यारीजीके कन्धेपर हाथ रखकर चलते हैं—

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां, कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

वहाँ वीणा-मृदङ्ग बज रहे हैं। वहाँ बाँसुरी बज रही है। वहाँ संगीत हो रहा है। वह शब्दरस, स्पर्श-रस, रूप-रस, स्वाद-रस और गन्ध, घ्राणरस,—'रसानां

समूहः '—यह रसका समूह हो गया। 'सर्वरसः सर्वगन्धःसर्वकामः।' जो चाहो सो लो। अपना सर्वस्व लुटानेके लिए भगवान्ने अपनी सत्ताको विकीर्ण कर दिया, अपने ज्ञानको विकीर्ण कर दिया, अपने आनन्दको बिखेर दिया। रासलीलामें आनन्दके धूलिकण उड़ते हैं। आनन्दकी बहार, फुहारें उड़ती हैं। आनन्दकी चाँदनी छिटकती हैं, आनन्दकी हवा बहती है, आनन्दकी आवाज गूँजती है। वहाँ आनन्द ही आनन्द, आनन्द ही आनन्द। वहाँ आनन्दकी लीला है-माने वहाँ आनन्द देनेवाला भी आनन्द, आनन्द लेनेवाला भी आनन्द, वहाँ क्रिया भी आनन्द और भोग भी आनन्द, इसको बोलते हैं रास-'**रसानां समूहो रासः**'। बात यह है कि वेदान्तियोंका ब्रह्म अकेला है और यहाँ भक्तोंका जो रस है, वह अनेक होकर विलास कर रहा है। वेदान्तियोंका रस एक होकर शान्त हो रहा है, एक होकरके समाधिस्थ हो रहा है। इसीका नाम रासलीला है।

रासमें जो नृत्य होता है उस नृत्यका नाम नाट्यशास्त्रके अनुसार है—हल्लीषक। सैकड़ों प्रकारके नृत्य होते हैं, जैसे केवल अंगूठेके बलपर नृत्य, नूपूरकी विशेषतासे नृत्य—नूपुर बजते हैं न पाँवमें तो नुपूर बजे एक घुँघरू बजे कि दो घुँघरू बजें कि तीन घुँघरू बजें, यह बजानेमें नृत्यकी विशेषता होती है। यह नहीं कि जैसे पशु उछलता है! हमने कभी-कभी देखा है—लोग नाचना माने क्या समझते हैं, हमको मालूम नहीं पर कोई राग नहीं, कोई स्वर नहीं, नाचनेके नाम पर दोनों हाथ उठाकर सिर्फ उछलते हैं जैसे एक दूसरेको हाथ पकड़कर कुश्ती लड़ रहे हों। वह रास नहीं है, वह डांस है।

यह देखो—संस्कृतमें रास-लास-डास, ये तीनों संस्कृतके शब्द हैं—'रलयोरभेदः;डलयोरभेदः'। ऋ और लृ में सावर्ण्य है और लृ और 'ड' में सावर्ण्य है। 'रलयोरभेदः डलयोरभेदः'-तो जो रास है वही लास है वही डास है। 'लास' संस्कृत शब्द है। लास माने नृत्य। अंग्रेजीमें तो जो लास है वह बनियोंके कामका है।

तो एक अंग हिले, आँखकी केवल पलक चले, केवल भौंह चले, केवल ठुड्डी हिले, इसमें सबमें भाव होता है। जैसे—कामशास्त्रके अनुसार रतिविलासके चौरासी आसन होते हैं, जैसे योगशास्त्रके अनुसार चौरासी आसन होते हैं—वीरासन, सिद्धासन आदि; वैसे नृत्यकी भी चौरासी मुद्राएँ हैं। आप लोग कभी दक्षिण गये हों तो वहाँ चिदम्बरम् तीर्थमें पाषाणमें नृत्यकी चौरासी मुद्राएँ खोदी हुई हैं। चिदम्बरम् भगवान् नटराज तो हैं ही। इसलिए नृत्यकी मुद्राएँ वहाँ खुदी हुई

हैं। तो वे नटराज हैं और ये नटवर हैं। 'वर' शब्द कृष्णके ही साथ बढ़िया जुड़ता है और किसीके साथ नहीं, शंकरजीको नटवर नहीं बोलते हैं, शंकरजीको नटराज बोलते हैं। नटवर शब्द केवल कृष्णके साथ जुड़ता है। नचाता कौन है? देखो— वैसे तो सबको नचानेवाला भगवान् है। आप जानते ही हैं उसको नचानेका बहुत शौक है:

जग पेखन तुम देखन हारे।
विधि हरि शम्भु नचावन हारे॥

ब्रह्माको नचायें, विष्णुको नचायें, शंकरको नचायें, सबको नचाता है भगवान्। भगवान् वह है जो सबको नचावे। पर कोई ऐसा हो जो भगवान्से भी कहे—उठो, नाचो! नचाते ही रहोगे हमेशा कि नाचोगे भी! तो वह कौन है? देखो—परमस्वतन्त्र जो ईश्वर है, सर्वाधिक सबका मालिक। वह सबको तो नचाता है लेकिन प्रेमके हाथों नाचता है। तो ईश्वरका भी ईश्वर कौन है? ईश्वरका ईश्वर प्रेम है। प्रेम ईश्वरको भी वशमें करता है, यही प्रेमका स्वभाव है। प्रेमका स्वभाव है ईश्वरको भी वशमें करके बोले कि अब पहनो पीला कपड़ा! कहा—हाँ हजूर, पीला ही पहनेंगे। बोले—छोटे बन जाओ, बड़े बन जाओ, बायें हो जाओ, दायें हो जाओ, ऊपर हो जाओ, नीचे हो जाओ! कि हाँ हजूर, ऐसा ही। यह क्या है? यह प्रेम जो है भगवान्को फँसाता है।

आपको आश्चर्य होगा कि वेदान्ती लोग मानते हैं कि यह जगत् चेतन ब्रह्मका विवर्त है। विवर्त माने विरुद्ध वर्त्तन, जो चीज जैसी है वैसी न भास करके, उसके विपरीत भासे तो उसको बोलते हैं विवर्त्त। आपलोग मनुस्मृति पढ़ते होंगे, वेदान्तदर्शन पढ़ते होंगे। ठीक है प्रेमशास्त्र पढ़नेका काम तो कम पड़ता होगा आपको। सबको मिलता भी नहीं है, सबकी रुचि भी नहीं होती है। प्रेमशास्त्रका कहना यह है कि प्रेम अनन्त समुद्र है अनन्तरसका समुद्र है प्रेम। बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दायें-बायें, यह-वह, मैं-तू सब क्या है? कि प्रेम रस है। आनन्द है; आनन्द ब्रह्म है और उसका विवर्त क्या है? उसका विवर्त है—राधा-कृष्ण। प्रेम रसके समुद्रमें एक तरंग उठती है—राधा बनती है और एक तरंग उठती है—कृष्ण बनती है। दोनों दो ओरसे आते हैं, आपसमें मिलते हैं, एक दूसरेमें समा जाते हैं। बायेंवाली राधा दाहिनें आ जाती है; दाहिनेवाले कृष्ण बायें आ जाते हैं। कृष्ण बायें आ जाते हैं। कृष्ण राधा हो जाते हैं, राधा कृष्ण हो जाती हैं। क्योंकि जल तो एक ही है सिर्फ तरंगें दो हैं। इसलिए रस-समुद्रमें राधाकार तरंग, कृष्णाकार तरंग, दोनोंका पृथक्

होकर नाचना, दोनोंका आपसमें मिलना, दोनोंका दायें, बायें हो जाना, यह सब रसात्मक ही है।

आपव देखो—एक वेदान्तकी बात सुनाते हैं। आकृति जितनी हैं ये सब सत्तामें खिंच गीं हैं। आकार सद् विवर्त है। पर चिद् विवर्त क्या है? कहा—वृत्तियाँ। वृ यों जितनी हैं चिद्-विवर्त हैं। बुद्धिवृत्तियाँ जो हैं वे ज्ञानसे अनुगत ही होती हैं और आकार जितने होते हैं वे सत्तामें ही अनुगत होते हैं। और ये हमारे इष्टदेव, प्यारे इष्टदेव, कौन हैं? तो ये आनन्द हैं। आनन्दमें भावके द्वारा रेखा खींचकर इष्टकी आकृति बनती है। आनन्द-समुद्रमें, आनन्द ब्रह्ममें, भक्तका जो भाव है वह आकृति बनाकरके आनन्दको ही अपने प्रियतम इष्टदेव के रूपमें देखता है।

तो सद्-विवर्त आकार, चिद्-विवर्त बुद्धिवृत्तियाँ और आनन्द-विवर्त इष्टदेव। उस इष्टदेवसे प्यार करो। देखो चित्त्-विवर्त और सद्-विवर्तमें जो राग है वह बिलकुल छूट जायेगा। संसारकी आकृतियोंमें जो राग है और चिद्-विवर्त बुद्धि-वृत्तियोंमें जो राग है वह बिल्कुल छूट जायेगा ये भगवान् रस-स्वरूप हैं। 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे' कल आपको सुनाया था। मनमें तो आता है कि थोड़ा हँसी-खेलकी बात सुनावें। आज तो हमको एक आदमीने फोन किया था, शायद यहाँ बैठे हों कि आप सबेरे वेदान्तकी जरा ज्यादा गम्भीर बातें करते हैं तो समझमें नहीं आतीं, वहाँ भी थोड़ी भक्ति, उपासना या प्रेमकी बात किया करें। अब यहाँ भी भक्ति-प्रेमकी बात करने लगते हैं तो कोई-कोई बात ऐसी हो जाती है जो जरा गम्भीर है। प्रेमका सिद्धान्त भी उतना ही गम्भीर है जितना ज्ञानका। चिद् जितना गम्भीर है आनन्द भी उतना गम्भीर है।

तो मनको ले चलो भगवान्की लीलामें! यह वृन्दावनकी भूमि है। कदम्बके वृक्ष हैं, बेला-चमेलीके पुष्प खिलते हैं यहाँ और तुलसीकी सुगन्धसे यह भूमि भरपूर रहती है। भगवान् भूमिमें रास करते हैं क्योंकि पृथिवीके बुलानेसे आये हैं। और ये तुलसी है, बेला है, चमेली है, गुलाब है, कमल है, चम्पा है, ये सब कौन हैं? कि ये पृथिवीके द्वारा भगवान्का स्वागत किया जा रहा है। पृथिवीका रोम-रोम फूल बनकर खिल रहा है, पृथिवीका स्पर्श करके शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रहा है। 'भगवानपि'—जब भगवान् देखते हैं कि हमारे सामनेवालेके हृदयमें प्रेमकी ऐसी तैयारी है तो 'भगवानपि' भगवान् भी रासका मन बना लेते हैं।

कल मैंने भगवान् शब्दका जैसा अर्थ कर दिया था। तो विपिन बाबूने

कहा—छहों ऐश्वर्यवाली बात कहाँ चली गयी! तो विष्णु पुराणमें भगवान् शब्दका दो अर्थ लिखा हुआ है—भगवान्का एक अर्थ है—ईश्वर और भगवान्का दूसरा अर्थ है तत्त्वज्ञानी। दो अर्थोंमें विष्णुपुराणमें भगवान् शब्दका व्यवहार हुआ है। दोनों श्लोक हमको याद है—

उत्पत्तिं च विनाशञ्च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

जो उत्पत्तिका रहस्य, प्रलयका रहस्य, प्राणियोंके लोकान्तर गमन और आगमनका रहस्य और अज्ञान और ज्ञान-इन छह बातोंको जाने उसको भगवान् कहना और—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णाम भग इतीरणा॥

यह ईश्वरके लिए है। समग्र ऐश्वर्य, समग्रज्ञान, समग्रवैराग्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र लक्ष्मी जिसमें विद्यमान हों उसको कहना भगवान्। तो एक तो भगवान् हुआ—षड्विध ऐश्वर्यशाली ईश्वर और एक हुआ सर्व-रहस्यका विज्ञाता—**'यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति'** वह तत्त्वज्ञानी है।

हमें कल किसीने बताया कि कुछ महाशय ऐसे होते हैं जो कहते हैं कि यह भगवान् शब्द अच्छा नहीं है। भगवान् नामसे ही वे चिढ़ते हैं। तो उसी समय हमको ध्यानमें आया कि ऋग्वेदमें तो भगवान् शब्दका कितनी बार प्रयोग है और बड़े प्रशस्त अर्थमें, और उपनिषदोंमें भगवान्, 'भगवन्' इस शब्दका प्रयोग है। तो यहाँ 'भगवानप'का अर्थ यही कर लो कि बड़े ऐश्वर्यशाली हैं, धर्मात्मा भी हैं, यशस्वी हैं। अब भक्त जो होगा उसका काम तो यह है कि इष्टदेव यदि धर्मात्माके रूपमें विख्यात हैं तो उनका और धर्म बढ़े; उनका बड़ा यह है तो कोई कलंक न लगने पावे; यह वैराग्यवान् है तो उनका वैराग्य और प्रज्वलित होवे; बड़े सुन्दर हैं तो उनका सौन्दर्य और बढ़े। यह भक्तका काम हुआ। लेकिन महाराज! भगवान् इसकी परवाह नहीं करते। 'भगवानपि', 'भगवानपि वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'।

भक्तको तो यह चाहिए कि वह भगवान्का यश बढ़ावें, भगवान्का धर्म बढ़ावें, भगवान्का वैराग्य बढ़ावें, और बढ़ा-बढ़ाकर, सोच-सोचकर खुश हों; परन्तु भगवान्को जब भक्तोंके बीचमें कूद-कूदकर आना पड़ता है तो वे अपने ऐश्वर्यको नहीं सँभालते। कहा—भले लोग हमको—ऐश्वर्यशाली न समझें, हमको गरीब ही समझें; हमको यशस्वी न समझें,कलंकी समझें; हमको धर्मात्मा न

समझें, अधर्मी समझें, हमको सुन्दर न समझें, कुरूप समझें; लेकिन हम अपने प्रेमीको भला कैसे छोड़ सकते हैं भाई! यह भगवद्-धर्म है। तो 'भगवानपि' भगवान् होनेपर भी, इतने बड़े ऐश्वर्यशाली होनेपर भी, जब देखा कि हमारा प्रेमी हमारे लिए तड़प रहा है, हमसे मिलनेके लिए व्याकुल हो रहा है, तो अपने समग्र ऐश्वर्यकी, समग्रधर्मकी, समग्र ज्ञानकी, समग्र वैराग्यकी, समग्र यशकी, श्रीकी उपेक्षा करके 'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे' हमको देखा तो कूद पड़े। यह 'भगवान्' शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्यशाली' लेकर 'भगवान' का अर्थ हुआ। और 'भगवानपि' का अर्थ कल बताया था कि गोपियोंके मनमें तो विहारका संकल्प था ही, अब भगवान्ने भी किया। यह भी बताया था कि कामके मनमें दो-दो हाथ आजमानेकी थी ही, अब भगवान्ने भी संकल्प किया। 'अपि' शब्दका अर्थ संस्कृमें होता है 'भी'।

अब एक भाव और देखो—हँसीकी बात है। हँसीकी भी बात मैं कह रहा हूँ—'भगवानपिता रात्रीः' है न—'कथं भूतो भगवान्', कहा-'अपिता'। बाप ही नहीं है उनके! अगर कोई बापवाला बालक होता तो उसको डर लगता कि हम कोई गड़बड़-सड़बड़ करेंगे तो हमारा बाप डाँटेगा। पूछेगा—रातमें कहाँ गये थे? कि नाच रहे थे? तो वह तो डाँटेगा, नियन्त्रण करेगा। और ये कैसे हैं कि 'अपिता'—इनके तो बाप ही नहीं। 'भगवानपिता'-'अपिता' का अर्थ स्वतंत्र है। लौकिक व्याकरणके अनुसार 'अपितृकः'। देखो इसीलिए कृष्ण भगवान्का जो जन्म है न, व्रजवासी लोग समझते हैं कि नन्द बाप हैं और मथुरावासी समझते हैं कि वसुदेव बाप हैं। अब दोनोंमें कौन बाप हैं? बाप ही गड़बड़ा दिया! दो बाप रहेंगे तो संशयमें पड़ जायेंगे। इसीलिए श्रुतिमें भी व्याख्या ऐसी की जाती है। सृष्टिमें पहले क्या पैदा हुआ? तो बोले—पहले आकाश पैदा हुआ। दूसरी श्रुतिने कहा—पहले तेज पैदा हुआ। तीसरीने कहा—पहले-पीछे पैदा होना सब-का-सब गड़बड़ाध्यायी है। जब एक बातको दो तीन तरहसे गवाह बोलता है तो बात झूठी मानी जाती है। यह सृष्टि कल्पित है। यह सिद्ध करनेके लिए दो-तीन तरहसे बात बतायी जाती है। भगवान् सबके बाप हैं, बापके बाप हैं। इसीलिए तो 'भगवानपिता' हैं।

अब रासका समय कैसा आया—'ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिका' अरे! बाबा, वह 'रात' तो मोती-हीरासे जटित नीली साड़ी पहनकर और वह चाँदनीकी चमचम चमक लेकर मुस्कुराती हुई आयी। रातकी मुस्कुराहटका नाम चाँदनी है और रातकी साड़ीका नाम नीलिमा है। आकाशकी नीलिमा रात्रिकी साड़ी है और

उसमें जो तारे हैं ये हीरे-मोती जड़े हैं और चाँदनी रातकी मुस्कान है। यह उद्दीपन बनकर आयी। माने हमको जब भगवान् मुस्कुराते हुए, नीली साड़ी पहने हुए, हीरा-मणि-मणिक्यसे जटित वस्त्र धारण किये हुए देखेंगे तो उनको गोपियोंकी याद जरूर आयेगी।

तो '**ताः रात्री वीक्ष्य**'—एक रात ही नहीं, सारी रातें आयीं। वहाँ गड़बड़ यह हो गयी थी बोलनेमें कि जब भगवान्ने गोपियोंको वरदान दिया था तो यह नहीं कहा कि 'शरदकी पूर्णिमाको हम रास करेंगे। ऐसे कहा था कि—'**मयेमा रंस्यथ क्षपाः**' अगली रात्रियोंमें तुम हमारे साथ बिहार करना। अगली रात्रियाँ कौनसी? तो जबसे भगवान्ने वरदान दिया तबसे लेकर और कल्प भरमें जितनी रातें होनेवाली थीं, वे सब सोलहों शृंगार करके आकर खड़ी हो गयीं। हाँ, सोलहों शृंगार छत्तीसों आभरण धारण करके। जैसे-छह राग और छत्तीस रागिनी बोलते हैं न, वैसे तो वे सब रातें रस लेकर जब आकर अड़ी हुईं तब भगवान्ने कहा—तुम कौन?

बोली—महाराज! जिनमें विहार करनेके लिए आपने वरदान दिया वे रात्रि हैं हम। ये कालकी अभिमाननी हैं। ये जो सोलह तिथियाँ हैं—प्रतिपदासे लेकर चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा तक—इन सोलहोंको नित्या बोलते हैं। इन सबकी एक-एक रात होती है। और सोलहों रात्रिमें शत-शत सहस्र-सहस्र कलाएँ होती हैं। इस प्रकार सोलह हंजार इनकी गिनती हो जाती है। कालके प्रत्येक अवयवके साथ भगवान्का विहार है। प्रतिक्षण वृत्ति होती है प्रतिक्षण वृत्ति। तो भगवान् सबमें विहार कर रहे हैं। कोई काली है, कोई गोरी है, प्रतिपदा भी तो है उसमें। शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा काली होती है तो और कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा गोरी होती है। अच्छा ये जो घटा-बढ़ी होती है प्रकाशमें, वह मुस्कानमें होठोंकी कट जैसे होती है, कितने दाँत दिखते हैं, इसके कारण है। शुक्ल पक्षकी प्रतिपदा हो तो वह हँसती नहीं है और कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा मुँह खोलकर हँसती है, उसके बत्तीसों दाँत दिखते हैं। यह उसका हिसाब है। तो प्रत्येक तिथिको नित्या बोलते हैं और ये सोलह नित्या होती हैं और सोलह नित्याके एक-एक हजार कला-भेद होते हैं। तो ऐसे संख्या सोलह हजार हो जाती है।

एक बारकी बात है—एक सज्जन ने पूछा—महाराज! कृष्ण भगवान्ने और सब तो बहुत बढ़िया किया पर सोलह हजार जो ब्याह कर लिया, वह ठीक नहीं किया। हमने कहा—नहीं भाई! यह तो बहुत घटाते-घटाते कम करके ब्याहकी संख्या बतायी गयी है। जितनी वृत्ति संसारमें है, जितने प्राणी हैं, जितने मनुष्य हैं,

जितने देवता हैं, जितने पशु-पक्षी हैं, उनके चित्तमें जितनी वृत्ति होती है, पहले हुई और होगी, उनके साथ रास करनेवाला वही है। अनन्त गोपियोंके साथ रास-विलास करनेवाला है। उसके लिए केवल सोलह हजार बताना, यह तो उसकी तौहीन है। ये सोलह हजार नित्याएँ हैं।

इसीसे—'ता रात्रीः वीक्ष्य' माने जिनके लिए वरदान दिया था उन सब रात्रियोंको देख करके। अब रात्रि किसको कहते हैं तो जो रमण समर्पण करे उसका नाम रात्रि है। 'रा' धातु जो है वह दान अर्थमें है और 'आदान' अर्थमें भी है। 'रैदाने आदाने च' जो दे और ले—दोनों काम करे—उसको रात्रि बोलते हैं। तो **'ताः वीक्ष्य रात्रीर्वीक्ष्य शरदोत्फुल्लमल्लिकाः वीक्ष्य।'**

४

रासके संकल्पमें गोपी-प्रेमकी हेतुता

(रात्रीर्वीक्ष्य)

अब आओ, भगवान्की लीलामें प्रवेश करें। भगवान्का कैवल्य और भगवान्की लीला। जिसका कैवल्य, उसीकी लीला। लीला न हो तो कैवल्यकी सिद्धि बिलकुल नहीं हो सकती। लीलाका निषेध करनेपर तब कैवल्यकी सिद्धि होती है; परन्तु जो लोग लीला नहीं मानेंगे कैवल्य उनके अनुभवका विषय ही नहीं होगा। यह वेदान्तकी एक बात आप देखो—पहले हम यह बमगोलेकी तरह डालते हैं—यदि लीलाका आरोप करके उसका अपवाद किया जायेगा तब कैवल्यकी सिद्धि होगी और यदि लीलाका आरोप किया ही नहीं जायेगा तो किसका अपवाद करके कैवल्यको सिद्ध करेंगे? इसलिए वेदान्तमें प्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका जितना उपयोग है ब्रह्मकी सिद्धिके लिए, लीलाका भी उतना ही प्रयोग है। अब कहो यहाँ भी वेदान्त ही बघारने लग गये; तो यह इसलिए कहा कि जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे 'लोकवत् तु लीला कैवल्यं' इस वेदान्त-दर्शनके सूत्रको समझें।

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(भाग० १०.२९.१)

एक चीज ऐसी आ गयी भगवान्के सामने कि देखकर उनको अपना अकेलापन खेलने लगा। 'भगवानपि ता रात्रीः वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान् हैं अपने आनन्दमें परिपूर्ण 'स्वानन्दरससंतृप्त, आह्लादिनीसमासंश्लिष्ट, स्वयं आह्लादस्वरूप, परन्तु एक चीज ऐसी आ गयी भगवान्के सामने। जादू तो वह जो सिरपर चढ़कर बोले। सौन्दर्य तो वह जो भगवान्को भी अपनी ओर खींच ले, माधुर्य तो वह जो भगवान्को भी अपनी ओर खींच ले। '**भगवानपि ता रात्रीर्वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे**'—ऐसी रात ऐसी रात-ऐसी रातें आयीं-'रात्रीः'—जिनको देखकर भगवान्के मनमें विहारका संकल्प उठा कि अगर ऐसी रातमें भी बिहार न करेंगे तो, अगर ऐसी रातमें भी बाँसुरी न बजेगी, अगर ऐसी रातमें भी नृत्य नहीं किया, अगर ऐसी रात्रिमें भी गोपियोंके साथ क्रीड़ा नहीं की तो हमारा भगवान् बनना व्यर्थ गया। '**कैशोरं सफलीकरोति**' अपने भगवान्-पनेको सफल बनाया। यह वृन्दावनका

रास और यह वृन्दावनकी भूमि और ये वृन्दावन निकुञ्ज और यह वृन्दावन जिसको देखकर भगवान्‌के मनमें भी विहरनेकी इच्छा हो गयी।

'भगवानपि'—भगवान्‌का अर्थ है जो सब प्रकारसे पूर्ण हो। उनको अपनेमें न्यूनताकी अनुभूति नहीं है, कुछ अभाव नहीं है, कुछ हीनता नहीं है, कुछ दीनता नहीं है, कुछ कमी नहीं है, कुछ चाह नहीं है। पर कोई ऐसी चीज आयी सामने कि जिसने भगवान्‌के हृदयमें चाह उत्पन्न कर दी। ऐसी क्या चीज है भाई। तो बोलते हैं—'**ता रात्रीः वीक्ष्य।**' देखो—इसका विभाग कर लो—'**ताः वीक्ष्य, रात्रीः वीक्ष्य, शरदोत्फुल्लमल्लिकाः वीक्ष्य,** और '**ताः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रीः वीक्ष्यः।**' अलग-अलग और एकमें भी।

तो पहले 'ताः वीक्ष्य' ले लो—'**तन्वन्ति भगवति प्रेम इति ताः—तनु विस्तारे**' से। जो अपने प्रेमको भगवान्‌के साथ जोड़ती हैं; वे हैं ताः—गोपियाँ क्योंकि गोपियाँ भगवान्‌के साथ प्रेम जोड़ती हैं। प्रेमके दो पहलू हैं। जैसे कि एक सिक्के के दो पहलू हैं उसी प्रकार प्रेमके दो पहलू हैं-एक ओर त्याग और एक ओर ग्रहण। त्याग-अपने प्रियतमसे अन्यका; और ग्रहण—अपने प्रियतमका। गोपियोंमें यह विशेषता है कि उनमें श्रीकृष्णसे अन्यका त्याग है और श्रीकृष्णके प्रति दृढ़निष्ठा, दृढ़ आग्रह और दृढ़ ग्रहण है। जो भक्ति करेगा उसको वैराग्य करना नहीं पड़ता; क्योंकि प्रेमी सहज विरक्त होता है, भक्त सहज विरक्त होता है, क्योंकि उसके मनका भगवान्‌के सिवाय दूसरे किसीके साथ लगाव ही नहीं है। आपने श्रीमद्‌भागवतमें कभी सुना होगा। एक प्रश्न है— ब्रह्माजीने श्रीकृष्ण भगवान्‌से प्रश्न किया—हे प्रभु! आप इन व्रजवासियोंको क्या देंगे,क्या फल देंगे?

येषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवराता।

रासके प्रसंगमें रात्रि है, वहाँ रात है, '**किं देवरात इति नः**' हे देव! तुम इन ब्रजवासियोंको क्या दोगे? क्या दान करोगे? बोले कि ब्रह्माजी! हम जरा अभी बाँसुरी बजानेमें लगे हैं, विचार करके तुम्हीं बता दो, जो इनको देना हो सो हम इनको दे देंगे। अरे, हमारे तो एक सिर हैं और तुम्हारे तो चार सिर हैं। तुम्हारे दिमाग भी बहुत हैं, बुड्ढे भी हो, अनुभवी हो, तुम्हीं बता दो। बोले—

चेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।

ब्रह्मास्तुतिमें है यह श्लोक। बोले—सब साधनोंके फल तुम हो सो तुम जब इनको मिल चुके तो तुम्हारे सिवाय और दूसरा कौन-सा फल है? ब्रह्माजी कहते हैं ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हमारा दिमाग खराब हो जाता है, मोह होता है कि इनको आप क्या

दान करोगे? भगवान्ने कहा—जब हमसे बड़ी कोई चीज नहीं है तो हम अपने आपका दान करते हैं। ब्रह्माजीने कहा—इससे तो काम नहीं बनेगा, इससे तो आप उऋण नहीं हो सकते! क्यों?

सत्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता।

अरे! पूतना तो 'सद्वेषादिव' भलेमानुष भी नहीं थी, भलेमानुषका वेश बनाकर आयी थी। उसके हृदयमें द्वेष था, स्तनमें जहर था और मारनेकी नीयत थी; उसको भी तुम मिल गये। तो अगर व्रजवासियोंको भी तुम ही मिले, तो एक वो ढोंगी, बाकी पूतना राक्षसी, लोक बालघ्नी, उसको भी तुम मिले और इन व्रजवासियोंको भी तुम ही मिले तो इसमें क्या प्रेमका ऋण चुका? श्रीकृष्णने कहा—अच्छा, अगर तुम्हारे मतमें मैं सबसे श्रेष्ठ फल हूँ और अगर मेरे मिलेनेसे तुमको सन्तोष नहीं हुआ तो हम गोपियोंके जितने रिश्तेदार-नातेदार होंगे—उनके नाना-नानी, दादा-दादी और उनके खानदानमें पैदा होनेवाले सब उनको भी मैं मिल जाऊँगा। और जो लोग उनका नाम स्मरण करेंगे उनको भी हम मिलेंगे। ब्रह्माजी बोले—पूतनाको भी तुम ऐसे ही मिल गये—'**सकुला त्वामेव देवापिता**' —अरे, बकासुरको तुम मिले, अघासुरको तुम मिले, पूतनाका सारा खानदान तुम्हारे अन्दर समा गया, सबको तुम मिल गये! मेरे विचारसे तो हे कृष्ण! तुम व्रजवासियोंसे उऋण नहीं हो सकते। अब कृष्णने पूछा कि ब्रह्माजी! तुमको व्रजवासियोंमें क्या विशेषता देखनेमें आती है? देखो अब व्रजवासियोंकी विशेषता बताते हैं ब्रह्माजी—'**यद्धामार्थसुहृद्प्रियात्मतनयप्राणाशयात्वत्कृते**'—इन्होंने अपना घर, अपना धन, अपने सगे सम्बन्धी, अपने प्यारे, अपना शरीर, अपने बेटे, अपने प्राण, अपना दिल, अपना आपा, सब कुछ आपको दे दिया! अब अगर तुम भी उसके बदलेमें अपना सब कुछ देते हो तो बराबरी ही तो हुई न? उऋण कहाँ हुए? व्रजवासियोंसे उऋण आप नहीं हो सकते। ब्रह्माजीने बताया कि—

यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पादरजः श्रुतिमृग्यमेव।

ब्रजवासियोंकी विशेषता है इनका त्याग जो प्रेमका दूसरा पहलू है। इनका कितना त्याग कृष्णके लिए और कृष्णका कैसा ग्रहण! उनका सारा जीवन कृष्णके लिए—सोती हैं कृष्णके लिए, जगती हैं कृष्णके लिए, कपड़ा पहनती हैं कृष्णके लिए, बोलती हैं कृष्णके लिए, हँसती हैं कृष्णके लिए, रोती हैं कृष्णके लिए। प्रेममें रोना भी होता है पर इसके लिए नहीं रोतीं कि हमको साड़ी नहीं मिली। अपने महत्त्वके लिए रोना नहीं होता है। अपनेको सुख पहुँचानेके लिए रोना या हँसना नहीं होता है। प्रेमीका अपना सम्पूर्ण जीवन अपने प्रियतममें समर्पित हो

गया, लीन हो गया। अगर परमात्माका ज्ञान हो और कोई परमात्मामें लीन हो जाय तब न तो कोई परिश्रम है, न आश्चर्य है। लेकिन ज्ञान न हो और कोई अपने आपको परमात्मामें लीन कर दें, उसके लिए भगवान् कहते हैं कि हमको वह अधिक आदरणीय है। उसकी महिमा तो भगवान् भी नहीं बखान कर सकते। भगवान्की प्रणाली यही है। गीताके अन्तमें देखना। भगवान्ने बताया है उससे बढ़कर प्यारा दूसरा कोई है ही नहीं—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

तो—'**यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दः**'-गोपीका दिल ही कृष्णसे नहीं भरा है, गोपीका दिमाग ही कृष्णसे नहीं भरा है, गोपीका रोम-रोम कृष्णसे भरा है। ऐसा ज्ञान हुआ तो क्या हुआ कि आत्मा-आत्मा एक और बोले—कि यह हड्डी, यह मांस, यह चाम, यह विष्ठा और यह क्या-क्या—अरे ये तो सब अनात्मा हैं, ये तो दृश्य हैं, ये तो जड़ हैं, इनको फेंको। आत्मा-आत्मा एक। गोपियोंने कहा—बाबा! हमारा जो कुछ है सो तुम्हारा, यह हमारी हड्डी भी तुम्हारी, यह मांस भी तुम्हारा, यह खून भी तुम्हारा, ये हमारे गाल भी तुम्हारे, ये हमारी छाती भी तुम्हारी, हमारा मुँह भी तुम्हारा, हमारे हाथ भी तुम्हारे, हमारे पाँव भी तुम्हारे, कुछ बचाकर नहीं रखा! अलगाव करके नहीं दिया कि इतना हमारा, इतना तुम्हारा, इतना संसारका। सब कुछ तुम्हारा ही। '**यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दः**'— व्रजवासीका सम्पूर्ण जीवन भगवान् मुकुन्द है।

देखो—इसके बाद जो ब्रह्माजीने बात कही है—यह भागवतमें-से आपको बता रहा हूँ कि गोपियोंका कितना प्रेम है कि श्रीकृष्ण उनकी याद आते ही, उनके साथ रास-विलास करनेको उत्सुक हो जाते हैं। गोपियोंका कितना प्रेम है यह— बतानेके लिए कहता हूँ—

'**अद्यापि यत्पादरजः श्रुतिमृग्यमेव**' श्रुति बड़ी कि गोपी बड़ी? समझो, किसीके घरमें दो पत्नी हों और उनमें-से एक तो कान भरती हो और दूसरी मुँह मीठा करती हो, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है—कान भरनेवाली कि मुँह मीठा करनेवाली? कहा—मुँह मीठा करनेवाली बड़ी है। तो ये जो श्रुति हैं ये तो भगवान्का कान भरती हैं—श्रुति हैं। और गोपी जो है वह तो मुँह मीठा करती है। वह तो—लो माखन, लो मिश्री। अरे भाई लो सर्वस्व! गोपी शब्दका अर्थ ही यही होता है।

इसमें एक बात मैंने जान-बूझकर कहनेसे छोड़ दी है; जो रसिक हैं वे तो

समझ जायेंगे—कान भरना और मुँह मीठा करना—और जो अरसिक हैं वे नहीं समझेंगे।

'**अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव**'—श्रुति और गोपीकी तुलना करते हैं। क्या तुलना करते हैं कि श्रुति कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

सबके लिए सब प्यारे नहीं होते, अपने लिए सब प्यारे होते हैं—पति पत्नीके लिए नहीं अपने लिए; पत्नी पतिके लिए नहीं अपने लिए ; बाप बेटेके लिए नहीं अपने लिए ; धनी धनके लिए नहीं अपने लिए। इसलिए श्रुति कहती है कि आत्मनिष्ठ हो जाओ; क्योंकि सब आत्माके लिए है। और गोपी क्या कहती है? पति अपने लिए नहीं कृष्णके लिए, पत्नी अपने लिए नहीं कृष्णके लिए; बेटा अपने लिए नहीं कृष्णके लिए; धन अपने लिए नहीं कृष्णके लिए; मैं अपने लिए नहीं कृष्णके लिए। श्रुति जिसको अपने लिए सब बताती है गोपी उसको कृष्णके लिए बताती है। आपके ध्यानमें यह बात आयी न! श्रुति कहती है कि संसारका सब कुछ अपने लिए और गोपी कहती है कि अपना आपा कृष्णके लिए है। तो श्रुतिने आकर कहा—गोपी, हमें बताओ तो वह कौन है जिसके लिए तुम्हारा अपना आपा है? गोपीने कहा—बाबा, तुम माफ करो, अभी हम तुमसे बातचीत करना नहीं पसन्द करती, हम अपने कृष्णसे बात कर रही हैं। हे भगवान्! अब गोपी चली कृष्णकी ओर और श्रुति चली गोपीके पीछे-पीछे। तो श्रुति जो है वह गोपीके पदारविन्दके परागमें, गोपीके चरणोंकी रजमें लोट-पोट होती है, ढूँढ़ती है कहीं ऐसा प्रेम हमको मिल जाय जैसा गोपियोंके हृदयमें भगवान्से प्रेम है!

यह बात किसलिए सुनायी कि-'**ता वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे**' आखिर उनके अन्दर कोई विशेषता होगी भाई! जिसको देखकर भगवान् उनके साथ रास-विलास करना चाहते हैं। उद्धवजीने गोपियोंकी विशेषता थोड़ी पकड़ी—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

उद्धवजीने कहा कि मेरा अगला जन्म होवे। संसारमें भावकी बड़ी महिमा है। थोड़ी देर पहले अपने यहाँ स्वामी रामसुखदासजी आये थे। उनके साथ 'सोऽहं मुनि' भी थे। मुनिजी तो बड़ा प्रश्नोत्तर करते हैं। वह चाहते थे कि हम और स्वामी रामसुखदासजी इस बातपर आपसमें चर्चा करें—कि निष्काम कर्मसे मोक्ष होता है या केवल ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, निष्काम कर्मसे नहीं। न तो रामसुख

दासजीकी ही इसमें रुचि है कि हम आपसमें किसी मतभेदकी चर्चा करें और न तो हमारी रुचि है। और चर्चा भी प्रेमसे ही करते हैं। मुनिजीने कहा—कि कर्मसे मोक्ष होता है, यह सिद्धान्त कैसा? तो मैंने कहा—कि जब तुम कर्मसे बन्धन मानते हो, कर्ममें यह शक्ति मानते हो कि बाँध सकता है, तो यह भी क्यों नहीं मानते कि कर्ममें मोक्षकी शक्ति है? यदि कर्ममें बाँधनेकी शक्ति है तो कर्ममें सोचनेकी भी शक्ति होगी। अविद्याके प्रभावसे कर्म बन्धक होगा और विद्याके प्राधान्यसे कर्म मोचक होगा। पर वेदान्ती लोग तो कर्ममें न बन्धनकी शक्ति मानते हैं और न कर्ममें मोक्षकी शक्ति मानते हैं; वे तो अज्ञानसे बन्धन मानते हैं और ज्ञानसे मुक्ति मानते हैं। लेकिन जो कर्मसे बन्धन मानता है उसको विवश होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि अमुक प्रकारके कर्म मोक्षके साधन बनेंगे। स्वामी रामसुखदासजी तो बड़े प्रसन्न हुए।

तो आपको यह बात सुनाते हैं कि ये जो बन्धन है संसारके—कोई कहता है कि बारम्बार जन्म लेना बड़ा दुःख है, इससे मुक्ति चाहिए और भक्त कहता है कि तरह-तरहकी पोशाक पहनकर भगवान्‌के सामने आना बड़ा सुख है। यह मरना तो ऐसे ही है जैसे पुरानी पोशाक उतार देना और जन्मना ऐसे है जैसे नयी पोशाक पहन लेना। भक्त लोग कहते हैं कि हम नयी-नयी पोशाक पहनें और भगवान्‌के सामने आवें। वे जन्मसे छूटना नहीं चाहते। किसीने कहा—कि भक्ति करोगे तो मोक्ष नहीं मिलेगा! बोले—हमने मोक्ष चाहा कब? मत मिले! हमको तो हमारे भगवान्‌की (प्रसन्नता) चाहिए।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

उद्धवजीने कहा—कि हमें मोक्ष न हो, हमारा जन्म हो, और जन्म हो तो मथुरा-मण्डलमें हो और मथुरा-मण्डलमें भी जंगलमें हो, वृन्दारण्यमें हो और वहाँ भी हो तो ऐसा हो कि किसी व्रजवासी जीव-जन्तुके पाँवकी धूलि उड़कर हमारे ऊपर पड़ जाय और गोपियोंके चरणकी धूल पड़ जाय तो कहना ही क्या है—'**आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्**' कहा—वृन्दावने, वृन्दावनमें कौन-सा जन्म चाहते हो? 'गुल्मलतौषधीनाम्' हम झाड़ी हो जायें, लता हो जायें, वनस्पति हो जायें और ओषधि हो जायें लेकिन गोपियोंके चरणोंकी धूलि हमारे ऊपर पड़े। बोले—भाई! ऐसी क्या विशेष बात है गोपियोंमें? कहा—विशेष बात यह है कि—

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

उन्होंने स्वजन छोड़ा! बोले बाबा! किसीका किसीसे प्रेम हो जाता है तो स्वजनको छोड़ ही देता है। बोले नहीं, उनका तो अपने स्वजनसे बड़ा प्रेम था, 'दुस्त्यजं'—बच्चेको दूध पिला रही थी, घरवालोंको बैठाकर खिला रही थी, माता-पिताकी सेवा कर रही थी, लेकिन उसने कर्त्तव्यको छोड़कर परम कर्त्तव्यको स्वीकार किया। छोड़नेमें कठिन स्वजनोंको उन्होंने छोड़ दिया।

एक कर्त्तव्य होता है और एक परम कर्त्तव्य होता है। संसारके प्रति कर्त्तव्य होता है और भगवान्‌के प्रति परम कर्त्तव्य होता है। संसारसे प्रेम होता है और भगवान्‌से परम प्रेम होता है।

एक बात और ! धर्मसे गोपियोंका बड़ा प्रेम था, बड़ी धर्मात्मा थीं। एकादशी-व्रतकी पद्धति थी, व्रजमें। एकादशी व्रत रहते थे व्रजवासी, यह बात श्रीमद्‌भागवतसे सिद्ध है। नन्दबाबा ही एकादशीका व्रत करते थे, औरकी तो बात ही क्या! देवीकी पूजा प्रचलित थी व्रजमें। गोपियोंने तो कात्यायनीकी पूजा की ही थी। रासपञ्चाध्यायीके बाद यह प्रसंग आया है कि अम्बिका-वनकी यात्रा हुई। अच्छा इन्द्रकी पूजा न होती, यज्ञ न होता, तो इन्द्रयागका निषेध भगवान् कैसे करते? तो इन्द्रकी पूजा होती थी। नामकरण संस्कार नहीं होते तो गर्गाचार्यजी महाराज कैसे आते? स्वस्ति, वाचन करनेके लिए और जाति कर्म संस्कार करानेके लिए ब्राह्मण क्यों बुलाये जाते? और भविष्यका वर्णन ब्राह्मण क्यों करता? माने व्रजवासी लोग स्मार्त धर्मका पालन बिलकुल ठीक-ठीक करते थे। यह बात भागवतसे सिद्ध है। अनन्यताके नामपर जो वैदिक और स्मार्त धर्म, सनातन धर्मका उल्लंघन करें, ऐसे नहीं थे व्रजवासी, बड़े धर्मात्मा थे। और गोपियोंके हृदयमें धर्मका बड़ा संस्कार था। वे जानती थीं कि पातिव्रत क्या होता है। वे जानती थीं कि सतीत्व क्या होता है और कोई मामूली निष्ठा नहीं थी। परन्तु '**दुस्त्यजं आर्यपथं च हित्वा**'—उस दुस्त्यज आर्यपथको उन्होंने कृष्णके लिए छोड़ दिया।

'आर्यपथ'का विशेषण जो 'दुस्त्यज' है, उसपर ध्यान दो। गोपियाँ कोई आधुनिका नहीं थीं कि उनके चित्तमें धर्मका संस्कार ही न हो। उनके चित्तमें धर्म बहुत बड़ी वस्तु थी; वे शरीर छोड़ सकती थीं, परन्तु धर्म नहीं छोड़ सकती थीं—लेकिन बाबा! यह तो श्रीकृष्णका प्रेम है! अधर्ममें उच्छृंखलता है, धर्ममें नियन्त्रण है और प्रेममें एक निष्ठा है। आप तुलना करके देख लो। अधर्मसे ऊपर धर्म है और धर्मसे ऊपर प्रेम! यह नहीं कि धर्म छोड़कर अधर्ममें आ गये। धर्म छोड़कर गोपियाँ अधर्ममें नहीं आयीं, वे प्रेममें गयीं।

हमारे एक सेठजी पहले सन्ध्या-वन्दन करते थे। अब क्या करते हैं? बोले—अब बैठकर ताश खेलते हैं—सन्ध्या समय! बोले—धर्ममें क्या रखा है—छोड़

दिया। गोपियोंने भी धर्म छोड़ दिया था, पर गोपियोंने कृष्णके लिए छोड़ा था। और सेठजीने पत्ता खेलनेके लिए धर्म छोड़ा! और नाम लेंगे—गोपियोंका! दूसरेने कहा—यह बात नहीं है; हमने सन्ध्यावन्दनरूप धर्मका पालन छोड़कर, सिनेमा देखना रूप धर्म ग्रहण किया है।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा।
नित उठि देखन जाँय सिनेमा॥

तो धर्म छोड़कर भगवद्-भक्तिमें जाना ऊपर उठना है और धर्म छोड़कर अधर्ममें जाना नीचे गिरना है। गोपियाँ अपने दुस्त्यज स्वधर्मसे ऊपर उठती हैं, नीचे नहीं जाती हैं—'**भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्**' कहते हैं—बाबा! श्रुति भी हमको ढूँढती रहती हैं कि उनको हम मिलें, वे चाहती हैं कि हम पूर्व-मींमांसाके चक्करसे छूटकर उत्तर-मीमांसामें चली जायें; कि हम कर्मपरककी जगह ब्रह्मपरक हो जायें अर्थात् श्रुतियाँ तो यही चाहती हैं कि हमारा परम तात्पर्य धर्ममें नहीं, हमारा परम तात्पर्यं ब्रह्ममें है। इधर गोपियाँ कहती हैं कि हमारे जीवनका परम लक्ष्य धर्म नहीं हैं। परन्तु श्रुतियाँ तो महाराज केवल जबानी जमाखर्च बोलती हैं—माने वे खाली प्रतिपादन ही तो करती हैं न! वे आस्वादन नहीं करती हैं। लेकिन गोपियाँ ब्रह्मका आस्वादन करती हैं प्रतिपादन नहीं करती हैं। गोपियाँ मौन समाधि हैं कृष्णमें और श्रुतियोंका मुखर व्यवहार है कृष्णमें। श्रुतियोंका शंसनात्मक व्यवहार है श्रीकृष्णमें। इसलिए श्रुतियाँ भी कहती हैं कि वह समय कब आयेगा जब हम बन जायेंगी गोपियाँ और ब्रह्मरसका आस्वादन करेंगी। तो ऐसी गोपियाँ मनमें आजायें सामने तो कृष्ण क्या करेंगे?

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जब गोपियाँ अपने धर्मसे ऊपर उठती हैं तब भगवान् भी अपने धर्मसे ऊपर उठते हैं।

अब बोले—कृष्ण क्या है, कृष्ण दृश्य है, कृष्ण परिच्छिन्न है, कृष्ण एक व्यक्ति है। वे कहना यह चाहते हैं कि यह परिच्छिन्नता और व्यक्तित्व या दृश्यता और यह क्रियाशीलता, ब्रह्मपनेसे नीचेकी है और ब्रह्मपना ऊपरकी चीज है। इस शंकाके समाधानमें समझो—ब्रह्मज्ञानके पूर्व जो परिच्छिन्नता है वह जड़ता है, वह दृश्यता है, वह विकारिता है, वह हीनता है। परन्तु ब्रह्मज्ञानके अनन्तर? ब्रह्मज्ञानको मानो सन्धि—उसके पूर्व-व्यक्तित्वमें और उत्तर व्यक्तित्वमें। दोनों व्यक्तित्वमें कोई अन्तर है या नहीं? ब्रह्मज्ञानके पूर्व जो व्यक्तित्व है वह अज्ञानकृत है; वह दृश्य है, जड़ है; वह परिच्छिन्न है, नाशवान है, विकारी है। परन्तु ब्रह्मज्ञानके अनन्तर जो

व्यक्तित्व है वह तो सच्चिदानन्दघन रूप व्यक्तित्व है। ब्रह्मज्ञानीका व्यक्तित्व साधारण नहीं है—

ब्रह्मज्ञानी आप परमेश्वर।
ब्रह्मज्ञानी को ढूँढे महेश्वर॥

यह जो कृष्णका व्यक्तित्व है, वह ब्रह्मतासे पूर्वका नहीं है, माने अज्ञानीका व्यक्तित्व नहीं है और ब्रह्मतासे उत्तरकालीन ज्ञानीका जो व्यक्तित्व होता है वह भी नहीं है। तब यह क्या है? कि यह ब्रह्मात्मक व्यक्तित्व है। ज्ञानीका व्यक्तित्त्व जो है, वह ब्रह्मज्ञानके पूर्व दृश्य, जड़, परिच्छिन्न, विकारवान् था और ब्रह्मज्ञानके अनन्तर ब्रह्मात्मक है परन्तु कृष्णका व्यक्तित्व जो है उसमें पूर्व और अनन्तर नहीं है—वह ज्यों-का-त्यों ब्रह्मात्मक व्यक्तित्व है। तो जैसे गोपी धर्मसे नीचे गिरकर अधर्ममें नहीं जाती, गोपी धर्मसे उठकर प्रेममें जाती है—वैसे जो भगवान् हैं वह ब्रह्मत्वसे नीचे गिरकर दृश्य, परिच्छिन्न, विकारी, जड़ नहीं होते, वह ब्रह्मत्वसे ऊपर उठकर, नहीं वह ब्रह्मसे ऊपर भी नहीं उठते क्योंकि ब्रह्ममें ऊपर-नीचे नहीं है। ब्रह्मात्मक व्यक्तित्वमें ही रहते हैं सदैव श्रीकृष्ण। उनका जो ब्रह्मात्मक व्यक्तित्व है, वहाँ दृश्य भी सच्चिदानन्द है, वहाँ विकारी भी सच्चिदानन्द है, वहाँ जड़ भी सच्चिदानन्द है, वहाँ साढ़े तीन हाथका शरीर दीखनेपर भी परब्रह्म परमात्मा है। उसमें कुछ भी दीखे, है सब ब्रह्म। इसीसे गोपियोंके प्रेमकी जो अवस्था है बड़ी विलक्षण है—

प्रत्याहृत्य मुनिक्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते,
बालेयं विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते,
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयात् निष्क्रान्तिमाकांक्षति॥

नारदजी महाराज—उनकी जटा भूरी हैं, वर्ण गोरा है, बड़े सुन्दर हैं, ब्रह्माके मानस पुत्र हैं। ब्रह्माने सोचा था कि जैसा सुन्दर बेटा मैं पैदा करता हूँ वैसे सृष्टि भी बड़ी सुन्दर होगी। पर जब बड़ी सुन्दर सृष्टि बनायी तो नारदजी, सनत्कुमारजी, ऋभु ये जितने थे, इन लोगोंने पैदा होकर जब सृष्टिकी ओर देखा, तो इनकी रुचि ही नहीं हुई सृष्टिकी ओर। बोले—खुद हम इतने सुन्दर और गन्दी सृष्टिमें रमेंगे? हम ब्याह ही नहीं करेंगे। बहुत सुन्दर होना भी अभिशाप है। बोले—हमारे लायक दुनियामें कोई नहीं है। तब फिर ब्रह्माने कहा ऐसा स्वरूप बनावें कि हमारे ये सुन्दर बेटे दुनियाँमें कुछ रमें। तब यह सृष्टि बनायी।

तो नारदजी वीणा बजाते, हरि गुण गाते, प्रेममें मगन, रोमाञ्च शरीरीमें,

आँखमें आँसू—'**श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे**' गुनगुनाते आकाश मार्गसे उतरे, यमुना किनारे! आये, देखा घड़ा एक ओर पड़ा, गोपी एक ओर बैठी आसन बाँधकर और शरीर सीधा करके, प्राणायामसे साँस रोककर, अधखुली आँखसे बैठी। नारदजी नाचते हुए बोले—'**श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे**'—आँख खुली गोपीकी। उसने कहा— पाँय लागी महाराज—कैसे पधारे ? नारदजी बोले— तुमको ध्यान करते देख करके मनमें एक प्रश्न आया—क्या तुम कृष्णका ध्यान कर रही हो? बोली—अरे अरे—नाम मत लो उसका। उसका नाम नहीं लेना बाबा! नारदजी बोले—तब ध्यान काहेका करती हो? बोली—हम उसका ध्यान नहीं करते, हम चाहते हैं कि उसका ध्यान न आवे। होंगे दुनियामें कोई और जो ध्यान करके कृष्णको पाना चाहते होंगे। हम तो चाहते हैं कि कृष्ण निकल जाय, हमारे दिलसे। नारद बोले—यह क्या बावरी है? सारी दुनिया चाहती है, बड़े-बड़े योगी-यती, सती-संन्यासी चाहते हैं कि अपने मनका प्रत्याहार करके, विषयोंसे अपने मनको हटा करके, क्षण भर श्रीकृष्णका ध्यान करलें। वे इतनेसे ही सन्तुष्ट होते हैं कि श्रीकृष्णका पीताम्बर एक बार बिजलीकी तरह चमक जाय और हमको मालूम पड़े कि बादलकी तरह काले-काले हैं हमारे हृदयमें।

एक दिन कृष्णने श्रीराधा रानीसे पूछा कि तुम्हारा मुँह अच्छा है कि मेरा मुँह?

तेरो मुख नीकों कि मेरो मुख प्यारी।

तो प्रियाजीने कहा कि मेरा मुख तो चन्द्रमाके समान है और तुम्हारा मुख तो अमावसकी अँधिकारीके समान है। तुम हमारी बराबरी क्या करोगे? यह प्रेमकी बात है।

तो भक्त लोग चाहते हैं—योगी-यती, संन्यासी सब चाहते हैं कि हमारे हृदयमें काले-काले बादलकी तरह रंगवाले कृष्ण दिख जायँ। बाँसुरीकी मन्द-मन्द मधुर-मधुर गर्जना करते हुए मन्द-मन्द नूपुर खन-खन करते हुए पीताम्बर फहरा जायँ! दातोंकी चमकसे हमारे हृदयका अँधेरा दूर हो जाय! मुकुटकी लटकन और जो उसमें मणि-माणिक्य जड़े हुए हैं, उसकी चमकन तथा वह पाँवोंकी झटकन हमारे हृदयमें आजायँ। और यह बावरी गोपी चाहती है कि प्राणायाम करें, आसन करें, प्रत्याहार करें और अपने मनको वशमें करके कृष्णको मनसे निकाल दें! माने कृष्ण उसके मनमें इतने फँसे हुए हैं कि निकाले नहीं निकलते हैं। तो ऐसी गोपीका जब ख्याल आया कृष्ण भगवान्‌को, तब उनके मनमें आया कि अब रास जरूर करेंगे।

रासकी दिव्यताका ध्यान

रासकी दिव्यता

अच्छा आओ, अपने मनको भगवान्‌के धाममें ले चलें। भक्तिसिद्धान्तमें जिसको ध्यान बोलते हैं, यह और सिद्धान्तोंसे अलग तरहका होता है। यह नहीं समझना कि सब सिद्धान्तोंमें ध्यानका एक ही अर्थ होता है। जैसा सिद्धान्त उसके अनुसार ध्यान।

बौद्ध कहते हैं कि संसारकी किसी भी वस्तुमें चित्तको एकाग्र मत होने दो; क्योंकि सब शून्य है। बौद्धोंमें भी दो विभाग हैं—ज्ञानी बौद्ध और उपासक बौद्ध आदि बुद्ध ज्ञानी बुद्ध हुए हैं। ज्ञानी बौद्ध जो ज्ञानमार्गमें चलते हैं, वे कहीं भी ध्यान नहीं लगाते। जो उपासक बौद्ध होंगे वे आदि बुद्धका ध्यान करते हैं। जो बुद्धकी मूर्ति बनी रहती है न, उनमें ये अमिताभ हैं, ये अवलोकितेश्वर हैं, ये गौतम हैं—ऐसे बुद्धोंका बहुत भेद होता है।

जैन मतमें ध्यानका अभिप्राय दूसरा ही होता है—वहाँ भी यही कहते हैं कि शून्यकी तरफ देखो—देखो कि वहाँ क्या मालूम पड़ता है? उनके यहाँ स्थान-विशेषमें ध्यान होता है—जैसे नाभि है, नाभिमें शून्य है—देखो वहाँ क्या होता है, क्या आता है? उसमें भी दो होते हैं। आदि—जिनका ध्यान करनेवालोंका अलग उपासना सम्प्रदाय हो गया और शून्यमें-से कैसी सृष्टि होती है वहाँ—इसको देखनेवालोंका सम्प्रदाय अलग। जो कर्म है, वासना है, संस्कार है, इसीको देखते हैं।

चार्वाक मतमें ध्यानकी कोई जरूरत ही नहीं है। खूब ध्यान लगाकर भोग करना, खूब ध्यान लगाकर धन कमाना, खूब ध्यान लगाकर सुखका अनुभव करना।

योगी लोग कहते हैं—अपने लक्ष्यमें चित्तकी एकतानताका नाम ध्यान है। **'तत्रैकानतता ध्यानम्'** एकतानताका अर्थ है जैसे—जब ताना-बानाके रूपमें सूत फैला दिया जाता है और मशीन चलती है, कपड़ा बुनता चला जा रहा है; परन्तु एक सूत टूट गया और मशीन चलना बन्द हो जाती है। ऐसे ही अपने चित्तवृत्तिकी धारा अपने लक्ष्यमें गिरती रहे, कहीं भी टूटने न पावे, इसीको एकतानता कहते हैं, ध्यान कहते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा—कि सरसोंके सेरभर दाने लेकर मूर्तिपर गिराओ। जैसे दाने टट्-टट्-टक्-टक् लगातार गिरते जा रहे हैं ऐसे अपने मनकी सरसोंके दानेके समान जो वृत्तियाँ हैं वे भगवान्‌पर चढ़ती जायँ इसका नाम ध्यान है।

चैतन्य महाप्रभुने कहा—ऐसे नहीं। एक सरसों जितनी देर शंकरजीकी मूर्तिपर टिकती है—गिरते-गिरते उतना भी भगवान्‌में मन लग जाय तो ध्यान है। बहुत अद्‌भुत है! श्रीमद्भागवतमें कितनी परिभाषा ध्यानकी दी हुई हैं—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्युदाहृतम्॥

जैसे गंगाजीकी धारा लगातार समुद्रमें हर-हर-हर-हर गिरती रहती है ऐसे अपना चित्त पहले तो पिघल जाय, द्रवित हो जाय, दुनियाकी पकड़—कठोरता छोड़ दे और फिर हर-हर-हर-हर भगवान्‌में गिरे, इसका नाम ध्यान है।

सांख्यवादी कहते हैं कि असंगतामात्र ही ध्यान है—दुनियाँ देखते रहो पर कहीं राग-द्वेष न होने पावे *'रागोपहतिर्ध्यानम्।'* रागमें मत फँसना, किसीका रंग मत चढ़ने देना।

सबसे मिलिये सबसे जुलिये, सबका लीजिये नाम।
हाँ जी हाँ जी करते रहिये, बैठ आपने ठाँव॥

अपने स्वरूपमें बैठना यह सांख्यका ध्यान है।

वेदान्ती लोग कहते हैं—*'ध्यानं निर्विषयं मनः'* मनमें किसी भी विषयका न फुरना ध्यान है, पर यह कच्चा ध्यान है, यह बहिरंग साधनका समाधान रूप ध्यान है, फिर बोले—अनात्मप्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माकार वृत्तिका प्रवाह ध्यान है। यह निदिध्यासन है। निःस्फुरणरूप समाधान अविद्याकी निवृत्तिमें समर्थ नहीं है; क्योंकि जितनी देरतक चित्तवृत्ति शान्त रहे, उतनी देरतक दुनिया मालूम नहीं पड़ेगी, फिर जब वृत्ति उठेगी तो फिर वहीं दुनिया आ जायेगी। तो अज्ञानको समाधि नहीं मिटावेगी, ब्रह्माकार वृत्ति मिटावेगी। इसलिए उन्होंने कहा—कि निर्विषयताका जो ध्यान है वह बहिरंग साधनान्तर्गत, अन्तःकरण शुद्धिका ध्यान है और अनात्मप्रत्ययका तिरस्कार करके आत्माकार वृत्तिका जो प्रवाह है, वह अन्तरंग ध्यान है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वोल्लेशशून्य, वासना-शून्य, शुद्ध सात्त्विक प्रतीतिमात्र

अन्तःकरणमें जो आत्म आत्मचित्-विम्बका प्रतिविम्बन है उसको ध्यान बोलते हैं। यह आपको नमूनेके तौरपर बता दिया।

अब भक्तिमतमें ध्यान क्या है, सो बताते हैं—दर्शन समानाकार वृत्तिका नाम ध्यान है। दर्शन समानाकार वृत्ति माने क्या? जैसे हम तुमको देख रहे हैं; किसी-किसीकी आँख मिल जाती हैं, कोई मुस्करा देता है, किसीके दाँत खिल उठते हैं, किसीकी ठुड्डी हिल जाती है। यह जो दिखता है बिलकुल साफ-साफ दिखता है। कोई शङ्का तो नहीं है इसमें? ऐसे ही जब आँख बन्द करनेपर भगवान् दिखने लग जायँ या आँख खुलते ही भगवान् दिखें। खुली आँखसे भगवान् दिखें या बन्द आँखसे; लेकिन दिखें ऐसे जैसे—सामनेका दृश्य दिखायी पड़ता है और उसमें कल्पनाकी बुद्धि उदय न हो कि ये हमारे मनकी कल्पना है, यह लगे कि खास वही हैं मुरलीवाले, वही पीताम्बरधारी, वही श्यामसुन्दर, वही मन्दमुस्कान, वही मोर मुकुट, वही गोरोचनका तिलक, वही प्रेमभरी आँखें, वही अनुग्रहपूर्ण भौंहें, वही सुचिक्कन कपोल, वही मन्द-मन्द हास्य, वही विशाल उत्तुङ्ग वक्षःस्थल—'**दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं**' —बस दर्शन—समानाकार वृत्ति यही है, इसीका नाम ध्यान है।

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य, वक्षःश्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥

अरे बाबा! हम तो देख-देखकर बिना दामके गुलाम हो गयीं। इस ध्यानमें धाम, गुण, रूप, लीला, सेवा, नाम-ये सब होते हैं।

तो पहले आओ—धाममें ही चलें।

'**शरदोत्फुल्लमल्लिकाः**'—ऋतु है शरद्, निर्मल। शरद्ऋतु न गर्म है न ठण्डी। शरद् समशीतोष्ण ऋतु है और रात्रिमें आकाशमें निर्मल चाँदनी छिटकती है। और वृन्दावन धाममें कमल भी खिले हैं। कुन्द भी हैं, मल्लिका भी है, सबका वर्णन है रासपञ्चाध्यायीमें! सुन्दर-सुन्दर वृक्ष, सुन्दर-सुन्दर लताएँ, सुन्दर-सुन्दर फूल, सुन्दर-सुन्दर फल! तो पहले धाममें गये, फिर कृष्णके रूपका चिन्तन किया। रूप कैसा? साँवरे हैं, सलोने हैं, व्रजराजकुमार। सलोनेका मतलब तो आप जानते होंगे न! कभी-कभी सलोने चने तो खाये होंगे! लोन माने नमक। सलोने माने नमकीन। सलोने माने, चटपटे मसालेदार। जैसे—सलोनी चीज देखकर जीभपर पानी आता है, ऐसे सलोने साँवरे व्रजराजकुमारको देख करके आँखें ललच जाती हैं।

जिन्ह आँखिनमें यह रूप बस्यों,
तिन्ह आँखिन ते अब देखिये का।

अब रूप चेष्टा होती है। चेष्टा अलग और लीला अलग! चेष्टा क्या होती है? इन आँखोंकी क्या करामात है—वह चेष्टा है। उनके अपने शरीरमें जो होती है वह चेष्टा है और सखाके कन्धेपर हाथ रख दिया तो लीला हो गयी, कमल लेकर घुमाने लगे तो वह लीला हो गयी। अपना कपोल ही काँप गया, अपनी आँख ही हिल गयी, अपनी भौंहें मटक गयीं, अपनी ठुड्डी हिल गयी, यह चेष्टा हुई। भगवान्‌के अङ्गकी चेष्टा, भगवान्‌की लीला। अब जो भगत होंगे उनको मजा आवेगा कि भगवान्‌के दर्शनमें, ध्यानमें, स्मरणमें कितना आनन्द है।

महाराज! कोई-कोई ऐसे वेदान्ती मिलते हैं कि वे दिनभर तो दुकानका काम करते हैं, ब्लैक भी करें, भ्रष्टाचार भी करें, सब व्यवहार करें; घरमें रो लें, हँस लें; लेकिन जब—भगवान्‌की चर्चा आवे तो कहें—हम ब्रह्म हैं। सारी दुनियाका व्यवहार करते समय तो उनको ब्रह्म रहनेकी जरूरत नहीं पड़ती; लेकिन भगवान्‌की भक्ति करनी पड़े, तो ब्रह्मपनेका बहाना लेकरके भक्तिसे बचना चाहते हैं। अरे बाबा! यह जो संसारका दुःख है, वासना है, जो विक्षेप है, जो अनाचार है, उससे बचानेकी जो दवा है, चिकित्सा है, उससे काहेको बचते हो? कहो—कि दुकान तो व्यवहार है। हम कहते हैं भक्ति भी व्यवहार है। इसमें क्या बात है—जैसे शारीरिक व्यवहार होता है वैसे मानसिक व्यवहार होता है। सौदेका हिसाब-किताब करनेमें तुम्हारे मनको कुछ परिश्रम नहीं पड़ता है और भगवान्‌का भजन करनेमें परिश्रम पड़ता है।

धामका चिन्तन! यह धाम क्या है? कि साक्षात् सच्चिदानन्दघन है। यह पञ्चभूतका बना नहीं है, प्रकृतिका बना नहीं है, मायाका बना नहीं है—ये सब तो वेदान्तकी प्रक्रिया है, प्रक्रिया माने तरकीब है, युक्ति है, बात समझानेके लिए बिलकुल सच्चिदानन्दघन है धाम, सच्चिदानन्दघन है रूप, सच्चिदानन्दघन है चेष्टा और लीला! लीलामें शिशुलीला, कुमारलीला, किशोरलीला। शिशुलीला होती है घरमें, कुमारलीला होती है गोष्ठमें, वनमें और किशोरलीला होती है निकुञ्जमें। यह इसका विवेक है। लीलाका दर्शन होनेमें भी जरा अपनेको उसमें मिलाओ तो सेवा होगी। क्या सेवा? ये देखो—भगवान्‌के कपोपलपर हम कस्तूरीसे, गोरोचनसे, केशरसे बेलबूटा बना रहे हैं, चन्दनसे भगवान्‌के कपोलपर बेलबूटा बना रहे हैं, उनके सिरपर चन्दन लगा रहे हैं, उनके बाल सँवार रहे हैं, उनको माला पहना रहे हैं, उनको भोजन करा रहे हैं। यह क्या हुआ? यह सेवा हो गयी।

कई लोगोंको धामका दर्शन होता है रूपका नहीं, कई लोगोंको रूपका नहीं, कई लोगोंको रूपका दर्शन होता है चेष्टाका नहीं, कई लोगोंको चेष्टाका दर्शन होता है लीलाका नहीं, कई लोगोंको लीलाका दर्शन होता है, सेवाका नहीं, और कई लोग लीला भी देखते हैं और सेवा भी करते हैं, पर वह सेवा लेनेमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधिपति होनेपर भी हमारे हाथका ग्रास लेते हैं। इस सेवामें—भगवान्‌का जो वात्सल्य है, जो कारुण्य है, उस गुणका पता उनको नहीं चलता है—*'मुख्यं तु तस्य कारुण्यम्।'*

तो कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, नाम लेकर भगवान्‌को पुकारो! वे आवें, उनसे कहो—हे प्रभो! अपना धाम साथ लेकर आओ। हमारे हृदयमें वृन्दावनका प्रकाश हो, हमारे नेत्रोंसे वृन्दावनका दर्शन हो। उसमें फिर भगवान्‌के रूप, लीला, सेवा, गुण और नामका आविर्भाव हो, भगवान्‌में ममता बढ़े, सम्बन्ध बढ़े।

भक्ति माने बाहरी चीज नहीं है। पाँवमें नूपर बाँध लेनेसे भक्ति नहीं होती भाई! केवल जोरसे चिल्ला लेनेसे भक्ति नहीं होती। भक्ति हृदयका भाव है और इसमें जो ध्यान है, वह ऐसे है जैसे माँ अपने बच्चेका ध्यान करती है, जैसे मित्र अपने मित्रका ध्यान करता है, जैसे पत्नी अपने पतिका ध्यान करती है। भक्त लोग पत्नीका दृष्टान्त ज्यादा नहीं देते हैं, प्रेयसीका दृष्टान्त देते हैं— जैसे प्रेयसी अपने प्रियका ध्यान करती है।

परव्यसनिनी नारी सक्ताऽपि गृहकर्मणि।
तदेवास्यादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्॥

विद्यारण्य स्वामीने कहा— कि ध्यान दुर्लभका ज्यादा होता है और सुलभका कम। पत्नीके लिए पति सुलभ होता है; परन्तु प्रेयसीके लिए प्रिय दुर्लभ होता है। अत: दृष्टान्त प्रेयसी द्वारा प्रियका जैसा प्रगाढ़ ध्यान किया जाता है उसका दिया जाता है। देखो जो पैसा आपकी तिजोरीमें बन्द हो जाता है या बैंकके खातेमें जमा हो जाता है, उसको रोज-रोज सम्हालनेकी जरूरत नहीं रहती है लेकिन जो पैसा रोज आता है उसको सम्हालनेकी जरूरत पड़ती है। तो भगवान्‌को भी सम्हालनेके लिए जैसे—प्रेयसी अपने प्रियतमको नित्य निरन्तर सम्हालती है वैसे सम्हालनेकी आवश्यकता पड़ती है यह जान-बूझकर दृष्टान्त दिया गया है—

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।

तो अब चलो, यह वृन्दावन धाम है। यह ब्रह्मात्मक है—*'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'* वृन्दावनमें भगवान्‌ने क्या देखा? तो पहले कालका

वर्णन है-'**ता-रात्रीर्वीक्ष्य**' मैंने तीन विभाग सुनाया आपको-'**ताः गोपीर्वीक्ष्य, ताः रात्रीर्वीक्ष्य**' और '**ताः शरदोत्फुल्ल मल्लिकाः वीक्ष्य**'। वीक्ष्यका भी दो भाव है—देखा भगवान्ने; और रमणका संकल्प उठा। तो पहले ऐश्वर्यकी बात सुनाता हूँ, पीछे माधुर्यकी। किन्हींका ऐश्वर्यमें दिल ज्यादा नहीं खुलता। इसीलिए यहाँ गोपियोंको रात्रि कहा गया है। रात्रि माने देनेवाली—'रा' दाने; और रात्री अर्थात् रमयित्री है। इसलिए गोपियोंको रात्री कहा गया है। प्रेममें दो बात होना अनिवार्य है—एक तो अपने प्रियतमसे अतिरिक्त सब कुछका त्याग और दूसरे जो अपने पास रस है उसका अपने प्रियतमको देना। रस अपनी ओर खींचनेसे अहंकारसे दूषित हो जाता है और रस परमात्माकी ओर कर देनेसे अहंकारका जो कलुष है, कल्मष है, वह उसमें-से छूट जाता है। दुनियाँमें मैंने देखा है—प्रेममें असफल कौन हुआ? लोगोंका गृहस्थ जीवन देखा है। कौन पत्नी प्रेममें असफल हुई, दुःखी कौन हुई? जिसने आजीवन अपने पतिपर अपनी इच्छा चलानेका आग्रह जोड़ा। तो जीवनमें परमात्माकी इच्छाके अनुसार चलना, कि परमात्माको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना? भक्तिका रहस्य है इसमें, शरणागतिका रहस्य है, प्रेमका रहस्य है इसमें। प्रेमका यह रहस्य है कि अहंकारका कलुष उसमें न हो। उसके लिए क्या करें? उसके लिए सब कुछ छोड़ सको, यह तैयारी होनी जरूरी है, छोड़ना जरूरी नहीं है, छोड़नेकी तैयारी जरूरी है और अपने पास जो रस है उसका देना जरूरी है। 'रात्री' शब्दमें ये दोनों बातें ध्वनित होती हैं। गोपियाँ कृष्णके सिवाय और सबके त्यागके लिए तत्पर हैं। यह तत्पर शब्द जो है न, यही तैयार है—'प'का 'य' किसी लेखकके प्रमादवश हो गया है। तैयारी, तात्पर्य-तत्परता। और दूसरे गोपियोंके रसका आस्वादन अपने लिए नहीं, उनके लिए हैं। गोपियोंके प्रेमकी विशेषता यही है।

एक दिन अर्जुनने कृष्णसे पूछा—श्रीकृष्ण, तुम 'गोपी-गोपी' पुकारते रहते हो, क्या हमलोग तुम्हारे कुछ नहीं होते, कुछ नहीं लगते? अरे बाबा! हम भी तुमसे प्रेम करते हैं। श्रीकृष्ण बोले—करते तो हो अर्जुन, लेकिन तुम्हारे प्रेममें और गोपीके प्रेममें बहुत फर्क है। क्या फर्क है?

निजाङ्गमपि या गोप्यो, ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे किञ्चिन्निगूढप्रेमभाजनम्॥

अर्जुन, '**निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते**' गोपि कहती हैं—हमारे बाल स्वच्छ रहने चाहिए। क्यों? कि हमारे प्रियतम देखेंगे तो खुश होंगे, उनको

खुश रखनेके लिए हमने बाल रखा है, हम बहुत सुन्दर लगें, हम खुश हों, इसके लिए हमारे बाल नहीं हैं। हमारी आँखें प्रसन्न रहें, निर्मल रहें, इसलिए कि कृष्ण कभी देखेंगे कि आज इसकी आँखमें खुशी है तो खुश हो जायेंगे, वे हमारी मुस्कान देखेंगे तो मुस्कुरा देंगे। वे शरीरमें साबुन क्यों लगाती हैं, तेल क्यों लगाती हैं, साड़ी क्यों पहनती हैं, बाल क्यों सम्हालती हैं, क्यों बन-ठनकर निकलती हैं? बोले—यों निकलती हैं कि श्यामसुन्दरकी दृष्टि पड़ जायेगी तो वे खुश हो जायेंगे; और कहीं हमको मैली-कुचैली देखेंगे, हमारी साड़ी मैली देखेंगे, हमारे बाल बिखरे देखेंगे, हमारी आँखमें आँसू देखेंगे, हमारे मुँह सूखे देखेंगे तो उनको बड़ा दुःख होगा। राम-राम, मैं उनको दुःख देनेके लिए प्रेम थोड़े ही करती हूँ। मैं तो उनको सुख पहुँचानेके लिए प्रेम करती हूँ—'**निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।**' गोपी कहती है—यह शरीर कृष्णका है, यह शरीर कृष्णके सुखके लिए है, कृष्णकी प्रसन्नताके लिए है। यह गोपीका प्रेम है।

श्रीराधारानी श्रीकृष्णसे कब रूठती हैं? मानका प्रसङ्ग देखो—कितना बढ़िया है, वह कहती हैं कि हमको देखकर उनको जो सुख मिलता है—हमारा यह शृंगार, हमारा यह सौन्दर्य, हमारा यह माधुर्य, हमारा यह रूप, जिसको देख करके उनको प्रसन्नता होती, आज उन्होंने नहीं देखा—तो आज उनको दुःख हुआ होगा; आज मेरे देखे बिना उनको दुःख हुआ, इसलिए मैं दुःखी हूँ। यह प्रेमका स्वभाव है।

हमारे एक मित्र हैं; उनके घरमें मैं अतिथि था। एक दिन उनकी पत्नी रूठ गयीं। तो आखिर मैंने पूछा उनकी लड़कीसे—आज माँ तुम्हारी कैसे रूठ गयी? क्या चाहिए उसको? बोली—वाह! हमारी माँ कुछ ऐसी है क्या कि अपने लिए रूठेगी! अपने लिए लेनेको रूठेंगी! माँ इसलिए रूठीं कि पिताजी आज लोगोंसे बात करते रह गये, दातून नहीं की, स्नान नहीं किया, चाय नहीं पी; तो उनको कहीं जुकाम न हो जाय, कहीं बुखार न आ जाय, कहीं तकलीफ न हो जाय, इसके लिए माँ रूठी है कि अब कलसे ऐसा नहीं करना। अपने लिए हमारी माँ नहीं रूठती, पिताजीको सुख पहुँचानेके लिए हमारी माँ रूठती है।

मानका भी एक रहस्य होता है। स्वार्थ-ग्रन्थिको सींचनेके लिए मान होता है। श्रीकृष्णके हृदयको विकसित करनेके लिए मान होता है, यह गोपियोंका जीवन है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते,
ताभ्यः परं न मे किञ्चिन्निगुढप्रेमभाजनम्।

श्रीकृष्ण कहते हैं—अरे अर्जुन! इसीलिए गोपियाँ हमारे निगूढ़ प्रेमकी अधिकारिणी हैं, गुप्त प्रेमकी अधिकारिणी हैं।

जहाँ अपना स्वार्थ है, वहाँ अपनी तीन चीज देखना—१. अपनी स्वार्थ-सत्तामें प्रियतम छूट गया। प्रियतम सत्य नहीं रहा, अहं सत्य हो गया। २. यदि प्रियतमकी बुद्धि अपनी बुद्धि नहीं तो उसको कर दिया जड़ और स्वयं ज्ञानी चैतन्य बन गये। और ३. यदि उसका सुख नहीं हमारा सुख, तो प्रियतमको दुःख कर दिया और स्वयं सुख बन गये। सच्चिदानन्द प्रियतम है, यह बात छूट गयी।

तो 'ताः वीक्ष्य' अब ऐश्वर्य माधुर्यकी बात सुनाता हूँ। पहले ऐश्वर्यकी बात करूँ। क्या ईश्वरके लिए भोग्य संसारमें कोई वस्तु हो सकती है? क्योंकि वह तो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। जो सब जगह हो, सब समय हो, सबमें हो, वह ईश्वर। ईश्वर जो आनन्दका मालिक है, आनन्दरूप है, उसके लिए भोग्य क्या संसारमें कुछ हो सकता है? वह क्या किसीके शरीरके भोगके बिना दुःखी हो जायेगा? वह क्या किसीके देखे बिना दुःखी हो जायेगा? उसके लिए कौन-सी ऐसी गन्ध है जो आकर्षित कर सके, कौन-सा ऐसा रस है जो आकर्षित कर ले? कौन-सा ऐसा रूप है जो अपनी ओर खींच ले? कौन-सा स्पर्श है जो अपनी ओर खींच सके? कौन-सी ऐसी मीठी आवाज है कि जिसके सुननेके लिए ईश्वर व्याकुल हो जाय? ईश्वरके अन्दर व्याकुलता उत्पन्न कर सके, ऐसी वस्तु सृष्टिमें है कोई? यह ऐश्वर्यकी बात है। कहा—नहीं, नहीं है। तब ईश्वर क्या करता है? फिर ईश्वर लोगोंके प्रेमको कैसे स्वीकार करता है? वल्लभाचार्यजी महाराजने स्थान-स्थानपर इसका निरूपण किया है।

अब **'ताः वीक्ष्य'** में उसको देखो—**'ताः वीक्ष्य, रात्रीः वीक्ष्य, शरदोत्फुल्लमल्लिका वीक्ष्य'**। वीक्ष्यका एक विशेष अर्थ है—'विशेषेण ईक्षित्वा' विशेष रूपसे देखकर। ईश्वर देखता है, ईश्वरकी नजर जिसको जैसा बनाना चाहे उसको वैसा बना दे! ईश्वरने कहा—मैं आनन्दकी गठरी अपने शिरपर लिए बैठा हूँ, इसको उतारना चाहिए। उतारो, उतारकर क्या करोगे? कहा—आनन्दका जो सार-सार है, आनन्दका जो परिपूर्णतम रूप है, उसको गोपियोंमें रखूँगा। आनन्दका जो परिपूर्णतर रूप है, वह रात्रिमें रख दूँगा। आनन्दका जो परिपूर्णतर रूप है उसको शरदोत्फुल्लमल्लिकामें रख दूँगा। वीक्ष्यका अर्थ है कि जैसा सच्चिदानन्द भगवान् है

पहले उसने रातको अपने हाथसे सँवारा। उसकी यह नीली साड़ी जो आसमानमें है उसकी इस्तरी किया; गुड़मुड़ी साड़ी भगवान्‌को पसन्द नहीं है। आकाश यह रातकी नीली साड़ी है, इसमें 'क्रीज' कहीं नहीं है। अच्छा किसने सँवारा है? यह ईश्वरने अपने हाथसे सँवारा है। 'ता रात्रीः वीक्ष्य'—यही वीक्षण है। फिर बोले—इस नीली साड़ीमें हीरे, मोती आकाशके तारे टाँक दिये। किसने? क्या रात्रिने? बोले—नहीं, स्वयं ईश्वरने ये हीरे-मोती-रूप आकाशके तारे अपने हाथसे साड़ीमें जड़ दिये और फिर उसको पहनाया। अच्छा, यह चाँदनीकी शीतलता क्या रातके घरमें थी? नहीं, भगवान्‌ने स्वयं चाँदनी, उसकी शीतलता और सुगन्धित बहनेवाली वायु बनायी। वीक्ष्यका अर्थ है—अपने भोगके योग्य उन्होंने रात्रि आदिको बनाया। माने उनमें अपने आनन्दका सञ्चार किया।

स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय।

भगवान्‌ने कहा—मैं अकेला हूँ। कहा आप क्या चाहते हो?

स एकाकी नारमत ततो द्वितीयं असृजत पतिश्च पत्नी च भवताम्।

भगवान् गृहस्थ बन गये; अकेले उनको अच्छा नहीं लगा। 'प्रजायेय'—अरे अब तो हमारे बच्चे-कच्चे होंगे। 'प्रजायेय' माने 'अब मैं अनेक रूपमें प्रकट होऊँगा'। यह ईश्वरका संकल्प है।

कृष्णने कैसे होरी मचायी—

एक ते होरी मचै नहि कबहूँ, या ते करौं बहुताई।
यही मन में ठहराई, कृष्ण ने कैसी होरी मचाई॥

तो वीक्ष्यका अर्थ क्या है? कि अपने बिहारके योग्य रात्रि माने कालकी सृष्टि की। अपने बिहारके योग्य स्थानकी रचना की। उननिषद्‌में 'ऐक्षत' माने सर्जन होता है, सृष्टि करना या बनाना। फिर उसके बाद गोपियोंको बनाया। गोपियोंमें भगवान् सांसारिक आनन्दका उपभोग नहीं करते, भगवदीय आनन्दका उपभोग करते हैं। अपने हृदयका जो आनन्द है वह उनमें स्थापित किया और फिर स्वयं भोक्ता और भोग्य! वीक्ष्य माने विशेषण 'ईक्षित्वा सृष्ट्वा इत्यर्थः।' किसीमें सामर्थ्य नहीं है जो भगवान्‌को आकर्षित कर सके। रातमें सामर्थ्य नहीं है कि उसको देख करके भगवान् खिंच जायें, स्थानमें सामर्थ्य नहीं है; वस्तुमें, व्यक्तिमें सामर्थ्य नहीं है लेकिन जब भगवान् अपने-आपको ही सबमें रख लेते हैं तो वही आकृष्ट होनेवाले, वही आकृष्ट करनेवाले, वही भोक्ता और वही भोग्य, वही रस्य, वही रसिक। जैसे वही द्रष्टा, वही दृश्य यह ज्ञानकी, चित्‌की बात हो गयी। जैसे वही

कर्त्ता और वही कर्म यह सत्की बात हो गयी। वैसे वही भोक्ता और वही भोग्य, यह आनन्दकी बात हो गयी। गोपी भी वही और कृष्ण भी वही। यह तादाम्य है। जिस मसालेसे कृष्णका शरीर बना है, उसी मसालेसे बनी हुई यदि गोपी न हो तो भोगकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए गोपी भी सच्चिदानन्दघन, रात भी सच्चिदानन्दघन, वृन्दावनधाम भी सच्चिदानन्दघन, यह समझो।

एक स्त्रीके मनमें बड़ा काम था, लेकिन रहे वह विरक्तके साथ। अब उसने बड़े हाव-भाव दिखाये, श्रृंगार किये, आकृष्ट किया। परन्तु बाबाजी तो पत्थर! बोली—यह तो पत्थर है। यह आदमी नहीं है, पत्थर है। उसकी वासना पूरी नहीं हुई। वासना पूरी नहीं तो पत्थर! अब ये श्रीकृष्ण कैसे, माधुर्यका क्या अर्थ है? 'वीक्ष्य रन्तुं' भगवान् ब्रह्मके रूपमें जो हैं? उन्हें बिलकुल पाषाणकल्प ही समझना। इसीसे पूजाके लिए जो मूर्ति बनायी गयी, वह पत्थरकी बनायी गयी है क्योंकि भगवान्का एक रूप है जो बिलकुल ठसा-ठस ठोस पत्थर सरीखा है। श्रुति कहती है—'अप्राणो ह्यमना शुभ्रा' ब्रह्मके साँस तो चलती नहीं, अब बोलो पत्थर हुआ कि नहीं? ब्रह्मके मनमे तो है नहीं। वह शुभ्र है—इन्द्रनीलमणिके समान, नीलमकी तरह। देखो नीलममें न मन है न साँस है, और स्वच्छ है हीरेकी तरह। जैसे सफेद हीरा, लाल हीरा, वैसे—काला हीरा भी होता है और वह सबसे ज्यादा मूल्यवान होता है पर उसका मिलना मुश्किल है। हमने तो ईश्वर की कृपासे ऐसे-ऐसे हीरे देखें हैं कि बाजारमें देखनेको मिलते नहीं। हमने तो हीरों-का-हीरा देखा है। यह संसाररूपी जो वृक्ष है न, इसका जो हीर है उसको देखा है। वृक्षमें भी एक हीर होता है। उसको गाँवके लोग जानते हैं, शहरके लोग उस चीजको नहीं जानते।

तो ईश्वर कैसा—'अप्राणः हि अमना शुभ्रा।' अब बोले—एक चीज ऐसी आयी, परमात्माके सामने, कि ये रात, ये वृन्दावन, ये प्रेममयी गोपी! 'जादू तो वो जो सिरपर चढ़कर बोले!'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्थैव भजाम्यहम्।

गोपीने कहा—मैंने तुम्हारे लिए गाँव छोड़ दिया। तुम्हारे लिए सम्बन्धी छोड़ दिये, तुम्हारे लिए खाना-पीना-भोग छोड़ दिया, सब सम्बन्ध छोड़कर—'**प्राप्ता विसृज्य वसतीः त्वदुपासनाशाः**' हम बस्ती छोड़कर आयी हैं। '**संत्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं भक्ताः**' हम सम्पूर्ण विषयोंका परित्याग करके तुम्हारे चरणोंमें आयी हैं। अब भगवान् सोचमें पड़ गये कि अरे तुम अपने त्यागकी सफाई

देती हो, हमने ये छोड़ा, वो छोड़ा; क्यों? अब गोपियाँ क्या बोलें? तो भगवान्‌को याद आयी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' गोपियोंने हमारे लिए स्थान छोड़ा, घर छोड़ दिया, बस्ती छोड़ दी, तो परब्रह्म परमात्माने कहा—कि हम क्या छोड़ें? बोले कि हम अपनी अधिष्ठानता छोड़ें तब बनेगा काम। अधिष्ठान छोड़कर अध्यस्तता स्वीकार करें, हम भी अपने ब्रह्मपनेको छोड़ करके व्यक्तिपना ग्रहण करें। गोपियोंने अपना धर्म छोड़ा तो भगवान्‌ने कहा—हम भी अपना धर्म छोड़ते हैं। जो हमारे लिए सब छोड़ता है उसके लिए हम भी सब छोड़ते हैं। तुमने जीव-धर्म छोड़ा, हम ब्रह्मधर्म छोड़ते हैं—अपनी सर्वज्ञता, व्यापकता, असंगता सब छोड़ते हैं। बोले—ब्रह्मधर्म क्या कभी छूटता है? कहा—छूटता नहीं है, वह तो ऐसी चीज है, कि छूटै नहीं छोड़े, छोड़े नहीं छूटता। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा—*'प्राप्तव्य इत्युक्ते प्राप्तो न भवति त्यक्तव्य इति उक्ते त्यक्तो न भवति'*। कोई कहे भगवान्‌को यूँ पकड़ा, बाँध लिया, तो वह बँधता नहीं; कोई कहे जाओ ईश्वरको छोड़ दिया, तो तुम्हारे छोड़नेसे वह छूटता नहीं। यह तो महाराज ऐसा है कि एक बार गला पकड़ ले तो कहता है कि बाबा! हमको पकड़ना ही आता है, हमको छोड़ना आता ही नहीं। एक बड़ी विचित्र बात है—देखो, रस्सी जल जाती है लेकिन उसकी ऐंठन मिटती नहीं है। ये जो ऐंठन है इसके लिए संस्कृतमें शब्द 'मुर' जैसे मुड़े हुए तार होते हैं, जिससे खेतकी बाड़ बनाते हैं, संस्कृतमें 'मुर' शब्द उसीके लिए है। मुरका ही 'मुड़' हो गया। भौमासुरने जो अपने किलेके चारों ओर बाड़ बनायी थी वह मुर नामक बाँसकी बाड़ बनायी थी। ये जो ऐंठनवाले लोग हैं न, ये मुर हैं। इसको काटकर मिलते हैं भगवान्। इसलिए भगवान्‌का नाम मुरारि है।

६

योगमायाका आश्रय लेनेका अर्थ

(मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः)

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

मनुष्य कर्म करता है आनन्दके लिए और मनुष्य ज्ञान भी प्राप्त करता है आनन्दके लिए। आनन्द तो जीवन का प्रयोजन है। प्रयोजन किसको बोलते हैं? *अवगतं सत् आत्मनि इष्यते स्वनिष्ठतया इष्यते*—मालूम पड़नेपर मन हो कि यह हमारे साथ ही रहे, हमारे अन्दर ही रहे, उसीको बोलते हैं, प्रयोजन, उसीको बोलते हैं मजा, आनन्द जो लोग वेदान्त-चिन्तन करते हैं या कर्म करते हैं, वे सब निठल्ले रह जाते यदि भगवान् रासलीला करके आनन्दको प्रकट न करते, आनन्दकी अभिव्यञ्जना, आनन्दकी अभिव्यक्ति न करते। नौकरी इसलिए नहीं करते कि रुपया मिलता है, रुपये से मजा मिलता है इसलिए नौकरी करते हैं। व्यापार इसलिए नहीं करते कि दुकानमें बहुत सामान रहता है, इसलिए करते हैं कि सामानसे मजा मिलता है। तो जीवनका जो प्रयोजनीय पदार्थ है, प्रयोजनीय वस्तु है, वह आनन्द है।

यह जो रासलीला है, इसमें देखो-भगवान् स्वयं आनन्द कैसे लेते हैं? **'रात्रि ताः वीक्ष्य रात्रीर्वीक्ष्य शरदोत्फुल्लमल्लिका वीक्ष्य'** यह ऐश्वर्य-पक्षका अर्थ है। जैसे कोई बगीचा ले, बढ़िया-बढ़िया फूल लगावे, पौधा लगावे, उसको सींचे, खाद दे और जब खूब अच्छी-अच्छी जातिके गुलाब उसमें खिलें तो जाकर उनको देखे, उनमें घूमे, उनको देख-देखकर, उनकी सुगन्ध, उनके सौन्दर्यका आनन्द ले, इसी प्रकार भगवान् यह सृष्टि बनाते हैं। 'ताः वीक्ष्य' गोपियोंको बनाया और अपने आत्मामें, अपने स्वरूपमें जो सच्चिदानन्द है वह गोपियोंमें स्थापित किया। 'रात्रीर्वीक्ष्य' रातें बनायीं बड़ी सुन्दर माने कालकी सृष्टि की। वृन्दावन धामकी सृष्टि की। स्थान भी सच्चिदानन्दमय,समय भी सच्चिदानन्दमय, व्यक्ति भी सच्चिदानन्दमय शरदोत्फुल्लमल्लिका, एक रोते हुए आदमीको हँसाया और उसको हँसाकर स्वयं हँसने लगे। आनन्द लेनेकी पद्धति यही है, अगर किसीसे मजा लेना

हो तो पहले मजा देना चाहिए। अगर वृन्दावनसे श्रीकृष्ण आनन्द लेना चाहते हैं, गोपियोंसे आनन्द लेना चाहते हैं, रात्रिसे आनन्द लेना चाहते हैं तो पहले उनको आनन्द देंगे फिर उनसे आनन्द लेंगे। बिना दिये कोई ले नहीं सकता।

शरदोत्फुल्लमल्लिका—यहाँ *शरदि फुल्ला: मल्लिका:यासु ता रात्री:* ऐसा ठीक नहीं है? क्योंकि तब शरदुत्फुल्लमाल्लिका होगा, शरदोत्फुल्लमल्लिका नहीं होगा। बोले यहाँ 'शरदा' शब्द है, *शरदायां उत्फुल्ला मल्लिका मल्लिका यासु शरदोत्फुल्ल मल्लिका:*—अथवा शरदा तृतीयान्त हो शरदा हेतु भूतया, माने *यस्मात् कारणात् तदानीं शरद ऋतुर्वर्तते—अत: शरदाहेतुभूतया* शरदऋतुके कारण मल्लिका खिली हुई है। बेला, चमेली सब अच्छे-अच्छे फूल खिले हुए हैं।

इन फूलोंकी सुगन्ध आनेसे, इनको देखनेसे, हृदयमें एक दिव्य लालसा उत्पन्न होती है कि हम कृष्णसे मिलें। संसारमें लोग छोटी-मोटी चीज देखते हैं, फिर उनकी चाह होती है। रुपया चाहिए, कपड़ा चाहिए, भोग चाहिए, परन्तु यह कहाँ मनमें आता है कि कृष्ण चाहिए! लेकिन जब वृन्दावनका कदम्ब देखते हैं तब इच्छा होती है कि इसकी डालपर बैठकर बाँसुरी बजानेवाला चाहिए। जब वृन्दावनकी धूल देखते हैं तब मनमें आता है कि इसमें लोट-लोटकर जिस बालकने क्रीड़ा की है वह चाहिए। देखो बम्बईमें घूमो, तो—यह अमुक भाईका मकान है, यह अमुक भाईका मकान है, यह अमुक बहनका मकान है, यही न! पर वृन्दावनमें घूमो तो यह राधावल्लभका मन्दिर है, यह राधारमणका मन्दिर है, यह विहारीजीका मन्दिर है। यहाँ आदमियोंकी याद आती है और यहाँ आदमियोंका सान्निध्य है और वृन्दावनमें मनुष्योंकी याद नहीं, मनुष्योंका स्वामित्व नहीं, कृष्णका स्वामित्व और कृष्णकी मुरली। एक-एक चीज उसीकी याद दिलाती है। यहाँ मृद्-भक्षण किया, यहाँ कालियदमन किया, यहाँ चीरहरण किया, यहाँ रासलीला की, सेवाकुञ्ज है, रातमें जब रास करते-करते श्रीजी थक जाती हैं तब भगवान् पाँव दबाते हैं। यह निधिवन है, यहाँ विहारीजी प्रकट होते हैं। एक-एक चीज जो वृन्दावनकी है—*'मन है जात अबहुँ वही वा जमुना के तीर।'* अब भी मन वही हो जाता है, वैसे ही हो जाता है, कहाँ? वा जमुनाके तीर, उस जमुनाके किनारे जब जाते हैं तो ऐसे ही मन हो जाता है। वृन्दावनकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

'शरदोत्फुल्लमल्लिका'—*शरदा-शरदति कामपीडां ददति इति शरदा:।* ददाति, ददति बहुबचन है। जैसे-हृदयमें बाड़ लग जाय तो पीड़ा होती है, वैसे जिसके हृदयमें कृष्ण प्रप्तिकी इच्छा हो जाती है, उसके हृदयमें पीड़ा होती है। और यह

पीड़ा जो सहनेके लिए तैयार नहीं है, उसको प्रेमके मार्गमें पाँव नहीं रखना चाहिए। इसमें पीड़ा ही निर्माण करती है, वही महौषध है। इसमें बाहरकी दवा नहीं खायी जाती है। यह जो प्रेमका दर्द है: दरद-दरं भयं ददाति इति दरदः।'दर' शब्द है संस्कृतका वही हिन्दीमें 'डर' बन गया, *दरं भयं ददाति इति दरदः।* आगे के लिए डर होता है कहीं मर न जायें, उसके दरद हो गया यह जो दरद है।

तेरी याद में दिलने जो दर्द दिया, तो कुछ ऐसा मजा मैंने उसका लिया।
न करूँ न करूँ मैं दवा, मैंने खाई है अब तो दवा की कसम॥

तो वृन्दावनमें पहले प्रेमकी पीड़ा आती है। हाथ जोड़कर निकल जाने वाले लोग दूसरे होते हैं। अगर विहारीजीके सामने हाथ जोड़ लिया, पाँच रुपयेका, चार आनेका प्रसाद चढ़ा दिया, विहारीजी महाराजकी जय! फिर नज़र गयी कि जूता अपनी जगहपर है कि नहीं? तो वह बात दूसरी है और विहारीजीके संयोगसे सुख होवे और उनके वियोगमें दुःख होवे—वह शरदा है। 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'—शरकी तरह जो दाह दे हृदयमें, जो दुःख दे हृदयमें, दरद दे दिलमें, एक-एक बात, एक-एक पत्ता, एक-एक पशु, एक-एक पक्षी, यह गाय है जिसको कृष्ण चराते थे, वह पेड़ है जिसपर बैठते थे, यह फूल है जिसकी सुगन्ध लेते थे। यह यमुना है जिसमें तैरते थे।

यहीं कहूँ श्याम काहू कुंजमें फिरत ह्वै हैं
भुज भरि भेंटब को हिय उमगत है।

यहीं होंगे, यहीं मिलेंगे, उस पेड़पर, उस कुञ्जमें! हृदयमें जबतक संयोगका सुख और वियोगकी पीड़ा उदय नहीं होती, तबतक यह संसारका दुःख दूर नहीं होता। प्रेमका जो दर्द है वह दुनियाके, संसारके दुःखको दूर करता है।

तो **वीक्ष्य**— ऐसी-ऐसी चीजें भगवान्‌ने बनायीं। वृन्दावनकी रात देखकर, वृन्दावनकी गाय देखकर, वृन्दावनकी ग्वालिन देखकर, वृन्दावनकी गुल्मलता देखकर, वृन्दावनका धूलिकण देखकर, यमुना देखकर, कृष्णके मनमें भी रासकी तीव्र लालसा होती है। भगवान्‌ने बनाया, इसलिए है और 'रन्तुं मनश्चक्रे योगमाया-मुपाश्रितः।' अब देखो भगवान्‌ने सबकुछ तो बना दिया लेकिन मन ही न हो तब क्या बनेगा? तो एक ऐश्वर्य-पक्षका अर्थ बताया और एक इसमें माधुर्य-पक्षका। वृन्दावन ऐसा है कि कृष्णको लुभा दे। आपको कृष्णके जीवनके बारेमें एक बात सुनाता हूँ। सबसे बड़ी माया उनके जीवनमें यही है। वह क्या माया है?—यह जो दुनियाको दिखाया कि हम बलरामजीके साथ अक्रूरके साथ मथुरा जा रहे हैं, यह सबसे बड़ी छलना है। कृष्ण खुद नहीं गये, खुद तो ऐसे मामूली बन गये, जैसे

कोई गोपियोंका सेवक हो। रोज-रोज गाय चरावें, रोज-रोज माखन चोरी करें, रोज-रोज मैयाका दूध पीयें, रोज-रोज गोपियोंके साथ खेलें, अपना कृष्ण नाम ही बदल दिया। अपना नाम छैला रख दिया, छैलचिकनिया रख लिया; वसुदेवके जो बेटे मथुरासे आये थे उनको अक्रूरके साथ भेज दिया और स्वयं गोपियोंको छोड़कर कभी मथुरा नहीं गये। दुनियाँने समझा कि कृष्ण मथुरा चले गये और कृष्ण रह गये वृन्दावनमें।

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

पकड़ लिया कृष्णको वृन्दावनने! ईश्वर है तो क्या हुआ? प्रेम हो तो ऐसा— सौन्दर्य हो तो ऐसा, माधुर्य हो तो ऐसा! प्रेम बिना रस्सीका बन्धन है।

अब देखो—'**रन्तुं मनश्चक्रे**' का अर्थ है कि हैं अपने आपमें परिपूर्ण परन्तु रमणके लिए मन बनाया। *'मनः कर्म भूतं चक्रे।'* जैसे कोई कहे *'कुम्भकारः घटं चक्रे, निर्मितवान्'*—ऐसे भगवान्ने अपना मन बनाया। अब उस मनमें पीड़ाका अनुभव किया। मन कहता है कि चलो जमुना किनारे, मन कहता है कि चलो रमण रेतीमें, मन कहता है कि चलो वृन्दावनमें, मन कहता है कि चलो निकुञ्जमें, मन कहता है कि चलो कदम्ब वृक्षके नीचे, वहाँ चलकर बाँसुरी बजाओ! दुनियाँमें कुछ अच्छा नहीं लगता-जबतक गोपियाँ हमारे पास नहीं आयेंगी और जबतक रास नहीं होगा तबतक हमको सृष्टि अच्छी नहीं लगती है।

अब देखो *'चक्रे चकार'*। एक परस्मैपद होता है, एक आत्मने पद होता है 'जहाँ सुख दूसरेको मिलनेवाला होता है वहाँ चकार बोलते हैं और जहाँ सुख अपनेको मिलनेवाला होता है वहाँ चक्रे बोलते हैं। कर्मका फल जब अपनेको मिलता है तब आत्मने पद 'चक्रे' और क्रियाका फल, कर्मका फल जब दूसरेको मिलता है तब परस्मै पद, 'चकार'। कृष्ण कहते हैं कि राधे! तुम्हारे बिना मैं दुःखी हूँ, तुम्हारे लिए मैं जीवित हूँ। प्रेमके रास्तेमें चलें और पीड़ा नहीं हो तब कैसे होगा? पीड़ा तो प्रेमका पूर्व रूप है। अरे भाई! जो सुख देता है उसके लिए दर्द भी होता है, जिससे सुख मिलता है, उसके लिए पीड़ा भी होती है! और जो दुःख देता है उससे बचनेकी इच्छा होती है। यह मनका स्वभाव है कि जो दुःख देता है उससे बचनेकी इच्छा होती है जो सुख देता है उससे मिलनेकी इच्छा होती है। यही तो प्रेमका कुल रहस्य है।

तो '**मनश्चक्रे**'—जो भगवानको भी सुख दे उसके भीतर कितना सुख होगा। यशोदा मैयाने भगवान्को यश दिया और गोपियोंने भगवान्को सुख दिया। जब

मनमें तीव्र वेग होता है, तो शरीर ऐंठने लगता है, यह जो नृत्य है न, यह रसका विलास है, इतने वेगसे रसका उदय होता है कि मनुष्य नाचने लग जाता है। तो भला भगवान्‌ने इस मनका निर्माण कैसे किया? 'मनश्चक्रे'—अर्थ इसका है कि संकल्प किया अपने सुखके लिए। मन माने संकल्प इसका दूसरा अर्थ है कि पहले मन नहीं था, अब बनाया और तीसरा अर्थ यह है कि गोपियोंमें इतना सैन्दर्य, इतना माधुर्य, इतना रस है कि रमणका संकल्प किया कि भाई—यह सुख तो हम लेकर रहेंगे। इनका सुख तो लेकर रहेंगे—'रन्तुं मनश्चक्रे'।

कैसे यह संकल्प लिया तो उसके लिए अन्तिम पद है—**योगमायामुपाश्रितः।**

अब पहले वेदान्ती अभिप्राय सुनो। **मनश्चक्रे अयोगमायामुपाश्रितः**—वेदान्ती कहते हैं कि चक्रके बाद और योगके पहले एक अकार है इसलिए अयोगमाया हो जायेगा। अयोगमाया क्या है कि संसारमें सबसे हँसो, सबसे खेलो, सबसे मिलो, परन्तु योग होने न पावे। इसको वेदान्ती लोग अस्पर्श-योग कहते हैं। हे नारायण! जैसे संसारी लोगोंको बन्धन होता है, जैसे संसारी लोगोंको आसक्ति होती है, जैसे वे अपना स्वरूप ही खो बैठते हैं, अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं, वैसे, कृष्ण नहीं हैं। **अयोगमायामुपाश्रितः।**

अब दूसरा अर्थ देखो—बोले भाई यह वृन्दावन, रात्रिका समय और कृष्ण बाँसुरी मात्र उपकरण लेकर आगये। अब यहाँ शृंगार कौन करेगा? कुन्दमाला बनाकर कौन पहनावेगा? कमलकी माला कौन पहनावेगा? यहाँ बाजे-बजेंगे तो कौन ले आवेगा गोपियोंको। कहा—गोपियाँ तो घरसे भाग-भागकर आवेंगी। '**अन्योन्यमलक्षितोद्यमा**'—सब गोपियोंने कोशिश की कि हमारा जाना किसीको मालूम न पड़े—'**अन्योन्यमलक्षितोद्यमा**'। पहले जब चीर हरणके लिए जाती थीं न, कात्यायनी व्रतके लिए, यमुना स्नानके लिए तो—'**उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैः**' प्रातःकाल उठतीं—'**अन्योन्यबद्धवाहवः**' परस्पर गलबहियाँ डालतीं और '**कृष्णमेव जर्गुयान्त्यः**' कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण रक्ष माम्, कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण पाहि माम्, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव रक्षमाम्, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव पाहि माम्। सब एक साथ मिलकर बोलती हुई जाती हैं। माँ सुनें, बाप सुनें, सास सुनें, ससुर सुनें, मँगेतर सुनें, चाचा सुनें, चाची सुनें और वे कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण करके जमुना स्नान करें। ठण्डका दिन कोई डर नहीं, लेकिन जब बाँसुरी बजी तो 'अन्योन्यमलक्षितोद्यमा' जो जैसी थीं वैसी ही उठकर भगीं। भगवान्‌से मिलनेके लिए झुण्ड बनाकर थोड़े ही जाते हैं। भगवान्‌के पास जानेका यह तरीका

नहीं है। 'अन्योन्यमलक्षितोद्यमा' सब गयीं पर अकेले-अकेले गयीं। अब वहाँ जाकर इकट्ठी हो गयीं। देखो—भगवान्‌के सामने भी राग-द्वेष होता था। नारायण! बड़ी विलक्षण बुद्धि है, इससे डरना नहीं चाहिए। दृष्टि अपनी भगवान्‌पर रहनी चाहिए। '**योगमायामुपाश्रितः**'का क्या अर्थ है? बड़ी विलक्षण बात है। रासलीलामें मृदङ्ग कहाँसे आगया? वीणा कहाँसे आगयी? सितार कहाँ से आ गये? "**ददौ ताम्बूल चर्बितम्**" ताम्बूल कहाँसे आया? बाजे कहाँसे बजे? संगीतकी सामग्री कहाँसे आयी? सबका शृंगार किसने किया? गोपियोंमें एक तो एक आँखमें अञ्जन लगाकर भगी थी, पाँवकी चीज हाथमें पहनकर दूसरी भगी थी, उलटी साड़ी, उलटा कुर्त्ता, एक पाँवमें आभूषण, एक हाथमें आभूषण, एक कानमें आभूषण वे तो ऐसे गयी थीं, तो किंभूत किमाकार होकर कृष्णके पास पहुँची। तो कृष्णने कहा कि-महाराज इन लोगोंने तो अच्छा शृंगार बनाया। अब क्या रासलीला होगी? एक आँखमें अञ्जन, मुँहपर लगा कालिख, रुमाल उसके हाथमें तो थी नहीं तो बरम्बार कैसे पोंछे, भोजन ही लगा था, मुँहमें। किसीके हाथमें जूठन लगी थी खाते-खाते चली गयी थी, कोई परसते-परसते चली गयी थी। तो भगवान्‌ने कहा-कि हे योगमाया-अब तुम्हीं समाधान कर सकती हो— 'योगमायामुपाश्रितः'। बोले—यह योगमाया जो है न, वह बिगड़ी हुई चीजको बना देती है, उसको नष्ट नहीं करती, यही उसका स्वभाव है। देखो, योगमायाने बलरामजीको एक पेटसे दूसरे पेटमें रख दिया परन्तु बलरामजी को खरोंच नहीं लगी। विचित्र है— यह योगमायाकी सर्जरी। "योगमायामुपाश्रितः" योगमाया भगवान्‌की अपनी अचिन्त्य शक्ति है; वह एक प्रमाणको भी अन्यत्र स्थापित कर देती है, एक आनन्दको भी अन्यत्र स्थापित कर देती है, एक वस्तुको भी अन्यत्र स्थापित कर देती है. किसी गोपीको बैठाया नहीं और सबकी चोटी भी बना दी, सबके जूड़े भी बाँध दिये, फूल भी लगा दिये। सोलह हजार नहीं, सौ करोड़ गोपियाँ—"**वनिताशतकोटिभिराकुलिताः**"! सब गोपियोंके दोनों आँखोंमें अञ्जन हो गये, सबके पाँवमें नुपूर हो गये, दोनों हाथोंमें कंकण हो गये, सबके करधनी हो गयी, सबके कपड़े ठीक हो गये। तो यह सब कैसे हुआ, कि 'योगमायामुपाश्रितः"।

अब देखो-इसका अर्थ बताता हूँ जो आपके ध्यानमें अभी तक नहीं आया होगा, पर मैंने कह दिया था। वह योगमाया क्या है? योगमें यह सामर्थ्य होता है कि योगी चाहे तो एक साथ अनेक शरीर धारण करले। श्रीकृष्ण द्वारिकामें जितनी पटरानियाँ थीं सबके घरमें एक-एक रूपसे रहते ही थे। तो अब यहाँ क्या हुआ, कि भगवान् श्रीकृष्णने अपनी योगमायासे जितनी गोपियाँ थीं उतना रूप ग्रहण

किया और सब गोपियोंके पास एक-एक हो गये और स्वयं उसकी चोटी सुधार दी, उसका अञ्जन लगा दिया, उसको कंगन पहना दिया, उसका नुपूर लगा दिया, उसके कपड़े पहना दिये और गोपियाँ तो देखकर आनन्दमें मग्न कि वाह-वाह! हमसे गलती हो गयी थी, गलती सुधार देना, अपने प्रेमीका काम है। किसीके मुँहपर कोई दाग लग गया हो तो जो प्रेमी होगा वह हँसी थोड़े ही उड़ावेगा, वह तो उसको साफ कर देगा। तो गोपियोंसे आनेमें जो त्रुटि हो गयी थी, उसको 'योगमाया उपाश्रित' योगमायासे कायव्यूहकी रचना करके उतने शरीर धारण करके योगमायाको बुलाया नहीं कि तू सुधार; बल्कि अपने आप ही भगवान्ने शृंगार किया। पहले जो यह बात कही थी-''वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'' उसको ऐश्वर्यपक्षमें जाने दो। स्वयं श्रीकृष्ण मधुर वेष धारण करके एक-एक गोपीका शृंगार कर रहे हैं, यह 'योगमायामुपाश्रित्य'का मधुर अर्थ है।

बोले—भाई श्रीकृष्णमें यह योगमाया कहाँसे आयी? श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने लिखा है कि योगमायाका काम ही है कि जैसा लोकमें न हो सके वह कर देना। जैसे आदमी अपनी आँखसे देखे तभी किसी चीजको सच्ची मानता है; लेकिन योगमाया चाहे तो ऐसा कर दे कि दूसरेकी आँखसे दिखे और दूसरा सच्चा माने। जैसे मजा अपने दिलमें आवे तब मालूम पड़ेगा, पर योगमाया ऐसा कर देती है कि दूसरेके दिलमें मजा आवे और दूसरेको मालूम पड़े। योगमाया माने भगवान्की अचिन्त्य शक्ति। जिस अचिन्त्य शक्तिसे भगवान् निर्गुणसे सगुण होते हैं, निराकारसे साकार होते हैं, परिपूर्णसे परिछिन्न होते हैं, कारणसे कार्य होते हैं, उसके लिए क्या दुष्कर है।

पहले हम ऐसे बोलते थे कि भगवान् तो अनाथ हैं! कहा क्यों? क्योंकि उनका तो कोई नाथ ही नहीं है। कहा-भगवान् तो टूअर है। टूअर शब्द गाँवका है। टूअर माने जिसके माँ नहीं, बाप नहीं, भाई नहीं, बन्धु नहीं। मगर देखो-व्रजवासियोंकी महिमा कि सब हो गया! कैसे? तो 'योगमायामुपाश्रितः' जब योगमायाको लेकर पैदा हुए, तो जैसे निर्गुणको सगुण बनाया, निराकारको साकार किया, वैसे माँ भी बना ली, एक बाप भी बना लिया, गोपियाँ भी बनायी, ग्वाले भी बनाये, वृन्दावन भी बनाया, क्या आगन्तुक है? कहा—आगन्तुक नहीं है?—'रन्तुं मनश्चक्रे'। बोले— आभ्यन्तर हैं ये सब; क्योंकि मन तो भीतर रहता है। कहा—ये सब बनावटी नहीं हैं, ये सब असली हैं, कैसे? तो 'योगमायामुपाश्रितः'। भगवान्में अचिन्त्य शक्ति है। अचिन्त्य शक्ति, योगमाया, माया किसको कहते हैं? अघटित घटना घटित पटीयसी माया जो घटना अघटित है, घटित होना जिसका शक्य नहीं

है, उसको जो घटानेमें निपुण है, उसका नाम माया है। '**योगमायामुपाश्रितः**'— अपनी अचिन्त्य शक्तिका आश्रय लिया।

'योगाय या माया कृपा ता उपाश्रितः'

भगवान्ने देखा—कि संसारके लोग दुःखी हैं। क्यों दुखी हैं? कहा—हमसे बिछुड़े हुए हैं। देखो, जो अपनेको आनन्दरूप अनुभव करे और दुनियामें किसीको दुःखी देखे तो उसका क्या ख्याल बनेगा? यही न बनेगा कि मैं आनन्द स्वरूप, इन्होंने मेरी ओर पीठ कर ली है इसलिए दुःखी हैं। यही तो सोचेगा और क्या सोचेगा? संसारमें ज्यादातर लोग दुःखी हैं—स्वव्यक्तित्वनिष्ठ होनेके कारण अपना धन, अपना भोग, अपना कर्म, अपना शरीर, अपनी परिच्छिन्नता इसीपर जो नजर बँध गयी है, इसके कारण संसारके लोग दुःखी हैं। जरा सामनेवालेपर जाने दो न नजर-जो मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, टेढ़ी टाँगवाला। टेढ़ी टाँगवालेको आप जानते हैं? बाँके बिहारी, त्रिभंगललित, भंग कमर, भंग चिबुक, भंग पाँव, तीन जगहसे टेढ़े फिर भी ललित! यह बाँकेबिहारी हैं। मंद-मंद मुस्कान, आँखोंमें प्रेम, भौंहोंमें अनुग्रहवाले क्या हैं, तीर हैं, बाण हैं बाण। वे सम्पूर्ण सौन्दर्यका आधार हैं। वक्षःस्थल जिसपर लक्ष्मी विलास करती हैं, श्रीवत्स हैं, जिसका रोम-रोम पुकारता है; आओ, आओ! सुख चाहते हो तो हमारी ओर आओ!! उसका चिबुक हिलता है तो कहता है कि हमारे पास आ जाओ, हाथ हिलता है तो कहता है कि हमारे पास आ जाओ! आँख हिलती है तो कहती है हमारे पास आओ! भौंह हिलती है तो कहती है, हमारे पास आ जाओ! आमंत्रण करनेवाला देवता है, यह! निमन्त्रण देनेवाला देवता है! और देवताओंको तो निमंत्रण देना पड़ता है कि हे रामजी महाराज! एक दिन रथपर बैठकर हमारे घरमें पधारना! राजकुमार, आपका स्वागत है! और ये तो आँखसे निमन्त्रण दें, होंठसे निमन्त्रण दें, दाँतसे निमन्त्रण दें, उँगलीसे निमन्त्रण दें, नुपूर बजाकर पाँवसे निमन्त्रण दें, कमर हिलाकर, किंकणीसे निमन्त्रण दें, हाथ हिलाकर कंगनसे निमन्त्रण दें, बाँसुरीसे निमन्त्रण दें अपनी गन्धसे निमन्त्रण दें, रूपसे निमन्त्रण दें, रससे निमन्त्रण दें, ये तो सारी दुनियाको मानो अपने पास बुलाना चाहते हैं।

तो, **योगाय या माया तां उपाश्रितः**—ये संसारके बिछुड़े हुए लोग, ये विरही लोग, ये दुःखी लोग संसारके विषयोंसे प्रेम करके दुःखी हो गये! उनके दुःख निवारणके लिए ये परम कृपालु, ये करुणा, वरुणालय, ये करुणारुण नयन-हृदयमें करुणा लिये और करुणाके कारण आँखें लाल-लाल किये पुकार-पुकारकर

आमन्त्रण दे रहे हैं, निमन्त्रण दे रहे हैं कि आओ-आओ-आओ! यह निमन्त्रण देते हैं लो, तुम्हें गन्ध चाहिए तो गन्ध लो, रस चाहिए तो रस लो, रूप चाहिए रूप लो, स्पर्श चाहिए स्पर्श लो, शब्द चाहिए शब्द लो, दिल चाहिए दिल लो, दिमाग चाहिए दिमाग लो और कुछ न चाहिए तो हमको ही ले लो। '**स्मरतः पादकमलं स्वात्मानमपि यच्छति।**'

योगाय-माने जीवोंको ईश्वरकी प्राप्ति हो जाय, उनको अविनाशी सत् मिले, उनको स्वयं प्रकाश चित् मिले, उनको अनायास नित्यानन्द मिले, इसके लिए योगमायाका आश्रय लिया। 'योगाय या माया कृपा तां उपाश्रितः' माया शब्दका अर्थ दम्भ और कृपा दोनों है-*माया दम्भे कृपायां च। कठोरा भव मृद्वी वा प्राणास्त्वमसि राधिके। अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां विना गति।*

देखो, क्या बोलते हैं—

अरी गोपी! अरी ग्वालिनी! तू चाहे मेरे साथ कठोरता बरत, कठोर हो जा, और चाहे कोमल हो जा, हमारे प्राण तो तुम हो. 'अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रलेखां बिना गतिः'। चकोरके लिए चन्द्रमाकी चन्द्रिकाके सिवाय और कोई आश्रय नहीं है। तो योगमाया माने कृपा, प्रेम संसारके जीवोंको अपनी ओर खींचनेके लिए।

अच्छा योगमाया माने होता है वंशी। 'योगाय माया शब्दो यस्याम्'। यह मायिक़ शब्द जो है वह *'माङ्माने शब्दे च'* से बना है। अतः माया माने शब्द अर्थात् वंशी, मुरली। *योगाय माया शब्दो यस्यां सा योगमाया*-अर्थात् मुरली, वंशी, बाँसुरी क्या है? प्राणोंकी, हृदयकी पीड़ाको बाँसुरी जितनी प्रकट कर सकती है उतना कोई वाद्य नहीं कर सकता। ये ढोलक है, मृदङ्ग है, नगाड़ा है इनको पटापट पीटो, तब बोलते हैं और सारंगी आदि तार-वाद्योंको रगड़ो तब आवाज निकलती है, काँसेके झाँझको लेकरके आपसमें टकराओ तब आवाज निकलती है। परन्तु टकरानेका नाम प्रेम नहीं है, घिसनेका, रगड़नेका नाम प्रेम नहीं है। अरे बाजा तो वह है जो अपनी साँससे प्राणवायुसे बजाया जाय! इसको बाँसुरी बोलते हैं। अधरामृतका पान करे। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज तो कहते हैं कि श्रीकृष्ण अपने आनन्दको बाँसुरी द्वारा ही गोपियोंमें स्थापित करते हैं—योगाय माया शब्दो यस्याम् सा योगमाया'। बाँसुरी उठायी और बरसा दिया आनन्द। इसमें डूब जाओ! वंशीके लिए वैष्णव लोग चार बात मानते हैं।

वंशीका एक स्वरूप तो है आचार्य, गुरुका। गुरु भी तो शब्द ही देता है! एकबार सच्चा गुरु सच्चा मन्त्र कानमें दे दे, तो उसे छोड़ा नहीं जा सकता। एक

हमारे मित्र हैं-बड़े भगतराज। उनसे पूछो कि तुम्हारा गुरु कौन है? तो पाँच-सातका नाम बतावेंगें। जिस दिन गुरु अपना शक्तिशाली मन्त्र देगा, उसको अगर छोड़ोगे तो सपनेमें चढ़ बैठेगा तुम्हारे ऊपर। वह मन्त्र नहीं, भूत होकर गला दबावेगा, तुमको छोड़ नहीं सकता। जो रोज-रोज बदलनेवाले लोग हैं वे व्यापार करना चाहते हैं; परमार्थके क्षेत्रमें। तो यह वंशीजो है इसका एक रूप है-गुरु। भगवान्‌की वंशी गोपियोंको आकृष्ट करती है—इसका अर्थ यह होता है कि आचार्य अपने हृदयमें जो भगवद्भक्ति है वह शिष्यको अपने मुखारविन्दसे शब्द द्वारा देकर उसके हृदयको भगवान्‌की ओर खींचता है। आचार्य है वंशी।

दूसरे वंशी माने होती है-सखी-सहेली, पूरबकी भाषा बहुत मीठी होती है, आप लोग उससे परिचित नहीं हैं। जैसे-कोकिल शब्द है तो हिन्दीमें इसको कोयल बोलते हैं लेकिन पूर्वी भाषामें कोयलसे संतोष नहीं होता है, कोयलर बोलते हैं। देखो कितना मीठा हो गया! हिन्दीमें जो सहेली शब्द है—वह संस्कृतके सहचरी शब्दमें से आया है। च गायब हो गया तो सहेली बना। किन्तु पूरबियामें सहेलीसे संतोष नहीं होता, सहेलर बोलते हैं। यह मीठी क्या, जनकपुरकी भाषा है। शब्दमें मिठास आ गयी, शब्दमें अमृत पड़ गया।

तो यह वंशी सहेलर है, सखी है श्रीराधारानीको कृष्णके पास पहुँचनेमें जो मदद करती है वह कौन है? कि वह सखी है;वह भी वंशी है। गुरु भी वंशी है; सखी भी। माने जो समान प्रेम करनेवाले भक्तलोग हैं वे सखी हैं।

तीसरे इस वंशी सखी का रूप क्या है? तो कहा—बाँसुरी अन्य सखियोंकी तरह श्रीकृष्णके अधरामृतका पान करती है।

चौथा-वंशीका रूप क्या है? कहा—वह प्यार है जिसकी गोदमें राधाकृष्ण दोनों खेलते हैं। तो देखो वंशी हिततक पहुँचती है। कृष्णके मनमें राधारानीका हित करनेका जो चाव है और राधारानीके मनमें कृपणका हित करनेका जो चाव है, इस चावको बोलते हैं वंशी, यह हित है। जब कृष्णके प्रेममें राधा और राधाके प्रेममें कृष्ण—दोनों जब बेसुध हो जाते हैं तो वहाँ दोनोंके सुखका सम्बोध है। उसको हित-तत्त्व बोलते हैं। अज्ञात दशामें सुख नहीं रहता। सुख ज्ञात रहना चाहिए। चित हो तब तो सुख मालूम पड़े? सुषुप्तिमें भी यदि चेतन नहीं होता तो सुख कैसे मालूम पड़ता? तो जब कृष्ण राधामें और राधा कृष्णमें लीन हो गये, उस समय जो दोनोंके सुखका सम्बोध है, उसको हित-तत्त्व बोलते हैं। यही वंशी है।

चिद्-अभिव्यक्ति आचार्य है—वंशीका गुरुरूप! सद्-अभिव्यक्ति है वंशीका

सखी रूप। स्वयं वंशी आनन्दाभिव्यक्ति है। और हित तत्त्व है स्वयं सच्चिदानन्द। तीनों एक हैं। भगवान्‌ने उसी वंशीका आश्रय लिया। '**योगमायामुपाश्रितः।**'

रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः—अब एक दूसरा भाव देखो इसका — योगमाया माने राधारानी। जब रास करनेका बिलकुल निश्चय हो गया तब भगवान्‌ने सोचा कि यदि राधारानी अनुकूल नहीं होंगी तो रास नहीं हो सकता। अतः '**योगमायाम् उपाश्रितः**' माने राधारानीका आश्रय लिया। **सर्वाश्रयोऽपि भगवान् कृष्णः**—ब्रह्माके आश्रय कृष्ण; शंकरके आश्रय कृष्ण; इन्द्रके आश्रय कृष्ण। सम्पूर्ण जगत्, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके आश्रय कृष्ण; सम्पूर्ण जीवोंके आश्रय कृष्ण; सबके आश्रय कृष्ण भगवान् होनेपर भी रास करना हुआ तो बोले—बाबा! अकेले काम नहीं बनेगा; जबतक श्रीराधारानी रासके लिए तैयार नहीं होंगी, गोपियोंके साथ रास करनेकी स्वीकृति नहीं देंगी, स्वयं सोलहों शृंगार करके उसमें शामिल नहीं होंगी. तबतक रस बनेगा ही नहीं; तब सबके आश्रय होनेपर भी *योगमायां राधां उपाश्रितः* श्रीराधारानीके आश्रित हुए। आश्रित हुए—**उपाश्रितः**- माने पास गये, पाँव पकड़ लिया। श्रीराधारानी बोलीं- प्रियतम, यह क्या कर रहे हो? दोनों हाथ पकड़कर हृदयसे लग गयीं और बोलीं-यह क्या कर रहे हैं? आज पाँव क्यों छू रहे हैं? कहा-तुम्हारी शरणमें हूँ तुम्हारे आश्रयमें हूँ। देखो-इतने बड़े होकर भी इतना दैन्य दिखाते हैं। बोलीं—प्रियतम, आज्ञा करो। कहा—आज्ञा नहीं, तुमसे आज्ञा लेने आया हूँ, बोलीं—क्या? कहा—गोपियोंके मनमें रासकी है। एक दिन उनके साथ रास हो जाये। इसलिए मैं तुम्हारी शरणमें हूँ देवि, प्रिया हो, प्रसन्न हो जाओ, कृपा करो, कि गोपियोंको भी तुम्हारे साथ रास करनेका, नृत्य करनेका, गाने-बजाने-नाचनेका आनन्द मिले। और यह आनन्द इन गोपियोंको मिलेगा, इनमें प्रकट होगा तो व्यास-शुकदेव आदि उसका गान करेंगे, संसारके सब जीवोंको मालूम पड़ेगा, तो वे भी हमारा ध्यान करेंगे, वे भी हमसे प्रेम करेंगे। उनके हृदयमें भी सच्चे प्रेमका उदय होगा। इसलिए '**योगमायामुपाश्रितः**'।

७

भगवान्‌की प्रेम-परवशता

(योगमायामुपाश्रितः)

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

अच्छा! आज रासपंचाध्यायी सुनानेसे पहले दो-चार बात! ऐसा है कि सबेरे वेदान्त सुनाते हैं और शामको भक्तिकी बात आप सुनाते हैं। तो दोनोंमें क्या संगति है? ऐसा कई लोग पूछते हैं।

बात यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है। यदि ब्रह्मसे अतिरिक्त है तो मिथ्या है—यह बात केवल ब्रह्मज्ञानीके ही अनुभवमें आती है और वेदान्तोंमें केवल ब्रह्मज्ञानीके लिए ही ऐसे वाक्य लिखे गये हैं। जो अधिष्ठान आख्यात्मिका बोध होनेसे पहले किसी युक्तिसे, किसी विज्ञानसे, किसी मशीनसे, किसी भावनासे, किसी मानसिक स्थितिसे इस संसारको मिथ्या समझ लेता है, वह गलत समझता है। वेदान्तोक्त ब्रह्मज्ञानके बिना—तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके बोधके बिना यह प्रपञ्च मिथ्या हो नहीं सकता। ये सब जो गजलसे ब्रह्मज्ञानी बनते हैं या विज्ञानसे ब्रह्मज्ञानी बनते हैं या मशीनसे ब्रह्मज्ञानी बनते हैं या ब्रह्मको कोई व्यावहारिक वस्तु समझकर ब्रह्मज्ञानी बनते हैं; झूठे ब्रह्मज्ञानी हैं। ब्रह्मज्ञान तो जब कोई शुद्ध अन्तःकरण पुरुष त्वं-पद-लक्ष्यार्थ और तत्पद-लक्ष्यार्थ—दोनोंको वेदान्तकी रीतिसे समझकर, दोनोंकी एकताको जानकर अपनेको ब्रह्म अनुभव करता है, तभी होता है और तभी अपनेसे अन्यत्वके मिथ्यात्वको जानता है; यही ब्रह्मज्ञानकी प्रणाली है और दूसरी सब प्रणाली झूठी है। ये जो अहं-अहं करते हैं सो भी और जो 'नेति-नेति' करते हैं, सो भी, उपनिषद्‌के बिना जो ब्रह्मज्ञानकी प्रणाली है वह अर्थशास्त्रीय है और सच्ची नहीं है।

ब्रह्मज्ञानके पहले यह जगत् बिलकुल सच्चा है। अब इसमें जरा ईश्वरकी बात देखो! असलमें, दुनियाके जितने साधन हैं, वे ईश्वरको काबूमें करनेके लिए हैं। आप इसमें कुछ अतिशयोक्ति मत मानना। यह आत्मा स्वभावसे ब्रह्म है और यह सबको अपने काबूमें करना चाहता है, यहाँतक कि ईश्वरको भी अपने काबूमें

रखना चाहता है। यह ईश्वरसे भी यही अपेक्षा रखता है कि जो हम कहें वही ईश्वर करे। हम कहें कि वर्षा कर तब ईश्वर वर्षा करे और हम कहें कि गरमी डाल तो गरमी डाले। हम अपनी हुकूमत ईश्वरपर भी डालना चाहते हैं। यह बात हमारे स्वभावमें हमारी छठीमें डाली हुई है। चेले लोग गुरुको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना चाहते हैं; पत्नी पतिको अपनी इच्छाके अनुसार चलाना चाहती है। नौकर भी मालिकसे यही अपेक्षा रखता है कि हमारे कहे अनुसार ये काम करें। यह दुनियाका सहज स्वभाव है।

अब यह सवाल हुआ कि हम ईश्वरपर काबू कैसे पायेंगे? एक बात यह हुई कि यदि हम पुण्य आचरण करें, धर्माचरण करें तो चूँकि ईश्वर हमारे धर्मका, हमारे कर्मका फल देता है। अतः हम जो-जो चाहेंगे, सो-सो ईश्वर देगा। हम कहें हे ईश्वर, एक बेटा हमारे पास पार्सल करके भेज दे, हमारे पास नोटका बण्डल भेज दे, एक बड़ी सुघर पत्नी भेज दे। तो इसके लिए हमें धर्माचरण करना होगा। जब हम धर्माचरण करेंगे तो ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न होगा और प्रसन्न होंगे तो जो चाहेंगे सो ईश्वर देगा। इस प्रकार ईश्वरसें मनमानी चीज लेनेका उपाय हुआ धर्मका अनुष्ठान। अच्छा, यह कैसे होता है, यह भी आपको सुना दूँ! यह ऐसे होता है कि हमारे जीवनमें पाप वासनाकी अधिकता होती है और पुण्य और धर्म वासनाको घटानेसे होता है। तो जितनी-जितनी वासना हम कम करते हैं और शास्त्र-विधिके अनुसार आचरण करते हैं माने हम अपनेको नियन्त्रित करते हैं, उतना-उतना ही ईश्वर हमारे धर्मानुष्ठानके द्वारा नियन्त्रित होकर ईश्वर भी नियन्त्रित हो जाता है।

कर्म एव गुरुरीश्वरः—हमको सुख-दुःख देनेमें ईश्वर कर्माधीन है जब हम अपनेको विधिके अधीन करते हैं तो ईश्वर भी विधिके अनुरूप फल देनेके लिए अपनेको कर लेता है। जब हम विधिपूर्वक जप करते हैं, पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं, तब ईश्वर विधिपूर्वक पुत्र देता है। जब हम पशु-याग करते हैं तब ईश्वर स्वर्ग देता है। एक बात समझदार लोग ध्यानमें रखेंगे। जब हम वेदशास्त्रके द्वारा नियन्त्रित होकर धर्माचरण करते हैं तब हृदयमें बैठे हुए अन्तर्यामी नियन्ता ईश्वरसे हमारा तादात्म्य हो जाता है और फिर हमारी इच्छा कि हमको यह मिले, वह ईश्वरकी इच्छा हो जाती है और वह चीज मिल जाती है।

अब देखो—दूसरी चीज सुनाते हैं। हम बात रासपञ्चाध्यायीकी करेंगे, आपको इसका विज्ञान सुनाते हैं। दूसरी बात है कि यदि हम अपनेको असङ्ग पुरुषके रूपमें जानना चाहते हैं, अनुभव करना चाहते हैं, तो ईश्वरका पुरुष-विशेषके रूपमें ध्यान करना पड़ेगा। यह योगशास्त्र हुआ। जब हम पुरुष-विशेषका ध्यान करके

आत्मपुरुषको पुरुष-विशेषके साथ तादात्म्यापन्न कर देंगे तब जैसे ईश्वर सम्पूर्ण जगत्से न्यारा है, तटस्थ है, पुरुष-विशेष है, वैसे हम भी तटस्थ हो जायेंगे। असलमें हम ईश्वरसे एक होकर ही ईश्वरपर काबू पाते हैं। ईश्वर वह है जो जगत्का नियन्ता है और जब हम अपने आचरणके द्वारा, साधनाके द्वारा, भीतर-ही-भीतर ईश्वरके पास पहुँच जाते हैं तब जो चाहते हैं सो जगत्में हो जाता है। सिद्धि प्राप्त करनेका तरीका ही यही है।

अच्छा! अब देखो, तीसरी बात! जब हम अपनेको निर्विशेष ज्ञानके रूपमें जानते हैं तब निर्विशेष ज्ञान-स्वरूप ईश्वरके साथ एकता हो जाती है। तब सब भ्रम मिट जाते हैं। हम भी निर्विशेष हो जायेंगे; हम और दूसरी वस्तु—माने दुनिया न हमसे अलग, न हम दुनियासे अलग! निर्विशेष माने निर्भेद। घड़ामें एक विशेष है, कपड़ामें एक विशेष है! लेकिन जब घड़ा और कपड़ावाले विशेषोंको बाधित करके हम निर्विशेषसे एक हो जायेंगे तो हम ही जीव, हम ही ईश्वर, हम ही जगत और सारी विशेषताएँ बाधित हो गयीं।

अब जरा प्रेमी ईश्वरकी, रास-पञ्चाध्यायीकी बात करते हैं। आनन्दरूप जो ईश्वर है, उसको कैसे काबूमें करें? वैसे तो ईश्वर सारी दुनियाका मालिक है, सबको अपने काबूमें रखता है, लेकिन जैसे धर्मात्मा लोग अपने धर्मके द्वारा उसको काबूमें करते हैं, योगी लोग योगके द्वारा काबूमें करते हैं, ध्यानी लोग ध्यानके द्वारा अपना स्वरूप ही बना लेते हैं वैसे प्रेमी लोग प्रेमके द्वारा अपने काबूमें करते हैं। सारे जगत्का नियन्ता होनेपर भी ईश्वर प्रेमके द्वारा नियन्त्रित है। तुम अपनेको प्रेममय बना लो—प्रेममय, रस-ही-रस, रस-ही-रस। जब कोई तुम्हारे अन्दर पत्थरका डला नहीं रह जायेगा, प्रेम-ही-प्रेम हो जायेगा, तब तुम आनन्दस्वरूप, प्रेमस्वरूप, रस-स्वरूप परमात्मासे एक हो जाओगे। इसीलिए भक्ति-सिद्धान्तमें पहले पूजा, फिर समर्पण, फिर शरणागति, फिर प्रेम—ये चार भूमिका बनायी।

पहले तुम्हारे पास जो चीज होवे उसके द्वारा भगवान्की पूजा करो। ये जो करोड़पति लोग पाँव दबाकर अपना काम निकालना चाहते हैं वह गलत है; और जो गरीब लोग पैसा खर्च करके अपना काम बनाना चाहते हैं वह भी गलत है। ईश्वर जिसको जिस ढंगसे मिलना चाहता है उसको वैसी साधन-सम्पत्ति पहले देकर तब भेजता है। पुरुष बनकर स्त्री परमात्माको प्राप्त नहीं करेगी, स्त्री स्त्रीत्वके द्वारा ही परमात्माको प्राप्त करेगी और पुरुष औरत बनकर--काजल लगाकर, सिन्दूर लगाकर, ईश्वरको प्राप्त नहीं करेगा, पुरुष पुरुषत्वके द्वारा ईश्वरको प्राप्त करेगा। पुंस्त्वका जो अधिष्ठान है और द्रष्टा है,सो परमात्मा और स्त्रीत्वका जो

अधिष्ठान और द्रष्टा है सो परमात्मा! तो वस्तुके द्वारा जिसके पास जो चीज है, उसके द्वारा परमात्माकी पूजा करो। बोले—हमारे तो महाराज दिमाग नहीं है, कहते हैं—जीभ तो है; उससे बोलो, जपो-राम राम राम राम। तुम्हारी जीभसे ईश्वर मिलेगा। बोले—हमारे तो जीभ भी नहीं है। कहा—पाँव तो हैं, उनसे चलो, द्वारिका, रामेश्वर घूमो। तुमको पाँवके द्वारा ईश्वर मिलेगा। बोले—हमारे पाँव भी नहीं हैं महाराज! तो कहते हैं— आँख तो है, आँखसे ईश्वर मिलेगा। जितना तुम्हारे पास है उसीसे ईश्वर तुमको मिलेगा।

एक आदमी आये, बोले—महाराज! हम आपकी सेवा करना चाहते हैं। कहा—क्या करना चाहते हो? बोले—महाराज! हम चाहते हैं एक करोड़ रुपया आपको दान कर दें! कहा—वाह, वाह! क्या पूछना है, तुम्हारा बड़ा उदार चित्त है भाई! अरे तुम्हारे पास अभी है क्या? बोले—महाराज! अभी तो हमारे पास पाँच रुपये भी नहीं हैं। आप कृपा करके हमको एक करोड़ रुपया दे दो तो वे सब हम आपको दे देंगे। कहते हैं कि बाबा—

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।

जब तुमको देना ही है तो क्यों बखेड़ा लगाते हो? अपने पास जब कुछ रहना नहीं है तो काहेको बखेड़ा लगाते हो कि पहले आवे और फिर हमें दो। अरे, यह तो ईश्वरकी कृपा है कि देनेके बाद तुम खाली होते सो अभीसे तुमको खाली कर दिया, तो बहुत अच्छा है।

तो ईश्वरकी आराधना कैसे होती है? वित्तसे, शरीरसे और मनसे। अपने धनके द्वारा ईश्वरकी पूजा करो, अपने शरीरके द्वारा ईश्वरकी पूजा करो, अपने मनके द्वारा ईश्वरकी पूजा करो और ईश्वरके हाथों अर्पित कर दो। परमहंस रामकृष्ण कहते थे—कि हे प्रभु! जो मैं कभी था, अब हूँ, और आगे होऊँगा, सो तुम्हारा हूँ। रबिया कहती थी हे प्रभु! नरकसे बचनेके लिए तुम्हारा भजन करती होऊँ तो मुझे नरककी आगमें हमेशाके लिए डाल दो, और यदि मैं स्वर्ग पानेके लिए तुम्हारा भजन करती होऊँ तो मुझे स्वर्गमें कभी मत भेजना। मैं तुम्हारे भजनके लिए तुम्हारा भजन करती हूँ। कामनाका पेट भरनेके लिए तुम्हारा भजन नहीं करती हूँ। मैं तुम्हारे पेटमें समा जाऊँ, इसके लिए तुम्हारी पूजा करती हूँ। तो समर्पण हो,—

यत् कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन॥

हे मधुसूदन! जो कुछ मैंने किया और जो कुछ मैं करूँगा, वह मैंने नहीं किया, त्वया कृतं फलभुक्—तुम्हींने मेरे हृदयमें बैठकर किया, अब इसका फल हमको नहीं चाहिए। हमारे धर्मका फल हमको नहीं भेजना; हमारे योगका फल हमको नहीं भेजना। हम तो तुम्हारी प्रसन्नताके लिए यह करते हैं। यामुनाचार्यजी महाराज कहते हैं—

मम नाथ यदस्ति योस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव मा भव।
नियतस्वमिति प्रबुद्धधी अथवा किन्नु समर्पयामि ते॥

जो कुछ मेरा है, था, होगा, जो कुछ मैं हूँ, वह सब तुम्हारा है। तुम मालिक, हम मिल्कियत। 'नियतस्वमितिः'। हमको मनवाला मनुष्य नहीं समझना, हमको बिना मनका, बिना मनका हीरा समझना। तुम्हारा मन हो गलेमें बाँधना; तुम्हारा मन हो—बाँहमें बाँधो; तुम्हारा मन हो—तिजोरीमें रख दो; तुम्हारा मन हो फेंक दो। मैं तुम्हारा हूँ।

शरणागतिमें अहंकार टूट जाता है। जब अहंकार टूट जाता है तब भक्त भगवान्‌से एक हो जाता है और जब एक हो जाता है; तब भगवान् भक्तके वशमें हो जाता है।

एक गरीब लड़की थी, महाराज! एक धनीसे उसका ब्याह हो गया। जिस समय फेरे पड़े उस समय गरीबकी लड़की थी, परन्तु फेरे पड़ते ही करोड़पति हो गयी। क्यों हो गयी? कहा—उसका गोत्र छूट गया, उसके माँ-बाप छूट गये, उसका वंश छूट गया, उसका नाम छूट गया, वह तो मिल गयी पति-भगवान्‌से! तो जहाँ अपना अहंकार ढीला पड़ा, वहाँ भगवान्‌से एक तो हुई। आपको हम रासपञ्चाध्यायीमें भी यह बात सुनायेंगे। अहंकारके ढीला पड़े बिना, रसका अनुभव होता ही नहीं है; क्योंकि दुनियाँमें जितनी चोंटे पड़ती हैं, वे सब अहंकारपर पड़ती हैं। तो, पहले पूजा, उसके बाद समर्पण। समर्पणमें अहं होता है—समर्पक होता है और शरणागतिमें स्वीकृति होती है। शरणागति लेनेवालेकी ओरसे होती है और समर्पण देनेवालेकी ओरसे होता है। और पूजा सकाम, निष्काम दोनों होती है। शरणागति अहंकार बिलकुल टूट जानेपर होती है और जब अहंकार टूट जाता है तो जहाँ जीवका अहंकार काम नहीं करता, वहाँ ईश्वर काम करता है। जहाँ अलगसे हवा नहीं होती, वहाँ समिष्ट वायु भर दी जाती है।

नारायण! प्रेम जिसको बोलते हैं उस प्रेमसे भी ईश्वर काबूमें होता है। ईश्वर सबको काबूमें रखता है—धरती, समुद्र, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, आकाश,

अहंकार तत्त्व, महत्तत्त्व, प्रकृति-तत्त्व ये सब ईश्वरके कब्जेमें और ईश्वर किसके कब्जेमें? बोले—प्रेमके कब्जेमें। धर्म ईश्वरसे मनचाहा फल लेता है पर ईश्वरको नहीं लेता है। योग भी ईश्वरको काबूमें करके ईश्वरको लेता है; परन्तु केवल उसकी असङ्गता ही लेता है, एक अंश लेता है। शरणागत अपने अहंकारको तोड़कर समूचे ईश्वरको ले लेता है। ईश्वरका ज्ञान ईश्वरके निर्विशेषसे एक कर देता है, वहाँ कुछ लेना-देना नहीं है। परन्तु प्रेम? अरे बाबा! प्रेममें लेना नहीं है, देना-ही-देना है। प्रेमीने कहा जरा! इधर आओ। ईश्वरने कहा—क्या बात है? क्या चाहते हो? जो कहो सो दे दें! आनेकी क्या जरूरत है? बोले—न-न, हम लेनेके लिए तुमको थोड़े ही बुलाते हैं! अगर कुछ लेनेके लिए ईश्वरको बुलाते हो, तो भक्त भेंट देगा भला?

वह कथा आपने सुनी होगी—एक राजा गया परदेश, उसके रानी थीं बहुत, तो उसने समाचार दिया, कि जिसको जो चाहिए सो लिखकर भेजो। किसीने साड़ी मँगाई, किसीने कड़ा मँगाया, किसी ने छड़ा मँगाया। सबके पैकेट नाम लिखकर अलग-अलग आये। एक रानीने चिट्ठीमें कुछ लानेको नहीं लिखा था, सिर्फ एककी संख्या लिखी थी—'१' । तो सबकी चीज सबके घर भेजकर राजा उसके पास गये। कहा—बाबा! तुम्हारी बात तो समझमें नहीं आयी, यह एक क्या? बोली— हमने जो मँगाया था सो आ गया हमारे पास। हमको तो एक तुम चाहिए थे।

जब ईश्वरसे कोई चीज मँगाते हैं तो वह भेज देता है; और जब अपना दिल खाली करके रखते हैं उसके लिए, शरणागत हो जाते हैं, तब वह खुद आ जाता है। बोले—भाई क्यों बुलाते हो हमको? क्या चाहिए तुमको? माँगो। बोले—कुछ नहीं चाहिए। तो फिर काहेको बुलाते हो? बोले—जरा आओ! हमारी गोदमें आकर बैठो, तुमको दूध पिलाना चाहते हैं। तुम बनो बच्चे और हम तुम्हारी माँ बनकर दूध पिलायेंगीं। तो ईश्वर बोलेगा हम इतनी बड़ी दुनियाके मालिक, जो चाहे सो दे सकते हैं, तुमको हमसे कुछ चाहिए ही नहीं, उल्टे तुम हमको दूध और देना चाहते हो। तो ऐसा दूध हमको कहाँ मिलेगा? हम तुम्हारा दूध पीयेंगे।

ग्वाल-बालने कहा—ए कृष्ण! यहाँ आ! ओ कनुआ, इधर आ! कृष्णने कहा—भाई, काहेको बुलाता है? बोले—अरे क्या बतावें, आतो जा पासमें, हमको तुमसे कुछ चाहिए नहीं, तब क्या बात है? बोले—आज हमारी माँने बहुत बढ़िया 'बड़ा' बनाया था; सो घरसे मैं छिपाकर ले आया हूँ, आओ हमारी चोरीमें जरा हिस्सा बँटाओ। मैंने एक ग्रास उसमें-से निकालकर खा लिया है, बहुत बढ़िया

बना है; आओ तो जरा लो। कृष्णने कहा अरे बाबा! हमसे कुछ लोगे नहीं, हमको देनेके लिए आये हो! अच्छा, आते हैं। अब हम तुम्हारा बड़ा नहीं खायेंगे तो और किसका खायेंगे?

नारायण, देखो—इसको बोलते हैं—'**योगमायां उपाश्रितः**'। वशमें हो गया भगवान्! '**सर्वस्ववशी सर्वस्य ईशानः**' श्रुति कहती है—परमात्मा सबको वशमें रखता है और ईश्वर सबका मालिक है, बोले—होगा मालिक, सबका मालिक होने पर भी ईश्वर अपने प्रेमीका सेवक है। गोपीने कहा—नाचो! बोले—लो भाई, नाचते हैं, लेकिन गोपी तू हमारे लिए कुछ लेकर आयी है? बोली—रूप लेकर आयी हूँ। हमसे पूछते हो कि कुछ लेकर आयी है? अरे, जो तुम्हारा न हो सो लेकर आवें। बोले—आखिर गोपी! बिना कुछ हुए तो कोई रह ही नहीं सकता। बोली—तो तुम तो मेरे हो ही न! प्रेममें-इधर मेरा कुछ नहीं, और उधर कहा—मेरे तुम। यह प्रेमका स्वरूप है। जिसके कृष्णके सिवाय दूसरा कोई मेरा नहीं है, उससे सलाह लेकर कृष्ण करते हैं। प्रेम राधा और कृष्ण दोनोंको अपने वशमें रखता है; राधा भी कृष्णके वशमें और कृष्ण भी प्रेमके वशमें। यह रासलीला बताती है कि प्रेमके वशमें है भगवान्।

अब आपको एक बार फिरसे पुरानी बातपर ले जाते है। योगमें जो समाधि होती है वह जगदाकारवृत्ति, जीवाकारवृत्ति और ईश्वराकारवृत्ति, तीनोंका निरोध करके होगी। वह निरोधवृत्ति तीनोंपर काबू कर लेगी। जब निरोधवृत्ति होगी तब समाधि लगेगी। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—सम्प्रज्ञात समाधि, चारों भेद जब निरुद्ध हो जायेंगे तब असम्प्रज्ञात समाधि लगेगी। समाधिमें सत्तामात्र रहती है। सत्ताकी प्रधानतासे जो समाधि लगती है उसमें भी ऐश्वर्यशाली ईश्वरका निरोध हो जाता है परन्तु वहाँ वह निष्क्रिय रहता है।

अच्छा, जहाँ चिन्मात्र वस्तुका ज्ञान होता है वहाँ भी जीव, ईश्वर, जगत्-तीनोंका, चिन्मात्रकी प्रधानतामें निरोध या बाध हो जाता है। उसके लिए निरोधकी जगह बाध शब्दका प्रयोग होता है। स्फुरण-मात्र चैतन्य रहता है। निष्क्रियताका आग्रह नहीं है, निष्क्रियता और सक्रियता दोनों चिन्मय हैं। परन्तु वह चिन्मात्र जीवत्व, ईश्वरत्व, जगतत्व, तीनोंका बाध करके जाग्रत् होता है।

आप देखो—बिल्कुल एक ही चीज है। हम यह बताना चाहते हैं कि सच्चिदानन्दमें-से कहीं किसी भी एक चीजका जब अनुभव होगा तो ईश्वरत्व, जीवत्व, जगत्वका-निरोध करके होगा। सत्तामात्र जो स्थिति है, उस समाधिमें,

ईश्वर, जीव, जगत् निष्क्रिय हो जाते हैं। और चिन्मात्र वस्तुका बोध होनेसे जो जीवत्व, जगत्व और ईश्वरत्वका बाध है वहाँ ईश्वर जीव-जगत् सक्रिय भी हो सकते हैं और निष्क्रिय भी हो सकते हैं। परन्तु बाध होता है।

अब आनन्दमात्र, प्रियतामात्र जो है, उसमें क्या होगा? तो देखो—योगके समान तो वहाँ निष्क्रियता नहीं है और चिन्मात्रके समान सक्रियता-निष्क्रियताके बाधित होनेपर भी केवल चिन्मात्रता नहीं है, आनन्दरूप चिन्मात्रता है। इसलिए जीवत्व स्फुरित होता हुआ भी प्रिय है, ईश्वरत्व स्फुरित होता हुआ भी प्रिय है, जगत् स्फुरित होता हुआ भी प्रिय है। वहाँ गोपी स्फुरित होते हुए भी जीवत्व है। कृष्ण स्फुरित होता हुआ ईश्वरत्व है और वृन्दावन स्फुरित होता हुआ जगत्व है। इसमें समाधिके समान तो निष्क्रियता नहीं है और चिन्मात्रके समान केवल स्फुरणमात्रता नहीं है, इसमें आनन्द रसात्मक स्फुरता है, आनन्द रसात्मक अद्वैत है और आनन्द रसात्मक जीवत्व, जगत्व, ईश्वरत्वकी स्फुरणा है। इसका नाम प्रेम हुआ। सन्मात्रकी प्रधानतासे समाधि, चिन्मात्रकी प्रधानतासे ज्ञान और आनन्दमात्रकी प्रधानतासे प्रेम और मूलतः तीनों स्थिति बिलकुल एक होती है।

तो भाई, बात यह है कि हमारे कई श्रोता आज कहेंगे कि वह मजा नहीं आया जो रासमें, रासलीलामें मजा आता है। कई बात तो समझदारके लिए भी कहनी पड़ती है और कई बात सिर्फ प्रेमियोंके लिए कहनी पड़ती है।

श्रीकृष्णका वर्णन आता है गोपियोंकी प्रेम-परवशता का—

क्षीरसारमपहृत्य शंकया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मम मानसे घनान्धतामसे नन्दनन्दन कथं न लीयते॥

कोई गोपी कहती है—अरे, मक्खन, चुराकर क्यों भागता है? अन्धेरेमें क्यों छिपते हो? सबसे ज्यादा अन्धेरा मेरे मनमें है। इसीमें छिप जाओ। कृष्णने कहा—अरी चल! यह ससुरी कहींसे योगिनी आयी है, यह हमारे व्रजकी ग्वालिनी नहीं है। कहती है—मनमें आकर छिपो! अरे मनमें क्या छिपाती है, आँचलमें छिपाओ न! कृष्ण व्रजमें, मनमें छिपनेके लिए नहीं आये हैं। आँचलमें छिपनेके लिए आये हैं। यह व्रजकी विशेषता है। क्योंकि वहाँ बाह्य और अभ्यन्तरका भेद मिट गया है। इस पृष्ठभूमिमें रासलीलाको यदि समझोगे तब वह समझमें आयेगी। वह बहुत मोटे स्तरपर नहीं है।

एक दिन गोपीने कहा—कन्हैया! आज तो हमारे घरमें कोई नहीं है। बोले—क्या बात है, क्यों सूचना देने आयी हो? कहा—सूचना देने नहीं आयी हूँ। हमको

गोबरकी टोकरी उठाकर ले जाना है और घरमें कोई है नहीं, तो मैं तो तुमसे मददके लिए आयी हूँ कि तुम घर चले चलो, जरा हाथ लगाकर टोकरी उठवा देना। कृष्णने कहा—ज़ा-जा, मैं तेरे बापका कोई नौकर हूँ, क्यों उठवाऊँ? अरे! बाबा मिलेगा कुछ? बोली—जितनी टोकरी उठवाओगे, माखनके उतने लोंदे मिलेंगे। कहा—यही बात हुई न! अच्छा, चलते हैं। लेंकिन ग्वालिनी! तेरा विश्वास नहीं है। टोकरी उठवाओगी ज्यादा और माखनके लोंदा देगी कम—तो कैसे बनेगी बात। बोली—आओ, गिनती कर लेंगे। कहा—कैसे गिनती करोगी? बोली—जितनी टोकरी उठवाओगे उतनी बिन्दी गोबरकी मैं तुम्हारे मुँहपर लगाती जाती हूँ। अब, महाराज कृष्ण कन्हैयाका गोरोचनका तिलक और वह सुन्दर बाल और वह पीताम्बर, और वह वनमाला, वह बाँसुरी, मगर माखनकी लालचमें आगये और मुँहपर बिन्दी लगवाने लगे। पहले सारे ललाटपर गोबरकी बिन्दी लगा दिया फिर बोली—कि अब कपोलपर! गोबरका बेलबूटा लगा मुँहपर। सैकड़ों टोकरी उठवायी। तो बोले कि—माखनका लौंदा लाओ, टोकरी गिनो, गिनकर दो। बोली—न, ऐसे नहीं मिलेगा। कहा—कैसे मिलेगा? कि नाचो। अब तो महाराज, एक हाथ रखा कमरपर एक हाथ उठाया और नाचने लगे—'ताताथेयी—ताताथेयी'। नारदजी आये—

गोमय-मण्डित-भाल-कपोलं—गोबर लगा है शिरपर, कपोलपर गोबर लगा है—

गोमय-मण्डित-भाल-कपोलं, चेतसि चिन्तय चिन्मयभासम्।
नूतन-जलधर-रुचिर-विकासं, पीतवसनधर सुन्दर नटवर॥
मधुर-विकस्वर-सुललित-हासं, चेतसि चिन्तय चिन्मय भासम्।

अरे रे मन! इस चिन्मय ज्योतिका स्मरण कर। चेतसि चिन्तय—यह अतिमानसका बना नहीं है, पञ्चभूतका बना नहीं है, यह चिन्मय ज्योति है।''चेतसि चिन्तय'—अपवाद कर दो वहाँसे पञ्चभूतका यावद्देशमें श्रीकृष्ण है वहाँसे पञ्चभूतका अपवाद कर दो। जैसे—खिड़कीमें माटी नहीं होती आकाश होता है, वैसे श्रीकृष्णमें पञ्चभूत नहीं होता, ब्रह्मज्योति होती है। 'चेतसि चिन्तय चिन्मयभासम्'। **'नूतन जलधर रुचिर विकासम्'**—वर्षाकालीन रसवर्षी मेघके समान सुन्दर चिन्मय ज्योति श्रीकृष्णका चिन्तन करो। पीतवसनधर—जैसे—मेघपर बिजली चमके ऐसे—'पीतवसन' यह तात्पर्य है।

आओ कृष्णका ध्यान करो कैसे? कि भालपर, ललाटपर और कपोलपर गोबरके टीके लगे हुए हैं और गोपीका माखनका लोंदा लेनेके लिए इस जगन्नाथका

सूत्रधार स्वयं नृत्य कर रहा है। क्या उस ग्वालिनीमें सामर्थ्य है ब्रह्मको नचानेकी। कहा—नहीं ग्वालिनीमें ब्रह्मको नचानेका सामर्थ्य नहीं है, प्रेममें श्रीकृष्णको नचानेका सामर्थ्य है। इस कृष्ण कन्हैयाको कोई लौकिक सामग्री, कोई लौकिक सम्पत्ति नचा नहीं सकती। इसको केवल प्रेम नचा रहा है।

अब जब रास प्रारम्भ करना हुआ तो वही प्रेममयी प्रेममूर्ति श्रीराधारानी हैं न, उनके पास गये और जाकर पाँव ही पकड़ लिया। क्या बात है प्रीतम, यह क्या कर रहे हो? नारायण, नारायण, नारायण, नारायण, यह क्या कर रहे हो? **शान्तं पापं अब्रह्मण्यं-अब्रह्मण्यं**—क्या बोलते हो? यह क्या करते हो? बोले—करते यह हैं कि मैंने तुमसे पूछे बिना गोपियोंसे कह दिया कि—'**मयेमा रंस्यथक्षपाः**' रातकी मर्यादा ही नहीं की कि कितनी रात, आजसे लेकरके कल्पपर्यन्तकी रातें मैंने गोपियोंको दान कर दी है और तुमसे पूछा नहीं। पहले तो अपराध क्षमा करो। श्रीराधाने कहा—जो तुमने कह दिया प्रीतम तो वह मेरा भी कहना हो गया। बोले—लेकिन तुम न चलोगी रासमें तो हमारा मन गोपियोंमें नाचनेमें कैसे लगेगा? तुम्हारे बिना तो रासलीला होगी नहीं। मैं कैसे मुस्कराऊँगा यदि तुम सामने होओगी नहीं? हमारे हृदयमें प्रेम कैसे आयेगा? हमारी नेत्र-ज्योति प्रेमकी कैसे वर्षा करेगी? मैं बाँसुरीमें क्या गाऊँगा?

'**योगमायामुपाश्रितः**' प्रेमके अधीन होकर श्रीराधारानीके पास गये और बोले कि देवि! तुम प्रसन्न होकर रासलीलामें में चलो। तुम्हारे सम्मिलित होनेसे ही यह रासलीला सम्पन्न हो सकती है। बिना राधाके, बिना राधिकाके, बिना आराधनाके, यह रास हो ही नहीं सकता।

८

कृपा-योगका आश्रय और चन्द्रोदय

(रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः तदोडुराजः)

भगवानपि ता रात्रीः शरोदत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
सचर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्, प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥

भाग० १०.२९.१-२

भगवान्ने अपने रमणके योग्य वृन्दावन स्थान, वह शारदीय रात्रि समय और गोपियाँ—इन तीनोंका वीक्षण किया, अपनी दृष्टिसे तीनोंको बनाया और फिर बिहारका संकल्प किया। इसमें एक भगवान्का गुण निकलता है—'आश्रयण-सौकर्यापादकत्व।' जो लोग भगवान्का आश्रय लेना चाहते हैं, उनके अन्दर कोई कमी हो, तो उसको भगवान् पूरी कर देते हैं। समझो एक अन्धा है और वह भगवान्के दर्शनके लिए व्याकुल है कि हम आँखसे देखें—तो भगवान् पहले उसको आँखें दे देते हैं और फिर दीखते हैं, देखनेकी शक्ति देकरके दीखते हैं। एक पङ्गु है; वह जाना चाहता है भगवान्के पास तो उसको पाँव देकर उसको अपने पास आनेकी शक्ति दे देते हैं। ऐसा कृपालु और कोई नहीं है। तो संसारमें कोई ऐसा स्थान नहीं जो भगवान्को अपने भीतर ले ले। ऐसा कोई समय नहीं जो भगवान्को अपने भीतर ले ले, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो भगवान्को लुभा ले। लेकिन भगवान्का हृदय ही इतना कोमल है कि स्थानमें भी समा जाते हैं, अट जाते हैं, कालमें भी आ जाते हैं, व्यक्तिको भी मिल जाते हैं। यह भगवत्-कृपा है। अपने आश्रितका काम बना देना यह भगवान्का स्वभाव है। 'आश्रित-कार्य-निर्वाहकत्व'—इसको बोलते हैं।

हमारे एक साथी हैं; उनको काम करनेको कहो तो कहते हैं कि मिथ्या है और दवा खानेको कहो-तो सत्य है; भोजन करना सत्य है, कपड़ा पहनना सत्य है, रुपया-पैसा चाहिए तो सत्य है, लेकिन कमाई करनेको कहो—तो बोलेंगे सब मिथ्या है। ये मिथ्यावादी सब झूठे हैं, कभी किसी कामके नहीं हैं।

देखो, आपको सिद्धान्तकी बात सुनाता हूँ,—कच्चे वेदान्तियोंकी बात नहीं

करता हूँ। शांकर वेदान्तकी बात कहता हूँ। लेकिन जो लोग किताब पढ़कर शांकर वेदान्तको समझते हैं उनकी समझमें यह बात नहीं आती है। शांकर वेदान्तमें मिथ्या माने ब्रह्म होता है। जैसे—सर्प मिथ्या; तो मिथ्या सर्प माने रज्जु हुआ कि नहीं? सर्प मिथ्या है—माने रज्जु ही है, सर्प नहीं है। प्रपञ्च मिथ्या है माने प्रंपच ब्रह्म है। अध्यस्त जो है वह अधिष्ठानसे किंचित् भी भिन्न नहीं होता-यह औपनिषद सिद्धान्त है, शांकर सिद्धान्त है, यह ब्रह्म ज्ञानियोंका अनुभव है। जिसको अध्यस्त बोलते हैं, जिसको मिथ्या-मिथ्या बोलते हैं, वह जिसमें अध्यस्त है, जिसमें प्रतीत हो रहा है, जिससे प्रतीत हो रहा है, उससे भिन्न नहीं है, बिलकुल वही है। अगर यह बात समझमें नहीं आयी तो न उपनिषद्-सिद्धान्त समझमें आया, न शांकर वेदान्त समझमें आया; करते रहो दृश्यसे द्रष्टा भिन्न। अभी तो भिन्न शब्दका अर्थ ही समझमें नहीं आया कि-भिन्नत्व क्या होता है! ब्रह्म-ज्ञानीके लिए यह नाम-रूपात्मक प्रपञ्च भी ब्रह्मात्मक ही होता है, ब्रह्म ही होता है। भगवान्की रासलीला तब समझमें आयेगी जब इस धरातलपर इस पृष्ठभूमिमें बुद्धि स्थित होगी जैसा कि गीतामें कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानां अचरं चरमेव च

सबके बाहर भी वही; चर भी वही, अचर भी वही। चरत्वेन प्रतीयमान भी ब्रह्म और अचरत्वेन प्रतीयमान भी ब्रह्म। स्वयं-प्रकाश अधिष्ठानमें अन्य कोई वस्तु नहीं है।

यह देखो ब्रह्म—साँवरा-सलोना, व्रजराज-कुँवर बनकर अधरोंपर बाँसुरी धारण करके शिरपर मोर-मुकुट बाँधकर, पीताम्बर ओढ़कर सम्पूर्ण जगत्को अपनी ओर आकर्षण करनेके लिए प्रत्यक्ष हो रहा है।

एक दूसरी बात—जो लोग अपनेको तो मानते हैं कि मकान बनाया हमने, हमने घड़ा बनाया, हमने कपड़ा बनाया, हमने पाप बनाया, हमने पुण्य बनाया, हमने सुख बनाया-हमने दुःख बनाया। और संसार किसने बनाया? कि बनानेवाले ईश्वरको हम नहीं मानते हैं! जो अपनेको तो कर्त्ता मानते हैं, पर संसारका कर्त्ता नहीं मानते हैं, वे महामूर्ख हैं! वेदान्तकी दृष्टिसे भी महामूर्ख हैं और लौकिक युक्तिवादकी दृष्टिसे भी महामूर्ख हैं! इस देहमें आकर चैतन्य, पापी बने, पुण्यात्मा बने, सुखी बने, दुःखी बने, कर्त्ता बने, और सृष्टि बिना सर्वज्ञ, शक्तिमान, कर्त्ताके बन जाय—यह विचार बिलकुल गलत है।

तो वही ईश्वर करुणावरुणालय है। '**योगमायामुपाश्रितः**'—वही योगमायाका

आश्रय लेकरके यह रासलीला करता है। अब योगमायाका आश्रय लेकरके रासलीला करना क्या है? देखो, संसारमें लोग रास्तेपर चलते रहते हैं, कोई दुकानमें लगा है, कोई अपने रास्ते चला जा रहा है। लेकिन मदारीको जब खेल दिखाना होता है तो महाराज! डमरू बजाता है, खंझरी बजाता है, और लोग दुकानमेंसे निकल आते हैं, रास्ता चलना बन्द कर देते हैं, खड़े होकर मदारीका तमाशा देखने लगते हैं। ईश्वर जब देखता है कि ये जीव अपनी वासनाके रास्तेपर चल रहे हैं, ये ईश्वरकी तरफ देखते नहीं हैं, ये तो जहाँ पैसा मिले उसको देखते हैं, जहाँ भोग मिले उसको देखते हैं, जहाँ कारखाने खुले उसको देखते हैं, जहाँ कोई काम न करना पड़े उसको देखते हैं; तो खंझरी लेकर जैसे कोई नट आ गया हो-ऐसे ये नटवर श्याम- **योगाय या माया तां उपाश्रितः**—योगके लिए, संसारमें बिखरे हुए संसारमें फँसे हुए वासनाके भिगोये हुए जीवोंको अपनी ओर खींचनेके लिए योगमायाका आश्रय ग्रहण करके नाट्यलीला—रासलीला दिखाते हैं।

अरे भाई! मजा तो हमारे पास है। तुम सुख चाहते हो? आओ, हमारे पास लो। रस चाहिए तुमको? हमारे पास लो। प्रेम चाहिए तुमको? हमारे पास लो, है। आनन्द लेकर, रस लेकर, प्रेम लेकर, संसारमें भटकते हुए जीवोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए अनादि कालसे बिछुड़े हुए, जन्म-जन्मसे बिछुड़े हुए जीवोंको अपनी ओर खींचनेके लिए यह देखो—परमानन्दकन्द, नन्दनन्दन व्रजचन्द, श्यामसुन्दरको जो 'योगमायामुपाश्रितः'—माया माने कृपा-कृपाको स्वीकार करके धरतीपर आया है!

हमको याद है, बचपनमें जब स्कूलमें, विद्यालयमें पढ़ने जाते थे तो बहुत लोग वैसे तो हनुमानजीके मन्दिरोंमें न जाँय लेकिन परीक्षाका दिन आजाय तो बोलें—हे हनुमानजी! पास कर देना। ये मतलबी यार हैं।

मतलबी यार किसके! दम लगाय खिसके।

ये जो जीव हैं वे कोई मतलब पड़े तो ईश्वरका नाम लें और वैसे प्रगतिशील लोगोंके दलमें सम्मिलित हैं। आजकल तो महाराज पढ़े-लिखे लोगोंके बीचमें कोई ईश्वरका नाम ले तो उसका नाम बुर्जुवा हो जाता है।

एक बहुत बड़ा नास्तिक था विलायतका। जिन्दगीभर उसने ईश्वरका खण्डन किया; अन्तिम समयमें जब मरने लगा तो किसी पानीके जहाजमें यात्रा कर रहा था। जहाज टूट गया और जब वह एक लकड़ीका टूटा पल्ला लेकर समुद्रमें डूबने-उतराने लगा, जब लहरें उसको थपेड़ा मारने लगीं, तब बोला—हे ईश्वर! बचाओ,

अब तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा आश्रय नहीं है, शरण नहीं है! यह ईश्वर डूबतेके लिए सहारा है। ईश्वरसे प्रीति होवे, ऐसे लोग बहुत कम होते हैं।

यह जो रासलीला है न, यह आस्तिक बनानेके लिए नहीं है, यह हृदयमें ईश्वरके प्रति प्रेम जगानेकी विद्या है। रासलीला पराविद्या है, ईश्वरके प्रति प्रेम जगानेवाली विद्या है। इसका फल क्या होता है अपने जीवनमें? डरना मत भला! रूप गोस्वामीजी महाराज थे वृन्दावनमें। उनका एक श्लोक है—हे मेरे दोस्त! तुम वृन्दावनमें कभी आना तो यमुनाजीके किनारेकी ओर मत जाना और अगर भूले-भटके कभी वंशी-वटकी ओर भी जाना तो गोविन्ददेवजीका दर्शन तो बिल्कुल मत करना।

गोविन्दाख्याहरितनुमित एष तीर्थोऽपिकण्ठे।
मा प्रेक्षष्ठास्तव यदि सखे बन्धुसङ्गेतिरङ्गः॥

यदि तुम चाहते हो कि पैसेमें तुम्हारा प्रेम बना रहे, परिवारमें तुम्हारा प्रेम बना रहे, संसारमें तुम्हारा प्रेम बना रहे, तो उस तिरछी आँखवाले, उस मोरमुकुटधारी, उस पाँवपर पाँव रखे हुए, मुरली अधरों पर धरे हुए गोविन्ददेवका दर्शन मत करना; क्योंकि अगर उसका दर्शन करोगे तो सब छूट जायेगा तुम्हारा, सबसे प्रेम छूट जायेगा। तो यह जो रासलीला है महाराज—वह सोते हुए प्रेमको जगानेके लिए है, दुनियाँमें जो बिखरा हुआ प्रेम है उसको समेटनेके लिए है, जो दूसरेमें लगा हुआ है उसको ईश्वरकी ओर खींचनेके लिए है। श्रीधरस्वामीने अपनी टीकामें लिखा है—

वस्तुतो निवृत्तिपर्य पञ्चाध्यायी—ये रास-पञ्चाध्यायी संसारमें प्रवृत्त करनेके लिए नहीं है, निवृत्त करनेके लिए है। इसका अर्थ क्या हुआ? यह नहीं कि आप भी घाघरा पहनकर नाचने लगे जाय् बल्कि रास-पञ्चाध्यायी सुनकर कटिकाछनी पहनकर मुरलीमनोहर आपके हृदयमें नाचने लगे और आपका नाचना बन्द हो जाये, यह इसका फल है। संसारमें आपका जो नाचना है उस नाचनेको बन्द कर देता है और मुरलीमनोहरको हृदयमें नचा देता है। संसारकी वासनाको मिटा देता है, यह कामनाको मिटा देता है, क्रोधको मिटा देता है, लोभको मिटा देता है!

योगमायामुपाश्रितः योगाय अनादिकालतः वियुक्तानां जीवानां स्वस्मिन् योगाय या माया कृपा तां उपाश्रितः"—अनादि कालसे संसारमें जो भटकते हुए जीव हैं, ईश्वरसे विमुख हुए जीव हैं, बिछुड़े हुए जीव हैं जब उन्होंने वेदकी आज्ञासे कि-**अमुं यज-अमुंयज**-ईश्वरकी उपासना करो, भगवान्‌का भजन नहीं

किया तब मत्स्य, कच्छप, वराह, नृंसिंह, वामन बनकर भगवान् आये और लोगोंने तब भी भगवान्का भजन नहीं किया; जब लाख-लाख सन्तोंको भगवान्ने संसारमें भेजा और उनकी आज्ञा मानकर लोगोंने भजन नहीं किया-बोले—हाँ-हाँ भगवान्की भक्ति बहुत अच्छी है, लेकिन हमसे बनती नहीं; तब भगवान्ने कहा—अब मैं स्वयं चलूँगा और नाचकर, गाकर, बजाकर, नैना चमकाकर, मन्द-मन्द मुस्कराकर, पाँवसे ठुमुक-ठुमक नृत्य करके लोगोंके मनको अपनी ओर खीचूँगा। इसलिए अपने हृदयमें अनन्त करुणा धारण करके संसारमें भटके हुए जीवोंको अपनी ओर खींचनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने अपनी योगमायाका आश्रय लिया।

योगमायामुपाश्रितःका अनेक भाव महात्माओंने निकाला है। एक रामनारायण मिश्र हुए हैं—अभी नये नहीं, पुराने, उन्होंने—**अयोगमायामुपाश्रितः, योग मायामुपाश्रितः, यो अगमायां उपाश्रितः, यो गमायां उपाश्रितः**, ऐसे करके केवल—**योगमायां उपाश्रितः** इसीको चौंसठ प्रकारसे—उन्होंने व्यक्त किया है।

जब भगवान्ने संकल्प किया—'**रन्तुं मनश्चक्रे**' हम विहार करेंगे, तो मन बन गया, जब मन बन गया तो सबसे खुशी एक व्यक्तिको हुई संसारमें; वह था चन्द्रमा। क्यों? तो आप जानते हैं जब राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति हुए, तो भारतवर्ष भरके कायस्थोंने खुशी मनायीं कि हमारी जातिका राष्ट्रपति हुआ है। लाल बहादुर शास्त्री जब प्रधान मन्त्री हुए, तब श्रीवास्तव धन्य हो गये। क्यों? इतना बड़ा आदमी हमारा रिश्तेदार! तो सम्बन्ध जोड़ना है तो भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़ो- दुनियाके सब सम्बन्ध फीके पड़ जायेंगे। जब भगवान्ने मन बनाया, तो मनका देवता है चन्द्रमा। उसने कहा कि मैं सबके मनका देवता तो रहा, परन्तु भगवान्के तो मन ही नहीं; भगवान्के मनका देवता मैं कैसे बन सकता था! तो आज हमारा सौभाग्य है, आज हमारे भाग जागे कि भगवान्ने रासलीला करनेके लिए, विहार करनेके लिए मन बनाया!

'**रन्तुं मनश्चक्रे**' का दो अर्थ है—**रन्तुं मनः कृतवान् चक्रे** माने **कृतवान्** रमनेका मन किया माने रमणका संकल्प किया और दूसरा अर्थ होता है—अमना भगवान्ने-**रन्तुं मनश्चक्रे कृतवान् निर्मितवान्** मन बनाया। चन्द्रमाने कहा—यह नियम है जहाँ मन होता है वहाँ उसका अधिदेवता मैं भी रहूँगा। जैसे—आँखमें सूर्य है, कानमें दिक्देव है नाकमें अश्विनीकुमार है, और रसनामें वरुण है, वाक्में अग्नि है, हाथमें इन्द्र है, पाँवमें उपेन्द्र है। वैसे ही अब तुम्हारा मन हुआ तो मनमें मैं भी रहूँगा। चन्द्रमा मनका देवता है।

आपको देवता और इन्द्रियका सम्बन्ध बताने लगूँ तो बात थोड़ी जटिल हो जायेगी। रासलीलामें जटिलता—कुटिलताका काहेको प्रवेश कराना? जटिला, कुटिला जब आ जाती है न, तो राधारानीके रसमें बाधा पड़ जाती है, यह लीलाकी बात है। अच्छा अब देखो—एक भगवत्-समबन्धी बात सुनाता हूँ। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसङ्ग आया है—

एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तां एकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते॥
(१०.१४.३३)

ब्रह्माजी कहते हैं—कि व्रजवासियोंके सौभाग्यकी महिमा कौन कहे उसको तो अलग रहने दो, इनकी इन्द्रियोंमें बैठ करके हम ग्यारह देवता भाग्यवान् हो गये—ब्रह्मा भाग्यवान्, विष्णु भाग्यवान्, रुद्र भाग्यवान्, इन्द्र भाग्यवान्, चन्द्रमा भाग्यवान्, सूर्य, वरुण, अग्नि भाग्यवान्! ब्रह्माजीने कहा—इन व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंमें बैठकरके हम देवता भाग्यवान् हो गये। कैसे? ब्रह्माजी बोले—कि सूर्य गोपियोंकी, व्रजवासियोंकी आँखमें बैठ करके श्रीकृष्णकी रूपमाधुरीका पान करते हैं। वायु देवता त्वचामें बैठ करके श्रीकृष्णकी स्पर्श-माधुरीका रसास्वादन करते हैं। इन्द्र देवता हाथमें बैठकरके भगवान्के हाथके ग्रहणकी माधुरीका आस्वादन करते हैं। मनमें बैठकर चन्द्रमा, बुद्धिमें बैठकर हम ब्रह्मा भाग्यवान् हैं, क्योंकि श्रीकृष्णके साथ इन्द्रियोंका जो सम्बन्ध है वह बड़ा विलक्षण है। इन्द्रियोंका जो संसारके साथ सम्बन्ध है वह बन्धनका हेतु है और कृष्णके साथ जो सम्बन्ध है, वह? अनजाने साजनसे, अनमिले साजनसे जो प्रीति है, अतीन्द्रिय साजनसे जो प्रीति है, उसमें इन्द्रिय-भोग तो होगा नहीं, इसलिए संसार तो छूट जायेगा, वैराग्यकी उपलब्धि होगी और उधर परमानन्द-रसका आस्वादन होगा। ब्रह्मा बोले—हम बड़े-हम बड़े। तुम क्यों बड़े? **एतत् धृषीकचषकैरसकृत्पिबामः** क्योंकि इन व्रजवासियोंके इन्द्रिय रूपी प्यालोंसे हम श्रीकृष्ण-रसका पान करते हैं—**अङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते** 'को चरणारविन्द-मकरन्द-मधु, अमृत, आसव तीनों बताया। मधु रोग-हारक होता है और आसव विषमारक होता है। आसव पियो तो छक जाओ, दुनियाका दुःख भूल जाय, शहद पिओ तो खूब मीठी लगे और रोग मिट जाय, औषध है। और अमृत पिओ तो मृत्यु मिट जाय! यह श्रीकृष्णका चरणारविन्द-मकरन्द मधु जो है वह अमृत भी है आसव भी है। श्रीकृष्णचरणारविन्द-मकरन्द मधु श्रीमद्भागवतमें आया है—**स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनम्**। आप यह ध्यान करो कि हम कृष्णके चरणारविन्दको अपने हृदयसे लगाकर अपने हृदयसे

दबा रहे हैं। नाकसे सूँघ रहे हैं, जीभसे चाट रहे हैं, आँखसे एक-एक अँगुली, एक-एक सौन्दर्य देख रहे हैं। त्वचासे स्पर्श कर रहे हैं, कानसे रुनझुन-रुनझुन सुन रहे हैं! संसारको छोड़कर भगवद्रसमें डूब जायेंगे आप। निराधार होकर इन्द्रियोंको जगत्से अलग करना कठिन है और श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका आधार पकड़ करके अपनी इन्द्रियोंको संसारसे छुड़ाना—ये अनायास-आसान है।

एक पण्डितने ब्रह्माजीको डाँटा-क्यों बोलते हो? इन्द्रियोंमें बैठकर कहीं देवता भोक्ता होता है? झूठ बोलते हो। देवता इन्द्रियोंका अनुग्राहक तो है परन्तु ग्राहक नहीं है। ग्राहक हैं इन्द्रियाँ, अनुग्राहक हैं देवता। अगर देवता रस पीने लगे तो सुखी-दुःखी होगा न! और सुखी-दुःखी होगा तो पापी-पुण्यात्मा हो जायेगा। अगर देवता हमारी इन्द्रियोंमें बैठकर सुख-दुःखका भोक्ता बन जाय, तो वह पापी-पुण्यात्मा भी बनेगा, शास्त्रके विरुद्ध भोग लेनेपर वह पापी हो जायेगा और शास्त्रके अनिरुद्ध भोग लेनेपर (अविरुद्ध=अनिरुद्ध) वह पुण्यात्मा हो जायेगा; और देवता को तो पाप-पुण्य लगता नहीं। ब्रह्माजी! तुम क्या बोलते हो? तुम क्या व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंमें बैठकर श्रीकृष्णका रसास्वादन कर सकते हो?

बोले—अरे भाई, कर तो नहीं सकते, औरोंको तो नहीं करते हैं, और जगह तो हम लोग बिलकुल शुक्ल कर्म करते हैं, अनुग्रह ही करते हैं, पर यह कृष्णका जब प्रसङ्ग आता है, तब उनके साथ काले काम भी करने लगते हैं, ब्लैकमेल भी कर लेते हैं। जादू तो वह जो सिरपर चढ़कर बोले—इनके साथ तो ब्लैक भी चलती है क्योंकि इतने सुन्दर हैं, इतने मधुर हैं! कृष्णका सौरभ जब मिलता है, तब अश्विनीकुमारको यह भूल जाता है कि हम इमानदारीसे परे होकर यह गन्ध सूँघ रहे हैं। सूर्यको भी भूल जाता है। बोले—ब्रह्मा, तुम अब भी भूल कर रहे हो। कहा—क्या भूल है अब? अब यह भूल है कि ये व्रजवासी तो सच्चिदानन्दघन अप्राकृत हैं, इनके देह प्राकृत नहीं हैं, इनकी इन्द्रियाँ प्राकृत नहीं है! अरे भाई! ***'तस पूजा चाहिय जस देवता'*** कृष्णसे मिलनेके लिए स्वयंको भी जैसे—देहातीत हैं वैसे हमको भी धर्मातीत होना पड़ेगा। जैसे—वे देहातीत हैं वैसे हमको भी धर्मातीत होना पड़ेगा। जैसे वे प्रकृतिसे परे हैं वैसे हमको भी प्रकृतिसे परे होना पड़ेगा! तो ये व्रजवासी तो अप्राकृत हैं, इनकी इन्द्रियाँ अप्राकृत हैं; और अप्राकृत इन्द्रियोंमें देवताकी जरूरत नहीं होती। प्राकृत इन्द्रियोंमें ही जहाँ तमस् बना हुआ शरीर है और रजस्से होनेवाली क्रिया है और सत्त्वसे बनी हुई इन्द्रियाँ हैं वहाँ अनुग्रह करनेके लिए सूर्य-चन्द्रादि देवताओंकी अपेक्षा होती है। और ये तो सच्चिदानन्दघन, इसमें तुम कहाँसे आये? तो ब्रह्माजी बोले—भाई तुम चुप रहो, चुप रहो, कोई सुन न ले भला!

मिथ्यापवादवचसाऽपि अभिमानसिद्धिः।

अरे, यद्यपि हमारी प्राकृत इन्द्रियोंके साथ और प्राकृत देवताओंके साथ श्रीकृष्णके रस-रहस्यका कोई सम्बन्ध नहीं होता, लेकिन जब व्रजवासी लोग इनको अपनी इन्द्रियोंसे पीते हैं—**पिबन्त्य इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त्य इव जिह्वया**—आँखोंसे पीते हैं, जीभसे चाटते हैं,—**रम्भन्त्य इव बाहुभ्यां**—दोनों हाथसे पकड़कर हृदयसे लगाते हैं, तो दुनियाको तो ऐसे ही मालूम पड़ता है कि हाथसे हृदयको लगाया और आँखसे देखा और जीभसे चाट लिया। तो जब सब लोगोंको मालूम पड़ता है कि इन्द्रिय-ग्राह्य हो गये हैं। भगवान् तो क्या, हम लोग भी अफवाह, प्रवाद उड़ा देते हैं कि हा, हा, हम भी भगवान्‌का मजा ले रहे हैं। और हमको अपनी इसमें बड़ी प्रतिष्ठा मालूम पड़ती है, इज्जत मालूम पड़ती है।

एक हमारे साधु हैं, बिहारमें रहते हैं। जब किसी मिनिस्टरके घरमें ब्याह हो, जनेऊ हो, होम हो, तो वहाँ पहुँच जाते हैं। फोटोग्राफर अपने साथ ले जाते हैं और जाकर-'आओ! आओ बेटा आओ! आओ बेटा आओ! करके मिनिस्टरके सिरपर हाथ रख देते हैं और फोटो खिंचवा लेंगे। बादमें ले जाकर दिखावेंगे कि देखो-ये मिनिस्टर हमको नमस्कार करते हैं! उनके पास सबके फोटो हैं-राष्ट्रपति राधाकृष्णनके हैं, राजेन्द्र बाबूके हैं, नेहरूजीके हैं।'

तो देवता लोग कृष्णके साथ झूठा सम्बन्ध होने पर भी अपनेको धन्य मानते हैं। एक गोपी थी व्रजमें—ऐसी गोपी थी कि और सबको तो कृष्णके साथ सम्बन्ध लगाकर कलंक भी लगता था परन्तु इसके बारेमें कभी ऐसी बात नहीं चलती थी। अब उसको बड़ा दुःख हो, कि हे भगवान्! सब लोग यही कहेंगे कि यह इतनी अभागिन है कि कृष्ण इसकी ओर देखते नहीं, इसका कृष्णसे प्रेम नहीं! एक दिन क्या हुआ—भाद्र शुक्ल चतुर्थी थी—उस दिन सायंकाल चौथका चन्द्रमा देखना वर्जित है वरना मिथ्या कलंक लगता है। परन्तु वह गोपी शामको बाहर निकली और घरके बाहर जाकर चन्द्रमाकी ओर देखे और अर्घ्यदान करे! **चतुर्थ्य-निशाशशाङ्क**—प्रार्थना की—'हे चतुर्थीके चन्द्रमा! हमारे ऊपर कृपा करो, अनुग्रह करो। शास्त्रमें जो तुम्हारे दर्शनका फल लिखा है सो हमको मिले।' इतनेमें नारदजी वहाँ आ गये—वीणा बजाते, हरिगुण गाते। उन्होंने पूछा-अरी ओ ग्वालिनी! क्या कर रही है? आज तो कोई चन्द्रमाकी ओर देखता नहीं है और तू अर्घ्य दे रही है और चन्द्रमासे प्रार्थना कर रही है। बोली—महाराज! चुप रहो, भले मैं इतनी अभागिनी रहूँ कि ये श्यामसुन्दर हमारी ओर न देखें और भले मेरी आँखें इतनी

अभागिनी रहें कि ये श्यामसुन्दरकी ओर नहीं देख पाती हैं; गाँवमें बस मैं ही ऐसी अभागिनी हूँ कि कृष्णके साथ मेरा कलंक नहीं लगा; तो मैं चन्द्रमाको देखकर अर्घ्य दे रही हूँ कि हमको सच्चा न सही, झूठा ही कलंक कृष्णके साथ लग जाय, तो हम छाती तानकर गाँवमें निकलेंगी कि तुम्हीं लोग सुन्दरी नहीं हो, मैं भी हूँ, तुम्हीं लोग प्रेमिका-प्रेयसी नहीं हो, मैं भी हूँ।

मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः।

यदि गाँवमें कृष्णके साथ मिथ्यापवाद मुझे लगेगा, तो हमें अभिमान होगा कि वाह! वाह! मैं भी सुन्दरी हूँ, तब तो लोग कृष्णके साथ कलंक लगाते हैं!

आप फिर अपने प्रसङ्गपर आ जाओ। व्रजवासियोंके साथ ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, रुद्र आदि देवता अपना झूठा सम्बन्ध बना करके अपनेको कृष्णके पास पहुँचाना चाहते हैं। झूठ-मूठ, लोग चाहते हैं कि कृष्णके साथ झूठा कलंक भी लग जाये! जब श्रीकृष्णचन्द्रके मनमें रमणका, विहारका संकल्प उदय हुआ, मन आया, तब चन्द्रमाने कहा-कि हम तो मनके देवता बनेंगे। जब मन हुआ तो चन्द्रमा जरूर रहेगा।

मन बनता है ओषधि वनस्पतियोंसे—**जैसा अन्न वैसा मन**। और ओषधि वनस्पतियोंके राजा चन्द्रमा हैं, जब चन्द्रमा शैत्य बरसाते हैं, अमृत बरसाते हैं तब जौ में, गेहूँमें, अंगूरमें, अनारमें शक्तिका संचार होता है। और वही अन्न जब आदमी खाता है तब मन बनता है। तो जैसे चन्द्र देवताका अनुग्रह अन्न द्वारा मनपर है; तब मनमें संकल्प करनेकी शक्ति आती है, इसलिए मनका देवता है चन्द्रमा।

तो बोले भाई! अन्नसे यदि मन बना हो तब तो उसका देवता चन्द्रमा हो और भगवान्‌का मन तो अन्नसे बना ही नहीं है, वह तो बिलकुल सच्चिदानन्दघन ही है। तो वहाँ चन्द्रमा कहाँसे आयेगा? चन्द्रमाने कहा—भले श्रीकृष्णका मन अन्नसे न बना हो; परन्तु उनके मनका नाम मन है कि नहीं? हम मनपर अपना दावा रखते हैं, जहाँ मन होगा वहाँ चन्द्रमा होगा। बोले—अरे, भगवान्‌का मन अप्राकृत और तू प्राकृत चन्द्रमा वहाँ कैसे पहुँचेगा? कहा-पहुँचें चाहे न पहुँचें; हमने युक्ति निकाल ली है। क्या? कि ठीक उसी समय जब भगवान्‌का मन उदय हुआ, उसी समय हम भी उदय हो जायेंगे। लोग कार्य कारण सम्बन्ध जरूर जोड़ लेंगे। दुनियामें हमारी प्रसिद्धि भी हो जायेगी!

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
सचर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥

बड़ा अद्‌भुत है! इस श्लोकमें कितनी बातें ऐसी हैं कि जो भरी सभामें लोगोंके बीचमें कहने पर अगर वे लोग उसको ठीक न समझें तो उसका मतलब उलटा पकड़ जायेंगे। **वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते**—अगर कोई बात श्रोताके समझमें न आवे तो वक्ताकी जड़ता है।

तदोडुराजः—यहाँ 'उडुराज' शब्द एक तो चन्द्रमाका वाचक है—**उडुषु उडुगणेषु नक्षत्रेषु राजते इति उडुराजः उडूनाम् राजा, उडुराजः**। दूसरे उडुराज माने श्रीकृष्ण ही हैं स्वयं! कैसे? **उरुषु राजते इति उरुराजः; उरुषु गोपी-जनेषु**—बहुत-सी गोपियोंमें जिनकी शोभा हो, उनका नाम '**उरुराज**'—उडुराज। तो उडुराज चन्द्रमा नहीं, कृष्ण चन्द्रमा हैं। सफेद चाँद नहीं है, काला चाँद है। अद्‌भुत है यह तो, सब चन्द्रमा-सूर्यका तिरस्कार करनेके बाद यह काला चाँद मिलता है। काला चाँद इसको बोलते हैं, श्यामचन्द्र-**श्यामात् शबलं प्रपद्ये, सबलात् श्यामं प्रपद्ये**' अरे बाबा इस कृष्णसे प्रेम हो जाय न, सबनिधि मिल गयी!

अच्छा एक बात आपको और बतावें-अज्ञानका नाम प्रेम नहीं है। पत्थरको अज्ञान है तो क्या वह किसीका प्रेमी होता है? आप जिस समय बिल्कुल अज्ञानदशामें रहेंगे, किसीको जानेंगे ही नहीं, तो क्या आपको प्रेम रहेगा? किससे प्रेम रहेगा? अज्ञानका नाम प्रेम नहीं है। जरा कभी ध्यान देना तब मालूम पड़ेगा। **प्रियता विशिष्ट उल्लासात्मक ज्ञानका नाम प्रेम है!** जहाँ ज्ञान नाचता है, जहाँ ज्ञानमें उल्लास होता है वहाँ प्रेम है। नृत्यात्मक ज्ञानका नाम प्रेम है, नाचते हुए ज्ञानका नाम प्रेम है, उल्लासात्मक, सुखात्मक, रसात्मक, प्रियताविशिष्ट ज्ञानका नाम प्रेम है। ज्ञानके बिना न धर्म हो, न भक्ति हो, न प्रेम हो। ज्ञान तो रोशनी है, प्रकाश है। परन्तु जैसे सूर्यकी रोशनीमें पत्नी भी दिखती है, बेटा भी दिखता है, गुरुजी भी दिखते हैं और इष्टदेव भी दिखते हैं, रोशनी तो सबमें है; पर वह ज्ञान जो प्रियताके संस्कारसे संस्कृत होकर और उल्लसित हो रहा हो, जैसे गङ्गाजलमें मन्दमन्द तरङ्ग उठ रही हो, ऐसे उल्लासात्मक ज्ञानका नाम प्रेम है। इसकी कई भूमिका होती है।

उरुधा राजते इति उडुराजः—यह कृष्ण बहुरुपिया है, तरह-तरहका रूप बनाता है। कैसे? कि श्रुति कहती है:

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

रास-रात्रिमें पूर्ण चन्द्र-दर्शन

(तदोडुराज .... दृष्ट्वा कुमुदवन्तम्)

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

(भाग० १०.२९.२-३)

अच्छा! अब संसारकी ओरसे मनको हटाकर, भगवान्‌की लीलाका आनन्द लेनेके लिए तत्पर हो जाओ। यह कोई कहानी नहीं; नाटक-सिनेमा नहीं, यहाँ तो मनको अन्तरङ्ग देशमें, अन्तरङ्ग कालमें और अन्तरङ्ग वस्तुमें ले जाना है। देखो—आप यह ध्यान करो कि वृन्दावन है—तो यह बहिर्देश नहीं है, अन्तर्देश है। और यह ध्यान करो कि सायंकाल है और शरदऋतुकी पूर्णिमा है। यह काल भी अन्तर् देशमें है। अब उसमें ध्यान करो—ठुमुक-ठुमुककर पाद-विन्यास करते हुए श्यामसुन्दर मुरलीमनोहर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे हैं। यहाँ बहिर्व्यक्ति कहाँ है? सब अन्तर्व्यक्ति हैं। तो आपका मन बहिर्देशको छोड़कर अन्तर्देशमें, बर्हिकालको छोड़कर अन्तःकालमें, और बहिर्व्यक्तिको छोड़कर अन्तर्व्यक्तिमें प्रवेश कर रहा है। यह रासलीला तो महाराज बाहरकी वस्तुओंकी वासनाको घटानेवाली है। और भीतर जो प्रभु हैं उसके साथ जोड़नेवाली है। यह रासलीला, यह आनन्दलीला, अनजानमें ही संसारसे वैराग्य करानेवाली है। मनुष्यको पता न चले कि हमारे मनमें बाहरसे वैराग्य कब हुआ और वैराग्य आ जाय, पता न चले कि भगवान्‌से प्रेम कब हुआ और प्रेम आ जाय—यह लीलाके श्रवणकी, लीलाके दर्शनकी अद्‌भुत शक्ति है। पर अब कोई भीतर जाना चाहे तब न!

तो आप देखो पाँच हजार वर्ष पहलेकी शरद ऋतु, आश्विन मासकी शुक्ला पूर्णिमा, सायंकालका समय, चन्द्रोदय होनेवाला है और कदम्बवृक्षके नीचे खड़े होकर त्रिभंग-ललित बाँकेबिहारी, पीताम्बरधारी, मुरलीमनोहर, मन्दस्मित, गोरोचनाङ्कित मयूरमुकुटी, मकराकृति-कुण्डली, श्यामसुन्दरने देखा कि आज विहार करनेके योग्य है और चन्द्रमा संकल्पकी पूर्तिके लिए उदय हुआ—

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं

अब अपने मनको ले चलो वृन्दावनमें, बजी डुगडुगी, शुरू हो रही भगवान्‌की लीला, पूर्वदिशामें चन्द्रोदय हुआ। शुकदेवजी महाराज रसिक हो गये—यह जो वर्णन है, इसमें अवधूतीकी बात नहीं है। रसिकताकी बात है। क्या कि चन्द्रमाने उदय होकर पहला यह काम किया कि अपने शीतल, शान्तिदायक करोंसे—करोंका अर्थ है किरण—अपनी शान्तिदायिनी रश्मियोंसे, किरणोंसे, किरणोंमें अनुरागका रंग भरकर प्राची दिशा अर्थात् पूर्व दिशाका जो मुख है उसको लाल-लाल कर दिया, रंग दिया। माने रासका प्रसंग होरीसे शुरू हुआ! देखो—है तो शरद ऋतु और वर्णन किया कि चन्द्रमा प्राची दिशाके साथ होली खेल रहा है। जब पूर्व दिशामें चन्द्रोदय होता है तो लाली छा ही जाती ; लेकिन इसी बातको कहते हैं कि चन्द्रमाने पूर्वदिशाके मुँहपर लाली लगा दी। यह उत्प्रेक्षा है इसको सही मत मान लेना।

एक अलंकार होता है—संस्कृत भाषामें उसका बहुत प्रयोग होता है। उसमें किसी वस्तुका वर्णन करनेके लिए ऐसे ढंगसे बात कही जाती है कि सच्ची न हो, और वर्ण्य वस्तुका उत्कर्ष बढ़ जाय। जैसे बोले—कि प्रिये! तुम्हारे मुखका सौन्दर्य देखकर चन्द्रमा लज्जित हो गया और वह भगा कि अब धरतीपर रहेंगे तो हमारा बड़ा तिरस्कार होगा। बस-बस तुम्हारे सौन्दर्यसे तिरस्कृत होकर चन्द्रमा आकाशमें पहुँच गया होगा! तो आकाशमें चन्द्रमा क्या किसीकी सुन्दरतासे शरमाकर गया है? कहा-नहीं। पर जब उत्प्रेक्षा की जाती है तो ऐसी चीज आती है। प्राची दिशा, पूर्व दिशा तो दिशा है—यह कोई नायिका या कोई सुन्दरी नहीं है। लेकिन देवताओंकी बोलीमें जब बोलते हैं तो प्राची दिशा माने पूर्व दिशा इन्दुकी पत्नी है और चन्द्रमा जब उदय होते हैं तो रोज उसका मुँह लाल हो जाता है। तो कह रहे हैं कि चन्द्रमा बड़ा सुन्दर है, बड़ा आह्लाददायी है, उसकी किरणोंमें बड़ी शीतलता है, और वह जब सायंकाल उदय होता है तो पूर्व दिशाके मुखपर रोली मल देता हैं।

रासलीलाके दिन ऐसे ही हुआ। उस दिन तो चन्द्रमाको सावधान रहना चाहिए था। बोले—सावधान ही था। कैसे? कि चन्द्रमाने सोचा कि श्रीकृष्णको

---

* इन्दुकी पत्नी है पूर्व दिशा (प्राची) वरुणकी पत्नी है प्रतीची दिशा, यमकी पत्नी है अवाची और कुबेरकी पत्नी है उदीची ये चारों दिशाएँ, प्राची, अवाची, प्रतीची, उदीची चारों देवी हैं।

आज गोपियोंके साथ रास करना है और हमें अपनी आह्लादिनी किरणोंके द्वारा उनकी रासमण्डलमें सेवा करनी है, तो कहीं चन्द्रमाको देखकर श्रीकृष्ण सकुचा न जायें कि अपने वंशके आदि पुरुषके सामने हम रास कैसे करें! इस संकोचको दूर करने के लिए स्वयं चन्द्रमाने मङ्गलाचरण किया कि अरे बाबा! जो तुम करने जा रहे हो वह हम भी करते हैं। इसके लिए चन्द्रमाने अपनी पत्नी प्राचीके मुखपर अनुरागका रंग लगाकर श्रृंगार रसका सूत्रपात किया। जब बच्चोंके सामने बड़े-बूढ़े हँसने लगते हैं तो बच्चोंका जो डर-संकोच है, वह छूट जाता है। चन्द्रवंशके आदिपुरुष चन्द्रमाने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा बेटे, तुम संकोच मत करो, तुम पृथ्वीपर रास करो और हम आसमानमें कर रहे हैं। इससे भी श्रीकृष्ण और चन्द्रमाकी एकता हो गयी।

चन्द्रमा भी उडुराज हैं और श्रीकृष्ण भी उडुराज हैं—**उरुषु गोपीजनेषु राजते इति उडुराजः** बहुत सारी गोपीजनोंमें ये रास-विलास करते हैं। इसलिए कृष्ण उडुराज हैं। चन्द्रमा-पक्षमें—**प्राच्याः ककुभः, मुखं**। प्राची दिशा का मुख-षष्ठ्यन्त प्रयोग है ककुभका (ककुभ माने दिशा) और कृष्णपक्षमें-**येन सुखेन कौ पृथिव्यां भाति इति ककुभः** प्रथमान्त प्रयोग है। तो—**तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं**—श्रीकृष्ण लीला करनेवाले हैं तो अपनी सेवा तो कर देनी चाहिए, इसलिए सब जगह अनुरागका रंग डाल-डाल करके अपनी शीतल शान्तिदायी किरणोंसे चन्द्रमाने प्राचीके मुखको लाल कर दिया। माने देवी-देवता भी श्रीकृष्णका विहार देखनेके लिए अनुरागमें डूब जाते थे।

अब दूसरी बात—**सचर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्। चर्षणयः प्रजाः**। चन्द्रमा जब उदय होता है तब लोगोंका दिन भरका ताप शान्त हो जाता है। देखो आश्विनके महीनामें दिनमें खूब धूप पड़ती है, सूर्य भी अपना प्रकाश दिखाते हैं, आश्विन मासमें **बालार्कः तरुणायते**। बड़े-बूढ़े लोग भी, जब उनमें श्रृंगारका भाव उदय होता है, तो तन कर चलने लगते हैं। इसीप्रकार जब सूर्य कन्या राशिपर आता है तो तरुण हो जाता है। यह सूर्यका प्रताप नहीं है, यह कन्याराशिकी महिमा है। तो **सचर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्**—सारी प्रजाका कष्ट दूर करते हुए, शोक दूर करते हुए, उनके आँसू पोंछते हुए, चन्द्रमा पधारे! अब इसमें उपमा आती है—**प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः** जैसे कोई प्रिय, प्रियतम बहुत दिनसे परदेश गया हो और लौटकर आवे-**प्रियः प्रियाया इव** और देखे-कि उसकी पत्नीकी आँखसे आँसू बह रहे हैं और वह अपने शीतल हाथोंसे स्वयं अपनी प्रियाके आँसू पोंछे, और आँसू ही न पोंछे उसके मुँहमें रंग लगा दे, उसके साथ हास्य-विनोद करने

लग जाय। **प्रियः प्रियायाः इव दीर्घदर्शनः**—ऐसा माहौल है। चन्द्रमा आया आकाशमें और एक महीनेके बाद आनेवाली पूर्णिमा नहीं, एक वर्षके बाद आनेवाली शारदीय पूर्णिमा आयी। एक वर्ष नहीं, एककल्पके बाद जब श्रीकृष्णका अवतार होता है तब यह शारदीय पूर्णिमा आती है जिसमें रास करते हैं! वह शारदीय पूर्णिमा आज चन्द्रमाको मिली तो जैसे कोई प्रियतम दीर्घकालके बाद अपनी प्रियाको मिले और उसके आँसू पोछकर उसके शरीरपर रंग लगा दे और उसको अनुरागके रंगसे तर कर दे, सराबोर कर दे, इसी प्रकार चन्द्रमाने रासविलासके प्रारम्भमें प्राची दिशाके मुखको हर्षोल्लसित किया और जनताका जो दुःख है उसको दूर किया। **प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः।**

गीतामें भी आता है— एक जगह अर्जनने कहा कि यदि हमसे कोई गल्ती हुई हो तो माफ करना—**पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।** वहाँ तो अर्जुनसे महाराज बोला नहीं गया—मुँह ही नहीं खुला। आपको उस श्लोकमें जो दोष है सो बताता हूँ भला! **प्रियः प्रियाया अर्हसि देव सोढुम्**— ऐसा बोलना चाहिए था। लेकिन स्त्रीलिङ्ग बोलनेकी जगह अर्जुनसे पुल्लिङ्ग निकल गया—**प्रियः प्रियाय।** सखेव सख्युः यह बात जब पहले आगयी तो दुबारा **प्रियः प्रियायाः** बोलना चाहिए। अरे भाई! पतिसे अथवा अपनी प्रेयसीसे कोई गलती होती है तो जो प्यारा होता है वह क्षमा करता है। बोले भाई! हम दोनों तो एक ही हैं, तुम्हारी गलती तो हमारी गलती है। अर्जुन बोला कि अगर हम स्त्रीलिङ्ग शब्दका प्रयोग कर देंगें तो इसका अर्थ यह होगा कि हम और कृष्ण तो सखा-सखा हैं और प्रेयसी कोई दूसरी है, वह हमसे बड़ी होगी। नहीं, हम ही सबसे ज्यादा प्रेमी हैं—**प्रियः प्रियायार्हसि**-पुल्लिङ्ग शब्द प्रियायका प्रयोग करके अर्जुनने यह प्रकट किया, नहीं तो प्रियायाः होना चाहिए, लेकिन भले पुल्लिंग निकला, विद्वान् लोग समझ जाते हैं कि यह स्त्रीलिंग है। वृत्रासुरके प्रसङ्गमें भी आया है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

हे कमलनयन; प्यारे श्यामसुन्दर! मेरा मन तुम्हारा दर्शन करनेके लिए व्याकुल हो रहा है—कैसे? जैसे-प्रेयसीका मन अपने प्रियतमके दर्शनके लिए व्याकुल होता है—**प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा** बहुत दिनसे परदेश गया प्रियतम और प्रेयसी उसके लिए विषण्ण-विषादग्रस्त-व्याकुल और उसका रोम-रोम चाहता है कि प्यारेका दर्शन होवे। बिना चाहके, बिना व्याकुलताके प्यारेका दर्शन नहीं होता।

यह प्रिय शब्द प्रेम शब्दका मूल है। धातु 'प्रीञ्' है और इससे पहले 'प्रिय' शब्द बनती है और फिर भावमें 'प्रेमा' या 'प्रेम' शब्द बनता है, दोनों तरहका बनता है। 'प्रीञ्' धातुसे **प्रयति-प्रयते-प्रीणाति,** भिन्नभिन्न गणोंमें, भिन्न-भिन्न गणियाँ बनाती हैं—**प्रियते, प्रीणाति, प्रीणयति, प्राययति**—तरह-तरहके रूप बनते हैं। तो **प्रीणाति इति प्रियःप्रीञ् तर्पणे**—जो अपने प्रेमीको तृप्त कर दे उसका नाम प्रेम है। जिसको देखकर आँख तृप्त हो जाय ***जन्म अवधि हम रूप निहारे—नयन न तिरपित भयेल*** जैसे चकोर चन्द्रमाके दर्शनका प्यासा है वैसे आँखें जिसके दर्शनकी प्यासी हैं और दर्शन करके आनन्द लेती भी जाती हैं और अतृप्त रहती हैं, उसका नाम होता है प्रिय। जिसकी आवाज सुननेके लिए, जिसका वचन सुननेके लिए कान प्यासे रहते हैं, जिसको छूनेके लिए त्वचा प्यासी रहती है, जिसको सूँघनेके लिए नासिका प्यासी रहती है, जिसका स्वाद लेनेके लिए जिह्वा प्यासी रहती है, एक क्षण जिसकी याद भूल जाय तो मन व्याकुल हो जाता है, उसको बोलते हैं प्रिय, जिसके बिना किसी भी इन्द्रियको तृप्ति नहीं है, न आँखको, न कानको, न त्वचाको, न नाकको, न जीभको, न दिलको, न दिमागको, जिसके बिना जीवनमें तृप्ति आती ही नहीं है, उसका नाम है प्रिय।

एक बारकी बात है। कल्याण-परिवारमें ऐसा बढ़िया गुट इकट्ठा हुआ था— हनुमान प्रसाद पोद्दार तो थे ही, पण्डित लक्ष्मण नारायण गर्दे (शरीर हो गया पूरा उनका) ,पण्डित नन्ददुलारे बाजपेयी (जो आजकल उज्जैनमें कुलपति हैं, विक्रम विश्व विद्यालयमें), पण्डित भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव' (जो डायरेक्टर हैं बिहार के शिक्षा विभागमें, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्के वही संचालक हैं) सब लोग इकट्ठे थे—गर्देजीने पूछा—कि देखो दुनियामें मोर नाचते हैं बरसातमें— वह चाहे विलायतका हो चाहे हिन्दुस्तान, अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका या एशियाका; कहींका मोर हो, वह आसमानमें बादल देखकर नाचने लगता है। तो यह बात तय हो गयी कि मोरका प्यारा है बादल। परन्तु यह जो मनुष्य जाति है, इसका भी है कोई ऐसा प्यारा जिसको देख करके मनुष्य जाति प्यारमें नृत्य करने लगे? अरे इसने तो अपना प्यार बिखेर दिया भाई! टुकड़े-टुकड़े कर दिया! कुछ यहाँ कुछ वहाँ। प्यार जबतक सिमटता नहीं, तबतक उसका मजा नहीं आता।

प्यारमें सात बातें होनी आवश्यक हैं (१) एक तो वह कभी टूटे नहीं।

सर्वथाध्वंसरहितः सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

टूटनेकी चाहे कितनी वजह आवें —**सत्यपि ध्वंसकारणे**—टूटनेकी वजह साफ-साफ आ जानेपर भी जो कभी न टूटे ऐसा जो भावबन्धन है, दिलका दिलके साथ बँध जाना है, यह प्रेमकी पहली चीज है। टूटना हो तो प्रेम काहेका? (२) दूसरी बात प्रेम में यह होती है कि महाकवि भवभूति बोलते हैं देखो—एकबार प्यारा आया तो उसने हथेली ठोंकी और दूसरी बार आया तो इतने जोरसे चिकोटी काट गया कि खून निकल आया। एकबार खूब दर्द हुआ और एकबार खूब मजा आया। तो प्रेमी कौन है? जिसने न तो चिकोटीकी तकलीफ देखी और न प्यारका मजा देखा—जिसने यह देखा कि यह हमारा प्यारा है, उसकी क्रियापर नजर नहीं गयी, उसपर नजर गयी। एकबार तमाचा जड़ दिया उसने और एकबार चूम लिया और दोनोंमें यह मालूम पड़ता है कि यह हमारा प्यारा है, उसका नाम प्रेमी है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्,
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्राप्यते॥

भले मानुषको यह प्रेम मिलता है। सुखमें सुख देनेवाला, जो दुःखमें दुःख देनेवाला भी वही। प्रेमास्पदके सिवाय ईश्वर भी प्रेमीको सुख-दुःख नहीं देता। प्रेमी ईश्वरके राज्यसे बाहर निकल जाता है, प्रेमीको ईश्वर बुखार नहीं देता, बोले—अपना प्रियतम जरा रूठ गया तो बुखार आ गया। प्रियतमने वह बुखार दिया, ईश्वरने नहीं। एकदिन वजन बढ़ गया, कैसे? तो कहा—एकदिन जरा हँस कर उन्होंने दे ; लिया था।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुदिनं सर्वासु अवस्थासु यत् —अरे सोते भी हैं तो उसके लिए, सपना भी देखते हैं तो उसके लिए, जागते हैं उसके लिए, गरीब हो जाते हैं उसके लिए, धनी हो जाते हैं उसके लिए। मरते हैं उसके लिए, जिन्दा हो जाते हैं उसके लिए—**सर्वासु अवस्थासु यत्**। दिल चाहे जितना भटक आवे दुनियामें, चाहे जो-जो देख आवे, चाहे जो-जो खा आवे, माँग आवे लेकिन विश्राम मिलता है उसीके पास! बुढ़ापेसे यह प्रेम घटता नहीं। ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों यह गाढ़ा होता है। जैसे-दूधको जितनी-जितनी आँच लगती है उतना-उतना। उसका मजा निकलता है!

तो प्रीति बड़ी विलक्षण है। प्रेममें पहली बात बतायी कि चाहे टूटनेके कितने कारण मौजूद हों, परन्तु टूटे नहीं। और दूसरी बात यह होती है कि प्रेमीके हृदयमें कठोरता नहीं आती। उसके पास कोई वस्तु अदेय नहीं है, कोई भी अपनी

वस्तु नहीं है। और (३) तीसरी बात है कि प्रेम हमेशा पूर्ण रहता है फिर भी बाँका, थोड़ी आँख टेढ़ी हो जाती है, थोड़ा मुँह टेढ़ा, थोड़ी बोलीमें बाँकपनां आ जाता है। (४) चित्त जब विश्वासकी भूमिकामें पहुँचता है तो वहाँसे अखण्ड प्रेमका उदय होता है, तब हृदय नरम हो जाता है, हृदयका निर्माण होता है, हृदय कोमल हो जाता है परन्तु उसके बाद? उस निर्माणमें भी मान रहता है। निर्माणमें मान रहता है और निर्भय होता है प्रेम। (५) पाँचवीं बात है कि जिससे प्रेम हो, उसमें यदि दोष दिखें तो सेवाकी भावना बढ़ती है, घटती नहीं है। यदि दोष देखकर सेवाकी भावना घट जाय तो समझना प्रेम नहीं है। कहा—रोज तो घण्टों कंपनी देते थे, फिर एक दिन आ गया उन्हें बुखार तो बोले आज मत जाओ नहीं तो हमको भी इन्फेक्शन हो जायेगा। कहा-नहीं प्रेममें डर नहीं होता-**तन्वानं सम्प्रदोषे**। अरे भाई पहले तो बहुत अच्छे थे तब हमने प्रेम किया अब पीने लगे शराब तो तोड़ दो! जिससे पहले यह बात हुई थी कि हम धर्मके अनुसार चलेंगे, उसने धर्म तोड़ दिया तो सारी मर्यादा ही तोड़ दी! लेकिन प्रेम तो दूसरी चीज है। अरे, अब उस समय आओ, उसको नालीसे उठाओ उसका नशा उतारो, उसको धीरे-धीरे समझाओ कि बाबा! ऐसा काम नहीं करना।

यह देखो—प्रेम अटूट है, प्रेमसे हृदयकी कठोरता मिट जाती है, प्रेम हृदयका निर्माण तो करता है पर थोड़ा मान रखता है, अपने प्रियतमकी सेवाके लिए। प्रेममें निर्भयता होती है और दोषमें वह बढ़ता है। (६) अब छठी बात प्रेम नित्य नया रस देता है। और (७) सातवीं बात प्रेमी और प्रियतम दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। ये सात बातें प्रेममें आनी अनिवार्य हैं। प्रेम द्वैत नहीं है, प्रेम अद्वैत है। प्रेम बीचमें कोई बात सहता ही नहीं है।

आज किसीसे चर्चा कर रहा था-कोई भी चीज दो तब होती है जब उसके बीचमें तीसरी चीज होती है, और जहाँ तीसरी चीज नहीं होती वहाँ दो चीज नहीं होती। दो उँगली दो हैं क्योंकि दोनोंके बीचमें पोल है। हम तुम दो हैं क्योंकि बीचमें पोल है। यह अवकाश नहीं हो, यदि दोनोंका अभाव दोनोंके बीचमें न हो तो दो चीज होवे ही नहीं। रस्सी और साँप दो हैं कि एक? हे भगवान्! अज्ञान है तब दो हैं और अज्ञान मिट गया तो दो नहीं एक ही है। जिस चीजका नाम रस्सी उसी चीजका नाम साँप! हे नारायण; मिथ्या और सत्य दो वस्तु नहीं होवें, सत्यके प्रतिद्वन्दीका नाम सत्य नहीं है, मिथ्याके प्रतिद्वन्दीका नाम सत्य नहीं है, क्योंकि मिथ्या किसीका प्रतिद्वन्दी हो ही नहीं सकता क्योंकि वह है ही नहीं। इसीलिए सत्य और मिथ्या दोनों असलमें एक ही होते हैं। परब्रह्म परमात्मा और जगत् एक।

अच्छा, यह तो हुआ दृष्टान्त! क्योंकि प्रेमदर्शनका विषय है, प्रेमी और प्रियतम एक हैं अद्वैत हैं। अरे फेंक माला, निकाल दो हार। क्यों भाई क्यों? कि—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।

क्योंकि हम दोनोंके बीचमें जो यह हार है वह हार नहीं है, यह प्रेमकी हार है। प्रेमी और प्रियतमके बीचमें तीसरी वस्तुको प्रेम सहन करता नहीं, यह प्रेमका स्वभाव है, शरीरको भी नहीं सहता, साँस भी अलग नहीं हों। प्रेमी प्रियतमका शरीर एक, प्राण एक, मन एक, बुद्धि एक, आनन्द एक और आत्मा तो सबकी एक है ही। यह मत कहो कि प्रेमी और प्रेमिका आत्माकी दृष्टिसे एक हैं। आत्माकी दृष्टिसे तो कीट-पतङ्ग, पशु पक्षी, देवता-दानव, मानव सब एक हैं। प्रेमका तो मतलब होता है कि व्यावहारिक दृष्टिसे भी एक है।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि जगत् और ब्रह्म दो नहीं एक हैं। और शंकराचार्यजी महाराज भी कहते हैं कि ब्रह्म और जगत् दो नहीं, एक हैं। पर इसमें कुछ बोलनेमें फर्क है कि नहीं? दो दर्शन क्यों हो गये? केवलाद्वैत दर्शन अलग और विशुद्धाद्वैत दर्शन अलग। एक दूसरेका खण्डन करें, पर बात बोलें एक! इसका कारण क्या है? वह कल सुबह मैं सुनानेवाला हूँ। प्रेमाद्वैत दूसरा है और केवलाद्वैत दूसरा है। यह तो प्रेमाद्वैत है। प्रेमाद्वैत है माने हिलमिलकर अद्वैत है। आँखसे आँख मिली, नाक से नाक मिली, ओंठसे ओंठ मिले, त्वचासे त्वचा मिली, दिलसे दिल मिला, यह तो बिलकुल व्यावहारिक अद्वैत है।

प्रिय प्रियाया इव दीर्घदर्शनः—चन्द्रमा भी अनुरागकी लालीमें नहाकर निकला, और प्राची दिशाको भी उसने लालीमें रंग दिया—दोनों एक-एक हो गये-प्राची और चन्द्रमा! इसी समय श्रीकृष्णकी दृष्टि चन्द्रमापर पड़ी। अब तक नहीं देखा था— दृष्ट्वा **कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं।**

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कामलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

प्रेमके सारे लक्षण इस श्लोकमें हैं। कृष्णने कल बजाया। कल क्या? एक कल था श्रीकृष्णके पास। **जगौ कलं**—एक ऐसा कल था, एक ऐसा यन्त्र था श्रीकृष्णके पास कि चाहे कोई तिजोरीमें बन्द हो, लेकिन माल निकलकर कृष्णके पास आ जायेगा। कहते हैं अद्वितीय चोर थे श्रीकृष्ण! गोपियोंका जो प्रेम शरीरके भीतर हृदयकी पिटारीमें और धर्मका ताला लगाकर बन्द था, उसको, ऐसा चोर महाराज! कि मालिकको पता ही न चले और माल निकलकर बाहर आ गया।

नयना रे चित चोर बताओ—
तुमही रहत भवन रखवारे, बाँके बीर कहाओ।
घरके भेदी बैठ द्वारपर दिन ही घर लुटवाओ॥
नारायण मोहि वस्तु न चहिए लेने हार दिखाओ।
नयनारे चित्तचोर बताओ॥

चोरके नामसे प्रसिद्ध है:—

अपहरति मनो मे कोप्ययं कृष्णचौरः। अरे ये कोई काला-काला चोर हमारे मनको चुराये जा रहा है। दौड़ो-दौड़ो काला चोर है यह!

अपहरति मनो मे कोप्ययं कृष्णचौरः
प्रणतदुरितचौरः पूतनाप्राणचौरः।
बलयवसनचौरो बालगोपाङ्गनानां
नयनहृदयचौरः पश्यतां सज्जनानाम्॥

अरे! यह तो आँख चुरा ले, दिल चुरा ले; यह तो मन चुरा ले, यह मक्खनका चोर नहीं हैं। 'पश्यतां सज्जनानां' और महाराज! चोरी करें तो सज्जनोंकी। एक चोर था, रोज-रोज चोरी करे, एकादशीको भी नहीं छोड़ता था। एक चोर था, दुर्जनोंकी तो चोरी करे, सज्जनोंको भी नहीं छोड़ता था। ये जूताचोर लोग सत्सङ्गमें भी आ जाते हैं कि नहीं? औरोंकी गाँवमें चोरी करें सो तो करें, विचारे सत्सङ्गियोंकी भी चोरी कर ले जाते हैं। हमारे बाबाजी लोगोंकी भी चोरी हो जाती है। तो यह कृष्ण चोर है, काला चोर है, यह प्रिय है! **दृष्ट्वा कुमुद्वन्तं**— पाँच धर्म लेकर चन्द्रमाको देखा। **कुमुद्वन्तं अखण्डमण्डलं, रमाननाभं, नवकुङ्कुमारुणम्** चन्द्रमा है आसमानमें पर कृष्णको बता रहा है; **कुमुद्वन्तं**— अकेला चन्द्रमा और धरतीमें कुमुदिनी करोड़ों हैं। कुमुदिनी क्या? ये कोइन होती हैं, तलाबमें चन्द्रमाको देखकर ये खिलती हैं। महाराज! संसारी जो प्रेमी होते हैं न, इनसे तो ये कोइन बिचारी अच्छी हैं। कहा—क्यों उनमें ईर्ष्या दोष तो नहीं होता न, करोडों कोइन, अरबों कुइन एक चन्द्रमाको देखकर मुस्करा पड़ती हैं न, एक दूसरेकी ओर नहीं देखती हैं, सब-की-सब चन्द्रमाकी ओर देखती हैं। श्रीकृष्णने कहा कि हे चन्द्र! हमारा काम करनेके लिए तुम आसमानमें क्यों उगे। बोले—गोपियोंके मनमें कभी सौतियाडाह आवेगा तो चन्द्रमा कहेगा—जरा हमारी ओर देखो, करोड़-करोड़ कुमुदिनी हमसे प्रेम करती हैं पर उनमें ईर्ष्या-दोष नहीं होता; फिर तुममें क्यों हो रहा है? तो गोपियोंके चित्तका समाधान करेगा, इसलिए आसमानमें चन्द्र उगा '**कुमद्वन्तं अखण्डमण्डलम्**'।

१०

रासमें चन्द्रमाका योगदान

(दृष्ट्वा कुमुद्वन्तम्............वनं च तत्कोमलगोभिरंजितम्)

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तं अखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरंजितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

शरद ऋतुकी पूर्णिमा, सायंकालका समय और भगवान्ने जिन रात्रियोंका दान गोपियोंको बिहारके लिए किया था, वे सब सोलहो शृंगार करके सामने खड़ी थीं; बेला, चमेली खिली हुई थी। भगवान्ने देखा–कि गोपियाँ भी बिहारके लिए तत्पर, रात्रियाँ भी उपस्थित और उद्दीपनकी सारी सामग्री भी तो भगवान्के मनमें भी रासका संकल्प उदय हो गया। प्रश्न यह है कि वह भगवान् कैसा भगवान् है जो किसी समयको देखकर रम जाय, किसी स्थानको देखकर रम जाय, किसी वस्तुको देखकर रम जाय, किसी व्यक्तिको देखकर रम जाय? यह तो तभी हो सकता है जब ज्यादा आनन्द उन वस्तु, काल या व्यक्तियोंमें हो। परन्तु ऐसा यदि हो तो भगवान्की भगवत्ता ही चली जायेगी। काहे के भगवान् जिसके दिलमें सुख ही नहीं है, जो दूसरेसे सुख उधार लेना चाहते हैं? इससे तो अच्छा दरिद्र! जरूरतमन्दको भगवान् नहीं कहते। तब भगवान् रमणका संकल्प क्यों करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें ही भक्तिका रहस्य है। जब भगवान् देखते हैं कि यह पुण्यात्मा जीव संसारकी वासना छोड़कर मेरा नाम लेना चाहता है तो वे अपने नामको उसकी जीभपर रख देते हैं, स्वयं नाम बन करके उसकी जीभपर आ जाते हैं; और उसकी जीभ पर जब नाम नाचता है तो उसको सुन-सुनकर खुश होते हैं! अपने ही नामकी ध्वनिको सुनकर भगवान् प्रसन्न होते हैं, क्योंकि जो रूपमें है सोई नाममें है। यह भक्तिकी बड़ी अद्भुत लीला है।

मैं कई बार यह बात आपको सुना चुका हूँ, कि योगी लोग मानते हैं कि सत्त्वगुणकी वृत्ति जब इष्टाकार होती है तब उसको भक्ति कहते हैं, परन्तु सत्त्वगुणकी वृत्तिमें इतना आनन्द नहीं है कि भगवान् उसपर मोहित हो जायँ और वह भगवान्को वशमें कर ले। योगी लोग कहते हैं, कि आनन्दाकार वृत्ति, सम्प्रज्ञात समाधि है। परन्तु इस वृत्तिका तो उनको निरोध करना पड़ता है। वेदान्ती लोग कहते हैं कि अज्ञानका कार्य जो अन्तःकरण है उस अन्तःकरणकी एक श्रद्धासे बनी हुई वृत्ति

भक्ति है। परन्तु क्या मायिक वृत्ति भगवान्‌को वशमें कर लेगी और क्या मायिक वृत्तिपर भगवान् मुग्ध हो जायेंगे? तांत्रिक लोग कहते हैं कि शास्त्रोक्त रीतिसे क्रिया करनेपर जो इष्टाकार वृत्ति उत्पन्न होती है उस प्रयत्नजन्य वृत्तिका नाम भक्ति है। अरे! जीवके प्रयत्नमें इतना सामर्थ्य कहाँ कि उसको देखकर भगवान् मोहित हो जायें। यह अभिमान ही है, कि हमारी नाक देखकर रीझ गये, कि हमारी आँख देखकर रीझ गये, हमारी चमड़ी देखकर रीझ गये! भगवान् नाक, आँख, कान, चमड़ी देखकर नहीं रीझते हैं। यह सब देखकर तो वे रीझते हैं जिनको दिल नहीं दिखता है। यह सब नखरा है, खरा नहीं है, सच्चा नहीं है तब भगवान् किसके वशमें होंगे?

यह बड़ी अद्‌भुत लीला है भक्तिकी। भगवान् परम स्वतन्त्र हैं; उनमें माया, अज्ञान, देश, काल, वस्तु किसीका असर नहीं पड़ता। भगवान्‌की आह्लादिनी, सन्धिनी या संवित्—कोई शक्ति शक्तिमानको वशमें नहीं कर सकती, शक्ति तो शक्तिमानके अधीन रहती है। आह्लादिनी शक्ति भी भगवान्‌को वशमें नहीं कर सकती। परन्तु आह्लादिनी शक्तिका जो सार-सर्वस्व है, जो उसका नवनीत है, जो उसका मन्थन है, उसको भगवान् जिसके साथ विहार करना चाहते हैं, उसके हृदयमें स्थापित कर देते हैं। उनके स्वातन्त्र्यमें व्याघात नहीं आता, उनकी स्वतन्त्रतामें कोई फर्क नहीं पड़ता। वे हृदयमें रखते हैं। वे अपने स्वरूप सच्चिदानन्दके सार-सर्वस्वको निकालकर भक्तके हृदयमें रखते हैं।

देखो—आदमी ऐसे अपने आप बैठा हो तो उतना मजा नहीं लेता, लेकिन जब उसका बढ़िया चित्र उतर जाय या शीशामें दिखने लगे तो उसका मजा लेता है। तो भगवान् असलमें मजा किस बातका लेते हैं कि जब गोपियोंके हृदयमें भगवान् अपने आपको देखते हैं तो अंपने आपमें वैसे उतने अच्छे नहीं दिखते हैं जितने कि गोपियोंके हृदयमें दिखते हैं। अपने आपमें भगवान् सगुण दिखें तो भगवान् भी अभिमानी हो जायेगा, वह गुणोंका अभिमानी हो जायेगा। अपने आपमें भगवान् जानता है कि हमारे पास कुछ नहीं, लेकिन भक्तोंके हृदयमें वह देखता है, अपना परम सुन्दर, परम मधुर रूप। गोपी इसलिए सुन्दर नहीं है कि वह ग्वालिनी है। गोपीका सौन्दर्य यह है कि गोपीके हृदयमें केवल भगवान् हैं।

एक दिन गोपी बैठी और ध्यान करने लगी—हमारी नाक ऐसी, हमारी आँख ऐसी, हमारा कपोल ऐसा, हमारी बाँह ऐसी बढ़िया! अब महाराज भगवान्‌ने देखा कि यह तो अपने आपमें डूबी हुई है, कोई योगिनी होगी, कोई वेदान्तिनी होगी,

छोड़ो इसको। ये वेदान्तिनी भी एक सखी होती है—अपने स्वरूपमें डूबी हुई; इन्हीं लोगोंसे भगवान् अन्तर्ध्यान रहते हैं। कहा-क्यों? वह तो अपने स्वरूपमें डूबी हुई है, भगवान्‌को भूल गयी! योगिनी सखी भी ध्यानमग्ना हो गयी। अब एक दूसरी सखीको देखा तो उसके हृदयमें थे भगवान्। बोले-अरे वाह! मैं यहाँ अच्छा लगता हूँ! हम कलेजेमें अच्छा लगते हैं। तो भगवान् अपने ही सत्सारको, अपने चित्सारको, अपने ही आनन्दसारको गोपियोंके हृदयमें स्थापित करके और उसके प्रेमके उपादानसे सच्चिदानन्द स्वरूपको साकार बनाकर अपने आपपर रीझते हैं।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।

अपने आपको रखकर वीक्ष्य माने वीक्षण किया—वीक्षण किया माने बनाया। प्रत्येक गोपीके हृदयको कृष्णाकार बनाकर प्रत्येक गोपीके हृदयको कृष्ण-प्रेमरस-मग्न बनाया। प्रत्येक गोपीका हृदय तो रसगुल्लेकी तरह है उसमें जो चासनी है, वह प्रेम है। सच्चिदानन्द छेना है, प्रेम उसमें चासनी है। सच्चिदानन्द तो सनकादिकोंके मनमें भी रहता है, हृदयमें रहता है, लेकिन वहाँ वह रसीला नहीं है; बिना चासनीका सच्चिदानन्द सनकादिकोंके हृदयमें है। और प्रेम रसकी चासनी वाला सच्चिदानन्द गोपियोंके हृदयमें है। सनकादिकोंके हृदयमें सच्चिदानन्द है परन्तु ममत्व नहीं है—***बिना ममत्व एकत्व न होई।*** बिना ममताके प्रेम नहीं होता, अपना बनाना पड़ता है भगवान्‌को! तब रस होता है।

वीक्ष्यका अर्थ है—वृन्दावन धामको भगवान्‌ने प्रेम रससे सराबोर सच्चिदानन्द बनाया; उन रात्रियोंको प्रेम रससे सराबोर सच्चिदानन्द बनाया। बेला, चमेलीके फूलको प्रेम-रससे सराबोर सच्चिदानन्द बनाया और गोपियोंको प्रेम-रससे सराबोर करके सच्चिदानन्द बनाया। अब **रन्तुं मनश्चक्रे** इनको देख करके फिर श्रीकृष्णके मनने विहारका, रसका, रसदानका नहीं रसग्रहणका संकल्प किया। भक्तिके ग्रन्थोंमें ऐसा वर्णन आता है कि भगवान् स्वरसके अतिरिक्त दूसरे रससे संतृप्त नहीं हो सकते। यदि गोपियोंके हृदयमें भगवद्-रस ही न होता तो उसको पानेकी इच्छा भगवान्‌को नहीं होती। ।

भक्ति भगवान्‌की प्रधानतासे होती है, जीवकी प्रधानतासे नहीं होती। भक्तका हृदय भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य सबसे खाली रहना चाहिए। तभी उसको अपनेसे भर देते हैं। रास पञ्चाध्यायीमें यह बात देखने लायक है कि जब गोपीके हृदयमें यह आया कि हम इतने सुन्दर, इतने मधुर हैं, हम इतनी मीठी कि कृष्ण हमारे पीछे-पीछे घूमते हैं, तब भगवान् अन्तर्धान हो गये—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥

गोपियोंकी नजर अपने पतिपर नहीं गयी, सास-ससुरपर नहीं गयी, अपनी सौतपर भी नहीं गयी। कहाँ गयी थी? कि अपनेपर गयी थी कि हम बड़ी रसीली! तो भगवान्‌ने कहा—अच्छा तुम रसीली हो तो पिओ अपना रस, हमें तुम्हारे रसकी जरूरत नहीं है। हम रस-पान तब करेंगे जब तुम्हारा रस और हमारा रस एक होगा, नहीं तो तुमको अभिमान होगा कि हमने यह दिया, वह रस दिया, एक आदमीने पाँच-सात दिन भोजन कराया, तो कहे कि कथा सुनाओ। कहा—भाई। हमारी मौज नहीं आती कथा करनेमें। तो बोला—हमें पाँच-सात दिन रोटी खिलाते-खिलाते हो गया और तुम एक दिन भी कथा नहीं सुनाते हो! तो नारायण! भगवान्‌को खरीदा नहीं जा सकता, अपनी कीमत पर भी भगवान्‌को खरीदा नहीं जाता-***जौ सिरकाटे हरि मिले तौ हरि लीजिए दौर।*** गोपियोंने अपनी कीमत रख दी, इसलिए भगवान् अन्तर्धान हो गये।

हृदय जब खाली होता है—माने उसमें दुनिया न हो, अपना आपा भी न हो, अपना अहं भी न हो, अभिमान भी न हो, तब भगवान् दूसरा कोई न हो, उस खाली दिलमें अपनेको रखते हैं। और अपने आपको हँसाकर अपने आपको खिलाकर, अपने आपको नचाकर प्रसन्न होते हैं। यह है वीक्ष्य—**वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे**।

योगमायाके सम्बन्धमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने श्रीसुबोधनी टीकामें लिखा है—कि योगमायाका काम है एक वस्तुको ज्यों-की-त्यों बिना उसमें अदला-बदली किये—एक जगहसे दूसरी जगह रख देना। जैसे-बलरामजी थे देवकीके पेटमें—योगमायाने क्या किया? कि गर्भको ज्यों-का-त्यों, बालबाँका न हो, उठाकर रोहिणीके पेटमें रख दिया। तो यहाँ रासके प्रसंगमें —'**योगमायामुपाश्रितः**'का अर्थ हुआ कि **अन्यत्र स्थितं आनन्दं अन्यत्र स्थापयति**—योगमायाने भगवान्‌के हृदयमें जो आनन्द था उसको गोपीके हृदयमें रख दिया। अब गोपी हो गयी, आनन्दमयी, गोपी हो गयी आनन्दरूप! और गोपीके हृदयदर्पणमें अपनी छवि निहारकर भगवान् प्रसन्न होने लगे। बाहर स्वयं ज्यों-का-त्यों रहते हुए वही मुरली-मनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर, गोरोचनाङ्कित भाल, अनुग्रहपूर्ण भौंहें, प्रेमभरी चितवन, वही सुचिक्कन नीलमके समान चम-चम चमकता हुआ कपोल, वही आरक्ताधर, वही पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर बाहर खड़े हैं और अपनेको देख रहे हैं, गोपीके हृदयमें। बोले-अरे! मैं एक और अनेक रूपमें? प्रसन्न हो गये!

तदोडुराजः ककुभः-श्रीसुबोधिनीजीने बताया—कि जब भगवान्‌में मनका उदय हुआ तब चन्द्रमाने कहा—आओ-आओ, बहती गंगामें नहायें। अधिदेवता बनकर आ गया! चाँदनी छिटक गयी, पुष्टि मिल गयी सबको। चन्द्रमा ओषधि-वनस्पतियोंको पुष्टि देता है, शोकको नष्ट करता है। अब श्रीकृष्णकी उसपर दृष्टि पड़ी।

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

चन्द्रमापर दृष्टि पड़ी; क्योंकि चन्द्रमाने दो काम किया, एक तो प्रजाका शोक दूर किया—**सचर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्।** भगवान्‌को जीवोंको सुख पहुँचानेवाला बहुत प्यारा है और दूसरे प्राची दिशा जो है इन्दुपत्नी है। उसके मुखको अनुरागकी लालिमासे लाल-लाल कर दिया। देखो—अनुराग रहता है हृदयमें और पश्चिमको अन्तरङ्ग बोलते हैं और पूर्वको बहिरंग बोलते हैं। ये थोड़ी-सी वेदान्तकी बात है—पराक् और प्रत्यक् दो चीज होती है। वृन्दावन व्रज जो है वह पराक् है-और द्वारिका जो है वह प्रत्यक् है। द्वारिका प्रत्यक् है पश्चिम और प्रागज्योतिषपुर जहाँसे कृष्ण सोलह हजार कन्याएँ ले आये थे वह पराक् है। पराक्‌से सोलह हजार ले आये और प्रत्यक्‌में सोलह हजार छोड़ दिया। नारायण, यह पराक् और प्रत्यक्‌की लीलाका स्वभाव और स्वरूप जो होता है वह आध्यात्मिक अर्थ हो जायेगा। उसे हम सबको नहीं सुनाते।

तो, अब प्राचीके मुखको चन्द्रमाने लाल-लाल अनुराग-रञ्जित कर दिया। भगवान्‌को यही इष्ट है। कहते हैं कि सारी दुनिया प्रेमके रंगमें रँग जाय। चन्द्रमा हमारी मदद कर रहा है इसलिए उसपर दृष्टि पड़ी। चन्द्रमा कैसा है? तो कहा—**कुमुद्वन्तम्।** माने रातमें चन्द्रमाको देखकरके खिलनेवाली कुमुदिनी है—हमारे गाँवमें उसको कोइन बोलते हैं। संस्कृत भाषामें उसके लिए कुमुद और कुमुदिनी दोनों शब्द चलते हैं। यह हलन्त कुमद् शब्द भी है और अदन्त कुमुद शब्द भी है। कुमुद्, कुमुद और कुमुदिनी तो चन्द्रमा 'कुमुद्वान्' है—माने पृथिवीमें जिससे मोद हो आमोद हो उसका नाम कुमुद। चन्द्रको देखकर कुमुद् खिल गयी। बच्चे इनको देखकर खूब खुश होते हैं। हम लोग तो पोखरमें-से निकालकर माला बनाते थे—जन्माष्टमीके दिन। जैसे फूलसे झूला बना लेते हैं, फूल-डोले बनाते हैं वैसे कुमुदसे सारा घर सजा लेते हैं जन्माष्टमीके दिन। दिनमें ले आते बन्द-बन्द और रातको अपने आप खिल जाती। रात भर खिली रहती, रातको सूखती नहीं। तो

उससे पृथिवीमें बड़ा आनन्द होता है, इसलिए उसको बोलते हैं कुमुद। तो चन्द्रमा कैसा है? कहा कुमुद्वन्त है।

कल आपको बताया था कि चन्द्रमा एक है आकाशमें और कोइन लाखों हैं धरतीमें मिलनेका काम नहीं—यह नहीं कि चन्द्रमाकी छातीसे जाकर लगती हों, अरे, चन्द्रमासे कुछ किरणें निकलती हैं और उनसे ही सब-की-सब खिल जाती हैं। भगवान् बहुत प्रसन्न हुए कि देखो—ये आपसमें सौवतिया डाह नहीं करती हैं। एक प्रेम करती हैं। चन्द्रमाने हमारे लिए आदर्श कर दिया। हजार-हजार गोपी कृष्णसे प्रेम करेंगी और सब कृष्णको देख करके प्रसन्न होंगी। एक दूसरी गोपीसे रागद्वेष नहीं करेगी- सापल्य नहीं करेगी, सौतिया डाह नहीं करेगी।

भगवान् उससे प्रसन्न होते हैं जिससे पृथिवीमें आनन्द आवे। यदि चार आदमी हँस रहे हों और एक रोता हुआ आ जाय तो क्या होगा? सबको चुप होना पड़ेगा, कि भाई इसको क्या तकलीफ है, जरा सहानुभूति दिखलाओ! तो चार आदमीको हँसतेसे रुला देना, यह मनहूस आदमीका काम है। और चार आदमी मनहूस बैठे हों और एक आदमी हँसोड़ आजाय, हँसता हुआ तो चारोंकी बतीसी दीख जायगी। तो कुमुद्वन्तंका अर्थ है कि चन्द्रमा इतना प्यारा है कि उसको देखकर सब कुमुद खिल रहे हैं। इसलिए भगवान् भी चन्द्रमाको देखकर खिल गये। यदि चन्द्रमासे सृष्टिमें कोई प्रेम न करता तो चन्द्रमाको देखकर भगवान् खुश नहीं होते—'**दृष्ट्वा कुमुद्वन्तम्**'।

दूसरी बात क्या है चन्द्रमामें? 'अखण्डमण्डलम्'। चन्द्रमा आज खण्डमण्डल नहीं है, अखण्ड मण्डल है। अखण्ड मण्डलका अर्थ है कि कोई न्यूनता नहीं है। जैसे, देखो—किसी भलेमानुषके सामने जाना होता है तो गालपर काजल लगावें, बाल बिखरे हुए हों, यह तो जानेका ढंग नहीं है। भाई! जब भले मानुषके पास जाते हैं तो सजधजकर जाते हैं, बनठनकर जाते हैं, शृंगार करके जाते हैं। तो चन्द्रमा आज प्रतिपदाका नहीं है, द्वितीया-तृतीयाका नहीं है, अष्टमी-एकादशीका नहीं है, पूर्णिमाका चन्द्रमा है। सबसे बड़े सौभाग्यकी बात तो यह है कि भगवान्के सामने जाना हो रहा है और उसमें भी अपने अन्दर कोई कमी लेकर जाय? सारी कमी तो उसी दिन छूट गयी, जिस दिन भगवान् सामने हुए। 'अखण्डमण्डलं'का अर्थ है कि आज निष्कलंक चन्द्रमाका उदय हुआ! निष्कलंक चन्द्रमा। विष नहीं लगा है। उसने कहा—आज तो भगवान् भरी आँखोंसे देखेंगे; आज भी यदि अन्दर विषका कलंक लगा रहा तो भगवान्के नेत्रोंपर उसका असर पड़ेगा। इसलिए अपनेमें जो कालिख लगी है, जो कलंक लगा है, उसको छोड़कर चन्द्रमा आज

उदय हुआ। और फिर भगवान्‌के सामने भी जाय और न्यूनता रहे, इसमें भगवान्‌की बदनामी भी तो है कि भगवान्‌का भक्त हो गया परन्तु कलंकका दोष नहीं छूटा!— 'अखण्डमण्डलम्'! इसका अर्थ हुआ कि न तो कालका प्रभाव है चन्द्रमापर— कालके प्रभावसे चन्द्रमा द्वितीया, तृतीया, चतुर्थीको कम होता है, उस प्रभावसे चन्द्रमा मुक्त हो गया; और न कर्मका प्रभाव है चन्द्रमापर। यह वह कर्मवाला चन्द्रमा नहीं है जिसको मुनिने सहस्र भग हो जानेका शाप दे दिया था और जिसमें मुनिकी मृगछालाकी मारसे छेद हो गया था। अहिल्याके सम्बन्धसे चन्द्रमामें कलंक है और दक्षके शापके सम्बन्धसे क्षीणता है, क्षय है। तो आज जो चन्द्रमा उदय हुआ है वह तो भगवान्‌के मनमें उदय हुआ है अतः कलंक और क्षयदोषसे मुक्त अखण्डमण्डल चन्द्रमा है।

अखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।

रमाननाभं—आज चन्द्रमा एक खास बात लेकर आया कि वैसे चन्द्रमाके साथ भगवान्‌के कई सम्बन्ध हैं—एक तो यदुवंशका आदि पुरुष है चन्द्रमा। दूसरे, चन्द्रमा अत्रिका पुत्र है, अतः ब्राह्मण है; तीसरे, चन्द्रमा साला है भगवान्‌का, बड़ा मधुर सम्बन्ध है। आजकल इस सम्बन्धकी बहुत महिमा है। कलियुगकी महिमाका वर्णन करते हुए लिखा गया है—

श्यालको बुद्धिदायकः—साला ही बुद्धि देता है। लेकिन द्वापरमें भी ऐसा ही था। श्रीकृष्ण थे साले और अर्जुन थे बहनोई। यह आपको मालूम ही होगा। कृष्णकी बहिन सुभद्राका विवाह अर्जुनसे हुआ था। और अर्जुनको बुद्धि देते ही थे! जब समुद्र-मन्थन हुआ तो समुद्रमन्थनमें-से लक्ष्मीजी और चन्द्रमा दोनों निकले थे। अतः लक्ष्मी और चन्द्रमा भाई-बहन हो गये। और भगवान्‌के साथ चन्द्रमाका रिश्ता जुड़ गया। सारे रिश्ते कट गये और सालेका नया रिश्ता हो गया। आज चन्द्रमा जब आया तो **रमाननाभम्**—देख लो, हम लक्ष्मीके भाई हैं। देखते ही लक्ष्मीकी याद आयी।

रमाननाभंका एक दूसरा अर्थ ऐसा होता है कि रमा माने लक्ष्मी—माने राधा—तो ये कोटिलक्ष्मीमयी राधा, सर्वलक्ष्मीमयी राधाकी याद आ गयी। एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-एक विष्णु होते हैं और उनके साथ एक-एक लक्ष्मी होती हैं। तो करोड़-करोड़ ब्रह्माण्ड, करोड़-करोड़ विष्णु, करोड़-करोड़ लक्ष्मी—ये सारी लक्ष्मी कहाँसे निकली हैं? बोले—राधासे—ऐसा तन्त्र-ग्रंथोंमें वर्णन है। गोस्वामी तुलसीदाजीने लिखा ही है कि सीताजीसे निकली हैं—

उपजहिं जासु अंस गुन खानी।
अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥

राधा आराधना रूप हैं। ज्यों चन्द्रमाको देखा त्यों राधा रानी आकर आँखमें बस गयीं, हृदयमें बस गयीं—'**रमाननाभं**'।

लेकिन महाराज! मुख बड़ा सुन्दर हो और भीतर न कुछ हो, तो क्या होगा। बाहरकी उतनी कीमत नहीं है, कीमत तो भीतरकी है। अब भीतर—क्या है चन्द्रमाके? आज चन्द्रमा सफेद नहीं है। आपको मालूम है कि चन्द्रमाका रंग श्वेत है, पीला नहीं है, मगर जिनकी आँखमें कुछ दोष होता है उसको पीला दिखता है। चन्द्रमाका रंग बिलकुल श्वेत है और श्वेत भी रंग है लेकिन जिस समय मनुष्यके मनमें प्रेमका उदय होता है, उस समय उसमें थोड़ी लाली मालूम पड़ती है। ऐसा सभी आवेशोंमें होता है—काममें, क्रोधमें, लोभमें, प्रेममें। जब कोई आवेश आता है तो जरा रक्तिम आभा मुखारविन्दमें आ जाती है। तो, **नवकुङ्कुमारुणम्**—चन्द्रमा कहता है देखो—मैं केवल शरीरसे सुन्दर नहीं हूँ, मेरे अन्दर प्रेम भी है। जैसे—नयी-नयी केशर हो उसके समान अनुरागके रंगमें रँगा चन्द्रमा उदय हुआ। अनेक कुमुदोंका प्रियतम चन्द्रमा, अखण्डमण्डल—निर्दोष चन्द्रमा, राधारानीके मुखारविन्दका स्मरण दिलानेवाला चन्द्रमा और अनुरागके रंगमें रँगा हुआ चन्द्रमा जब आया तब भगवान्‌की दृष्टि पड़ी।

अब एक सेवा चन्द्रमाने और की, क्या?

वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

वनं च वृन्दावनं च—वनमें तो वृन्दावन हो! अरे, वन तो सब जगह होते हैं—जूना गढ़के पास 'नीलगिरि' वन है उसमें शेर रहते हैं और बंगालकी खाड़ीके पास सुन्दर वन है, उसमें हाथी रहते हैं। मगर वन तो वह है, जहाँ राधा-कृष्ण विहार करें! **तद्धैतद्‌वनं**—केनोपनिषद्‌में ब्रह्मवनका वर्णन है। पूर्वमीमांसामें एक वनवाद है—वन एक होता है या कि वन अनेक होता है? वन वृक्षोंसे बनता है—वृक्षोंके द्वारा आरब्ध है या कि वन वृक्षोंका परिणाम है? कि वन वृक्षोंका विकार है? जिसमें अनेक समाये हुए हों, उस एकको वन बोलते हैं। तो अनेकका मूल वही है। यह ब्रह्मवन क्या है? वन सम्भक्तौ—'वन्' धातु सम्भजनके अर्थमें है। जिस स्थितिमें रहकर मनुष्य भगवान्‌का भजन कर सके उसको वन कहते हैं—

भजन बिन बैल बिराने होइहौ।

स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज बताते थे—कि हम बचपनमें अपनी दुकान पर बैठे थे; हलवाईकी दुकान थी। तो सामनेसे एक बैलगाड़ीवाला खूब लादकर गाड़ी निकला। दुकानके सामने सड़क जरा टूटी-फूटी थी; लेकर साँटी बैलको खूब मारे, बैल जो है घुटनेके बल बैठ जाय। गाड़ी चले नहीं और वह बैलको मारे! उसी समय उनको यह पद याद आया कि ***भजन बिन बैल बिराने होइहौ***। अगर भजन नहीं करोगे तो इसी बैलकी-सी दशा होगी। बस उनके मनमें वैराग्य आ गया।

तो वन वही है जहाँ बैठकर भगवान्‌का भजन किया जाय। अब वृन्दावनमें तो राधा-कृष्ण, गोपी-कृष्ण रासलीला करनेवाले हैं। इसलिए चन्द्रमाने अपनी कोमल किरणोंसे **कोमलगोभिरञ्जितम्**—सारे वनको रँग दिया। कहीं लाल चमके (कोपलें जहाँ थीं लाल-लाल, पत्ते लाल चमकें), कहीं हरा चमके, कहीं सुनहला चमके, कहीं फूल चमकें, कहीं फल चमकें। भगवान्‌की दृष्टि पड़ी और चन्द्रमाने अपना सारा रस बरस दिया।

वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्।

अब कृष्णने कहा कि चन्द्रमा तो बिलकुल रस बरसाने पर उतारू हो गया है, अब हमको भी कुछ बरसाना चाहिए।

भगवान्‌ने वंशी बजायी

(जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्)

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥
निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(भाग. १०.२९.३-४)

भगवान् पूर्ण सच्चिदानन्दघन हैं। उनका मन भी सच्चिदानन्दघन है। दूसरी वस्तुके लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। सच्चिदानन्दघनमें ही विभाग कर लिया। क्या? कि ये भगवान्, यह भगवान्‌का मन। तो मन हो गया; फिर उसमें चन्द्रमा आये; ये हो गये अधिदैव, **'वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्'** चन्द्रमाकी कोमल किरणोंसे शीतल-शीतल ऋतु रश्मियोंसे सारा वन अभिरञ्जित हो गया। यह अधिभूत आगया। अब हमारे सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शब्दोंमें एक रकम सेती—एक प्रकारसे देखो—भगवान्‌में मन और मनमें चन्द्रमा और मनमें वृन्दावन और मनमें यह अनुरागरञ्जन। यह अलौकिक सृष्टि भगवान्‌ने की—रासलीला प्रकट करनेके लिए।

काशीमें एक स्वामी प्रकाशानन्दजी सरस्वती थे। चैतन्य महाप्रभुके ग्रन्थोंमें वर्णन आता है कि वे दण्डी स्वामी थे—दस हजार शिष्योंने उनसे वेदान्तका स्वाध्याय किया था। उन्होंने वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली नामका ग्रन्थ संस्कृत-साहित्यमें लिखा, जो एक जीववादका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। माण्डूक्य-कारिकाके बाद अगर प्रक्रिया ग्रन्थोंमें किसीको स्थान मिलता है तो उसको। एक ही जीव है और सब जीवाभास हैं। जैसे—स्वप्नमें द्रष्टा जीव एक होता है और बाकी जितने मनुष्य होते हैं, पशु होते हैं, पक्षी होते हैं, वे जीवाभास होते हैं, वैसे जाग्रत्‌में भी सम्पूर्ण जाग्रतावस्थाका द्रष्टा एक जीव है और बाकी सब-के-सब जीवाभास हैं, इस सिद्धान्तको एक जीववाद बोलते हैं। इसकी स्वामी प्रकाशानन्दजीने वेदान्तमें स्थापना की। श्रीचैतन्य महाप्रभु जब काशीमें आये तो वे उनके प्रभावमें

आगये। ऐसा वर्णन है महाप्रभुके जीवन चरित्रमें; फिर वे वृन्दावन आये, वृन्दावनमें आकर उन्होंने वृन्दावन-महिमामृतम्, नामकी एक पुस्तक लिखी। अब कहाँ एक जीववाद और कहाँ वृन्दावन-महिमामृत! कहते हैं—वृन्दावन-महिमामृतमें एक लाख श्लोक उन्होंने लिखे थे। एक लाख श्लोक तो अभी मिले नहीं हैं, पर सत्रह-सौ श्लोक छपे हुए मिलते हैं और उनमें वृन्दावन-महिमाका वर्णन है। अब देखो-कोई सुनेगा कि कहाँ तो इतना बड़ा वेदान्ती और कहाँ वृन्दावनका वर्णन! हम भी पहले ऐसे ही सोचते थे। जब मैं वृन्दावनमें आया तो मैंने स्वयं तो नहीं पढ़ा वृन्दावन महिमामृत। पर एक सज्जनको पढ़ना था, तो वह मुझसे पढ़नेके लिए आने लग गये। आपको क्या बताऊँ, बहुत आनन्द आया उसमें! उसके पढ़नेकी एक ही तरकीब है, युक्ति है, कि उसमें ब्रह्म शब्दके बदले बस वृन्दावन शब्द रखा हुआ है। वर्णन है समूचा ब्रह्मका, और है नाम वृन्दावनका। यह बात जिनको मालूम न हो, उनकी जानकारीके लिए यह बात सुना रहा हूँ। वृन्दावन और ब्रह्म दोनों शब्दोंको उन्होंने पर्यायवाची कर दिया। ब्रह्मका एक नाम वृन्दावन है और वृन्दावनका एक नाम ब्रह्म है। और वर्णन है—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं ब्रह्म तूर्यं वैकुण्ठाख्यो द्वारका जन्मभूमिः।
कृष्णस्याथो गोष्ठ वृन्दावनं तन्मध्ये चेयं कुंजवाटी चकास्ति॥

वे कहते हैं—देखो, स्थूल सृष्टि है, छोड़ो, ऊपर उठो। सूक्ष्म सृष्टि है, ऊपर उठो। माने विश्वमें जो वैश्वानर है, विराट् है, उससे ऊपर उठो-तैजस-हिरण्यगर्भ है, उससे ऊपर उठो। उसके बाद फिर कारण सृष्टि है, उसमें प्राज्ञ ईश्वर है। उससे भी ऊपर उठो, तुरीय ब्रह्ममें आओ! फिर बोले कि अच्छा, ब्रह्मको जानलो तो ये ईश्वर हिरण्यगर्भ और विराट् ये तीनों ब्रह्म ही हैं न? और अवस्थाएँ जो हैं, वे इनमें कल्पित हैं, इसलिए ब्रह्मसे जुदा नहीं है। एक अद्वितीय ब्रह्म हो गया! अब बोले—तुम्हारे प्रपंचकी निवृत्ति हुई? निवृत्ति नहीं, बाध हुआ, क्योंकि प्रतीति तो होती रही। तो बोले, कि देखो ब्रह्मज्ञान होनेके बाद ब्रह्मके सिवाय कुछ नहीं है। जब यह बोध हो गया, उसके बाद कारण सृष्टि और प्राज्ञ ईश्वर—ये दोनों वैकुण्ठ हैं, और सूक्ष्म सृष्टि और तैजस हिरण्यगर्भ-द्वारका हैं; और विश्वसृष्टि और वैश्वानर विराट्—ये मथुरा हैं; और सब ब्रह्म हैं। अब इस मथुरा-मण्डलमें जैसे अपना शरीर हो, ऐसे वृन्दावन है, भला! और जैसे शरीरमें अपना हृदय हो, वैसे नित्य निकुञ्ज है, जिसमें भगवान् श्रीराधा-कृष्ण बिहार करते हैं। वनम्—तो नारायण!!! इसका नाम वन है।

भ्रातस्तिष्ठ तले-तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षाटनं,
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।
सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज॥

अरे ओ मेरे प्यारे भाई! तुम्हें रहनेके लिए स्थानकी जरूरत है, तो वृक्षोंके नीचे रह लेना। एक दिन एक वृक्षके नीचे, दूसरे दिन दूसरे वृक्षके नीचे, **तले तले-विटपिनाम्**। खायेंगे क्या? गाँवोंमें भिक्षा मिल जायेगी भाई! पियेंगे क्या? यमुना जल पी लिया करो। **स्वच्छन्दम्** जितनी मौज हो उतना पीना। पहनेंगे क्या? चीर जो रास्तेमें पड़े रहते हैं उन्हींको पहन लेना। सम्मानको समझो विष और अपमानको समझो अमृत और भजन करो राधा-मुरलीमनोहरका। मगर वृन्दावनको मत छोड़ो। और रहनेका बन्दोवस्त हो जाय, खाने-पीनेका बन्दोवस्त हो जाय, और सम्मान भी प्राप्त हो, तब तो फिर कहना क्या!

वृन्दावनं **वनं च, 'तत्कोमल गोभिरञ्जितम्'**—चन्द्रमाने अपनी अनुरागमयी रश्मियोंसे वनका एक-एक पत्ता रँग दिया। माने उन्होंने उत्सवका प्रारम्भ कर दिया। जब किसीके घरमें उत्सव होनेवाला होता है, झण्डा लगाते हैं, पताका लगाते हैं। अगर आदमीमें वित्तशाठ्य हो तो उत्सव नहीं करना चाहिए। **उत्कृष्टः सवात् इति उत्सवः** जो यज्ञसे भी श्रेष्ठ है उसका नाम उत्सव। उत् माने ऊर्ध्वश्रेष्ठ और सव माने यज्ञ। उत्सव करना कब? जब दिलमें कंजूसी न हो।

तो, श्रीकृष्णके रासोत्सवका प्रारम्भ है। कल आपको बताया था, कि चन्द्रमा पूर्वज भी है श्रीकृष्णका और लक्ष्मीका भाई भी है, और अत्रिकी सन्तान होनेके कारण ब्राह्मण भी है। सोमोऽस्माक ब्राह्मणानां **राजा**—उत्सवका प्रारम्भ हो तो किसके हाथसे, ब्राह्मणके हाथसे—मंगल हो गया महाराज! ब्राह्मणकी बड़ी महिमा है। जिसके पूर्वजोंने आदि-कालसे अब-तक वेद-शास्त्र-पुराण-धर्मानुष्ठान-श्राद्ध मूर्तिपूजा, सनातन धर्मकी परम्पराको धारण किया, उसकी रक्षा की, उसकी बड़ी महिमा है। उनके द्वारा मांगलिक कार्य प्रारम्भ होता है। तो, चन्द्रमाने रंग दिया, बोले, हम तो तुम्हारे साथ हैं। अब ब्राह्मण यदि बोल दे कि इस काममें अधर्म नहीं हैं; बोल दे कि यह यज्ञ सम्पन्न हो गया, भले त्रुटिपूर्ण हो तो यजमानके लिए वह सम्पन्न हो जाता है। ब्राह्मण झूठ बोले, तो उसका अपराधी ब्राह्मण होगा, लेकिन यजमानके लिए वह सर्वांगपूर्ण हो गया। न्यूनता दूर हो गयी। श्रीकृष्णके लिए रासका मार्ग खोल दिया चन्द्रमाने। **'वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।**

अब, श्रीकृष्णने संगीत प्रारम्भ किया। यह संगीत भावनाका उद्रेक है। जैसे गंगाजीमें तरंगे उठती हैं वैसे जब हृदयमें प्रेमकी तरंग उठती है तब गाना आता है। कोई डंडा उठाकर कहे गाओ नहीं तो मारेंगे, ऐसे नहीं गाया जाता।

एक सच्ची बात आपको सुनाते हैं—बिहारमें एक बेतिया राज्य था। है तो, क्या कहें, वहाँ तो भस्मावशेष ही है उसका, खण्डहर बचा हुआ है। नारायन! तो वह राजा अपने पास बच्चे रखता था और उनसे कहता था कि हमसे प्रेम करो। दस-पाँच बच्चे, लड़के रहते थे उसके पास। एकबार क्या हुआ—उसने हुकुम दिया कि तुम हमसे प्रेम करो। लड़केने मना कर दिया तो पहले तो कोड़ेसे उसे खूब पिटवाया, फिर बोले कि प्रेम करो! रोने लगा बेचारा, बालक था पन्द्रह सोलह बरसका। उसके बाद उसे अपनी पुलिसको दे दिया कि इसे जेलमें बन्द कर दो। उनकी पुलिस भी थी और उनके यहाँ हमारे पहचानके मजिस्ट्रेट थे। उस मजिस्ट्रेटका हमें नाम भी मालूम है। हमारे गाँवके पासके ही थे और उन्होंने ही ये बात सुनायी भी थी। मुकुट बिहारी सिंह उनका नाम था। नारायण!!! तो मजिस्ट्रेटने हमको सुनाया। हमको तो मालूम था, कि कैसे जेलमें भेजा जाता है। हमने लिखकर पूछा कि किस कानूनके अनुसार इसको जेलमें भेजें? तो राजा बड़ा नाराज हुआ बोले कैसे मजिस्ट्रेट हो तुम, कि हमारे हुकुमसे भी जेलमें नहीं भेज सकते? मजिस्ट्रेट बोले कि भले तुम हमें निकाल दो, लेकिन हम बच्चेको जेलमें नहीं भेजेंगे।

तो, मार-मारकर प्रीति नहीं चाहा जाता। प्रीति हृदयमें उदय होती है, प्रीति हृदयका रस है, प्रीति हृदयका विकास है। प्रीति हृदयका उल्लास है। ज्ञानके उल्लासका नाम प्रीति है। जैसे गंगाजीमें शीतल मन्द-सुगन्ध वायुके चलनेपर झिल-मिल-झिल-मिल रोशनी झलकती है, तरंगें उठती हैं, वैसे ही हृदयमें प्रेमकी तरंग उठती है। प्रेमकी बोलीका नाम संगीत है और प्रेमकी चालका नाम नृत्य है। ये श्रीकृष्ण प्रेमकी मूर्ति हैं!

जगौ कलं—कलंका अर्थ है अस्फुट और मधुर। जैसे-जैसे बच्चे तोतली बोली बोलते हैं तो उनको बोलते हैं कल वाक्य। कल माने होता है मधुर लेकिन अस्फुट। '**कलं तु मधुरास्फुटे।**' कोशकार कहते हैं—कल माने मधुर और अस्फुट। बहुत मीठी बाँसुरी बजायी कृष्णने, लेकिन अस्फुट था स्वर! अस्फुट था माने जो सुने, उसको यह मालूम पड़े कि हमारा ही नाम ले रहे हैं। जैसे ललिते! विशाखे! राधे! चन्द्रावली! एक-एक गोपीको ऐसा मालूम पड़े कि हमारे नामकी रट लगा रहे हैं। ये हुई अस्फुटता और मिठास इतनी कि सबके प्राण खिंच आवें-**जगौ**

कलं। बाँसुरी प्राणोंको खींचती है। क्यों? बोले कि इसका स्वर प्राणसे निकलता है। अगर आप वंशीकी ध्वनि ध्यानसे सुनें या वंशीको ध्यानसे बजावें, तो प्राणायाम करनेकी जरूरत नहीं पड़ती है। प्राणायामसे जो सिद्धि मिलती है वह बाँसुरी बजानेसे अपने आप मिल जाती है। बिना प्राणायामके बाँसुरी बजेगी ही नहीं, वह तो 'पी-पी' हो जायेगी। बाँसुरी 'पी-पी' नहीं होती है, बड़ी सुरीली होती है और लम्बी खिंचती है। वह दिलको खींच लेती है, दिमागको खींच लेती है।

बाँसुरी क्यों बजायी? जैसे ज्ञानमार्गमें शब्दके द्वारा ही प्राणीको ब्रह्मज्ञान होता है, परन्तु वहाँ आत्मा और ब्रह्मकी एकताके बोधक शब्दसे ब्रह्मज्ञान होता है; वैसे ही भगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति भी शब्दसे होती है। दोनों ओर शब्द ही चाहिए; वहाँ जो शब्द है वह सार्थक वाक्य है और यहाँ अस्फुट मधुर ध्वनि है। यहाँ नादात्मक शब्द है। भगवान् नादके द्वारा आकृष्ट करते हैं, इसके लिए पहले वंशीकी कलध्वनि है।

अब देखो भाई! शब्द बोलनेवाला भी कुलीन चाहिए। विश्वास-पात्र चाहिए। तो इसका नाम है वंशी। इससे बढ़कर वंशवाला और कौन होगा? वंश, भी चाहिए, केवल मीठी-मीठी बातोंमें नहीं आजाना चाहिए। वंश भी उत्तम होना चाहिए, कि इसकी बात विश्वास करने योग्य है कि नहीं है। तो भगवान्‌ने इसलिए वंशी ली। इसको हरिवंश बोलते हैं। भगवान्‌का वंश हरिवंश। अच्छा; दूसरी बात देखो इसमें। वंशीको मुरली बोलते हैं। मुर माने तुम्हारे दिलमें जो ऐंठन है, उसको जो छीन ले, वह है मुरली-वंशी। तुम्हारे भीतर अभिमान है—इतराते हुए चलते हैं कि ऐ! हमारी ओर देखना मत, हमारे बराबर भला कौन! जो तुम्हारे दिलमें गाँठ बन गयी है, इस मुरको यह मुरली छीन लेती है। यह मुरासुर है और मुरारी हैं भगवान्। ऐसा बोलते हैं कि दिलकी गाँठ आठ है। अष्ट पाशोंसे यह मुरली मुक्त कर देती है—

घृणा, शंका, भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च वित्तं च अष्टपाशाः प्रकीर्तिताः॥

अष्टौ पाशा मुराभिधाः—'मुर' के फंदे हैं आठ। अरे बाबा, घृणा आ गयी मनमें। ये पाप-पुण्यके जो संस्कार हैं मनमें, उनसे घृणा आती है। शंका आ गयी मनमें—विश्वसनीय है कि नहीं? लज्जा आ गयी मनमें, निन्दाका भाव आ गया मनमें, कुलका अभिमान आ गया, शीलका अभिमान आ गया, धनका अभिमान आ गया। ये क्या हैं? ये जहाँ अपने प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके मिलनेमें बाधा

डालते हैं, वहाँ इनका नाम होता है—संसारका फंदा। ये जो मुड़े हुए तार लगाते हैं, कँटीले तार, इनका आप देखना, भागवतमें वर्णन है। जब भौमासुरपर आक्रमण किया था भगवान् श्रीकृष्णने, तो उस समय मुरपाशसे उसकी वह नगरी घिरी हुई थी, खाईं भी थी और दीवार और बिजली भी थी। सात प्रकारकी जो चहारदीवारी थी, पानीकी अलग, पत्थर की अलग,आगकी अलग, उसमें एक मुड़े हुए तारोंकी थी। उसीको वहाँ मुरपाश बताया है। उसका एक मिनिस्टर था कि उन तारोंको कोई पार न करे। भगवान्ने उसको मारा, तब मुरारी हुए। तो ये जो आठ मुर हैं न, हृदयमें—कुल,शील, धनका अभिमान, घृणा, शंका, भय, लज्जा और जुगुप्सा जो इस मुरको छीन ले, वह है वंशी। दिलमें ईश्वरसे, भगवान्से, श्रीकृष्णसे प्रेम करनेमें जो प्रतिबन्धक हैं, जो विघ्न हैं उनको हरण करनेवाली है मुरली! मुरली माने विघ्नहारिणी।

जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्—भगवान्ने बजाया-कल-**कं सुखं लाति इति कलम्** जो सबको सुख दे उसका नाम कल। कल माने चैन गाँवमें बोलते हैं—आज कल नहीं मिला, थोड़ा कल मिल जाय, तो सब ठीक हो जाय। इसी कलसे कल्य बनता है फिर इसीसे कल्याण बन जाता है। ये कल, कल्य, कल्याण शब्दोंकी परम्परा है। भगवान्ने कल बजाया। कल बजाया माने सुखदान प्रारम्भ किया।

पहले सबको सुखमें सराबोर करदे। बात यह है कि संसारके जीव दुःखी हैं। चाहे बात करें न्याय-शास्त्रकी, चाहे योगशास्त्रकी, चाहे पूर्वमीमांसाकी और चाहे उत्तर-मीमांसाकी, परन्तु हैं दुःखी। इसीलिए जहाँ सुख मिलता है वहाँ इनका आकर्षण होता है। भगवान्ने कहा—सच बोलो! कहनेसे जीव सच बोलनेवाले नहीं हैं। ज्ञान देनेसे भी ये खिंचनेवाले नहीं हैं। वेदान्तका सत्सङ्ग करके लोग लौटते हैं अपने घरमें, तो स्त्रियाँ कहती हैं कुछ ले आये? बोले—लाये तो कुछ नहीं। हम सत्संग करके आये हैं। कहती हैं—वेदान्तका सत्संग लेकर क्या खाओगे? बनेगी रोटी वेदान्तके सत्संगकी? इनके घरमें तो बेईमानीकी रोटी बनती है, वेदान्तकी रोटी थोड़े ही बनेगी! वहाँ तो छलकी रोटी बनती है, कपटकी रोटी बनती है। इनको कितना भी उपदेश करो, पर ये तो महाराज—***मूरख हृदय न चेत जौं गुरु मिलैं बिरंचि सम।*** तब इनको मजा चाहिए, मजा, इनको सुख चाहिए। बोले-लो भाई तुम्हारे लिए नचनियाँ बन जाते हैं, गवैया बन जाते हैं। बजैया बन जाते हैं। लोगोंका मन अपनी ओर खींचनेके लिए आखिरी शस्त्र भी श्रीकृष्णने छोड़ा—'**जगौ कलम्**।'

रामचन्द्रने कहा—लो बाबा धर्म, आओ; नहीं आये। कपिलदेवजीने कहा—योग लो, नहीं आये। जन्मभरमें कपिलको कोई शिष्य भी मिला तो अपनी माता देवहूति। हम भी थे, भागवत सुनाते थे, तो हमारी माँ ही सुनती थी, अकेली। माँ श्रोता और मैं वक्ता। भगवान्ने सोचा कि ये सब ज्ञान लेने नहीं आयेंगे। थोड़ी कहीं उपाधि, उपहित और अवच्छेदकावच्छिन्नकी चर्चा कर दें तो देखो, कई लोगोंको नींद आने लगेगी। न कोई धर्म लेना चाहता है, न योग लेना चाहता है, न ज्ञान लेना चाहता है, सबको चाहिए मजा! तो कृष्णने कहा—इनको मजा दो! दत्तात्रेयने कहा—विरक्त हो जाओ। बोले—कौन जाय उनके पास! वैसे लोग बेटा लेनेके लिए जाते थे दत्तात्रेयके पास। दत्तात्रेयजी! हमको बेटा दे दो! शुकदेवजीके पास थाली बजाते हुए लोग उनके पीछे-पीछे घूमते थे—पागल आया, पागल आया। कृष्णने कहा—अच्छा बाबू, तुमने हमारी नहीं सुनी। अब देखो—हम तुमको नचाते हैं—'**जगौ कलम्**'।

अच्छा अब एक स्त्रीवर्ग जो है, वह माफ करे, बात हम वेदकी कह रहे हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने उद्धृत किया है; क्या? कि स्त्रियोंकी रुचि गायकमें, गानेवालेमें होती है। यह मन्त्र है—**गायन्तं हि स्त्रियः कामयन्ते**। स्त्रियाँ गानेवाले पुरुषको चाहती हैं—स्त्रियोंसे हमारा मतलब स्त्री-शरीरसे नहीं है, स्त्री-मनोवृत्तिवाले पुरुष भी गानेवालोंको चाहते हैं; क्योंकि संगीतकी जो ध्वनि है वह रस लेकर निकलती है। '**जगौ कलम्**'—और कृष्णने तो उसमें मन्त्र मिला दिया! मन्त्र क्या है? 'क्लीं'। एक अक्षरका मन्त्र है 'क्लीं' और कृष्णके पहले हो, तो क्लीं कृष्ण; पीछे हो तो कृष्ण क्लीं; यह भी मन्त्र हैं। **क्लीं कृष्णाय नमः** यह भी मन्त्र है। **क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा** यह भी मन्त्र है। यह क्लीं जो है यह काम बीज है। इसका अर्थ होता है—'क माने सुख, ल माने जीवन;' 'ई' माने शक्ति और 'म' माने प्रेम। जब भगवान्के सामने बोलते हैं—क्लीं, तो उसका अर्थ होता है—तुम मेरे सुख हो, तुम मेरे जीवन-सर्वस्व हो, तुम्हारा ही बल है—भरोसा है, और तुम्हीं मेरे प्यारे हो।

भगवान्ने जब 'कलं' गान करना शुरू किया, तो मानो गोपियोंसे कहा—'गोपियों! तुममें ही मेरा सुख है, तुम्हीं मेरी जीवन-सर्वस्व हो, तुम्ही मेरी शक्ति हो और तुम्हीं मेरी प्यारी हो।' जब भक्त लोग इसका गान करते हैं तो भगवान्को क्लीं बोलते हैं और जब भगवान् ही इसका गायन करते हैं तो भक्त 'क्लीं' हो जाते हैं। अब भला! भगवान् किसीको कहें कि तुम मेरे प्राण, तुम मेरे जीवन, तुम मेरे प्यारे, तुम मेरे सर्वस्व, और उसका दिल पिघल न जाय, पानी-पानी न हो जाय, तो कोई

पत्थर ही होगा! लेकिन आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिए—यह वंशी ध्वनि सुनकरके पत्थर भी समझते थे कि हमको पुकार रहे हैं भगवान् और पिघल जाया करते थे, भला! पत्थर-पाषाण द्रवित हो जाया करते थे वंशी-ध्वनि सुनकर, वृक्षसे महासरण होता था, नदियाँ रुक जाती थीं, और पशु खाना-पीना छोड़ देते थे।

वामदृशां मनोहरम्—कलं वामदृशां क+ल+ई (वामदृशा माने ई)+अम् (वामदृशांमें जो ऊपर बिन्दी है सो)=क्लीं। तो 'जगौ कलं वामदृशां'का अर्थ हुआ कि जहाँ भगवान्ने वंशीमें 'क्लीं'—काम-बीजका स्वर बजाया।

वामदृशां—इसमें जरा गोपियोंका वर्णन है। क्योंकि जहाँ कृष्णका वर्णन हो वहाँ भक्तलोग आ जाते हैं और जहाँ भक्तोंका वर्णन हो वहाँ भगवान् आ जाते हैं। भगवान्को भक्तोंकी कथा प्यारी लगती है; गोपियोंकी चर्चा हो तो श्रीकृष्ण तुरन्त वहाँ आ जायेंगे। ऐसा कहते हैं कि कृष्णका ध्यान करो तो भले ही कृष्ण न आवें लेकिन गोपीका ध्यान करो तो गोपीके चारो और मँड़राते हुआ कृष्ण अवश्य आ जायेंगे। बिना कृष्णके गोपी कहाँ? गोपी होगी तो उसके आसपास कृष्ण जरूर होंगे। कोई देखी गोपी, उसके पीछे-पीछे पाँव दबाकर चल रहे हैं कृष्ण और बगलमें-से गोपीको देख रहे हैं और गोपी भी कनखियोंसे कृष्णकी तरफ ही देख रही है। इसलिए कृष्ण और गोपी दोनों ही वामदृशां हैं।

इसलिए 'वामदृशां'का एक अर्थ यह है कि **वामा दृशः याषाम्** जिनके नेत्र बहुत सुन्दर हों, उनको कहते हैं 'वामदृक्'। स्त्रीके नेत्रमें—यहाँ गोपीके नेत्रमें—सौन्दर्य होना चाहिए। तो स्त्रीके नेत्रमें सौन्दर्य क्या है और गोपीके नेत्रमें सौन्दर्य क्या है? बोले—***अँनियारे दीरघ दृगनि चिती न तरुणि समान*** आँखें नुकीली हों और बड़ी-बड़ी हों, ये तो बहुत-सी स्त्रियोंकी होती हैं। ***वह चितवनि औरै कछु जिहि वश होत सुजान।*** पर गोपीकी चितवन कुछ और ही है—उनका जो केवल श्रीकृष्णकी ओर ही देखना है उसके वशमें होते हैं श्रीकृष्ण। नेत्रोंमें सौन्दर्य क्या है? नेत्रोंमें सौन्दर्य उनकी बनावट नहीं है,—***बावरी वै अँखियाँ जरि जाँय जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।*** जो साँवरे सलोने नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको छोड़कर दूसरेको देखती हैं वें आँखें जल जाँय। ऐसे भक्त लोग बोलते हैं। सुन्दर नेत्रका अर्थ है कि जो परम सुन्दर श्रीकृष्णको निहारते हैं। तो-**वामदृशां**का अर्थ हुआ कि गोपियोंके नेत्र सुन्दर हैं—सुन्दर नेत्रोंवाली गोपियाँ।

अब एक और *अर्थ* देखो—कुटिल आदमी दूसरेको फाँस लेता है। तो

जिसकी आँखें कुटिल हों, जरा टेढ़ी हों, तिरछी चितवन जिसको बोलते हैं, वह है वामदृशा।

अथवा 'वाम' शब्दका अर्थ हैं बाँयी। जिसकी बाँयी आँख ज्यादा चले उसका नाम 'वामदृक्'? यह देखो—जैसे स्त्री-पुरुष बैठे; तो दाहिने पुरुष बैठे और बाँये स्त्री बैठी; तो दाहिनी आँख तो बिचारीकी पहुँचती नहीं है, इसलिए बाँयी आँख जो है वह टेढ़ी होकर पुरुषकी ओर देखती है। अच्छा! **'वामे सुन्दरे दृशो याषां'** वाममें सुन्दर है, अथवा महाराज; **वामदृशां**—किसी काममें स्त्री वाम भागमें बैठे, उसको वामा बोलेंगे-**'वामदृशौ मनोहरम्'**। कहा—नहीं-नहीं, बाबा, जिनकी चाल, ढाल, गति,मति दाहिने कभी नहीं, बायें ही रहे हमेशा। वह है वामदृक्। कहो—बोलो; तो चुप हो जायँ। कहो देखो—तो मुँह फेर लें। कहो कि—चलो तो बैठ जायँ। इसको वाम बोलते हैं। हमेशा ही बाँये महाराज, कभी दाहिने नहीं। तो ऐसी—**वामदृशां मनोहरम्।**

अब देखो—इसका भाव क्या है? भाव इसका यह है कि असलमें आँखको तिरछी होनी चाहिए। क्यों? बोले—सीधे यह संसारकी ओर देखते हैं, जरा टेढ़ी करो तो भगवान् दिखेंगे। वह कैसे—

चरणदास गुरु कृपा कीन्ही, उलटि गयीं मोरि नयन पुतरियाँ।

खुली हुई, जरा आँखको थोड़ी तिरछी कर दो। एक आँख होती है पूर्ण- पूर्णा दष्टि पूर्णिमाके चन्द्रमा जैसी। एक होती है अमाकी दृष्टि—बन्द और एक होती है अधखुली; इसको बहू बोलते हैं—

एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।

अन्तर्लक्ष्यम्—लक्ष्य हो भीतर और दृष्टि हो बाहर। शर्मके मारे खुलकर बाहर न देखती हो और भीतर-भीतर उसीका ध्यान करती हो, यह है बहू- अधखुली आँख। जरा भीतर देखो—कौन है? परम सुन्दर ईश्वर भीतर बैठा हुआ है, ईश्वरसे प्रेम करनेवाली जो गोपी हैं, उनके मनको हरण करनेवाला—मनोहरम्। अब मनको हरण करनेवाला—इसका भाव क्या होता है? मनोहर एक तो सुन्दर होता है और दूसरे होता है मनको हरण करनेवाला। आप देखो—अपने मनसे कोई जब काम किया जाता है तो जिम्मेदारी अपने ऊपर रहती है और बड़ोंके कहनेसे कोई काम किया जाय तो बड़ोंपर चली गयी जिम्मेवारी। तो **'मनोहरम्'**का अर्थ है कि भगवानन्ने सोचा कि गोपियोंके पास यदि मन रहेगा तो वे अपने मनमें सोचेंगी कि हमको पाप लगेगा कि पुण्य लगेगा। तो आओ मन ही भगा लें—

मा भूदासामनुरपि अधर्मसंस्पर्श इत्यनन्तात्मा सुकृता सुकृतनिदानं मन एव आदौ जहार सद्गीत्या।

इनको पाप-पुण्यका बिलकुल स्पर्श नहीं हो, इसलिए पाप-पुण्यके कारण मनको ही भगवान्ने अपनी ओर खींच लिया। भगवान्ने कहा—बाबा; इस रासमें गोपियोंकी जिम्मेवारी नहीं, हमारी जिम्मेवारी है; पाप लगेगा तो हमको, पुण्य लगेगा तो हमको, इसलिए बाँसुरी बजाकर उनके मनको चुरा लिया। मनसे कहा—हे मन! देखो—तुम्हारे बेटे-बेटी आज बड़ा-बड़ा खेल खेलेंगे। मनके बेटेको आप जानते हैं? मनके बेटेका नाम है मनोज। मनोज माने काम होता है। मनके बेटेका नाम है काम, उसकी बेटी हैं बहुत-सी स्मृतियाँ आदि। जैसे घरके बच्चे, बेटे-बेटी, खेल रहे हों आँगनमें और बाप बैठकर देखे तो उसको मजा आयेगा कि नहीं? तो भगवान्ने कहा—हे मनीराम आज आओ देखो—तुम्हारे बेटे-बेटी खूब खेलेंगे, रास करेगें। तुम जरा तमाशा देखो तो! देखो आज तुम्हारा बेटा क्या-क्या गजब ढाता है।

'मनोहरम्'—मनोहरम्का क्या अर्थ है? भगवान्की जो वंशीध्वनि है यह मनके लिए हर है। हर माने होता है शंकर। शंकर करते हैं संहार। तो यह भगवान्की वंशीध्वनि क्या करती है? यह संसारी मनका संहार करती है। जो इसको सुन लेता है उसकी संसार-वासना मिट जाती है। अब यह है कि आजकल पहले परचा बाँटो, गाँवमें प्रचार करो, लाउडस्पीकर लगाओ, पंखा चलाओ, जूतेका बन्दोबस्त करो, फिर कथा कहो। तो केवल पारमार्थिक वृत्तिके लोग आवेंगे, ऐसा तो होगा नहीं, इसमें तो सांसारिक वृत्तिके लोग भी आते हैं; और सांसारिक वृत्तिके लिए यह है भी कथा। संसारसे परमार्थमें ले जानेवाली कथा उनके लिए हित है लेकिन कौन अपनी वासनाको मिटाना चाहता है और कौन अपनी वासनाको पूरी तरह नचाता है? तो भगवान्में प्रेम हो जानेपर पूरी तरह वासना मिट जाती है पर किसकी मिटेगी, जो दिलसे मिटाना चाहता है, उसकी मिटेगी। तो **'मनोहरम्'**—भगवान् बोले—कि अच्छा देखो—तुम्हारे मनमें हम एक वासना देते हैं। वासनाका लाभ पहले मालूम नहीं पड़ता। एककी वासना होवे तो अनेककी वासना मिट जायेगी। अनेककी वासना तो व्यभिचार है। जिन्दगी भर हाथमें वरमाला लिये ही घूमते रहोगे कि किनको पहिरावें? इनको कि इनको? जिन्दगी भर हाथमें वरमाला रहेगी कि हमारा यह प्यारा, कि हमारा यह प्यारा। यह कोई जीवन हुआ, यह कोई ज़िन्दगी हुई? अरे बाबा! एक बार कृष्णके गलेमें वरमाला पहना दो। फिर स्वयंवर तो समाप्त हुआ। यह मनोवैज्ञानिक पद्धति है कि यदि धर्ममें श्रद्धा हो तो जीवनमें

सौ-मेंसे पचास बखेडे निबट जायेंगे जो धर्मके विपरीत है सो सब छूट जायेंगे। और यदि एक भगवद्-वासना उदय हो जाय, यदि यह चुनाव पूरा हो जाय कि हम भगवान्‌को वरते हैं तो सौमें-से निन्यानबे वासनाएँ मिट जायेंगी—

भरी सराय रहीम लखि पथिक आप फिरि जाय।

भर गया न दिल। बोले—भाई अब तो चुन लिया, चुनाव हो गया। तो अगर आपके मनमें सौ वासना हो और मनमें एक वासना कृष्णकी डाल दो तो सौ वासना मिट जायेगी एक कृष्णकी वासना रह जायेगी। यह वासना मिटानेका मार्ग है, यह हृदयकी शुद्धिका मार्ग है। यह अपने जीवनको ब्रह्मसंस्थ करनेका मार्ग है।

१२

गोपियोंने वंशी-ध्वनि सुनी

निशम्यगीतं तदनगवर्द्धनं । व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः

निशम्यगीतं तदनंगवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(भाग० १०.२९.४)

चलो भगवान्‌की लीलाके प्रदेशमें! प्रारम्भ हो रहा है नाटक डंकेकी चोटमें! नगाड़े बज गये! घर-द्वारकी फिकर घण्टे-आध घंटेके लिए भूल जाओ! समाजमें, राजनीतिमें, घर-द्वारमें, परिवारमें, आपका यह कर्त्तव्य है, ऐसा बतानेके लिए भगवान्‌की लीला मैं नहीं सुनाता हूँ, भला! वह आप अपने पुरोहितसे, पण्डितसे, गुरुसे पूछ लेना। और आपको ब्रह्मज्ञान हो जाय, कि आपको समाधि लग जाय, योगाभ्यास करें, इसके लिए भी नहीं। हमारा उद्देश्य है कि यदि आप सुन लेंगे तो आपको लीलाका रस लेनेमें सुविधा होगी। आप इस समय थोड़ी देरके लिए अपने मनको संसारके चिन्तनसे अलग कर लो। बस; एतावान्मात्र प्रयोजन है। आओ वृन्दावन धाममें, भगवद्रसका आस्वादन करें। बिलकुल कर्त्तव्यताका नाम नहीं है इसमें, इसमें उपासितव्य नहीं है, कर्त्तव्य नहीं है, अभ्यासितव्य नहीं है, ज्ञातव्य नहीं है, प्राप्तव्य नहीं है, त्यक्तव्य नहीं है, निर्द्वन्द्व वह सब अपनी निष्ठाके अनुसार घरमें करते रहना। यहाँ तो आप थोड़ी देरके लिए जिस दुनियामें आप रहकर आये हो और जहाँ आपको जाना है, दोनोंसे अपने मनको अलग कर लो। यह अलग करनेका अभ्यास, इतना उपयोगी है कि अपने मनको दुनियासे छुड़ा लेनेकी आदत पड़ जाय। आप अगर इस समय अपने मनको दुनियासे अलग करके कथा सुन सकोगे तो मरते समय भी दुनियाको छोड़कर भगवान्‌में मन लगा सकोगे। आदत पड़ी रहेगी कि कैसे दुनियासे मन अलग किया जाता है।

एक सज्जन आये वृन्दावन। उन्होंने श्रीजीव गोस्वामीजी महाराजको एक पद सुनाया—

सखी हौं श्याम रंग रंगी।
देखि बिकाय गयी वह मूरति सूरति माँहि पगी॥

अरे, सौ संस्कृत इसपर निछावर कर दें भाई! *'देखि बिकाय गयी वह मूरति*

सूरति माँहि पगी ' वह मूर्ति देखकर मैं बिक गयी और उसकी सूरतमें मैं पग गयी। जैसे—रसगुल्ला चासनीमें पग जाता है वैसे मैं उस रसिक शिरोमणि, रसिकेन्द्र चक्रवर्ती, नन्दनन्दन, मुरली-मनोहर, श्याम-सुन्दरके रसमें पग गयी।

एक जू मेरी अखियँन में निशि दिन बसिब रह्यो करि भौन—एक वह श्याम-सुन्दर है जो रातदिन मेरी आँखोंमें रहता है, उसने हमारी आँखको अपना घर बना लिया है।

गाय चरावन जात सुन्यो सखि, सोधौं कन्हैया कौन ?—मैंने सुना है कि वह गाय चराने भी जाता है, सो वह कृष्ण कौन है जो गाय चराने जाता है ? कृष्ण तो चौबीसों घण्टे हमारी आँखोंमें बसता है। बड़ा सुन्दर पद है। श्रीजीव गोस्वामीजीने पूछा—कि मेरे प्यारे भाई, यह पद तुमको कहाँ मिला ? तो उसने बताया कि एक गदाधर भट्ट सज्जन हैं, वे कभी वृन्दावन आये नहीं हैं; उनका बनाया हुआ यह पद है, तो जीव गोस्वामीने एक श्लोक लिखकर भेजा गदाधर भट्टके लिए—

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्मं, अनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम्।
असंभाष्य तद्भावगम्भीरचित्ताम् कुतःश्यामसिन्धौ रसस्यावगाहः॥

पूछा उन्होंने-कि भाई मेरे! तुमने राधिकारानीके युगल चरणारविन्दकी तो आराधना की नहीं और श्रीराधारानीके चरणोंसे चिह्नित वृन्दाटवीका, वृन्दावनका, आश्रय तुमने लिया नहीं और श्रीराधिकाके भावसे जिनका चित्त गम्भीर है, जिनके गम्भीर भाव समुद्रमें प्रेमकी तरंगें उठा करती हैं, उन महापुरुषोंसे बातचीत कभी की नहीं, उनका सत्सङ्ग किया नहीं, फिर, **कुतः श्यामसिन्धौ रसस्यावगाहः**—रसस्वरूप श्याम-सिन्धुमें अवगाहन तुमको कहाँसे प्राप्त हुआ!

इसका अर्थ हुआ कि वृन्दावनका रस प्राप्त करनेके लिए तीन बातें आवश्यक हैं—राधारानीके चरणारविन्दकी आराधना, श्रीवृन्दावनका समाश्रय और तद्भाव भावितान्तःकरण महापुरुषके साथ सत्सङ्ग। ये तीन बातें प्राप्त होवें तब उस रस-स्वरूप श्यामसिन्धुमें अवगाहन प्राप्त हो। विषय बड़ा गम्भीर है। वैसे वेदान्तमें पूर्ण निष्ठावाले हमारे एक महात्मा कहते थे कि जिन लोगोंको '**नेति-नेति**'से निषेधका संस्कार प्रबल हो जाता है और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, उनको सदेहमुक्ति, विदेहमुक्ति, सब प्राप्त हो जाती हैं, लेकिन इस सच्चिदानन्दघन लोकका आविर्भाव किसीके सामने होता है और किसीके सामने नहीं होता है। कहा-क्यों ? तो बोले—उसकी मुक्तिमें तो कोई बाधा नहीं पड़ती, मुक्त तो है, परन्तु यदि पहलेसे उपासनाका संस्कार है तब तो '**नेति-नेति**'से निषेधके अनन्तर स्वरूप-स्थिति

होनेपर इस सच्चिदानन्दघन सगुण ब्रह्मका आविर्भाव तत्त्ववित्के सामने हो जायेगा और यदि उपासनाका संस्कार नहीं है और '**नेति-नेति**'का ही प्रबल संस्कार है तो विज्ञानानन्दघन ब्रह्मसे एक होने पर भी इस रसका आविर्भाव नहीं होता है। इसलिए आओ चलो एकबार वृन्दावन!

रे मन! वृन्दाविपिन निहार।
विपिनराज सीमाके बाहर हरिहूँ को न निहार।

वृन्दावनमें आज क्या हो रहा है नारायण? बोले-शरद ऋतु है और भगवान्के द्वारा रासलीलाके लिए स्वीकृत रात्रियाँ हैं, जिनका दान भगवान्ने गोपियोंको कर दिया है और वे गोपियाँ हैं जिनका प्रणय-समर्पण भगवान्ने स्वीकार कर लिया है। बेला, चमेली खिल रही हैं। श्रीकृष्णने वीक्षण करके अपने लिए आनन्ददायी बनाया। योग-मायाका आश्रय लेकर भगवान्ने विहारका संकल्प किया। आधिदैविक चन्द्रमाका उदय हुआ। जनताका शोक दूर हुआ। सारी सृष्टि आनन्दमें मग्न हो गयी। श्रीकृष्णने देखा-अखण्ड-मण्डल-रमाननाभ, नवकुङ्कुमारुण, कुमुद्वान, चन्द्रमाको और देखा कि चन्द्रमाने '**वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं**' उस वृन्दावन-वनको अपनी कोमल किरणोंसे, कोमल रश्मियोंसे रँग दिया है। श्रीकृष्णने बाँसुरी हाथमें उठायी—'**जगौ कलं वामदृशां मनोहरं**'-बज उठी बाँसुरी-कैसी बाँसुरी? **जगौ कलं**-इसमें एक चीज देते हैं और एक चीज लेते हैं। आप देखो, दानादान बिलकुल बराबर हैं। देते हैं क्या? तो **कलं कं सुखं लाति ददाति**—सुख देते हैं। और छीनते हैं क्या? '**किं मनोहरम्**'-मन छीनते हैं। मनको तो लूट लेते हैं परन्तु सुख देते हैं। '**मनोहरम्**'—कल आपको सुनाया था, मन क्यों हरण कर लिया। अरे, अब मनोजकी क्रीड़ा होनेवाली है, मनीराम तुम यहाँ रहोगे तो मनोज शर्म करेगा, शर्मायेगा। मनोज माने कामदेव। बाप मौजूद हो, तो शर्मायेगा। तो मनका हरण कर लिया। बोले-उसके रूपको थोड़ी देरके लिए अपने पास बन्द कर लिया, मन रहेगा तो उसको पाप-पुण्य लगेगा—

'**माभूदासामनुरपि अधर्मसंस्पर्श इत्यनन्तात्मा**'—खींच लिया मनको। अरे! मन ही तो दुनियाकी गड़बड़ी पैदा करता है, तो मनको ही हर लिया। गोपियोंके शरीररूपी घरमें और हृदयरूप पिटारीमें मनरूपी रत्न जो बहुत छिपाकर रखा हुआ था, उसको श्रीकृष्णने ध्वनिसे हर लिया। शब्दबेधी बाण होते हैं न? बाण तो मारनेके लिए होते हैं, हरण करनेके लिए थोड़े होते हैं? अरे! इनकी तो वंशीध्वनि ऐसी है कि जाय भी और वहाँसे माल-मसाला भी निकालकर ले आवे, और किसीको पता ही न चले। यह महाचोरका अस्त्र है, महाचौरास्त्र इसका नाम है।

आँखसे दिखायी न पड़े, कानके रास्ते हृदयमें घुस जाय। *'मनलेतै देते छटाँक नहीं'*—व्रजमें बोलते हैं, मन तो ले लें, मन माने मनभर वजन ले तो लेते हैं पर देते छटाँक भर भी नहीं। यह भी अर्थ है कि मन ले लेते हैं पर छटाका अंक भी नहीं देते हैं, छटाकी झलक भी नहीं देते। **मनोहरम्**—ये मनोहर हैं और कलं शब्दका अर्थ बताया था-**क्लीं मन्त्र**—कल माने क्लीं। यह श्रीकृष्णका सर्वोपरि मन्त्रराज है, पर आश्चर्य तो यह है कि यह कालीका भी मन्त्र है, सरस्वतीका भी मन्त्र है, कृष्णका भी मन्त्र है, सर्वदेवता इसमें समाये हुए हैं। **कलं=क** और **ल** और **वामदृशां** माने **ई** और वामदृशांमें ऊपर जो बिन्दी है उसको मिलाकर क्लीं-यह मन्त्र बनाया श्रीकृष्णने।

अब आगे चलते हैं। बाँसुरीने क्या आश्चर्य किया! जैसे गुरुलोग कानमें मन्त्र फूँककर लोगोंके हृदयमें आत्माका आविर्भाव कर देते हैं, वैसे श्रीकृष्ण वंशीध्वनिके द्वारा ऐसी दीक्षा देते हैं गोपियोंको कि उनका हृदय कृष्णकी ओर खिंच आवे। यह भी एक प्रकारकी दीक्षा है। तो बोले भाई यह हृदयाणी दीक्षा है। कृष्णका नाम तो **मुक्तजनाकर्षकः**—मुक्तोंको अपनी ओर आ-कृष्ट करनेवाला है। मुक्त लोगोंको तो कोई काम रहता नहीं, स्वर्गमें जाना नहीं, बैकुण्ठसे कोई काम नहीं और लोक-परलोककी कोई इच्छा नहीं, तो भगवान्‌ने कहा कि ये लोग निकम्मे बैठे हैं, जरा हमसे प्रेम ही क्यों नहीं करते हैं। यह तुम्हारी जीभ खाली पड़ी है, बोलो—कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण। सूत्र है वेदान्त दर्शनमें—**मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्**—भगवान् मुक्तोपसृप्य हैं। जब मुक्त हो जाते हैं, जब कुछ पाना शेष नहीं रहता है, तो कहते हैं-आओ-शर्बत ही पियें। यह साँवरा शर्बत है, यह रसवत् है। जब न कुछ लेना, न कुछ देना, स्वर्ग जानेके लिए यज्ञ नहीं करना, समाधि लगानेके लिए योग नहीं करना, अज्ञान मिटानेके लिए ब्रह्माकार वृत्ति नहीं करना, कुछ कर्त्तव्य शेष है नहीं तब आओ आओ! नन्दके लाड़लेके साथ खेलें।

मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात्—भाई! श्रुतिमें साफ कहा है कि मुक्त लोग भी भगवान्‌का भजन करते हैं। नृसिंह तापिनीमें साफ आया है—**यं सर्वे नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च**—मुमुक्षु भी भगवान्‌को नमस्कार करें और ब्रह्मवादी भी। शंकराचार्यने भाष्य किया है—**मुक्ताऽपि लीलया निग्रहं कृत्वा भजन्ते**—मुक्तलोग भी भजन करते हैं। तो ये श्रीकृष्ण मुक्तोंके प्यारे हैं। असलमें, बद्ध लोग भला क्या भजन करेंगे। पैसेके साथ बँधे है, भोगके साथ बँधे हैं, स्त्री-पुत्र-धनके साथ बँधे हैं, खुद तो उनके कैदी हैं हाथमें हथकड़ी पड़ी हैं, पाँवमें बेड़ी पड़ी हैं, जेलखानेमें बन्द, वे भगवान्‌की क्या सेवा करेंगे? सेवा तो असलमें मुक्त लोग ही करते हैं।

अब आओ—

निशम्यगीतं तदनङ्गवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

निशम्यगीतं तदनङ्गवर्द्धनम्—भगवान्‌ने स्वयं सीधे गोपीके कानमें मन्त्र नहीं फूँका, बाँसुरी द्वारा मन्त्र फूँका। बीचमें वंशीको रखा, यह मर्यादा है; यही गुरु है। माने भगवान् सीधे जीवको अपनी ओर नहीं बुलाते, गुरुके द्वारा बुलाते हैं। भगवान्‌ने भी गोपियोंको बुलाया। तो बीचमें एक प्रतिनिधि रखा; कौन? वंशी। यह वंशी है तो गीत क्या है? आप जानते हैं कि हृदयमें जो मधुर भावका उदय होता है, उसको अभिव्यक्ति देनेवाली जो स्वरताल-युक्त शब्दराशि है उसको गीत कहते हैं। कितना प्रेम है हृदयमें, यह गीतके द्वारा भगवान् प्रकट कर रहे हैं—**गीतम्।** एक जगह भागवतमें लिखा है कि जब बाँसुरी लेकर श्रीकृष्ण उसमें अपना स्वर फूँकते हैं तो— जातहर्ष **उपरम्भति विश्वम्।** वंशीकी ध्वनिसे मानो सम्पूर्ण विश्वका आलिंगन करते हैं। हाथोंसे आलिंगन नहीं करते हैं, अपनी वंशी-ध्वनिसे सम्पूर्ण विश्वका आलिंगन करते हैं। लोगोंको वंशी-ध्वनिका मधुर-मधुर स्पर्श कानमें त्वचामें, हृदयमें होता है।

'वृहद् ब्रह्म संहिता' में वंशीध्वनिका विलक्षण वर्णन किया है। कहते हैं—जिसके कानमें वंशीध्वनि पड़ती है, उसकी सब इन्द्रियाँ अपना स्थान छोड़कर कानमें चली जाती हैं। माने आँख अपने गोलकमें-से नहीं देखती है, वह कानसे मिल जाती है, देखती नहीं, जीभ स्वाद नहीं लेती, त्वचा छूती नहीं और हृदय कलेजेके पास नहीं रहता, वहाँसे चलकर कानमें आजाता है। हृदय वंशी सुनता है, नासिका वंशी सूँघती है, जिह्वा वंशीका रस लेती है, त्वचा वंशीका स्पर्श प्राप्त करती है और नेत्र वंशीध्वनिका रूप देखते हैं। ऐसी तन्मयता, ऐसी तन्मयता होती है कि केवल लोकमें ही नहीं कि मोर नाचने लगे वंशी ध्वनि सुनकर, कोयलें कुहुक-कुहुक करने लगीं और वृक्षोंसे मधुक्षरण होने लगा, नदियोंका बहना बन्द हो गया, पाषाण द्रवित हो गये, गायोंका घास चरना बन्द हो गया, देवियोंके अपने वस्त्रकी विस्मृति हो गयी। ये केवल बाहरी बात ही नहीं, यह हुआ कि जैसे-गोपियोंने वंशीध्वनि सुनकर वृन्दावन छोड़ा वैसे श्रीकृष्णकी वंशी ध्वनि सुनकरके सारी इन्द्रियाँ अपना स्थान छोड़ देती हैं, अपना विषय छोड़ देती हैं और हृदय अपना स्थान छोड़ देता है। शब्दमय हो जाती है सृष्टि, सृष्टि वाङ्मयी, शब्दमयी हो जाती है। नारायण! तब गन्ध नहीं, रस नहीं, रूप नहीं, स्पर्श नहीं, केवल शब्द, शब्द—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थं भावेन प्रवृत्तिः जगतो यतः॥

भगवान्‌की वंशीध्वनिसे निकला हुआ जो शब्द है, वह लोगोंके दिलसे मिलकर प्राणसे मिल जाता है। वंशीध्वनिमें तो प्राण है न!

कुछ वाद्य ऐसे होते हैं कि डण्डा मारनेपर बजते हैं, जैसे नगाड़ा, तबला हाथसे पीटो, मृदङ्ग-हाथसे पीटो, पीटनेपर बजते हैं। काँसको काँसे आपसमें टकराओ तो झाँझ बजती है। सितारको किन-किन-किन करो तब बजता है। सारंगीको रगड़ो तब बजती है। ये तो महाराज! पीटपीटकर बजनेवाले सब बाजे हैं। मगर बाँसुरी साँससे बजती है और अपने प्राणोंसे बजायी जाती है। वंशी तो वह वाद्य है जिसमें श्रीकृष्ण अपना प्राण उड़ेलकर दूसरोंके कानमें डाल देते हैं। क्या अर्थ हुआ? कि हमारी प्रेयसी! अब ये प्राण चाहते हैं कि तुम्हारे शरीरमें रहें। ये प्राण तुम्हारे शरीरमें बसना चाहते हैं। बाँसुरीके द्वारा निकल करके वे करुणारुण लोचन, करुणावरुणालय भगवान् अपने भक्तोंके प्रेमके वशीभूत हो करके अपने प्राणको अपने भक्तोंके हृदयमें भर रहे हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने एक स्थानपर लिखा—अमृत तीन प्रकारका होता है। एक तो प्राणीभोग्य अमृत होता है, जैसे-जौमें, गेंहूँमें, अंगूरमें, घासमें, फलमें, फूलमें, जो अमृत होता है, वह चन्द्रमासे बरसकर आता है; चन्द्रामृत यह प्राणी भोग्य अमृत है। एक-दूसरा अमृत होता है—देव-भोग्य। वह समुद्र-मन्थनसे निकला है, स्वर्गमें रहता है। एक तीसरा अमृत होता है भगवदीय, भगवत्-भोग्य-अमृत, जिसको केवल भगवान् भोगते हैं। भगवान् किस अमृतका भोग करते हैं? अगर भगवान् किसी दूसरेका भोग करते हैं, तो वही भगवान्‌से मीठा हो गया, परन्तु भगवान्‌से मीठा कुछ है नहीं-**रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन** —परमात्मासे बढ़कर तो कोई आनन्द, रस है नहीं। अब वह परमात्मा किस रसका भोग करेगा? भगवान्‌ने कहा—हमारे लिए हमसे बढ़कर तो कोई रस है नहीं और हम भोग नहीं करेंगे तो लीला बनेगी नहीं। इसलिए अपने हृदयमें विद्यमान स्वरूपभूत जो रस है, आनन्द-रस, उसको भगवान्‌ने बाँसुरीके द्वारा गोपियोंके कानमें भर दिया और कानके द्वारा उनका हृदय भर गया; जब वे आनन्द रससे पूर्ण हो गयीं तब वह रस उनके मुखसे छलका, उनकी आँखमें-से छलका, उनके कपोलोंसे छलका, उनका हृदय आनन्दसे भर गया। उनके रोम-रोमसे आनन्दके फुहारे छूटने लगे-बौछारें उठने लगीं। तब भगवान्‌ने कहा कि यह आनन्द हमारा भोग्य है। भगवद्-भोग्य आनन्द स्वयं भगवान् हैं। तो पहले भगवान्‌ने बाँसुरीके द्वारा अपने आनन्दको गोपियोंके जीवनमें भर दिया और फिर यह रासलीला की।

निशम्यगीतं तदनङ्गवर्धनम्

ओङ्कारार्थमुदीययन् विजयते वंशीनिनादः शिशोः।
ध्यानं वलात् परमहंसकुलस्यभिन्दन् निन्दन् सुधामधुरिमाणमधीरधर्मा॥

ओंकारका समूचा अर्थ निगल लिया बाँसुरीने और सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म हो गया। छूट गया ध्यान सनकादिकोंका! छूट गया अमृत देवताओंका! वंशीने कहा- अब दुनियामें कामका राज्य रहेगा। क्यों, अब भला क्या बात है कि कामका राज्य रहेगा? बोले—कि जब लोग विषयको चाहते हैं तब कामका राज्य गलत होता है और जब लोग भगवान्‌को विषयवस्तु बना लेते हैं, तब कामका राज्य सही होता है। विषयके भेदसे कामना निकृष्ट है और विषयके भेदसे कामना उत्कृष्ट है। कामनाके विषय भगवान् हैं तो कामना उत्कृष्ट है। बोले—हम भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेम करते हैं। यह विषयानन्द नहीं, ब्रह्मानन्द है, ब्रह्मानन्द नहीं भजनानन्द है; तुमको, प्रेमानन्द मिलेगा!

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाःस यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

अब वह वंशीध्वनि श्रीकृष्णके हृदयकी वेदनाके साथ, श्रीकृष्णके हृदयके माधुर्यके साथ, श्रीकृष्णके हृदयमें जो आनन्द है, रस है, प्रेम है उसके साथ—वह स्फुट और मधुर कलध्वनि गोपियोंके कर्ण-कुहरसे उनके हृदयमें प्रविष्ट हुई। **निशम्य**-गोपियोंने सुन लिया! कैसी ध्वनि? **तदनङ्गवर्द्धनम्-तद्गीतं अनङ्ग वर्द्धनम्' 'अनङ्गवर्द्धनं तद् गीतं निशम्य'**। बोले—बाबा! यह क्या परमार्थकी बात है? अनङ्ग वर्द्धन माने होता है कामको बढ़ानेवाला। सीधे-सीधे यही उसका अर्थ है। अर्थ कभी-कभी बदलते हैं, पर बदलते तब हैं जब पण्डित लोग चाहते हैं, क्योंकि वैयाकरण लोग व्युत्पत्तिके प्रेमी होते हैं। जो भक्त लोग होते हैं, भागवत लोग होते हैं, वे भावके प्रेमी होते हैं। तो, **'अनङ्गवर्द्धनं'**—अनङ्ग माने काम, बोले—भाई! ये कामकी इतनी क्या महिमा है? भगवान्‌की वंशीध्वनि काम बढ़ाती है? अरे! बाबा, तुमको काम तो दिखता है, यह क्यों नहीं दिखता कि किसके लिए काम बढ़ाती है? किसके लिए? वैसे तो श्रुतिमें **आत्मकामः** शब्दका भी प्रयोग होता है, पर्याप्त काम शब्दका भी प्रयोग होता है। सृष्टिके पूर्व जब महाप्रलयमें परमात्मा था केवल, मायासहित, वहाँ वर्णन आता है—

कामस्तदग्र समवर्तत अधिमनसः, कामस्तदग्रे समवर्तत—काम था वहाँ भी, किस कामको बुरा मानते हो? बोले लोकमें जो धर्मके विपरीत काम हो उसको बुरा मानते हैं क्योंकि लोकमें धर्म और अधर्मका विभाग है। तो क्या परमेश्वरमें धर्म और अधर्मका विभाग है? जैसे—दिन और रातका भेद तो धरतीपर

है पर सूर्यमें नहीं है; **विचार्यमाणे तरणाविवाहिनी**—परमेश्वरमें बन्ध और मोक्षका विभाग नहीं है, परमेश्वरमें धर्म और अधर्मका विभाग नहीं है,ये तो लौकिक **हैं— मानुषेसु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्तत**। अरे बाबा! सौ-सौ जन्मके जब पुण्य इकट्ठे होते हैं तब श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी इच्छा हृदयमें उत्पन्न होती है; उसीको काम बोलते हैं।

बोले नहीं-नहीं, हमको काम नहीं चाहिए। एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा—महराज, हम तो ब्रह्म हैं, हमको ब्रह्माकार वृत्तिकी क्या जरूरत है? तो बोले—कि बेटा अब ब्याह कर लो! क्योंकि जब ब्रह्माकार वृत्तिकी जरूरत तुमको नहीं है और कुछ-न-कुछ किये बिना मानोगे नहीं, दुकान करोगे, नौकरी करोगे, तो ब्याह ही कर लो! तो, यदि तुमको कृष्ण-काम नहीं चाहिए, प्यारे कृष्णकी कामना तुमको नहीं चाहिए,तो दुनियाका काम चाहिए। अरे, रुपयेकी वासना तुम्हारे मनमें, क्रोधकी वासना तुम्हारे मनमें; भोगकी वासना तुम्हारे मनमें, कुटुम्बकी वासना तुम्हारे मनमें, देहकी वासना तुम्हारे मनमें, स्त्री, पुत्र, ऊँची कुरसी, प्रतिष्ठाकी वासना तुम्हारे मनमें, सुख-सुविधाकी कामना तुम्हारे मनमें, और जब श्रीकृष्ण-विषयक कामनाकी चर्चा आवे, तो कह दो कि हमको काम नहीं चाहिए? इसका मतलब हुआ कि हम संसारकी कामनाको अपने हृदयमें रखना चाहते हैं और भगवत्-चर्चाकी कामनाको नहीं रखना चाहते। अरे, यह तो वह काम है, भगवत्-काम, जो संसारके कामको मिटा दे! जो उसको चाहेगा वह दुनियाकी चीजको कैसे चाहेगा? जिसके दिलमें वह बस जायेगा, जो उसको पसन्द कर लेगा कि हम उससे ब्याह करेंगे, उसकी रुचि दुनियामें किसीसे ब्याह करनेकी कैसे होगी? वह तो सम्पूर्ण वासनाओंको मिटानेवाली वासना है। इसलिए श्रीकृष्णकी वंशीने गोपियोंके हृदयमें जिस कामका उदय किया वह काम, संसारी काम नहीं, संसारी कामनाको मिटानेवाला काम है, उससे संसारी कामना मिटती है। चलो श्रीकृष्णकी लीलामें, वंशीध्वनि सुनो—**निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्** 'तदनङ्गवर्धनम्' माने तत्सम्बन्धी अनङ्गवर्द्धन **'तत्सम्बन्धिनः अनङ्गस्य वर्द्धनम्, तत्सम्बन्धिनं अनङ्गं वर्द्धयति** इति **तदनङ्गवर्द्धनम्'** यह वंशीध्वनि कृष्ण सम्बन्धी जो प्रेम है उसको बढ़ानेवाली है।

उद्धवजीने प्रश्न किया—कृष्ण! गोपियोंमें क्या विशेषता है जिसके कारण तुम उन्हें चाहते हो? देखो—उद्धवजीने गान किया—

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा, भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

श्रुतिभिर्विमृग्याम्—अभी वेद जिसको ढूँढते हैं। आज ही मैं पढ़ रहा था

पद्मपुराणमें उग्रतपा और श्रुततपा बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि अष्टादशाक्षर मन्त्रका लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें जप करके जन्म-जन्मान्तरमें गोपी-भावको प्राप्त होते हैं। जाबालि ऋषि गये और उन्होंने देखा कि एकान्त जंगलमें सरोवरके तटपर एक देवी ज्योतिर्मयी तपस्या कर रही है। दो कल्पतक उन्होंने प्रतीक्षा की कि यह तपस्या करके उठे। जब उठी तो बड़ी दुःखी, आँखसे आँसू गिर रहे, जाकर प्रणाम किया, बोले—देवी! मैं बहुत दिनोंसे प्रतीक्षा कर रहा हूँ; आप कौन हैं, क्या कर रही हैं? पद्मपुराणमें यह कथा है। तो बोलीं मैं ब्रह्मविद्या हूँ, मैं श्रीकृष्ण-रस चाहती हूँ; नहीं मिला, तो अब इस सरोवरमें प्रवेश करूँगी। तो उन्होंने कहा देवि! प्रवेश करनेके पहले हमको वह उपासना बताती जाओ जो तुम कर रही थी। ऐसी श्रीकृष्ण-रति ऐसा श्रीकृष्ण-रस! देवीने उनको मन्त्र—बताया, काम-बीजपूर्वक गोपीजनवल्लभ मन्त्रका उपदेश किया। देवीने कहा—मैं इस मन्त्रका जप करती हूँ और यह ध्यान करती हूँ—

स्मरेत वृन्दावने रम्ये, गोपगोभिरावृतम्। गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं—

गोपियाँ प्रेम कर रही हैं, चाह रही हैं, दौड़ रही हैं।

एक राजाके बेटा हुआ। बारह वर्षका होनेपर ब्राह्मणोंके द्वारा उसको श्रीकृष्ण-दीक्षा दिलवायी गयी। श्रीकृष्णकी मूर्ति सामने रखी। पूजा करने लगा। पूजा करते-करते उस श्रीकृष्ण-मूर्तिमें-से भगवान् निकले—दोनों हाथसे पकड़कर उसको हृदयसे लगा लिया। कृष्णने कहा—क्या चाहिए? राजकुमार बोला—जब हृदयसे तुमने लगा लिया तो मैं अब पुरुष न बनूँ। अब मैं गोपी हो जाऊँ। नारायण!

'व्रजस्त्रियः'—शुकदेवजी महाराज पूर्वकल्पमें व्यासके मायादेवीसे प्रकट हुए। प्रकट होते ही जन्मसे ही कृष्ण,कृष्ण,कृष्ण,कृष्ण कहें और व्याकुल होकर कृष्णके लिए निकल पड़े। व्यासने बहुत मनाया, नहीं माने, चले गये; घनघोर जंगलमें जाकर कामबीजपूर्वक क्लीं कृष्ण क्लीं, क्लीं कृष्ण क्लीं—ज्यों मन्त्रका जप प्रारम्भ किया—भगवान् प्रकट हो गये। बोले—महाराज! आप अकेले क्यों? हमको तो साँवरे-साँवरे रूपके साथ वह गोरा रूप भी चाहिए। भगवान् बोले—शुकदेवजी, ऐसे नहीं बनेगा। वह रूप तो तब दिखेगा जब तुम शुकी बन जाओ। शुकी गोपी इनका नाम है। फिर ये व्रजमें किस-किस नामसे प्रकट हुए। यह सब पद्मपुराणमें है। गीताप्रेससे हिन्दीमें जो पद्मपुराण छपा है, उसके पाताल-खण्डका अधिकांश छोड़ दिया है, भला! उसमें ते कथाएँ नहीं छापीं। वैसे पद्मपुराण जहाँ-जहाँसे संस्कृतमें छपा है, आनन्द आश्रमसे, कलकत्तासे, हमारे पास कितनी तरहके

पद्मपुराण हैं। उन सबमें हैं। यह पद्मपुराणके पाताल खण्डमें कथा आती है। तो संसारकी कामनासे भगवत् कामना जगे।

प्रेमैव गोपरामाणां कामयित्यगमत्प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येनं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

गोपियोंके हृदयमें प्रेम है। वे श्रीकृष्णको सुख देना चाहती हैं। एकने श्रीराधारानीसे पूछा—तुम श्रीकृष्णपर रुष्ट क्यों होती हो? रूठती क्यों हो? श्रीराधारानीने कहा—मैं जानती हूँ कि मेरे बिना उनको बहुत तकलीफ होती है, मेरे बिना वे सुखी नहीं हो सकते, मैं उनके प्रेमको जानती हूँ। लोग उनको घेर लेते हैं; रोक लेते हैं। कभी यशोदा मैया रोक लेती हैं, कभी ग्वालबाल रोक लेते हैं, कभी ग्वालिनी रोक लेती हैं। तब वे बिना मनके उनके साथ रुक जाते हैं और दुःख पाते हैं। मैं तो उनसे यूँ रूठती हूँ, उनके ऊपर नाराज होती हूँ, कि वे लोगोंका लिहाज करके स्वयं अपने सुखसे वंचित हो जाते हैं। उनके आनेसे हमको सुख मिलेगा, इसलिए हम नाराज नहीं होती हैं; हमारे पास न आनेसे जो उनको भीतर-ही-भीतर दुःख होता है, उस दुःखपर मैं नाराज होती हूँ कि क्यों नहीं आये मेरे पास।

प्रेमैव गोपरामाणां—गोपियोंका प्रेम ही संसारमें कामके नामसे प्रसिद्ध है, क्योंकि गोपियोंने अपने प्रेमका विज्ञापन नहीं किया। जिस समय यह बात कही जाती है कि हमारा प्रेम है, तो प्रेम जूठा हो जाता है। उसको बाहरकी हवा लगती है और लड़खड़ाता है। प्रेम सुख देनेके लिए होता है—

इत्युद्धवादयोऽप्येनं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः।

उद्धवजीको भगवान् बताते हैं—अरे, उद्धव! तुमको वृन्दावनकी बात क्या सुनाऊँ—

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मय्यैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्द्धत्यक्ताः स्वयमङ्गतासां, क्षणा मया कल्प समाबभूवुः॥

मेरे साथ गोपियोंने एक कल्पकी रातको क्षणके समान बिताया और बिना गोपियोंके मेरे लिए एक क्षण कल्पके बराबर हो गया।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूप विदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥

वे हजारों-लाखों गोपियाँ मुझे जानती नहीं हैं कि मैं कौन हूँ; मुझे अपना प्यारा समझती थीं। वे मेरे स्वरूपको प्राप्त हुईं। **मत्कामाः** उनके मनमें कामना थी, चाहती थी परन्तु चाह किसके लिए थी? चाह उसके लिए थी जहाँ जाकरके चाह

मटियामेट हो जाती है, जहाँ चाह अपनी नहीं रहती, उसकी रहती है; उसके पास चाह गयी, जहाँ चाह अपनी नहीं रहती उसकी हो गयी। चाह भी उसकी हो गयी। मैं तो उसकी हो गयी, चाह भी उसकी हो गयी! ठगे गये—पहले तो अपनी चाह लेकर गये थे उसके पास कि मेरी चाह पूरी होगी; वहाँ मैं तो रह गयी, चाह भी उसकी हो गयी, अब उसकी चाह चलेगी, हमारी चाह नहीं चलेगी! वर्णन आता है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे किञ्चिन्निगूढः प्रेमभाजनम्॥

श्रीकृष्ण कहते हैं अब जो गोपियाँ अपने शरीरका शृंगार करती हैं, वह अपने सुखके लिए नहीं, अपने सौन्दर्यके लिए नहीं। वे कहती हैं यह कृष्णका शरीर है, इसको रूखा कैसे होने दें? चिकनाकर रखना चाहिए। ये कृष्णके बाल हैं! इनको रूखा कैसे होने दें, चिकना रखना चाहिए। यह कृष्णका शरीर है, स्वस्थ रखना चाहिए। ये कृष्णके कपड़े हैं, मैले कैसे होंगे?

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।

गोपी अपने शरीरकी सेवा करती है, लेकिन शरीरको अपना समझ करके नहीं, कृष्णका समझकर मेरा समझकर करती हैं।

ताभ्यः परं न मे किञ्चिन्निगूढः प्रेमभाजनम्॥

जिस गोपीने अपने जीवनको, अपने प्राणको, अपने हृदयको, अपने जीनेको, अपने मरनेको, अपने सर्वस्वको मेरा कर दिया, उस गोपीके कामका नाम कोई काम है? वह प्रेम है। श्रीकृष्णने चीरहरणके प्रसंगमें स्वयं कहा—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

'दुनियामें किसीके प्रति कामना करो तो उसमेंसे बीज निकलेगा; परन्तु यदि हमारे-(कृष्णके)प्रति कामना करो, तो उसमें-से बीज नहीं निकलेगा' तो, यह भगवान्‌की वंशी श्रीकृष्णके प्रति काम, कृष्णके प्रति मिलनकी आकांक्षा जगाने वाली है। सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई। यह आगे बतायेंगे।

श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका अभिसार

(कृष्ण गृहीतमानसा:......स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डला:)

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥

(भाग० १०.२९.४)

'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्'—श्यामसुन्दरकी बाँसुरी बजी। जैसे कोई तत्त्ववित् महात्मा तत्त्वका उपदेश करनेके लिए उन्मुख हो और उसकी ध्वनि सुन करके जिज्ञासु लोग दौड़ आवें, वैसे ईश्वर अपने भक्तजनोंको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए इस वंशीध्वनिका प्रयोग करता है। एक बात आपको सुनावें—वंशीध्वनि और वेदध्वनि। शास्त्रमें लिखा है कि जब ईश्वर प्रलयके समय सो जाता है तब उसके नाककी जो घर्घराहट है वह वेद-ध्वनि है। कहा—उसमें अर्थ कहाँसे आया? अरे भाई! ईश्वरके नाककी घर्घराहट भी अर्थरूप होती है। कहा—नहीं, नहीं, अपने भावके अनुसार महात्मा लोग उस ध्वनिमें-से संकेत निकाल लेते हैं—**'निःश्वसितमस्यवेदाः। अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्-यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।'** और वंशीध्वनि? यह तो जाग्रत् अवस्थामें जान-बूझकर कि लोग हमारी ओर सम्मोहित हों, आकृष्ट हों, जीवोंको अपनी ओर खींचनेके लिए ईश्वरका मधुर-मधुर आनन्दसे ओत-प्रोत हृदयाकर्षणरूप बुलावा है आओ-आओ, आनन्द-रसका पान करो, आनन्द-रसमें स्नान करो, आनन्दरसके समुद्रमें अवगाहन करो।

यह वेणुध्वनि क्या है? वेदमें एक मन्त्र आता है—सोमका वर्णन है उसमें। सोम माने चन्द्रमा भी होता है और, सोम माने वह सोम-रस भी होता है जिसका विद्वान् लोग पान करते थे और सोम माने सूर्य भी होता है और सोम माने आत्मा भी होता है। निरुक्तकारने वहाँ सोम शब्दका दो अर्थ किया है—एक सूर्य और एक आत्मा। मन्त्र है—**'सोमः पवते जनिता मतीनां।'** प्रकाशात्मक किरणोंको उत्पन्न करनेवाला जैसे सूर्य है, वैसे प्रकाशात्मक वृत्तियोंको प्रकट करनेवाला आत्मा है; वही इन्द्रियोंका जनयिता है, इन्द्रियोंका सविता है, वही पृथिवीका सविता है, वही अग्निका सविता है, वही इन्द्रका सविता है और वही विष्णुका सविता है; इतनी

बात उस मन्त्रमें कही गयी है। विष्णु नाममें है—**'इन्द्रस्याथ विष्णोः जनिता।'** सोम माने आत्मा।

अब देखो, सोम माने है श्रीकृष्णचन्द्र। चन्द्रवंशमें उत्पन्न होनेके कारण श्रीकृष्णचन्द्र आह्लादमय रश्मियोंवाले, आह्लादमय किरणोंवाले, हैं। ये यदि वंशीध्वनि न करें, तो ये गोपियाँ क्या करेंगी, मालूम है? कोई गाय दुहेगी, कोई हलुआ पकावेगी, कोई बच्चेको दूध पिलावेगी, कोई रसोई परोसेगी, यही काम करेगी न? पर जब कृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तो कहते हैं—लो इधर घरके कामसे संन्यास लो, अर्थसे, धर्मसे, कामसे, मोक्षसे, संन्यास लेकर आओ हमारी ओर। यदि भगवान्, यदि परमेश्वर, यदि वह तत्-पद-वाच्यार्थ ईश्वर कृपा करके (योगमाया-मुपाश्रितः) बाँसुरी बजाकर, अपने आनन्दके लिए ललचाकर, अपनी ओर न बुलावे, तो भला संसारका अर्थ छोड़कर, भोग छोड़कर, धर्म छोड़कर, मोक्ष छोड़कर कौन दौड़ेगा परमात्माकी प्राप्तिके लिए? यह तो भगवत्कृपा है, यह जो वंशी है भगवत्कृपाकी ध्वनि है, भगवत्-प्रेमकी ध्वनि उनके प्राणकी ध्वनि है, उनके हृदयकी ध्वनि है, जिससे संसारमें अटके हुए जीवोंको, संसारमें भटके हुए जीवोंको, बाँसुरी बजा-बजाकरके, नाच-नाचकर, गा-गाकर, अपनी ओर आकर्षण करते हैं। इस बातकी वेदान्तके उच्च ग्रन्थोंमें—दोनों तरहके ग्रन्थोंमें, जो उच्चकोटिके युक्ति, तर्क और पाण्डित्य-प्रधान हैं उनमें भी और जो अवधूतों और फक्कड़ोंके वचन हैं उनमें भी संकेत किया गया है। अवधूत-गीतामें कहा—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।

श्रीदत्तात्रेय अवधूत अपनी अवधूत-गीतामें बोलते हैं कि ईश्वरकी कृपासे अद्वैतवासना होती है, माने जबतक भगवान् स्वयं नहीं बुलावेगा, तबतक उसकी ओर कौन जावे? यदि अद्वैतकी ओर जा रहा है तो यह उसीका प्रणयनिमन्त्रण है। खण्डन-खण्ड-खाद्यमें भी, यही श्लोक है—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।

खण्डन-खण्ड-खाद्य वेदान्तका उच्च कोटिका तर्कयुक्त, प्रमाणयुक्त, युक्तियुक्त, अनिर्वचनीयताका प्रतिपादक दर्शनशास्त्रका उच्च कोटिका ग्रन्थ है। उसमें भी यही बात है कि ईश्वर जब अपनी ओर बुलाता है, पकड़ता है, कहता है कि आओ हमारी तरफ, तभी जीव अद्वैत तत्त्वकी ओर चलता है; नहीं तो दुनियामें हजारों लोग मर रहे हैं—जी रहे हैं। हजारों लोगोंमें-से कोई एक इधर चलता है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यह जो वंशीवादन है, यह उसकी कृपा है, प्रेमरसकी वर्षा है, आकर्षण है,

विज्ञापन है; यह चुम्बक है अपनी ओर खींचनेके लिए! वह वंशीध्वनि सुनी। गोपियोंने वह वंशीध्वनि सुनी। कैसी है वह? तो बोले—'**मनोहरमपि अनङ्गवर्द्धनं, मनोहरमपि मनोजवर्द्धनम्**'।

एक ओर तो वह वेणु-नाद मनका हरण करता है और दूसरी ओर मनोजको बढ़ाता है। यह वासना जिसको बोलते हैं, वह वासना यदि संसारकी है तो बाँधनेवाली है और यदि ईश्वरकी है तो छुड़ानेवाली है। संसार-वासना बन्धनका हेतु है और ईश्वरकी प्राप्तिकी वासना मोक्षका हेतु है।

यतो यतो विरज्यते विमुच्यते ततः ततः।

एक प्रेम वह है जो संसारसे छुड़ा दे और एक प्रेम वह है जो संसारमें बाँध दे। भगवान् जो प्रेम देता है वह संसारमें बाँधनेवाला प्रेम नहीं, संसारसे छुड़ानेवाला होता है। अगर यह ख्याल न हो कि वैकुण्ठमें लक्ष्मीजी सेविका हैं! पाँव दबाती हैं, शेषनाग हैं, क्षीरसागर है और जगदीश्वर मिलेंगे, तो कौन वैकुण्ठ जानेकी इच्छा करेगा? घर-द्वार छोड़कर वैकुण्ठ जानेकी इच्छा क्यों हो? स्वर्गसे वैराग्य किसको हो? यदि अपने भीतर सुख प्राप्त करनेकी लालसा न हो तो बाहर छोड़ करके आँख बन्द करके भीतर कौन देखे?

तो ये भगवान् बुलाते हैं। **अनङ्गवर्द्धनम्**—ईश्वर-विषयक कामको बढ़ाती है यह वंशीध्वनि। कामका नाम सुनकर घबड़ाना नहीं। काम बुरा नहीं है, उसका विषय बुरा और भला होता है। जैसे-अपने पतिके प्रति या अपनी पत्नीके प्रति यदि कामवासना हो तो धर्मके विरुद्ध नहीं है; धर्मके विरुद्ध नहीं होनेसे वह पापकी वासना नहीं है। ऐसे ही भक्ति-मार्गमें अपना पति परमात्मा है, परमेश्वर है। उस परमेश्वरके प्रति जो वासना होती है, वह संसारमें फँसानेवाली नहीं है। और यह कहो कि हम तो बिलकुल निर्वासन होना चाहते हैं तो आपको बड़ा अभिमान होगा, आप बड़ा गौरव अनुभव करेंगे कि हमारे बराबर और कौन है? अरे, ये ईश्वरके पीछे लगे हुए बहुत लोग तो वासनावाले हैं और हम हैं निष्काम निर्वासन। अब हमसे आकर पूछो तो हम बतावें। यह निर्वासन होनेकी जो वासना है, आत्मकाम इसे बोलते हैं—तुम, अभी तो निर्वासन हो नहीं, निर्वासन होना चाहते हो; तो यह निर्वासन होनेकी कामना त्वंपदार्थ-विषयक कामना है। और ईश्वरकी प्राप्तिकी कामना तत्पदार्थ-विषयक कामना है। क्योंकि असलमें त्वंपदार्थ और तत्पदार्थ दो होते नहीं हैं इसलिए बिलकुल निर्वासन होनेमें भला क्या गौरव हुआ? कोई त्वं-पदके लक्ष्यार्थका शोधन करना चाहता है, कोई तत्पदके लक्ष्यार्थका शोधन करना चाहता है। निर्वासन होनेकी वासना भी वासना है और ईश्वरको

पानेकी वासना भी वासना है। अरे। मुक्तिकी वासना भी वासना है। भागवतमें जहाँ कामनाओंकी गिनती करायी गयी है वहाँ बताया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

ज्ञानकी कामना तो कामना नहीं, मोक्षकी कामना तो कामना नहीं और भगवत्-प्राप्तिकी कामना, कामना! अरे भाई! एकांगी विचार मत करो, उसपर दृष्टिपात करो। जहाँ सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अन्तर्यामी, हमारी बुद्धिके और हमारे बीचमें बैठकर-**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां**। भीतर बैठकर, जो सबका प्रशासन कर रहा है उसकी कामना भी कामना नहीं है। ये त्रिवक्र सच्चिदानन्द, त्रिवक्र माने विश्व, तैजस, प्राज्ञ, त्रिवक्र माने, तीन टेढ़के बाँके विहारी महाराज जाग्रत्में विहार करें, स्वप्नमें विहार करें, सुषुप्तिमें विहार करें, सोती हुई वृत्तिसे विहार करें, सपना देखती हुई वृत्तिसे विहार करें, जागती हुई वृत्तिसे विहार करें—**तुरीयं त्रिषु सन्ततं**—सम्पूर्ण वृत्तियोंसे उलझा हुआ, उनमें अनुस्यूत, उनमें अनुगत, यह बाँके विहारी इसके मिलनकी जो आकांक्षा जागती है वही संसारसे वैराग्य देती है। बिना वैराग्यके विद्यावृत्ति अविद्याके निवारणमें समर्थ नहीं होती। वैराग्य शक्ति है ऐसा भागवतमें बीसों जगह वर्णन हैं।

ज्ञानं च विज्ञान वैराग्ययुक्तं-वैराग्यशक्तिमत्।

ज्ञानकी शक्ति है वैराग्य। जिस ज्ञानमें त्यागका सामर्थ्य नहीं है वह ज्ञान किस कामका और जिस प्रेममें त्यागका सामर्थ्य नहीं है वह प्रेम किस कामका? और जिस योगीमें (समाधिनिष्ठमें) बाह्य विषयके त्यागका सामर्थ्य नहीं है वह योगी किस कामका! अरे, सत्से प्रेम करो तब भी त्याग करना पड़ेगा; चित्से प्रेम करो तब भी त्याग करना पड़ेगा; आनन्दसे त्याग करो, तब भी त्याग करना पड़ेगा; त्याग किये बिना आजतक कोई गोपी हुआ है? त्याग किये बिना कोई आजतक योगी हुआ है? त्याग किये बिना आजतक कोई ज्ञानी हुआ है?

अपने बलसे त्याग-यह साधानान्तरमें है, दूसरे साधनोंमें है। नारायण, और ईश्वरके बलसे त्याग, वैराग्य-यह भक्ति मार्ग में है। बाँसुरी बजा-बजा करके अपनी ओर सबको खींच लिया—**व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः**। व्रजस्त्री कोई साधारण गोपी नहीं है। एक तो नित्यसिद्ध गोपी होती हैं, जो गोलोकमें भगवान्‌के साथ रहती हैं और अवतार लेती हैं। एक साधन-सिद्धा गोपी होती हैं। साधन-सिद्धोंमें भी कृपा-सिद्ध होते हैं और साधनसिद्ध होते हैं; इनके भी बहुत भेद हैं। जो पूर्व जन्ममें ऋषि थे वो गोपी हुए, जो पूर्व जन्ममें श्रुतियाँ हैं वे गोपी हुईं, जिन्होंने

अष्टादशाक्षर मन्त्रका '**क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय**' इन मन्त्रोंका जाप किया था वे गोपी हुईं-गोपी तरह-तरहकी हैं। कोई देवी हैं तो वे गोपी हुईं। कहीं नारद, शुक, अर्जुन आदि भी कभी-कभी अपने साधनाके उत्कर्षसे गोपी-भावको प्राप्त होते हैं। ये **व्रजस्त्रियः** कोई ऐसी वैसी नहीं। **व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः**—जैसे कोई भूत किसी आदमीको पकड़ ले, जैसे कोई जादूगर कठपुतलियोंको अपनी तरफ खींच ले, ऐसे ये कृष्णके द्वारा पकड़ी गयी थीं। आप लोगोंने कठपुतलियोंका खेल देखा हो। उसमें **सूत्रधार**—मालूम नहीं पड़ता है कि सूत्र कहाँ है और कठपुतलियोंको खींच लेता है। उनको हँसा दे, उनको रुला दे, उनको बुला दे! ऐसे ही गोपियोंके शरीरका ढाँचा रह गया था। श्रीकृष्णने उनके मनको खींच लिया था। **गृहीत-मानसाः**—पकड़ लिया था।

वंशी-ध्वनिका यह एक महाचोर मिला, उसको कानका रास्ता मिला, उसके द्वारा भीतर गया, वहाँ उनके मनरूपी धनको उसने चुराया और चुराकर वहाँसे भागा तो जैसे चोर भागने लगे तो घरके लोग जो जैसे, वैसे ही चोरके पीछे दौड़ पड़ते हैं, किसीसे सलाह करके नहीं दौड़ते हैं, जो जहाँ हो वहाँसे ही चोरके पीछे दौड़ता है कि माल छीन लो इससे; ऐसे गोपियाँ निकल पड़ीं जैसे कोई अपना चुराया हुआ माल छीननेके लिए जा रहा हो। श्रीकृष्णने किसीका कंगन नहीं उतारा, कड़ा नहीं उतारा, किसीकी करधनी नहीं उतारी, किसीका नूपुर या किसीका कुण्डल, किसीका हार नहीं उतारा—ये तो मामूली कीमतकी चीजें हैं—जो सबसे कीमती वह जो दिलके सन्दूकमें रहता है, कलेजेमें बन्द रहता है, उसको शब्दसे चुरा लिया, हाथ नहीं लगाया, क्या जादूगर है।

कृष्णगृहीतमानसाः। मानस शब्दका एक अर्थ है, मन एवं मानस; स्वार्थमें ही प्रत्यय हुआ तो मनका अर्थ मानस हो गया। और एक इसका अर्थ है—मनः सम्बन्धीनि मानसानि-मनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति। दोनों अर्थोंमें फर्क हैं। गोपियोंके मनमें बड़े-बड़े माल रखे हुए थे और उन्हींके बलपर वे कृष्णसे अलग टिकी हुईं थीं। धृति थी, स्मृति थी, विवेक था, लज्जा थी, भय था, बुद्धि थी, ये सब गोपियोंके दिलमें रहता था। **व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः। आजग्मुरयोन्यम-लक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।**

श्रीकृष्णने क्या किया कि बाँसुरी बजायी। जब आदमी आनन्दमें आजाता है तो क्या होता है? अरे! हमने देखा है—बहुत बड़े आदमी हों, जो बोलनेमें या शिर झुकानेमें तकलीफ मानते हैं, उनको संगीत सुननेको मिल जाय तो शिर हिलाने लगते हैं। एकबार कलकत्तेमें एक संकीर्त्तनका जुलूस निकलनेवाला था। बिलकुल

सत्य कथा है—कोई ऐसी परिस्थिति थी कि सरकारने धारा एक सौ चौवालीस लगा दिया, बस यह जुलूस नहीं निकल सकता था। संकीर्त्तनवालोंने कहा—हम तो निकालेंगे-भगवान्‌का जुलूस नहीं बदल सकता। आगे महाराज सैकड़ों मण्डली इकट्ठी हुईं। दस हजार आदमी इकट्ठे हो गये और वह ढोलक बजी, वह मृदङ्ग और मजीरा! पाँवमें नूपुर बाँध-बाँध करके वे लोग निकले सड़कपर—बड़े बाजारमें, वहाँ संकीर्त्तन होने लगा तो पुलिसको यह ख्याल छूट गया कि हम पुलिसके अफसर हैं, और हमको कानूनके अनुसार काम करवाना चाहिए। वे स्वयं नाचने लग गये। उनके अपने पुलिसपनेकी जो स्मृति थी वह संकीर्त्तनने हर ली, उनके मनमें रोकनेका जो धैर्य था-वह संकीर्त्तनने हर लिया, उनके अन्दर जो विवेक था कि कानूनका पालन करवाना है उनसे यह विवेक खो गया, उनको जो शर्म थी कि लोगोंके सामने नाचें कैसे सो नष्ट हो गयी। तो धृति, स्मृति, विवेक, लज्जा, बुद्धि ये सब हर लिया। किसने? कि बाँसकी बँसुरियाने—***बाँसुरी बजाय गौ कि विष बगराय गौ***—यह तो बाँसुरी बजा गयी, चारों ओर जहर फैल गया। न किसीको धनका ख्याल, न किसीको धर्मका ख्याल, न किसीको भोगका ख्याल—**कृष्ण-गृहीतमानसाः कृष्णेन-गृहीतानि मानसानि, धृति, स्मृति, विवेक, लज्जादीनि, याषां ताः**—हरण कर लिया।

अब! क्या हुआ कि—**आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः**। एकबार स्वामी रामतीर्थजी मथुरामें आये तो शहरमें उनके प्रवचनकी व्यवस्था की गयी। किसीने पूछा कि कृष्णकी बाँसुरीमें ऐसा क्या सामर्थ्य था कि रातको गोपियाँ अपना घर-द्वार छोड़कर बाँसुरी सुननेके लिए चली गयीं? स्वामी रामतीर्थजी चुप हो गये। हजारों स्त्री-पुरुष उनका व्याख्यान सुननेके लिए आये थे। आपने सुना होगा कि जब वे मथुरामें उतरे तो ट्रेनसे उतरकर उन्होंने पाँव धरती पर नहीं रखा था; पहले अपना शिर, धरतीपर रखा, कि यह व्रजकी भूमि है। वही स्वामी रामतीर्थ थे जिनके वेदान्तके व्याख्यान मिलते हैं। आपको मालूम होगा कि वेदान्ती होनेके पहले ये लाहौरमें रावीके तटपर कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण चिल्लाकर रोते थे। बड़ा भारी उपासनाका संस्कार था, उनके चित्तमें! और सच पूछो तो वेदान्ती हो जानेके बाद भी उनके भीतर जो तन्मयताका संस्कार था, भले पहले वह तत्पदार्थप्रधान था, बादमें त्वंपदार्थ प्रधान हो गया, लेकिन तन्मयताका संस्कार उनमें जीवन भर बना रहा। उनके व्याख्यानमें विवेक और प्रमाण शास्त्रकी उतनी बात देखनेमें नहीं आती जितनी तन्मयताकी। रातके समय जब लोगोंने वंशीध्वनिके सामर्थ्यके बारेमें पूछा तो पहले वह चुप हो गये और फिर बोले—अरे! हम यहाँ जवाब नहीं देंगे।

चलो यमुनाके किनारे, अब हमारा मन शहरमें व्याख्यान देनेका नहीं है। चाँदनी रात महाराज! ग्यारह बज रहे थे, हजारों श्रोताओंको लेकर शहरसे निकलकर वे यमुनाके किनारे बालूपर बैठ गये। हजारों आदमी उनके साथ। लोगोंने पूछा- बताओ महाराज! मुरलीमें क्या सामर्थ्य था? बोले कि हजारों वर्ष बाद भी जिसकी मुरलीका सामर्थ्य सुननेके लिए तुमलोग हमारे पीछे-पीछे स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध घर-द्वार छोंड़ करके रातको ग्यारह बजे इस बालुकामय पुलिनमें आगये, उसमें कितना सामर्थ्य रहा होगा, यह सोचो तो सही!

कृष्णगृहीतमानसाः—तुम्हारे मनको संसारमें जो पकड़कर रखा है, इसको छुड़ानेके लिए कोई चाहिए मीठीसे मीठी चीज! तुमको सचमुच सत्यमें आनन्द नहीं आता है। व्यापारीको सच्चाईमें मजा कहाँ आता है? अच्छे पढ़े-लिखे लोगोंको जानकारीमें मजा कहाँ आता है? मजा आता तो ये कालेजके पढ़नेवाले लोग ऊधम क्यों मचाते? उच्छृंखल, अनुशासनहीन क्यों होते? सबको चाहिए आनन्द, सबको चाहिए मजा। नारायण! पतञ्जलिने, कपिलने, व्यासने, शुकदेवने सबने सत्य कहा कि ज्ञान लो, नतीजा कि इतने लोग उनके पीछ-पीछे नहीं घूमे। परन्तु कृष्णने कहा मजा लो! ये आनन्द बाँटनेके लिए आये। कृष्ण आनन्दकी प्रधानतासे सच्चित्‌को बाँटते हैं। कपिल ज्ञानकी प्रधानतासे सत् और आनन्दको बाँटते हैं। पतंजलि सत्ताकी प्रधानतासे ज्ञान और आनन्दको बाँटते हैं, सच्चिदानन्द तो वही है, कोई गौण प्रधान कर देते हैं। श्रीकृष्ण जो हैं वे आनन्द देते हैं। अरे, छोड़ो असम्प्रज्ञातकी बात, निर्विकल्पताकी बात, निर्बीजकी बात; छोड़ो अस्मिताकी बात, अस्मितानुगतकी बात, छोड़ो आनन्दानुगतकी बात! यह लो रस, यह लो रास!

कृष्णगृहीतमानसाः, आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः—जो जहाँ थी महाराज, जैसी थी वैसी उठ धाय। देखो, साधनाके समय तो गोपियाँ मिलजुलकर साधना करती थीं—'कृष्णमेव जगुर्यान्त्यः'। सबेरे उठी और बाँह-में-बाँह डाली, गलबहियाँ डालकर और कन्धेपर अपनी धोती रखकर और कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण कहती हुई, माने गाँवभरको बताकर कि कृष्ण-सा पति पानेके लिए ये गौरी-व्रत कर रही हैं, कात्यायनी व्रत कर रही हैं, यमुनाजी चली जातीं। वरदान भी प्राप्त किया सबने मिल-जुलकर, लेकिन जब बाँसुरी बजी और मिलनेका समय आया तो किसीने किसीको नहीं पूछा, न बताया। जैसे बहुत-से मुमुक्षु सब एक साथ साधना करते थे। जिज्ञासु सब एक साथ जिज्ञासा करते थे, लेकिन जब संन्यास लेनेका मौका आया तो अकेले- अकेले भगे और आपको मालूम है कि बिना नंगा हुए संन्यास

भी नहीं होता है! बिना निरावरण हुए द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान नहीं होता, बिना निरावरण हुए स्वर्ग-सुखका आस्वादन नहीं होता, बिना निरावरण हुए भगवान्‌की लीलामें प्रवेश नहीं होता, बिना निरावरण हुए ब्रह्मज्ञान नहीं होता, बिना निरावरण हुए रासलीला नहीं मिलती, परदा तो हटाना ही पड़ेगा।

आजग्मुः अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः—हरेक गोपी हरेक गोपीसे छिपकर जाती है। अपने प्रियतमके साथ जो सम्बन्ध है वह सबका व्यक्तिगत है। अनादिकालसे जो संसारमें प्रवाह है, इसमें सबका मन अलग-अलग है, उसकी योग्यता अलग-अलग है, उसके प्रेमकी प्रक्रिया अलग-अलग है, उसके लिए साधन अलग-अलग होता है। जो अयोध्यामें जाय सो सब राममन्त्रका जप करें, जो वृन्दावन जाय, सो सब कृष्णमन्त्रका जप करें, जो काशी जाय सो सब शिव मन्त्रका जप करें, यह शास्त्रीय पद्धति नहीं है। शास्त्रीय पद्धति यह है कि गुरु एक व्यक्तिको देखे कि इसने पूर्वजन्ममें किस मन्त्रका जाप किया है, किस इष्टका ध्यान किया है और वह कहाँतक पहुँचा हुआ है, फिर वह गुरु उसके आगे उसका सम्बन्ध जोड़ दे, तब साधक आगे बढ़ता है। सोलहो धान बाईस पसेरी नहीं होता। सबके समझमें वेदान्त नहीं आता। हजार कोशिश करो सबके हृदयमें रसका उल्लास नहीं होता। सबको समाधि नहीं लगती, सब धर्मात्मा नहीं होते क्योंकि सबका चित्त असलमें अलग-अलग होता है। यशोदा मैयाको कोई समझावे कि भक्तिमें सबसे अच्छा शृंगार रसका, मधुर रसका भाव है, तो मैया मारेगी और गोपियोंसे कोई कहे कि वात्सल्य रस बड़ा श्रेष्ठ है तो गोपी कहेगी चल हट हमारे सामने बात नहीं करना। सबकी स्थिति अलग-अलग होती है, सबके चित्तकी गति अलग-अलग होती है। अलगावमें तो ये जीव बहता आया ही है। जिन लोगोंने आज तक सबको एकमें मिलानेकी कोशिश की है, किसीको सफलता हुई नहीं है। समन्वयकी बात करते हैं लोग परन्तु क्या समन्वय होगा? गौतम और कणाद आपसमें नहीं मिले, गौतम और कपिल आपसमें नहीं मिले, कपिल और पतञ्जलि आपसमें नहीं मिले, पतञ्जलि और जैमिनि, फिर जैमिनि और व्यास आपसमें नहीं मिले। और हमलोग क्या कहते हैं कि सब आपसमें मिले हुए हैं। ये नीचे हैं, ये ऊँचे हैं। उनसे पूछो कि तुम नीचे हो? वह भला मानेंगे? तो समन्वय तो दूसरे लोग लादते हैं, भाई! थियोसोफिकल सोसाइटीने कहा कि हम हिन्दू धर्म, मुसलमान धर्म, ईसाई धर्म सबका समन्वय करेंगे, सबको एक बनायेंगें, तो एक धर्म और अलग बन गया! अगर सौ धर्म पहलेसे थे तो एक सौ एक धर्म बन गये। अकबरने कहा—हम दीन-इलाही मत बनायेंगे—हिन्दू, मुसलमान सब उसमें आवेंगे। ये इलाही पन्थ ही

अलग हो गया। ऐसे नहीं होता है, सबकी योग्याता अलग-अलग होती है और अपनी योग्यता के अनुसार सब ईश्वरकी ओर चलते हैं; ये ढोंढी पीटकर गानेका मार्ग नहीं है, यह एकान्तमें मिलनेका रास्ता है। मुसाफिर खानेमें ब्याह नहीं हुआ करता। यह तो एकान्त कमरेमें ईश्वरसे, परमेश्वरसे, अपने परमात्मासे मिलते हैं।

गोपियोंने एक दूसरेको बताया नहीं। एक निकली तो सास मिल गयी। रासमें कुमारियाँ भी आयी हैं और विवाहिता भी आयी हैं, भला! श्रीकृष्णने वरदान तो दिया था कुमारियोंको पर जब बाँसुरी बजायी तो कुमारी, विवाहिता, ऊढ़ा, अनूढ़ा, युवती, वृद्धा, मुग्धा, अज्ञात यौवना—इनका भेद ही नहीं रहा। कृष्णने कहा सब आओ। हाँ, तो एकको मिल गयी सास, बोली-कहाँ जाती है री, रात आनेवाली है। बोली—मैं पानी भरने यमुना किनारे गयी थी, सो अपना घट ही भूल आयी, अभी लेकर आती हूँ। एकने कहा—माँ! नहीं देखती कैसी चाँदनी खिली हुई है, जरा एक बार यमुनाजीकी शोभा तो देखकर आऊँ!

यामि यामुनतटीनिकटस्थं श्यामधाम निजधाम विहाय—मैं तो वह काला-काला जो कुञ्ज है, वहाँ ऐसी बढ़िया हरियाली है कि दिनमें काला लगता है, जरा इस चाँदनी रातमें यमुनाजीके तटपर पुलिनपर खड़ी होकर चाँदनीका रस लेकर अभी आती हूँ। कोई किसीको देखे नहीं, कोई किसीको दिखावे नहीं, सब सबसे छिपावें और सब उधर ही जायँ! और चलीं भी तेजीसे।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ब्रह्मचर्याद् वा गृहाद् वा वनाद्वा।

हम तो बम्बईमें कथावार्ता कर रहे हैं तो बहुत सम्हालकर बोलना पड़ता है। श्रुति कहती है कि बड़े सद्भाग्यसे, ईश्वरकी कृपासे संसार छोड़नेका और ईश्वरसे मिलनेका संकल्प हृदयमें आता है क्योंकि हमारी वासना नहीं है, ईश्वरका सन्देश है क्योंकि हमारी वासना तो संसारमें रमनेकी है। बोले—जिस समय ईश्वर यह संदेश दे कि छोड़ो संसार और जोड़ो अपनेको हमसे, उस समय फिर उसकी उपेक्षा नहीं करना। वेदमें उपनिषद् कहती है—**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।** जब वैराग्य तभी प्रव्रज्या! **तीव्रसंवेगानां आसन्नः**—जिसके जीवनमें तीव्र संवेग होता है उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है। लेकिन इस तीव्र संवेगमें यह देखनेका नहीं है कि क्या छूट गया क्या रह गया! गोपियाँ तीव्र संवेगसे कृष्णकी ओर चलीं। गोपीने यह नहीं सोचा कि कहीं साँप न काट ले। कैसे निकलेंगे रातमें भाई! कहीं चोर न मिल जाय, कहीं भूत न पकड़ ले, कहीं बिच्छू न डँस ले, कहीं काँटा न गड़ जाय—ये सब याद नहीं आया गोपीको क्योंकि उसकी नजर लक्ष्यपर है।

आपने लैला मजनूकी कहानी सुनी होगी। बाजारमें यह घोषणा कर दी गयी कि मजनू जहाँ हो और खाने-पीनेकी चीज माँगे तो मुफ्तमें दे दी जाय। गाँवमें हजारों मजनू पैदा हो गये, हर दुकानपरसे बिल आवे कि उन्होंने इतना लिया, इतना लिया। एक मजनू कितना खाय! बोले-असली मजनूकी परीक्षा होगी। मचानपर लैलाको बैठा दिया गया और चारों तरफ आग लगा दी गयी। अब घोषणा की गयी कि लैला मजनूसे मिलना चाहती है। सब मजनू आग देखकर भाग गये और जो असली मजनू था उसको लैला ही दिखती थी, आग नहीं दिखती थी।

गोपी जब घरसे निकली तो उसको बिच्छू-साँप नहीं दिखता था, उसको माँ-बाप नहीं दिखते थे, भाई-बन्धु, सास-ससुर नहीं दिखते थे, उसको दिखते थे बाँसुरी बजाते हुए कृष्ण।

स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।

इतनी वेगसे गोपी जा रही थी कि कुण्डल, कंकण-किंकणी, करधनी सब बजने लग गयी। कहाँ चली? **यत्र स कान्तः**—जहाँ वह कान्त था, जहाँ वह प्यारा था। हमको प्यारेके पास पहुँचनेसे मतलब है, रास्तेके विघ्न-बाधासे क्या मतलब है। प्रेमीके लिए शरीरकी क्या कीमत है? सब-की-सब चल पड़ीं।

आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः—कई लोग कहते हैं कि 'आजग्मुः' का अर्थ है कि शुकदेवजी महाराज उसी कदम्बपर बैठे हुए थे, जिसके नीचे श्रीकृष्ण वंशी बजाते थे। इसीलिए उन्होंने साक्षी दी कि गोपियाँ आयीं। किसीने कहा कि 'आजग्मुः' का अर्थ है सबको छोड़कर आयीं। आ समन्तात् माने सर्वपरित्याग करके आयीं, अभिसार किया। कहाँ आयीं? चिरकालसे जिनको चाहती थीं उस कान्तके पास। **कस्य सुखस्य अन्तःनिष्ठा**—जो सुखकी अन्तिम निष्ठा है वहाँ आयीं और एक दूसरेसे छिपकरके आयीं, श्रीकृष्णके आर्कषणसे विचार चला गया और चली आयीं—

आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः।

क्या-क्या छोड़कर गयीं, उसका वर्णन आगे देखें!

जो जैसिहँ तैसिहँ उठि धार्यीं-१

(दुहन्त्योभिययु: कश्चिद् ..... कृष्णान्तिकं ययु:)

१४

दुहन्त्योऽभिययः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावं अनुद्वास्यापरा ययुः॥
परिवेषयन्त्यस्तद्हित्वा, पाययन्त्यः शिशून्पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योपास्य भोजनम्॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणा काश्चिद् कृष्णान्तिकं ययुः॥

(भाग० १०.२९.५-७)

गोपियोंने बाँसुरी सुनी और सुनकर जैसी थीं वैसी ही चल पड़ीं। शरद ऋतु पूर्णिमाकी रात्रि, चाँदनी छिटकी हुई, सारा वन चाँदनीके रंगमें सराबोर, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु चल रही; एक ऊँचे टीलेमें खड़े होकर त्रिभंगललितभावसे पाँवपर पाँव रखकर पीताम्बरधारी, वनमालाधारी, मुरलीमनोहर, विशालभाल, गोरोचनका तिलक, भौहोंमें अनुग्रह, हाथोंमें प्रेम, होठोंमें मुस्कान, थोड़ी आँखें टेढ़ी, शिर थोड़ा लटका हुआ, ऐसे साँवरे-सलोने व्रजराजकुमारने बाँसुरी बजायी। जैसे शब्दके द्वारा लोकमें आमन्त्रित किया जाता है कि ***'कदम्ब तरे आ जइयो कटीले काजलवारी'*** ऐसे ही बाँसुरीकी ध्वनि रसदानके लिए प्रेमका आमन्त्रण है। इस प्रेम-निमन्त्रणको प्राप्त करनेके बाद एक समस्या खड़ी होती है। वह गोपियोंके सामने तो खड़ी नहीं हुई, लेकिन लौकिक पुरुषोंके मनमें ऐसी समस्या खड़ी हो सकती है कि आखिर कर्म कबतक करना चाहिए?

कर्मकाण्डी लोग कहते हैं—'**यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्।**' जबतक जिये तबतक आगमें होम करे। वैयाकरणोंमें पतंजलि बोलते हैं—

यावज्जीवं अध्येयं व्याकरणम्—अर्थात् जबतक जियो व्याकरण पढ़ो। जो जिसमें अटक जाता है, जो जिसमें फँस जाता है, जो जिसमें लग जाता है, उससे छूटना नहीं चाहता। कपड़ेका व्यापारी कहता है—जिन्दगी भर कपड़ा बेचेंगे; मल्लाह कहता है कि जिन्दगी भर नाव चलावेगें; जो लोग आफिसोंमें काम करते हैं, वे रिटायर होनेके समय कहते हैं कि दो-तीन वर्ष और रह जाते तो अच्छा होता। काम आखिर कबतक करना चाहिए? कर्मकी आखिर कोई सीमा तो है नहीं, जिन्दगी-भर मजदूरी, जिन्दगी भर बेगार!

किसीने कहा कि जबतक धर्म-अर्थ-कामरूप, त्रिवर्गकी प्राप्ति न हो तबतक कर्म करो, माने फल-पर्यन्त कर्म करते रहो। अब फल मिलना तो अपने हाथमें नहीं है—'फलमतः उपपत्तेः'=फल देनेवाला ईश्वर है; पता नहीं किस जन्ममें किस जन्मका फल देता है; हम इस जन्ममें जो कर्म कर रहे हैं, उसका फल इसी जन्ममें देगा या अगले जन्ममें देगा, कि हजार जन्मके बाद देगा, इसका नियामक तो ईश्वर है। कोई फलप्राप्ति पर्यन्त अगर कर्म करेगा तो कभी कर्मसे छूट नहीं सकेगा।

तो बोले—भाई, इस बातको छोड़ो, अन्तःकरण शुद्धि-पर्यन्त कर्म करो। अरे, अन्तःकरण-शुद्धिका क्या लक्षण है? बोले—ब्रह्मज्ञान हो जाय तो अन्तःकरण छोड़ दो, और जबतक न हो तबतक कर्म मत छोड़ो। नारायण, लो यह भी हाथसे गया।

अच्छा, श्रीमद्भागवतमें इसको ऐसे बताया है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

तबतक कर्म करना चाहिए जबतक कर्मके फलसे हृदयमें वैराग्य न हो अथवा भगवान् कहते हैं, कि जबतक मेरी कथा सुननेमें, मेरा गुणानुवाद करनेमें, मेरी पूजा करनेमें, मेरा ध्यान करनेमें, मुझसे प्रेम करनेमें, रुचि उदय न हो जाय, तबतक कर्म करना चाहिए। ये दो बातें भागवतमें कर्मकी अवधि बतायी हैं—एक तो होवे संसारसे वैराग्य, कर्म और कर्म फल दोनोंसे वैराग्य और या हो ईश्वरसे प्रेम!

किसीने कहा—अच्छा भाई, फल न सही; लेकिन कर्म तो पूरा कर लें? अरे बाबा, ये कर्म कभी पूरे नहीं होते।

एकने कहा—भगवान्‌का भजन करेंगे कब? कि जरा बेटा बड़ा हो जाय तब। बेटा बड़ा हो गया तो बोले—ब्याह कर लें। ब्याह कर देनेके बाद जरा पोतेको गोदमें खिला लें। अन्तमें बोले—अब तो शरीरमें शक्ति नहीं है, अब वैराग्य लेकर क्या करेंगे?

हम ये बातें आपको गोपियोंके प्रसङ्गमें सुना रहे हैं। गोपियाँ अपने-अपने कर्ममें लगी हैं और श्रीकृष्ण बाँसुरी बजा रहे हैं। तो गोपियाँ कर्मका जो फल है उसको प्राप्त कर लें तब कर्म छोड़ें या कर्म पूरा कर लें तब कर्मको छोड़ें? न तो फल पाना अपने हाथमें है और न तो कर्मको पूरा करना अपने हाथमें है। अगले

क्षण क्या होगा यह मालूम नहीं। क्या दुकानका काम कभी पूरा होगा? अरे भाई, वह तो पीढ़ी-दर-पीढ़ीके लिए खो ली गयी है! दुकान पूरा करनेके लिए तुम काम नहीं करते हो, अपनी जिन्दगी पूरा करनेके लिए काम करते हो—यह बात आप समझो! जिसको छोड़ना होगा वह फलकी पूर्णता पर नहीं छोड़ेगा, वह दुकानकी पूर्णतापर नहीं छोड़ेगा; वह तो जब भगवान्‌के चरणोंमें लगन लगी, जैसे बुलावा आता है, तभी सबको जाना पड़ता है; तब सब काम छोड़कर जाना पड़ता है।

काम जो किया जाता है वह फलकी पूर्णताके लिए नहीं और कर्मकी पूर्णताके लिए नहीं, अपने पास अबसे लेकर और प्रियतमके बुलावा आनेके बीचमें जो समय है, उसको भरनेके लिए किया जाता है। श्रीरामानुज सम्प्रदायमें इसका नाम कालक्षेप है। वह समय काट रहे हैं। एक महात्मा थे। वे दिनभर तिल और चावल अलग-अलग करते थे और शामको फिर मिला देते थे। और दूसरे दिन फिर अलग करते और शामको फिर मिला देते? बोले—भाई क्या कर रहे हो? तो कहा—'**यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्ये**' अबसे लेकर जो विदेह मोक्षके बीचमें समय है उसको भर रहे हैं। क्योंकि हमको न कुछ लेना है न कुछ देना है, न स्वर्ग जाना है, न चेलेको उपदेश करना है, और न मठ-मन्दिर बनाना है, समय ही भरना है सो समय भर रहे हैं। ये महात्मा लोग तो समय भरते हैं; और प्रेमी लोग? वे प्रतीक्षा करते हैं। अरे, काम करते रहो और कान जरा खड़े रखो। सावधान! साधु सावधान! जब भगवान् बुलावें तब कहीं ऐसा न हो कि तुम प्रमादमें उनकी बाँसुरी न सुन पाओ!

दुहन्त्योभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावं अनुद्वास्यापरा ययुः॥

अब देखो, इसमें भी एक बात है। प्रियतमके मनमें उत्सुकता है, वे बुलावें सो तो ठीक है, परन्तु यदि तुम्हारे मनमें उत्सुकता नहीं है तो तुमको उनका बुलाना सुनाई नहीं पड़ेगा। अरे, इधर भी तो चाहिए कुछ भाई! बोले—उनकी जब मौज होगी तब आकर हमसे मिल लेंगे! अरे बाबा, तू जा नहीं सकता, तो खिड़कीपर खड़ा होकर रास्तेकी ओर देख तो सही! गोपियोंके हृदयमें तो उत्सुकता पहलेसे थी। मिलेंगे यह आशा थी और अब आते हैं, अब आते हैं, अब आते हैं—यह प्रतीक्षा थी और उनके बिना प्राणोंकी व्याकुलता थी। आओ, प्राणनाथ! अब प्राण लगे सियरान—प्राणनाथ, पधारो! अब तुम्हारे बिना हमारे प्राण शिथिल पड़ रहे हैं। भगवान्‌के लिए—

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले॥
इत्यादयोऽनु भावाः स्युः जातभावाङ्कुरे जने॥

जिसके हृदयमें प्रेमका अंकुर उगता है उसकी आशा कभी नहीं टूटती। उत्कंठा होती है मिलनेकी, उसका नाम निकलता है मुँहसे, उसके गुणोंमें आसक्ति होती है। जहाँ उसकी याद आवे वहाँ रहनेकी रुचि होती है। प्रेम दिखानेके लिए कुछ कहना थोड़े ही पड़ता है वह तो स्वयं इतना चमकता है कि दूरसे लोग पहचान जाते हैं। बतानेकी जरूरत नहीं।

दिन द्वै में बात फैल जइहैं।
कहाँ लौ समानी चन्द हाथन छिपाइहैं॥
आज मैंने देखी बीर निपट कालिंदी तीर,
दोउ उनसौ तेउ उनसौ मोरि मुसकाइबौं॥
दोउ परैं पैयाँ, दोउ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूल गई गैयाँ, उन्हें गागर उठाइबौं॥

तो बाबा, दो दिनमें बात फैलनेवाली है—चन्द्रमा कहीं हाथसे थोड़े ही छिपता है। प्रेम आता है हृदयमें तो आशा लेकर आता है, प्रतीक्षा लेकर आता है, व्याकुलता लेकर आता है? यह नहीं कि वही सब कुछ करेगा। जैसे श्रीकृष्णके हृदयमें **'रन्तुं मनश्चक्रे'** विहारका संकल्प था, वैसे गोपियोंके मनमें भी उत्सुकता थी। उस गोपीके पास भगवान् नहीं जा सकते या उसको अपने पास नहीं बुला सकते, जिसके मनमें उत्सुकता न हो।

समुत्सुकाः—उत्सुकता है गोपीके मनमें। और उत्सुकताका लक्षण क्या है, पहचान क्या है? गोपी काम कर रही थी—**'दुहन्त्योभिययुः काश्चिद्'**। अपने कुलका, अहीर कुलका धर्म कर रही थी। ग्वाले कुलका धर्म है कि वहाँ ग्वालिनी दूध दुहती हैं। सो कोई गोपी उस समय गाय दुह रही थी। यह नहीं समझना कि कोई आध-सेर पाव-भर दूध देनेवाली गाय दुहती थीं। दस-दस बीस-बीस सेर दूध देनेवाली गायें थीं और उनको हाथसे ही दुहती थीं। बम्बईके सींकिया पहलवान यदि दुहने लगें तो उनकी उँगली टूट जायँ। ये तो गूजरी महाराज वह मुट्ठी चलाती हैं, उँगलीसे कब तक दुहेंगी? हमको भी दुहनेका काम पड़ा है बचपनमें। जो लोग उँगलीसे दुहते हैं उनकी उँगली दुःख जाती है और जो मुट्ठीसे दुहते हैं वे ग्वालिनी बाल्टी लेकर दुहने बैठती हैं। सेर दो सेर दूध दुहना होता है तो जाँघपर रखकर दुह लेती हैं। पर दस-पाँच सेर दूध दुहना हो, तो बाल्टी धरतीपर रखकर दुहते हैं।

'**दोहं हित्वा समुत्सुकाः**'—हुआ क्या अब? देखो, इसमें जो दोहन कर्म था वह बड़ा था या जो दोहनी पात्र था वो बड़ा था या ग्वालिनीके हृदयमें जो उत्सुकता थी वह बड़ी थी? जब बाँसुरी बजी, तो गाय तो रह गयी खड़ी और बछड़ा रह गया बँधा हुआ नुवनासे। जिससे गायके पाँवमें बछड़ेको बाँधते हैं उसका नाम नुवना है। संस्कृतमें उसको **निर्योग** बोलते हैं। गायके पाँवमें फंदा लगाया भी रह गया और नुवना लगाया भी रह गया! और वह बाल्टी जिसमें दूध दुह रही थीं, वह धरतीपर रक्खी रह गयी। और जब बाँसुरीकी ध्वनि कानमें पड़ी तो उसका मुँह घूम गया। उधर जिधरसे वंशीध्वनि आरही थी और हाथसे 'ऐसे-ऐसे' करती जायँ जैसे गाय दुह रही हों। और कृष्णकी तरफ चलती जायँ। श्लोकमें '**दुहन्त्यः**' पदमें शतृ प्रत्ययका प्रयोग है। अतः **दुहन्त्यः**का अर्थ है—दुहती हुई—**दुहन्त्यः अभिययुः कृष्णस्याभिमुखं ययुः**। गाय दुहती हुई ही कृष्णकी ओर चली। और **दोहं हित्वा समुत्सुकाः**—दोह छूट गया माने दोहनी पात्र छूट गया, गाय वहीं रह गयी, बछड़ा वहीं रह गया; बस हाथमें जो दोहनेकी मुद्रा है वह ज्यों-की-त्यों रह गयी है और आप आँख बन्द करके चली जा रही हैं, खिंची हुई चली जा रही हैं, मानो किसीने जादू डाला है, जैसे किसीने जादूके सरसों डाल दिये हों उसके ऊपर जिससे वह खिंची जा रही हैं, मानो आर्कषण मन्त्रसे, बाँसुरीसे हिप्नोटाइज कर दिया हो—**दोहं हित्वा समुत्सुकाः**। योग आता है तो आदमीको स्थिर करता है और प्रेग आता है तो विचलित करता है। धर्म आता है तो क्रियामें स्थिर करता है और प्रेम आता है तो प्रियतममें स्थिर करता है। योग आत्मामें स्थिर करता है और ज्ञान सबको सम कर देता है। जिसमें समत्व न हो वह ज्ञान नहीं। ज्ञानमें समता और वैराग्यमें उप रमता आती है जबकि प्रेममें ममता और प्रियतममें रमता आती है।

'**दोहं हित्वा समुत्सुकाः**'—दुहती हुई गोपी चली और वर्तमानकी दोहन क्रियाका गोपीको विस्मरण हो गया क्यों? कि **समुत्सुकाः** मिलनकी उत्सुकता थी, इसलिए।' अच्छा आपको बतावें—स्त्रियोंका यह स्वभाव होता है। क्या कि समझो वे उनका काम कर रही हों या कपड़ेके ऊपर कोई बेलबूटा बना रही हों, और इतनेमें ऐसा मालूम पड़े कि सड़क परसे कोई बारात जा रही है, बाजे बजने लगे, तो हाथमें ऊन लिये हुए ही और कपड़ा लिये ही निकलकर छज्जेमें खड़ी हो जाती हैं—जो जैसी रहती हैं वैसी ही। तो यहाँ भी—'**पयोऽधिश्रित्य संयावं अनुद्वास्यापरा ययुः**' दूध-दुहना कुल धर्म था। वंशीध्वनि सुनकर वह छूट गया। अब पारिवारिक धर्म भी छूटा है। कैसे? कि दूध गरम करना, घरमें रोटी बनाना,

हलुआ बनाना ये पारिवारिक धर्म हैं। अच्छा गोपीके घरमें—'पयोऽधिश्रित्य'। एक गोपीने घरमें दूध तो चढ़ा दिया था आग पर। इतनेमें बज गयी बाँसुरी! तो हमने दूध चढ़ाया था तो आगे उतारेंगे नहीं तो उफनके सारा-का-सारा आगमें चला जावेगा और घरकी हानि हो जायेगी, इस बातका ख्याल किये बिना ही वह दूध ज्यों-का-त्यों छोड़कर चल दी। माने काम देखकर भी प्रेम थकित नहीं होता और भविष्यका विचार करके भी प्रेम थकित नहीं होता।

ब्रिटिश परम्परामें भी अभी थोड़े दिन पहले ऐसा हुआ था। एक सज्जन एक स्त्रीसे ब्याह करनेवाले थे तो उनसे कहा गया कि ब्याह करोगे तो—राजगद्दी नहीं मिलेगी। उसने कहा कि भले हमको राजगद्दी ना मिले, पर हम ब्याह करेंगे तो इसी स्त्रीसे।

वेदान्तियोंके भविष्य बाधित होता है पर क्रिया सब ठीक होती है; पर प्रेमियोंका भविष्य बाधित नहीं होता है, बस भविष्यका ख्याल ही उतर जाता है, भविष्यका विस्मरण हो जाता है। वेदान्तीको ऐसा नहीं होता। प्रेम तो चित्तमें सदा रहनेवाली एक वृत्ति है—प्रेम हृदयमें रहनेवाला प्रियता विशिष्ट हृदयका आकार है, वह प्रेमीमें रहता है। परन्तु वेदान्ती लोगोंके कुछ रहता ही नहीं, एक बार बाध हुआ और खाली! अपने स्वरूपका ज्ञान हुआ और फिर कुछ नहीं। उनको कुछ याद्‌ वादकी जरूरत ही नहीं, यदि रहे तो ठीक और ना रहे तो ठीक; पर प्रेममें याद रहती है।

एक बार एक बड़े भगतराज बीमार थे अब हमको तो वह वेदान्तके विद्यार्थी समझते थे, सो हमको वह जिज्ञासु बोलना सीख गये थे। हम गये उनको देखने। वे तो महाराज शिर पकड़के और बस छटपटायें इधर-से-उधर। उनको देखकर हमको एक शंका हुई—प्रश्न उठा चित्तमें। हमने जाकर महात्मासे पूछा—मैंने कहा कि यदि वह वेदान्ती होते और ब्रह्मज्ञ होते और ब्रह्मज्ञ होनेके बाद सिरके दर्दसे उनका शरीर छटपटाता होता तो हम कहते कि उनका वह शरीर और वह दर्द भी वाधित था, तो उनका वह छटपटाना भी वाधित होने दो। लेकिन जब वह भगवान्‌के प्रेमी हैं और उनके हृदयमें भगवदाकार वृत्ति है, तो यह बताओ कि दर्दाकार वृत्ति और भगवदाकार वृत्ति दोनों एक साथ हृदयमें कैसे?

शायद यह सुनकर किसी और के मनमें भी प्रश्न उठे कि ऐसा कैसे? इसलिए बताता हूँ कि उन महात्माने क्या बताया। भक्तको ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान् हमारा शिर भीतर-ही-भीतर दबा रहे हैं और यह दर्द उनका ही दिया हुआ है। जब वे दबाते हैं तब मैं चिल्लाता हूँ हाय-हाय-हाय, अरे राम मार डाला; क्यों इतना दर्द देता है? क्यों इतना दबाता है? उसीसे लड़ते हैं हम। उनको दर्दमें

भी भगवान् दिखता है। अगर रोनेमें, चिल्लानेवाला भगवान् न दिखे और हँसनेमें हँसानेवाला भगवान् न दिखे तो अपने प्रेमकी कमी समझना। वहाँ जिलानेवाला भी भगवान् है, मारनेवाला भी भगवान् है। अगर दूसरेके रुलाये रोते हो, दूसरेके मारे मरते हो और दूसरेके जिलाये जीते हो तो प्रेम नहीं है। प्रेममें वही रुलानेवाला, वही हँसानेवाला, वही जिलानेवाला है। यह भक्तिकी बात बड़ी विलक्षण है!

'पयोऽधिश्रित्य संयावं अनुद्वास्यापरा ययुः' कोई-कोई गोपी दूधको आगपर चढ़ायी थी पर दूधका भविष्य भूल गयी। वंशीध्वनि जो कानमें पड़ी और आँखमें, हृदयमें और रोम-रोममें उससे जो मिलनकी व्याकुलताकी व्याप्ति हुई उससे दूधके भविष्यका ख्याल नष्ट हो गया।

'पयोऽधिश्रित्य संयावं अनुद्वास्यापरा ययुः' एकने चढ़ा दिया हलुआ। 'संयावः' माने हलुआ। एक होता 'यवागू' और एक होता है 'संयाव'। इन दोनोंका वर्णन वेदोंमें भी आता है। अबके कई ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि गेंहूँ बादमें आया, लेकिन वेदोंमें गेंहूँका वर्णन है—

माषाश्च मे गोधूमाश्च मे यावाश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

शुक्ल यर्जुवेद संहितामें जौ, मूँग, उड़द, गेहूँ सबका वर्णन है। तो, यवागू जौ से बनता है; यवागू माने लप्सी। और संयाव माने हलुआ, घी डालकर खूब बढ़िया बनाते थे। संयाव कहनेका मतलब उसमें जौ भी डाल दिया था, दूध भी डाल दिया था, घी भी डाल दिया था और आगपर भी चढ़ा दिया था। सब ठीक, लेकिन महाराज, जब कृष्णकी बाँसुरी बजी तो हलुएकी मिठास भूल गयी, अनुद्वाससे उतारा नहीं! चल पड़ी कृष्णके लिए!

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योपास्य भोजनम्।
परिवेषयन्त्यस्तद्हित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः॥

एक दूसरी गोपी उस समय घरमें पत्नी-धर्मका पालन कर रही थी। वह भोजन परोस रही थी। 'परिवेशयन्त्यः'-पहले, लोग घरमें बैठते थे भोजनके लिए तो मण्डली बनाकर बैठते थे। चन्द्राकार गोल-गोल-पंगत बनाकर लोग बैठते थे और परोसनेवाली बीचमें रहती थी। असलमें, चन्द्रमा तो परसनेवाला है और दूसरे लोग अमृत पान करते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है मानो चन्द्रमापर 'पारस' लगी हो। चन्द्रमाके चारों ओर कभी-कभी पारस, परिवेश लगता है न, वैसे मण्डल बनाकर सब लोगोंका मुँह एक तरफ और परोसनेवाला बीचमें! **परिवेषयन्त्यः**—गोपी है और वह बिलकुल चाँदनीकी तरह चमकती है, पर अमृतकी तरह अन्न परस रही है; लेकिन महाराज, पंगत बैठी-की-बैठी रह गयी! वंशी सुनी और गोपी चली

गयी। कहाँ गयी? खानेवालोंने कहा—घरमें गयी होगी, दूध ला रही होगी। बोले—अरे राम, वह तो ऐसी लेने गयी कि लौटी ही नहीं!

परिवेषयन्त्यः तद्हित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।

नारायण! एक दूसरी गोपी स्नेहवश बच्चेको दूध पिला रही थी। बड़ा स्नेह, बच्चा रोता था '**पाययन्त्यः शिशून् पयः**' दूध पिला रही थी। एक बार कई महात्मा जुड़े तो यह चर्चा हुई कि गोपियोंमें क्या कोई बच्चेवाली भी थी? साहित्यिक लोग जहाँ लौकिक शृंगाररसका वर्णन करते हैं वहाँ अगर बच्चेवाली स्त्रीके शृंगार-रसका वर्णन हो गया तो उसको रसाभास मानते हैं। वहाँ सच्चे शृंगार-रसका उदय नहीं होता। इसका समाधान एक महात्माने क्या किया कि ये गोपियाँ दूध पिला रही थीं बच्चोंको, यह बात तो सही है, लेकिन वे बच्चे उनके नहीं थे, जेठानीके थे, बड़ी बहनके थे, उनको दूध पिला रही थीं। दूसरे महात्माने कहा—नहीं भाई! यह कोई साहित्य-दर्पणका या काव्य-प्रकाशका या रस-गङ्गाधरका, या मम्मटकार क्षेमेन्द्रका रस नहीं है, यह भगवद्-रस है! भगवद्-रसकी अधिकारिणी कुमारी भी है, विवाहिता भी है, बच्चेवाली भी है, सधवा भी है, विधवा भी है, वृद्धा भी है। भगवद्-रस केवल शारीरिक होता, माने भगवान् भी यही देखते कि कौन बुढ़िया कौन जवान, तो उनकी दृष्टि शारीरिक हो जाती। यहाँ तो प्रेमका प्रसङ्ग है, शरीरका प्रसङ्ग नहीं है। इसलिए जिनके बच्चा था वे भी **पाययन्त्यः शिशून् पयः।** बच्चेके प्रति हृदयमें जो स्नेह था जिसके साथ वह बच्चेको दूध पिला रही थी उसको भी छोड़कर वंशी-श्रवणके साथ ही श्रीकृष्णकी तरफ चल पड़ी।

देखो, इसमें कितना आश्वासन है कि लोग कहीं इस भ्रममें न पड़ जायँ कि भगवान्‌से प्रेम केवल जवान ही करते हैं, वृद्धा नहीं करती हैं। अरे! वहाँ तो व्रजमें महाराज! श्रीकृष्ण गोचारण करके निकलते थे तब आगे-आगे गौयें आती थीं और पीछे-पीछे श्रीकृष्ण और बलराम तथा उनके पीछे -ग्वाल-बालोंकी मण्डली। गायोंके खुरसे उड़-उड़कर धूल पड़ी हुई उनके तनपर, तो उनकी उस शोभाको देखनेके लिए रास्तेमें सासकी तो बात ही क्या, ददिया सास भी घोंटू तक काजल लगाकर और लठिया लेकर हाथमें और दरवाजेपर आकर खड़ी हो जाती थीं और मुस्करा-मुस्कराकर कृष्णको देखतीं थीं। उनको देखकर कृष्ण भी हँसते, उनको भी हँसी आ जाती थी। हास्य रस भी तो एक रस है न, उसके द्वारा भी तो भगवान्‌की आराधना होती है।

कई गोपी पतिकी सेवा-शुश्रूषामें लगी हुई थीं—**शुश्रूषन्त्यः पतीन्।** वे भी वंशी-ध्वनि सुनकर चल पड़ीं।

बोले—भाई, भले सबको छोड़ दें, लेकिन जब पेटमें चूहे कूदते हों, तो प्रेम

कोई नहीं करेगा, क्योंकि अपने शरीरसे तो प्रेम ज्यादा होता है। आपने सुना होगा कि अकबरने बीरबलसे पूछा कि दोनोंकी दाढ़ीमें अगर एकसाथ आग लगे तो पहले किसकी बुझाओगे? बीरबलने कहा कि पहले अपनी बुझावेंगे। तो जहाँ अपनेको तकलीफ होने लगती है तो दूसरेको भूल जाता है। हमारे गाँवमें कहावत है—पहले आत्मा, पीछे परमात्मा। तो बोले—एक गोपी उस समय कर रही थी भोजन। हमने तो ऐसी स्त्रियोंके बारेमें भी सुना है कि घरमें मुर्दा पड़ा है तो पहले भोजन कर लेती हैं फिर जोरसे रोना शुरू करती हैं। तो गोपियाँ भोजन कर रही थीं '**अश्नन्त्य**' पर महाराज! वह थाली रह गयी वहाँ, रोटी रह गयी वहाँ, वे तो मुँह घुमाकर चल पड़ीं। बेचारियोंके पास रूमाल भी नहीं था कि मुँह पोंछ लें। आजकल भी लोग मुँह पानीसे कम धोते हैं, रूमालसे ही पोंछ लेते हैं। **अश्नन्त्योपास्य भोजनम्**—भोजन एक ओर रह गया और गोपी चल पड़ी। वह तो योगमायाने उसका हाथ-मुँह पीछे धुलाया। देखा—कृष्णके पास जा रही है तो योगमायाने आकर उसका झट हाथ-मुँह धो दिया।

लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यो ऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।

बोले—बाबा प्रेममें भोजन छोड़ना तो आसान है लेकिन स्त्री अगर शृंगार कर रही हो, शृंगार-गृहमें हो, तो नहीं छोड़ सकती। उस समय कोई गोपी शृंगार कर रही थी। वह होठोंपर लेप कर रही थी—**लिम्पन्त्यः**। कागजपर स्याहीका लेप करते हैं; इसलिए लिखी हुई आकृतियोंसे व्यक्त भाषाको लिपि बोलते हैं। पर उसीको यदि लोहेकी कीलसे ताँबेके पत्र पर उल्लेख कर दें, तो उसको टंकण बोलते हैं क्योंकि टाँकी मारके लिखते हैं। ऐसे ही यह लिपस्टिक है। लिपस्टिक क्या है? कि यह लेपोस्टिक है। ओंठ पर लेप करती है इसलिए इसका नाम लिपस्टिक है। तो '**लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने**'—तीन प्रकारका संस्कार वह गोपी कर रही थी। अपनेको सजाने-सँवारनेमें तीन प्रकारकी विधि है : एक तो '**प्रमृजन्त्यः**'—जो शरीरमें मैल लगी हुई हो उसको उबटनसे निकाल देना, साबुनसे निकाल देना, उसको छुड़ा देना, पोंछ देना, इसको बोलेंगे-प्रमार्जन। दूसरी विधि है—लेपन; जहाँ-जहाँ कमी मालूम पड़ती हो वहाँ-वहाँ लेप लगाकर उस कमीको दबा देना। और तीसरी है—'**अञ्जन्त्यः**'—अंजन लगाना आँखमें। आँखोंको अंजनसे बड़ी-बड़ी कर देना! आँखोंके ऊपर जो पलकें हैं उनपर कालिख लगाते हैं, उसको आजकल क्या बोलते हैं उसको हम नहीं जानते हैं; एक डंडा खींच देती हैं, आँखसे लेकर कानकी तरफको, जिससे आँख बड़ी लगे।

अंजनसे आँख ज्यादा काली लगती है। अंजनका मतलब होता है उभारना—

सौन्दर्य छिपा हुआ हो उसको उभारनेके लिए जो भी क्रिया हो सो अञ्जु—व्यक्तिः। अञ्जु माने व्यक्त करना। तो जो सौन्दर्य छिपा हुआ हो उसको जाहिर करनेका तरीका अञ्जन है। और जो मैल लगा हो उसको धोनेका तरीका प्रमार्जन है। और बाहरसे रंग-रोगन, पाउडर-स्नो, लगाकर चिकना रंगीन बनाना, इसका नाम है लेपन।

एक देवीजी घरमें लेप कर रही थीं; पतिने कई बार कहा बाबा, समय बीत रहा है, चलो-चलो वहाँ पहुँचना है समयसे। तो देवीजी जोरसे चिल्लायीं—तुम तो जल्दी-जल्दी कर रहे हो और मैं दो घंटेसे कह रही हूँ कि पाँच मिनट ठहर जाओ, मैं आती हूँ! तो यह क्या बात हुई कि भोजनसे ज्यादा प्रेम श्रृंगारमें है।

लक्ष्मीजी और गंगाजीकी बात आप लोगोंने सुनी होगी। जब ब्रह्माजीने गाय बनायी, तो तैंतीस करोड़ देवताओंको निमन्त्रण दिया गया कि तुम लोग आकरके गायके शरीरमें रहो। सो महाराज और सब देवता जल्दी पहुँच गये और गंगाजी और लक्ष्मीजी दोनों श्रृंगार करनेके लिए पहुँच गयीं श्रृंगार-गृहमें, सो बहुत देरसे पहुँचीं। श्रृंगारमें ही घण्टों लग गया। सब देवता आकर गायके शरीरमें बस गये। तब ये पहुँचीं। ब्रह्माजीने कहा कि अब तुम्हारे लिए स्थान नहीं है, वापस चली जाओ। बोलीं—हम तो गायमें जरूर बसेंगी। ब्रह्माजीने कहा—ठीक है, पर गंगाजीको तो अब गोमूत्रमें रहना पड़ेगा और लक्ष्मीजीको गोबरमें रहना पड़ेगा। बोली—अच्छा; मंजूर है। मूत्रमें और गोबरमें रहना पड़ा, सबसे पीछे क्यों बैठना पड़ा ? कि वे श्रृंगारमें फँस गयीं।

तो बात यह हुई कि स्त्रियोंको भोजन उतना प्यारा नहीं है जितना श्रृंगार। लेकिन जब श्रीकृष्णकी प्रेमकी बाँसुरी बजी तो क्या हुआ कि इतना प्यारा जो श्रृंगार है वह भी छूट गया। '**अञ्जन्त्यः काश्च**' गोपीको एक आँखमें अंजन लगा था—एक तरफ लगा, एक ओर नहीं लगा; एक ओर लेप लगा दूसरी ओर नहीं लगा; शरीरमें उबटन लगा ही हुआ था, धुला नहीं था। पर जैसे थीं वैसे ही चल पड़ीं! बादमें तो सब योगमायाने सम्हाला। '**व्यत्यस्तवस्त्राभरणा काश्चिद् कृष्णान्तिकं ययुः**' कपड़े उलट गये, नीचेका ऊपर, ऊपरका नीचे, उलटे-सीधेका ख्याल नहीं रहा। आभूषण हाथका पाँवमें, पाँवका हाथमें—आभरण उलट गये। एक ही कानमें कुण्डल पहन पायी थी। जो नाकका आभूषण था वह कानमें, जो कानका था वह नाकमें डाल लिया। '**काश्चिद् कृष्णान्तिकं ययुः**' उनको तो यह ख्याल था कि हम अपने प्यारे कृष्णके पास पहुँचें! सब श्रृंगार भूल गयीं। स्त्रीके लिए श्रृंगारका बिसर जाना और खास करके अपने प्रियतमके पास जानेके समय, यह वंशी-ध्वनिका जादू है!

१५

जो जैसिहँ तैसिहँ उठ धार्यी-२

प्रेमके प्रतिबन्ध

(तावार्यमाणाः पतिभिः........दध्युर्मीलितलोचनाः)

तावार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥
अन्तर्गृहं गताः काश्चित् गोप्योऽलब्धविनिगमाः।
कृष्णं तद् भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरह **तीव्रतापधुताशुभाः।**
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष, निर्वृत्याक्षीणमङ्गलाः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.८-१०)

भगवान्से मिलनेके लिए जाना और ख्याल शरीरका करें—दोनों एक-साथ नहीं हो सकते जैसे ज्ञानमें देहात्म-बुद्धि और ब्रह्ममयी दृष्टि दोनों एक साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार प्रेममें है। जैसे ज्ञानमें विरोधी है देहका ध्यान, ऐसे प्रेममें विरोधी है वस्त्राभूषण। ये वस्त्र, आभूषण, किसी सौन्दर्यके सूचक नहीं हैं, ये सभ्यताके सूचक हैं, ये संस्कृतिके सूचक हैं, ये शिष्टताके सूचक हैं, ये मर्यादाके सूचक हैं। यह तो सब ठीक है, पर यदि कहो कि वस्त्राभूषणमें कोई प्रेम हो, कोई सौन्दर्य हो, तो राधेश्याम कहो! कालीदासने शकुन्तलाके सौन्दर्यका वर्णन किया है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनाऽपि तन्वी,
किमिवहिमधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

कहते हैं कि कमलके खिले फूलके साथ अगर शेवार चिपक जाय तो क्या कमलकी शोभामें कोई फर्क पड़ जायेगा? अच्छा, सुन्दर मुख पर दो-चार बाल अगर गिर जायँ, आँखको काटते हुए कपोल पर आजायँ, तो क्या उससे सौन्दर्य घट जाता है? अरे, कमलपर अगर शेवार पड़ जाय तो उससे कमलकी सुन्दरता घटती नहीं, बढ़ती है। **मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मीं तनोति**। चन्द्रमामें जो कलङ्क है, जो काला दाग है, उससे क्या चन्द्रमाकी शोभा घटती है? **इयमधिक**

मनोज्ञा वल्कलेनाऽपि तन्वी—यह सुन्दरी शकुन्तला वल्कल वस्त्र धारण किये हुए है तब भी अधिकाधिक सुन्दर लगती है। **किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनां**—जिनकी आकृति मधुर है, उनके लिए कौन-सी ऐसी वस्तु नहीं है और कौनसी ऐसी वस्तु है, जो शृंगार नहीं बन जाती, आभूषण नहीं बन जाती है। **सुन्दरे किं न सुन्दरम्—मधुराणां आकृतीनां किमिव वस्तु मण्डनम् न भवति।**

तो, प्रेमका आभूषण क्या? स्त्रीका सबसे बड़ा चातुर्य क्या है? उसकी मुग्धता उसका भोलापन ही उसका चातुर्य है। वह बहसमें किसीको जीत ले, दो थप्पड़ मारकर के हरा दे, अपनेको बड़ी विद्यावती सिद्ध कर दे, साक्षात् सरस्वती अपनेको सिद्ध करदे, परन्तु यह उसका सौन्दर्य नहीं है। स्त्रीका सौन्दर्य है उसकी मुग्धता, उसका भोलापन, यही इसकी चातुरी है। स्त्रीका सौन्दर्य क्या है? उसके हृदयमें प्रेम होना। उसके प्रेममें सौन्दर्य है। कृष्ण-प्रेममें वस्त्रकी जरूरत नहीं, उसमें आभूषणकी जरूरत नहीं, शृंगार ठीक हुआ कि नहीं, इसकी जरूरत नहीं। जैसे ब्रह्मात्मैक्यदर्शनमें देहात्मबुद्धिका त्याग होता है, वैसे भगवत्-प्रेममें वस्त्राभूषणका जो बाह्य सौन्दर्य है उसपर दृष्टि नहीं जाती। प्रेमीसे मिलनेके लिए जा रहे हैं, बस नदीकी तरह बहे जा रहे हैं!

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय।

उपनिषद्में आया है—जैसे नदी अभिसार करती है, सरकती-सरकती, बहती-बहती समुद्रमें जाकर मिलती है और अपना नाम और अपना रूप छोड़ देती है; इसी प्रकार प्रेम जब अपने प्रियतमकी ओर बहता है तब हमारा नाम बना रहे, हमारा रूप बना रहे, हम भी कुछ बने रहें, यह ख्याल नहीं रहता है। 'अहं'की पूजा और प्रेमकी पूजा-ये परस्पर विपरीत हैं। अहंकी पूजा तभी हो सकती है, यदि वह प्रियतमका हो और उससे प्रियतमको प्रसन्नता होती हो, यह मालूम पड़े कि इस वस्त्राभूषणसे वे प्रसन्न होंगे तो वही धारण कर लेंगे।

जा वेषाँ म्हारा साँई रीझे सोई वेष धरों।

जब चुम्बकने खींचा, तो लौहको कोई ख्याल नहीं रहा, कि मैं नहन्नी हूँ कि मैं चाकू हूँ, कि मैं कैंची हूँ। जब चुम्बकने खींचा तब लौह अपनी शकल-सूरत भूल गया। कृष्ण जो हैं ये क्या हैं? कि श्याम-चुम्बक हैं। राधा रानी सोना हैं तो श्रीकृष्ण कसौटी हैं; गोपियाँ लोहा है तो कृष्ण चुम्बक हैं। कृष्ण माने कर्षक, जो अपनी ओर खींचे। हृदयमें सोई हुई चीजका उल्लेखन करें। कृष्ण कृषक हैं किसान हैं।

एक सज्जन आये कृष्णके पास, बोले—मैं बिलकुल निर्बासन हूँ, श्रीकृष्ण।

मुझे तत्त्वज्ञान हो गया है, मेरे मनमें कोई वासना नहीं है। कृष्ण बोले–अच्छा; और थोड़ी देरमें, महाराज, कहींसे घूम–फिरके साड़ी पहनकर, लड़की बनकर, सामने आ गये। अब उन निर्वासनजी महाराजके मनमें जो वासनाएँ छिपी हुई थीं, उस लड़कीको देखते ही प्रकट हो गयीं। अब निर्वासनजी तो पीछे–पीछे दौड़ें। कृष्ण छिप गये; फिर घूम–फिरकर बालक बनकर बाँसुरी लेकर आगये। बोले—कहो निर्वासनजी महाराज! यह क्या हुआ? अरे तुम हमसे प्रेम करो, देखो झूठ–मूठके निर्वासन मत बनो! भक्ति जो है यह व्यक्तिकी शक्ति है।

अच्छा, एक बात आपको सुनाता हूँ। हम ईश्वरको चाहें कि ईश्वर हमको चाहे, दोनोंमें कैसे काम बनेगा? सचमुच अगर ईश्वर हमको चाहे तो तुम सह नहीं सकते, बर्दाश्त नहीं कर सकते। अरे उसके न बाप, न माँ, न भाई, न बन्धु; वह अगर चाहे तो किसीको बुलावेगा नहीं, वह तो आकर तुम्हारे घरमें बैठ जायेगा। तब कहोगे हाय–हाय, यह तो बड़ी मुश्किल हुई, अब क्या करें? उसकी न तो जाति, न बिरादरी, न नर्क, न स्वर्ग, न पुर्नजन्म, न माँ, न बाप, न कोई रोकनेवाला, न वेद, न धर्म, परन्तु अगर तुम चाहोगे तो तुम्हारे जीवनका निर्माण होगा; ईश्वरको चाहनेसे हृदयका निर्माण होता है। यह ब्रह्म जो है, परमार्थ वस्तु है; किसीको बनाता नहीं है, सबको प्रकाशित करता है, सबको आनन्द देता है, सबको सत्ता देता है, सबमें समान है। और यह जो भक्ति है, वह ब्रह्मकी शक्ति नहीं है, यह प्रेमीकी शक्ति है, इसीसे जो विरोध मानते हैं कि वेदान्तमें और भक्तिमें विरोध है वे जानते नहीं कि श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज जो विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन करते हैं उसमें जो अर्न्तयामी ईश्वर है, ब्रह्म है, वह कैसा है। जो समझते हैं कि वेदान्त और भक्ति विरुद्ध हैं, उनको मालूम नहीं कि श्रीवल्लभाचार्य जी महाराजका विशुद्धाद्वैत क्या है और उनकी भक्ति क्या है। जो समझते हैं कि भक्ति और वेदान्त विरुद्ध हैं उनको भी नहीं मालूम कि निम्बार्काचार्यजी महाराजका द्वैताद्वैत और भक्ति क्या है? अरे द्वैताद्वैत, विशुद्धाद्वैत—वह तो वस्तु–तत्त्व है, मूल तत्त्व है, सिद्धान्त है। वह तो सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान है, आश्रय है, परस्पर–विरुद्ध–धर्माश्रय है, अविकृत उपादान है। और, नारायण! यह भक्ति जो है, वह मनुष्यके हृदयमें पैदा होनेवाली हमारी चीज है। जिसके दिलमें भक्ति रहती है उसका निर्माण करती है। साधनका रहस्य ही यह है कि अगर अपने दिलको बनाना हो तो भगवान्की भक्ति करो, प्रेम करो!

व्यतस्तवस्त्राभरणाः काश्चिद् कृष्णान्तिकं ययुः।

चुम्बक अपनी जगह पर और उसने लोहेको खींच लिया; सोना जाकर

कसौटीसे मिल गया; यह है—**कृष्णान्तिकं ययुः**। अब यह कहो कि विघ्न ना पड़े, तो जो विघ्नसे हार जाता है, वह भक्तिके, प्रेमके मार्गमें चलने योग्य नहीं, धर्मके मार्गमें चलने योग्य नहीं है। ये जो आजकल स्कूल और कालेजमेंसे पढ़कर निकलते हैं और अपने माँ-बापको अहमक बोलते हैं वे भला क्या जाने कि भक्ति क्या होती है। उनसे कहो—ईश्वरका भजन करो, तो कहेंगे—भक्ति क्यों करें? कभी ईश्वरने बनायी होगी सृष्टि! अब ईश्वर नहीं है। अरे, बाबा! ईश्वर है तो सर्वदा है नहीं तो हम लोगोंका तो यह पक्ष है कि कदाचित् यह बात भी मान ली जाय कि ईश्वर नहीं है, तो भी भक्ति करनेवालेका कल्याण होगा, हित होगा, मंगल होगा। यह पक्ष शास्त्रमें है कि यदि कदाचित् ईश्वर न भी हो तो भी जो उसका ध्यान करेगा, उसका भजन करेगा, प्रेम करेगा, उसका कल्याण होगा। तो लौकिक नियम ऐसा है—**प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः**—

विघ्नके भयसे नीच लोग काम प्रारम्भ ही नहीं करते। ये बोलेंगे-इसमें यह रुकावट है, वह रुकावट है; उनको जो मददगार है, वह दिखायी नहीं पड़ेगा और जो रुकावट है वह दिखाई पड़ेगी। यदि काम प्रारम्भ किया और उढ़ुक लग गयी तो बोलेंगे-अरे अमंगल हो गया! कहेंगे कोई आकाशमें आत्मा रहती है, उसने आकर हमसे कहा है, यह इशारा किया है, कि पाँवमें ठोकर लग गयी अब इस रास्तेपर मत जाओ, ठोकर लगे तो लौट जाओ।

हम आपको अपने जीवनकी कितनी बात बता सकते हैं कि पहले उसमें खूब विघ्न आया। एकबार हम कर्णवाससे हरिद्वारके लिए चले पैदल; कोई दो सौ मील होगा। जो कर्णवाससे निकले वर्षा शुरू हो गयी; सायंकाल और बादल आसमानमें, और वह बिजली चमके, वह गर्जना हो; तीन मील चलते-चलते रात हो गयी। ऐसा लगे कि पहले ही ग्रासमें मक्खी गिरी, बड़ा विघ्न पड़ा। फिर एक रोशनी दिखाई पड़ी। नहर पारकर रातमें बिलकुल रोशनीके सीधमें रास्तेसे नहीं खेतोंमें भरा हुआ पानी पार करके गाँव में १० बजे, पहुँच गया; जाने पर उन लोगोंने आग जलायी और हमारे भीगे कपड़े सुखाये, दूध पिलाया, सो गये। लेकिन उसके बाद हरिद्वार तक कभी वर्षा नहीं आयी, बड़े आनन्दसे यात्रा हुई। अब पहले दिन हम सोचते कि मक्खी गिर गयी, तो यात्रा कहाँसे होती! नारायण, विघ्न आनेसे जो अपना मार्ग छोड़ देते हैं उनके अन्दर कोई जीवन नहीं है, भला! यह तो असलमें विघ्नोंसे तपकर अपना साधन बनता है।

विघ्न भी दो तरहका होता है। एक तो बाहरकी वस्तुओंसे आकर और दूसरा अपने मनसे आकर। काम करनेमें जो ढिलाई होती है उसमें तो विघ्न अपने

मनमें-से आते हैं कि इसमें यह डर है, यह डर है अब डरके मारे पाँव ही न रखें धरतीपर! एक आदमीने कहा महाराज; छह महीनेके बाद ऐसा हो जावेगा तो? एक आदमीने कहा-अगर पानी न बरसा तो? मैंने कहा आज ही भूकम्प आजाय तो? नारायण। कौन सा इन्तजाम करोगे? आदमीको अपने दिमागको खराब नहीं करना चाहिए। एकने हमसे आज ही कहा कि पूनामें तो जगह मिली नहीं अब नासिकमें तलाश करते हैं, बम्बईसे तो भागना ही पड़ेगा, पानीकी समस्या है बम्बईमें। अरे नारायण, आप पानीका खर्च ज्यादा मत करना सो तो ठीक है, लेकिन बिलकुल बेफिकर रहना, जाना-वाना कहीं नहीं पड़ेगा, हमारी जिम्मेवारी है। संसारमें कितनी बार अवर्षण होता है, अपने मनको क्यों कमजोर बनाना? यह वर्षा व्यष्टि प्रारब्धसे नहीं होती, उसमें एक आदमीका प्रारब्ध नहीं होता, उसमें सबका प्रारब्ध मिला होता है। वर्षा समष्टि प्रारब्धसे होती है। विघ्नकी कल्पना, जो चीजोंसे विघ्न आता है, जैसे साँप आगया, गर्म हवा चलने लगी, ये सब निर्जीव विघ्न हैं; लेकिन जब सजीवसे विघ्न आता है; जैसे घरके लोग रोते हैं उस समय विघ्नका पता चलता है।

आप समझो कि आप कहीं जा रहे हो हमने आपको रोकनेके लिए आगे हाथ कर दिया, तो आप और जोर लगाकर हमारा हाथ हटावेंगे, आगे बढ़ जायेंगे। अच्छा, हम ऐसे हाथ न करें, तो आप मामूली गतिसे चलेंगे लेकिन यदि हम हाथसे रोक कर दें तो जोर लगाकर निकलेंगे। इसका अर्थ हुआ कि आपके भीतर प्रेममें जो शक्ति छिपी हुई है उसको जाहिर करनेके लिए, प्रकट करनेके लिए, सोती हुई शक्तिको जगानेके लिए, विघ्न आया। तो गोपियाँ भी जब श्रीकृष्णके पास चलीं तो उनको भी विघ्न आया! यह कोई उनके पापका फल नहीं है, यह तो उनके पुण्यका फल है; अरे पुण्यका नहीं, श्रीकृष्णकी कृपाका फल है। उनके हृदयमें जो प्रेम है, उसको आप कैसे जानेंगे कि कितना प्रेम था! इसलिए थोड़ी रुकावट पड़ी। बड़े वेगसे गोपी चलीं। महाराज, जब मोटरको ऊपर चढ़ना होता है और चढ़ नहीं पाती है—ऊँचाई रोकती है—तो गीयर बदल देते हैं और जोरसे चलाते हैं। इसी प्रकार रुकावट पड़नेपर यह प्रेम जोरसे चलानेका है, कम करनेका नहीं है—

तावार्यमाणाःपतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥

ता वार्यमाणाः पतिभिः—पतियोंके द्वारा गोपियोंका वारण किया गया। पतिने दो चीजसे वारण किया। एक धर्मसे और एक प्रेमसे। प्रेमसे हाथ पकड़ लिया और बोले हमको छोड़कर जाना तुम्हारा धर्म नहीं है। यह नहीं कि कृष्णके

पास जाना धर्म नहीं है, बल्कि बात यह कही कि हमको छोड़कर जाना धर्म नहीं है। कृष्णके पास जाना धर्म नहीं है—यह दुनियामें कोई बोल नहीं सकता, वेद भी नहीं बोल सकता, श्रुति भी नहीं बोल सकती। बोले-नहीं, हमको छोड़कर जाना धर्म नहीं है। गोपीने कहा—मैं जहाँ जा रही हूँ तुमको अपने साथ लिये जा रही हूँ, मुझे तुम वहाँ मिलोगे? कहकर गोपी भागी।

ता वार्यमाणाः पितृभिः भ्रातृबन्धुभिः—पिताने पकड़ा। पिताने स्नेह और वात्सल्यसे वारण किया। बोले—बेटी! रातके समय घरसे बाहर नहीं जाना, कहीं बिच्छू न काट ले। पिताको शंका नहीं थी अपनी बेटी पर! यह नहीं समझो कि वह समझता था कि हमारी बेटी बाहर जाकर कहीं गलत काम करेगी। माँ-बाप प्रायः अपनी बेटी-बेटोंपर इतना विश्वास करते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है, और बेटी-बेटा हमेशासे ही माँ-बापको धोखा देते आये हैं और माँ-बाप हमेशासे ही विश्वास करते आये हैं। तो, गोपीने कहा—पिताजी, तुम्हारा आशीर्वाद, तुम्हारा स्नेह, तुम्हारा वात्सल्य हमारी रक्षा करेगा। जहाँ भी जायेंगे वहाँ हमारी रक्षा करेगा। **भ्रातृबन्धुभिः**—भाई आये; बोले-बहिन! अकेले-अकेले मत जाओ, मैं साथ चलूँ? गोपी बोली-अभी बोलो मत! **बन्धुभिः** माने परिवारवाले लोग आये, बोले-अरे सुनो, कहाँ जाती हो? पर वहाँ सुननेवाला कौन था! गोपीका चित्त तो गोविन्दने चुरा लिया था।

ता वार्यमाणाः गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।

वह महाराज, चोर-जार शिखामणि, गोविन्द जिसका नाम है उसने गोपीका चित्त चुरा लिया था। असलमें 'गोपेन्द्र' जो शब्द है, वही लौकिक व्याकरणसे गोविन्द बनता है। वैदिक व्याकरणसे तो गोविन्द बनता है-इन्द्रका इन्द हो गया। गवीन्द्र-गवेन्द जैसे होता है न, वैसे गोविन्द हुआ। पर उसकी भी व्युत्पत्ति निकालें। **गां विन्दति इति**—गायोंके पीछे-पीछे चलता है, इसलिए गोविन्द है। **'गोभिः विहिते इति'** वेदवाणीके द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए गोविन्द है।

गोविन्द शब्दका बहुत मजेदार मतलब है। यह जो वेदान्तियोंका ब्रह्म है वह तो स्वयं है, वह किसीसे मिलता नहीं द्रष्टा जो है वह विवेकसे मिलता है; बुद्धिसे विवेक कर लो तो द्रष्टा मिलेगा। सगुण भगवान् जो है वह भक्तिसे, प्रेमसे मिलता है। स्वर्गादि जो हैं वे धर्मसे मिलते हैं; उनमें भी कोई शरीरसे मिलता है, कोई मनसे मिलता है। परन्तु हमारे जैसा ईश्वर दुनियामें किसी ईश्वरवादीके पास नहीं है। हम चुनौती देकर बोल सकते हैं परन्तु किसी धर्मपर आक्षेप नहीं करते

हैं, भला! ना मुसलमानके पास ऐसा ईश्वर है, ना ईसाईके पास, ना बौद्धके पास, न जैनके पास, न सिखके पास और न तो पारसीके पास! जो हैं वे माफ करें। हमारे पास ईश्वर, ऐसा ईश्वर है जो इन्द्रियोंसे मिलता है। इसको बोलते हैं—गोविन्द हमारे यहाँ तो जो अधिष्ठान है सोई अध्यस्त है। जिनके मतमें केवल आश्रय ही आश्रय ब्रह्म है, उनके मतमें इन्द्रियोंसे वह कैसे मिलेगा? निराकार-ही-निराकार है तो इन्द्रियोंसे कैसे मिलेगा? अन्तर्यामी-ही-अन्तर्यामी है तो इन्द्रियोंसे कैसे मिलेगा? जो इन्द्रियातीत है वही इन्द्रियग्राह्य है—यह हमारा सिद्धान्त है, बिलकुल वैदिक, औपनिषदिक, *स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः* बाहर भी वही, भीतर भी वही, गोविन्द माने यही है कि अरे! आओ, आओ! हम तुमको ऐसा ईश्वर देते हैं जिसको तुम आँखसे खूब देख लो, नाकसे सूँघ लो, त्वचासे छू लो, जीभसे चाट लो और कलेजेसे लगा लो, और कानसे सुन लो, उसकी नाक-से-नाक सटा लो, और उसकी साँससे साँस मिला लो, उसके शिरसे शिर टकरा लो, ऐसा ईश्वर, ऐसा ईश्वर सिर्फ हमारे पास है। यह भागवत—धर्मकी महिमा है। और जो लोग वेदान्तको ठीक-ठीक समझते हैं, केवल व्यतिरेक दृष्टिमें जो फँसे हुए नहीं हैं कि ये नहीं-ये नहीं; जिनको अन्वय दृष्टि प्राप्त है, जिनको सर्वात्म-बोध है वे जानते है कि—**यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः**। जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ समाधि है; **यद् यद् पश्यति चक्षुर्भ्यां तद् तद् ब्रह्म**—आँखसे जो-जो दिखताहै सो ब्रह्म है। यह लो ब्रह्म—साँवरा ब्रह्म, सलोना ब्रह्म, सुरीला ब्रह्म, मुस्कानवाला ब्रह्म, चितवनवाला ब्रह्म, कुण्डलवाला ब्रह्म, बुलाकवाला ब्रह्म, तिलकवाला ब्रह्म, काले बादलोंवाला ब्रह्म, मयूर मुकुटवाला, बाँसुरीवाला ब्रह्म, पीताम्बरवाला ब्रह्म, यह ब्रह्म, यह गोविन्द जिसका नाम है, इसने क्या किया? कि **अपहृतात्मानः**—

गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः।

गोविन्दने ऐसा ठगा महाराज! और ठग ही नहीं लिया, लूट लिया! अपहृत शब्दका अर्थ है लूट लिया। देखो—भगवान्‌को जब पालन-पोषण करना होता है तब राजकुमार बनते हैं और ज्ञानोपदेश करना हुआ तो ब्राह्मण बनते हैं—कपिल बन गये, दत्तात्रेय बन गये, व्यास बन गये, शुकदेव बन गये और जब लूटमार करना हुआ लोगोंका मन लूटना हुआ, तो महाराज अहीर बन गये। यह अहीरका जो है न, वह कैसा है कि—*कढ़ि गयो अबीर पै अहीर को कढ़ै ना*—अबीर तो आँखसे निकल भी जाय, पर यह अहीर आँखसे नहीं निकलता। तो आओ-नारायण-**गोविन्दापहृतात्मानः**, लूटा भी क्या? हीरा-मोती नहीं लूटता है, देह नहीं लूटता है, यह तो मन लूटता है, यह तो आत्मा लूटता है। यह तो सारे

अन्तःकरणको ही, इन्द्रिय समूहको ही, मनोवृत्ति-समूहको ही, अपनी ओर खींच लेता है।

अब तो महाराज! **मोहिताः**-मोहित हो गयीं। **मुह् वैचित्ये**—गोपियोंका चित्त विचित्त हो गया, पहचानें ही नहीं। बाप बोल रहा है कि क्या बोल रहा है, सुनायी नहीं पड़ा; यह पति बोल रहा है। कौन है? यह पति है, पहचानमें नहीं आया, मानो पतिसे, पितासे, भाईसे कोई जान-पहचान ही न हो! **मोहिताः मा अहितं याषाम्**—मोहित माने जिसमें अहित नहीं है, अहित नहीं है माने ये माँ है, ये बाप हैं, ये भाई हैं, ये पति हैं, पहचानका ही लोप हो गया। और '**न न्यवर्तन्त**' और बात सुननेके लिए भी खड़ीं नहीं हुई, लौटी नहीं। परन्तु कोई-कोई ऐसी थी, जो महाराज! रुक गयीं, विवश थी—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ताः दध्युर्मीलितलोचनाः॥

कहते हैं जो पूर्वजन्मकी योगिनी थीं, उनका वैसा ही अभ्यास रहा। गाँवकी ग्वालिनें जो गाय दुह रही थीं या जो खुले कमरेमें थीं, आँगनमें थीं, जिनका रास्ता खुला था, वे तो चली गयीं और कोई तो बन्द कमरेमें थी—**अन्तर्गृहगताः काश्चिद्;** अरे, उनको इतना भी छेद बाहर निकलनेको नहीं मिला कि चिड़िया बनकर उड़ जायँ—**अलब्धविनिर्गमाः**। 'वि' माने होता पक्षी, 'वि' माने शकुनि, 'अलब्धविनिर्गमा' जिस रास्तेसे चिड़िया उड़कर, निकलकर उड़ जाती थीं, वह झरोखा, वह खिड़की भी उनको नहीं मिली, रास्ता दीखना ही बन्द हो गया, तब '**निमीलितलोचनाः**'—सोचा, अच्छा शरीर नहीं जाता है, तो आँख बन्द कर लो, '**निमीलितलोचनाः।**' ये आँख अगर भगवान्‌से अलग ले जाती हों तो आँख नहीं चाहिए, ये ईश्वरको देखनेके लिए बनी हैं। परन्तु प्रेम होवे तब न! तब क्या किया? कि—'**मीलितलोचना, लोचनं ज्ञानं**'—उनका ज्ञान जो है वह लुप्त हो गया, और '**तद्भावनायुक्ताः कृष्णं दध्युः**' कृष्णका ध्यान किया। भला गोपीको इतनी जल्दी ध्यान कैसे लगा गया? **तो तद्भावना, कृष्णं दध्युः यतः तद्भावनायुक्ताः**—हमेशासे भावना तो वही थी। कृष्णकी भावना, कृष्णकी भावना; जिसके प्रति भावना होती है उसका ध्यान लग जाता है। ध्यान लगनेका यही तरीका है।

एकने पूछा—जब माला फेरने बैठते हैं तब कृष्णका ध्यान नहीं आता। तब किसका आता है? कहा—बेटेका आता है। वाह भाई वाह! कृष्णका नहीं आता है, बेटेका ध्यान आता है, क्यों? तो देखो, दुनियामें जिससे प्रेम होता है,

जिससे सम्बन्ध होता है, उसीका ध्यान आता है, यह नियम है। तुम्हारा कृष्णसे कोई सम्बन्ध नहीं है, उससे प्रेम नहीं है, पुत्रसे प्रेम है, सम्बन्ध है इसलिए हाथमें माला होती है कृष्णकी और ध्यान आता है बेटेका। देखो आत्मा, ब्रह्म तो सम्बन्ध-रहित है परन्तु कृष्णकी जो प्रियता है वह सम्बन्धयुक्त है। तुम्हारे मनमें कृष्णके सम्बन्धका बन्धन है कि नहीं? अरे, तुम्हारे सैकड़ों रिश्तेदार, नातेदार हैं, उनमें कोई एकाध रिश्ता कृष्णसे भी तो जोड़ो—

तात मात गुरु भ्रात सखा तू सब विधि हितू मेरो,
तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन शरन पावे।

देखो, जबतक यह शरीर है और जबतक दिल है, इसको मेरा करके रखोगे तो रोओगे और इसको तेरा करके छोड़ दो तो सुखी रहोगे। भक्तिका यही रहस्य है। मैंको काटता है ज्ञान और मेरेको काटती है भक्ति। दुनियामें जो मेरापन है—यह मेरा, यह मेरा, वह मेरा, इसकी जगह भक्ति बताती है—मेरा ईश्वर; ईश्वरके सिवाय मेरा और कोई नहीं है, भगवान् मेरा, नारायण मेरा, लो, बन गयी बात! यही भक्ति है। ईश्वरके प्रति अतिशय ममत्वका नाम भक्ति है—

सम्यग् मश्रिणित स्वान्तो ममात्वातिशयान्तकः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

विद्वान् लोग, प्रेम किसको कहते हैं? एक तो दिलको खुर्दरा मत रखो, चिकना कर दो, स्निग्ध बना दो, मश्रृण कर लो। तुम्हारा दिल ऐसा हो जाय कि इसको देखकर भगवान्‌के मनमें ऐसा होने लगे कि इसको खा जावें, इतना मीठा दिल होना चाहिए कि मिठास ही मिठास दिलमें होवे, कड़ुवाहट न हो। दुनियामें अगर किसीको देखकर तुम्हारा दिल कड़वा हो जाता है तो भगवान्‌को कड़वी चीज नापसन्द है। अगर तुम्हारा दिल हमेशा मीठा-मीठा रहता है तो तुम्हारे मीठे दिलको भगवान् अपना भोग्य बना लेंगे। वे जब तुम्हारे दिलमें रूप होगा तो उसको देखेंगे, रस होगा तो चखेंगे और गन्ध होगा तो सूँघेगे और शब्द होगा तो सुनेंगे? तुम्हारे दिलमें जो होगा, उसको भगवान् अपना भोग्य बना लेंगे। लेकिन पहले दिलको मीठा कर लो। देखो गन्नाके देशमें पैदा होते हैं भगवान्—आपको मालूम है कि नहीं? जिस देशमें गन्ना ज्यादा पैदा होता है उस देशमें भगवान्‌के अवतार ज्यादा होते हैं। आप पता लगा लेना, गन्ना कहाँ ज्यादा पैदा होता है। दूसरे प्रदेशोंमें आचार्य लोग जो वैराग्यग्रस्त लोग हैं, वे पैदा होते हैं—जैसे रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य; लेकिन भगवान् वहाँ पैदा होते हैं जहाँ खूब गन्ना पैदा होता हो, गुड़

हो, शक्कर हो; उनको खिलानेके लिए शक्कर चाहिए; कटु वाक्य भगवान्‌को पसन्द नहीं। मिष्ट, मधुर वाक्य चाहिए उनको। दिलको खूब सोंधी-सोंधी, मीठी चासनी बनाकर रखो और उसमें सबको डुबाते जाओ। भगवान्‌को चाहिए प्रेम-भोग, सूखा-योग नहीं और श्रीकृष्णके प्रति ममताका भाव ही प्रेम है।

तो कृष्णका ध्यान, भगवान्‌का ध्यान होगा यदि एक तो तुम भगवान्‌के साथ सम्बन्ध बनाओ और दूसरा उनके साथ प्रेम जोड़ो। **तद्भावनायुक्ताः**- गोपीके मनमें भावना है—**तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः**- कृष्णकी भावना करते-करते गोपीका दिल हो गया कृष्णाकार। जब आँख बन्द करके उसने देखा तो कृष्ण वहाँ मौजूद! वे तीन टेढ़े टेढ़ हैं न! कुब्जाको देखते ही जो कृष्ण मोहित हुए उसका कारण था कि बोले-जैसा मैं ऐसी यह। यह भी त्रिवक्रा है और मैं भी त्रिवक्र हूँ। रूपका भी मेल खा गया और नामका भी मेल खा गया और नामका मेल तो खाता ही था कुब्जा और कृष्ण दोनों क-कारसे ही प्रारम्भ होते हैं। ज्योतिषकी गणगौरी तो बैठ गयी न! चलो टेढ़े-टेढ़ेका अच्छा योग है!

त्रिवक्र भगवान् टेढ़े क्यों हैं? भगवान् टेढ़े क्यों हैं कि प्रेम सीधा नहीं चलता। प्रेमकी गति टेढ़ी है और कृष्ण प्रेम हैं। अतः टेढ़े हैं! अच्छा और देखो शृंगारका रंग साँवरा है; श्रीकृष्ण भी साँवरे हैं। और भक्त बिचारे सीधे हृदयके, सरल-सरल, उनमें-से टेढ़े-टेढ़े घुस जाते हैं, तो अटक जाते हैं! सीधीमें टेढ़ी चीज डाल दो तो अटक जायगी, निकलेगी नहीं। भगवान् भी यदि सीधे होते तो जल्दीसे निकल जाते; इसलिए उन्होंने अपनेको टेढ़ा बना दिया! अब गोपीके इस ध्यानका फल क्या हुआ नारायण, पहले तो ऐसा लगा कि श्रीकृष्णसे हमारा विरह है—

> **दुःसहप्रेष्ठविरह तीव्रतापधुताशुभाः।**
> **ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्याक्षीणमङ्गलाः॥**
> **तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।**
> **जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥**

यह भगवान्‌का जो विरह है वह सामान्यतः किसीको फुरता नहीं है; क्योंकि यदि स्फुरित हो तो उसका दुःख भी स्फुरित होगा और अगर विरहका दुःख होगा तो संसारसे त्याग, वैराग्य करना नहीं पड़ेगा, अपने आप हो जायेगा। ये जो वेदान्ती लोग विवेक करते हैं—'**अत्यन्तमलिनो देहो-देही चात्यन्तनिर्मलः।**'— देह बड़ा मलिन है और देही अत्यन्त निर्मल है; बिचारे विवेक भी करते हैं और फिर देहको ही मैं मानकर सब व्यवहार करते हैं लेकिन अगर भगवान्‌से प्रेम हो जाय तो देहके बारेमें सोचना नहीं पड़ेगा। चैतन्य महाप्रभुने कहा कि अगर हमसे

कोई कहे कि तुम भगवान्‌का समागम चाहते हो कि विरह? तो हम कहेंगे कि हमको विरह चाहिए। अरे भलेमानुस विरह क्यों माँगते हो? तो बोले—देखो समागममें तो प्रेमास्पद अकेला रहता है परन्तु विरहमें तो वह सब जगह दिखाई पड़ता है। वृत्ति तदाकार हो जाती है।

सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्य

यहाँ है तो, 'तस्याह' लेकिन चैतन्य महाप्रभुने इसको तस्य कर दिया है।

तो हम सुना रहे हैं कि आप आस्तिक हैं, सभी देवी-देवताको हाथ जोड़ लेते हैं— कृष्णका मन्दिर पड़ गया, हाथ जोड़ लिया, कहीं भूत-भैरवका मन्दिर पड़ गया उसको भी हाथ जोड़ लिया; कभी दुर्गाका मन्दिर पड़ा उसको भी हाथ जोड़ लिया। आस्तिकताकी बात दूसरी है। लेकिन जब दिलमें भगवान्‌का प्रेम आता है तो एक-एक क्षणका विरह कल्पके समान हो जाता है। जिसके हृदयमें विरहकी फुरना नहीं हुई, उसके अन्दर संयोगका सुख भी नहीं आयेगा। जिसके बिना हम दुःखी नहीं होते उसके मिलनेपर सुखी कहाँसे होंगे? अगर फोड़ेका दर्द नहीं हुआ तो उसके फूटनेपर सुख क्या मिलेगा? शान्ति कहाँसे मिलेगी? मजा क्या आवेगा? यह तो जिसको दुःख है उसीको सुख होता है। भवगान्‌का विरह जिसको जब जगता है और सताता है तो कैसा होता है—

उत्तापीपुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणः
दम्भोलेरपि दुःसहकटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
प्रौढ़ः तीव्र विशूचिका निचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बलिः
मर्माण्यद्यभिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्माज्वराः॥

जब विरहका विष व्यापता है तब मिलन अमृत बनकर आता है—

मैं बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ।

तो, गोपीको ध्यान लग गया और ध्यानमें भगवानसे ऐसी मिली कि उनको पान खिलावे, उनके बाल सँवारे, उनका पीताम्बर सुधारे, उनके हृदय पर अपना सिर रख दे, ऐसी मिली कि उसको दर्शनसमानाकार वृत्ति हो गयी, भूल गया कि ध्यान है, उसका ख्याल हुआ कि हम सचमुच मिल गये भगवान्‌से।

जो जैसिहँ तैसिहँ उठ धार्यी—३

प्रेममे विरहजन्य तापसे मोक्ष

(दु:सह श्रेष्ठ............जारबुद्ध्यापि संगता:)

दु:सहप्रेष्ठविरह तीव्रतापधुताशुभा:।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्या क्षीणमङ्गला:॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगता:।
जहुर्गुणमयं देहं सद्य: प्रक्षीणबन्धना:॥

(श्रीमद्भाग० १०.२९.१०-११)

शिष्टास्तव यदि सखे बन्धुसङ्गेऽस्ति रङ्ग:—यदि तुम्हें दुनियादारीकी रंगीनी देखनी है, उसका मजा लेना है, तो कृष्णके ऊपर नजर मत डालना! यह तो इसीलिए अहीर होकर आया कि नाचनेमें शर्म नहीं आवेगी—बाँसुरी बजावेंगे, नाचेंगे, जामेय पहनेंगे, कम्बल रखेंगे कन्धेपर, लाठी रखेंगे हाथमें, सोनेका नहीं मोर-पंखका मुकुट बाधेंगे, मार-पीटकी भी जरूरत पड़ेगी तो घड़ा फोड़कर, कपड़ा फाड़कर भी अपनी ओर खींचेंगे; यह कृष्ण तो खींचनेके लिए ही आया है!

गोविन्दापहृतात्मानो नन्यवर्तन्त मोहिता:।

गोपियाँ नहीं लौटीं, नहीं लौटीं। उसी बीचमें देखते हैं कि इस जन्मके जितने प्रेमके प्रतिबन्धक थे अर्थके, भोगके, धर्मके—सबपर गोपियोंने विजय प्राप्त कर ली! पर कुछ गोपियाँ ऐसी थीं जिनके पूर्व प्रतिबन्धक विद्यमान थे; सांसारिक प्रारब्ध उनका बड़ा प्रबल था। कर्म-भोगके संचित और क्रियमाण कट भी जायँ किन्तु प्रारब्धका तो—*भोगादेव क्षय:*—बिना भोगके क्षय होता नहीं—**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि**। अपने प्रारब्ध कर्मका फल तो भोगना ही पड़ता है। तो अभी जिनके कर्म शेष थे, भोग शेष थे, इनको कई तरहके दु:ख भी भोगने बाकी थे और कई तरहके सुख भी भोगने बाकी थे और जबतक संसारमें सुख-दु:खका चक्कर लगा है, जबतक प्रबल पूर्व कर्म प्रतिबन्धक हैं, तबतक मनुष्य ईश्वरकी ओर कैसे बढ़े? उसका भी रास्ता बताया—

अन्तर्गृहगता: काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमा:।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचना:॥
दु:सहप्रेष्ठविरह तीव्रतापधुताशुभा:।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला:॥

भक्त लोग जब भक्ति बलका निरूपण करते हैं तो कहते हैं कि देखो हमारी भक्ति तुम्हारे ज्ञानसे बलवान है। कैसे, क्या प्रमाण? बोले—ज्ञानसे सब कर्मोंका क्षय हो जाता है, लेकिन प्रारब्धका क्षय नहीं होता। शंकराचार्य भगवान् भी—**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**—इसके भाष्यमें लिखते हैं—**सामर्थ्याद् येन कर्मणा शरीरं आरब्धं तत् प्रवृत्तिफलत्वाद् उपभोगेन एव क्षीयते।** ज्ञानकी आग जब जलती है तब सब कर्मोंको भस्म कर देती है लेकिन प्रारब्धको भस्म नहीं करती, क्योंकि वे तो फल देनेके लिए प्रवृत्त हो चुके हैं अतः उनका भोगकर ही क्षय होगा। लेकिन, जब प्रेमकी आग जलती है तो प्रेमाग्नि बड़ी प्रबल है। भागवतके तीसरे स्कन्धमें इसका वर्णन है—

देवानां गुणलिङ्गानां आनुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

जैसे खाये हुएको जठराग्नि पचा देती है, ऐसे भक्तिकी आग जब हृदयमें जलती है, तो पंचकोषको भस्म कर देती है और शुद्ध आत्मा परमात्मासे मिल जाती है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें कपिल-देवहूतिके सम्बन्धमें यह बात आयी है—'**जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।**'

अब आपको उसका नमूना दिखाते हैं। घरका दरवाजा बन्द और वह ग्वाला (गोपीका पति) भी महाराज बड़ा प्रौढ़ था। दरवाजेपर बैठ गया। बोला—देखो, मैं कोई ऐरा-गैरा-नत्थूखैरा नहीं हूँ। जैसे सब गोपियाँ चली गयीं, वैसे यदि तू भी चली गयी तो हड्डी-पसली तोड़ दूँगा। किवाड़ी बन्द करके, ताला बन्द करके बैठ गया। खिड़की भी बन्द कर दी, चिड़िया उड़ने-भरकी जगह भी निकलनेको नहीं मिली। **गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।** अब देखो कर्म जलानेकी प्रक्रिया चली। यह भगवत्-कृपा है, इसका नाम पुष्टि है, इसका नाम मर्यादा नहीं है। यह भगवान्‌की ओरसे भक्तको सहायता मिल रही है। गोपियोंने क्या किया—**तद्भावना-युक्ताः** हृदयमें श्रीकृष्णकी भावनासे युक्त हो करके **मीलितलोचनाः** आँख बन्द करके बैठ गयीं। 'मीलितलोचना' शब्द जरा मामूली-सा है, परन्तु इसका आशय यह है कि गोपी कहती है कि यदि इन आँखोंसे श्रीकृष्णका दर्शन नहीं होता है, तो फिर कोई दूसरी चीज भी हम नहीं देखेंगी। पतिसे गोपी बोली—अच्छा बाबा; यह घर तुम्हारा, यह शरीर तुम्हारा, निकलने तुम दोगे नहीं; लेकिन इन आँखोंसे श्रीकृष्णके सिवाय और किसीको हम देखेंगी नहीं—**मीलितलोचनाः।**

बोले देखो, जब प्रेमका उदय होता है तो बाह्य विषयका त्याग करना ही पड़ता है। संन्यासियोंका मन्त्र तो आपको मालूम होगा—

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्

भक्तिमें इसी अमृतत्वके पानके सम्बन्धमें यों कहते हैं—यदि श्रीकृष्णामृतके पान करनेकी इच्छा है—**कृष्णामृतं जलविगाढमितीरितम्**—तो चलो-चलो, सखी! कृष्णामृतका पान कर आवें; कृष्णामृत माने जमुनाजल। साथकी सखीने पूछा—सखी, क्या अभी '**कृष्णामृतं**'—जमुना-जल पीनेके लिए हम जा रही हैं? दूसरी सखीने कहा—क्या मतलब सखी, क्या मतलब? **कृष्णामृतं**—वह साँवरा अमृत—**कृष्णामृतं जलविगाढमितीरितम्**—अभी पीने जा रहे हैं।

प्रत्यगात्मानमैक्षत आवृत्त चक्षु अमृतत्वमिच्छन्न कश्चित् धीरः।

अरे, वही औपनिषद अमृत जिसको कोई-कोई धीर पुरुष अपनी इन्द्रियोंको विषयसे पलटकर अपने आत्मामें देखता है, वही है यह साँवरा-साँवरा, झिलमिल-झिलमिल, कृष्णामृत, वह स्वर्गमें रहनेवाला परोक्ष अमृत नहीं, अपनी इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष उसका पान करो! अतः आगे आ जाओ, आगे आ जाओ! यदि आत्मामृत, कृष्णामृत, आनन्दामृत, रसामृतकी इच्छा हुई तो आँख बन्द करो, वाह्य विषयका परित्याग होगा—

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूः तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। ये तो मर गयीं बिचारी, आँख बन्द करके परमात्माका चिन्तन करो!

अब गोपीने कहा कि अच्छा, बाहरी आँखसे श्रीकृष्ण नहीं मिलेंगे देखनेको, अच्छा, तो अब हमारी आँख बन्द होती है। आज गोपी संन्यासिनी हो गयी। '**ध्यानपरायणाः, मीलितलोचनाः, दध्युर्मीलितलोचनाः**' इस प्रकार बाह्य विषयका परित्याग हो गया; कृष्णका दर्शन नहीं होगा तो इन आँखोंसे दूसरा क्या देखें और तीसरी आँखसे कृष्णको नहीं देख सकेंगी तो मनसे देखेंगी! पतिका डंडा और तालाबंदी इनकी आँखपर ही काम दे सकते हैं, मनपर तो नहीं देंगे न, इसलिए बाहरसे आँख इन्होंने बन्द कर ली—**दध्युर्मीलितलोचनाः**। और बिना त्यागके, वे श्रीकृष्णको देखने लगीं।

त्यागेनैके अमृतत्वमानुशुः—वाह्य विषयका त्याग करके, इन्द्रियका संयम करके, अपने प्रियतमसे अतिरिक्तका देखना त्याग करके, हृदयमें प्रियतमका ध्यान करने लिए गोपीने अपने नेत्र बन्द कर लिये? **मीलितलोचनाः मीलितानि,**

लोचनानि, बाह्य विषयक ज्ञानानि यासां ताः' बाह्यविषयक ज्ञानका उन्होंने निमीलन कर दिया। निमीलन कर दिया, आँख नहीं बन्द की, घट-ज्ञान. मठ-ज्ञान सब छोड़ दिया!

अब हुआ क्या? तो देखो उनकी दो स्थितियोंका वर्णन करते हैं—

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताऽशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

चलते-चलते कोई गणपतिका मन्दिर पड़ा तो हाथ जोड़ लिया, **ॐ गं गणपतये नमः**' बोल लिया, तो समझ लिया कि हम बड़े भारी भगत है! यह आस्तिकता तो है परन्तु भक्ति नहीं है। देवताको नमस्कार करना, ब्राह्मणको, गायको नमस्कार करना, यह हृदयमें ईश्वरके प्रति आस्तिक बुद्धि है। हम जानते हैं कि तुम दाँये-बाँये हाथ जोड़ते हो! हमको याद है कि वैसे चाहे भगवान्‌की याद न करें, लेकिन स्कूल जाते समय अगर रास्तेमें कुत्ता मिल जाता था तो कहते थे कि हे हनुमानजी बचाना हमको ये कुत्ता भौंके न! और जब परीक्षाका दिन आता था तब तो गंगा स्नान करके, विश्वनाथजीका दर्शन करके—उस दिन चन्दन भी चढ़ाते, बेलपत्र भी चढ़ाते, फूलमाला भी चढ़ाते,-बोलते विश्वनाथजी, परीक्षामें पास कर देना! इसका नाम भक्ति नहीं है, इसका नाम आस्तिकता है।

भक्ति कब होती है कि जब भगवान्‌के विरहमें तो दुख हो, और भगवान्‌के मिलनमें सुख हो। बोले भगवान्‌का विरह कहाँसे आवे? भगवान्‌का मिलन कहाँसे आवे? तो हृदयमें ही विरह और मिलनकी स्फूर्ति होती है। हृदयमें फुरे कि हाय-हाय—

ऐसे जनम समूह सिराने।
प्राणनाथ रघुनाथ सों पति तजि सेवत पुरुष बिराने॥

हृदयमें विरहकी स्फूर्ति हो कि युग-युग बीत गये, जन्म-जन्म बीत गये, और इस जिन्दगीका भी क्षण-क्षण छीज रहा है। स्त्रीके लिए रोये, पुत्रके लिए रोये, पुरुषके लिए रोये, धनके लिए रोये, मकानके लिए रोये, इज्जतके लिए रोये, कुरसीके लिए रोये, भूखे होकर रोये, बीमार होकर रोये, लेकिन ईश्वरके लिए चार बूँद आँसू नहीं गिरे कि हमको ईश्वर मिले, ईश्वरको माननेका नाम भक्ति नहीं है, भक्ति तब होगी जब हृदयमें ईश्वरके प्रति स्फूर्ति होकर वेदना हो, अथवा मिलनकी स्फूर्ति हो तो आँख खिल गयी, रोम-रोम खिल गया, हृदय खिल गया। जिसके हृदयमें भगवान्‌के वियोगसे दुःख नहीं होता, और मिलनकी वियोग स्फूर्तिसे सुख नहीं

होता, वह भक्त नहीं है। यह ज्ञानकी बात नहीं है, इसको बोलते हैं भक्ति। भक्तिमें हृदय द्रवित होना चाहिए भगवान्‌के लिए! जबतक हृदयमें भगवान्‌के लिए द्रवता नहीं होती, हृदय पिघलता नहीं तबतक भक्ति नहीं है—

रोमाञ्चेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनोनन्दितं,

प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः।

कण्ठ गद्गद हो, आँखोंमें आँसू हो, शरीरमें रोमाञ्च हो और वाणीमें, मनमें हो—कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण! यह है भक्तिका लक्षण।

काश्चिद् गोप्यः—कोई एक गोपी थी जिसको रोक दिया था पतिने। यहाँ का+चिद् गोप्यः ऐसा करनेसे और चिद्-गोप्या माने चिद् वस्तु जो भगवान् हैं उनका गोपन करनेवाली अथवा उनको इन्द्रियोंसे पान करनेवाली, यह अर्थ बनेगा।

उस बन्द गोपीने अथवा उनको इन्द्रियसे पान करनेवाली, यह अर्थ बनेगा। उस बन्द गोपीने जब ध्यान किया तो?-दुःसह विरहका ताप उदय हुआ। यह श्लोक ईश्वर कृपासे जैसा विष्णु पुराणमें है वैसा ही भागवतमें है। दोनोंमें एक सरीखा है माने शब्दमें भेद है, अर्थमें भेद नहीं है। विष्णु पुराणमें है—

तद् प्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका—सो जब विरहाग्निका उदय हुआ गोपीके हृदयमें, विरहकी आग जली, तो उसने सारे प्रतिबन्धोंको भष्म कर दिया है। जितने कर्मके आवरण थे, प्रारब्धके आवरण थे, उनको उस आगने भस्म करना शुरू किया—**तीव्रतापधुताशुभाः** जितना अशुभ, दुःखदायी प्रारब्ध थे सब भस्म हो गये। अभी गोपीके कर्म शेष थे, दुःखके प्रारब्ध शेष थे, आगेके जीवनमें उसको कई तरहके दुःख होनेवाले थे। पर वे दुःख कहीं धन जानेसे आता, कहीं रोग आनेसे आता, कहीं मित्रके वियोगसे आता। परन्तु जब भगवान्‌के विरहका दुःख हुआ तो अब न पुत्र-विरह, न पति-विरह, न धन-विरह, न गृह-विरह, न यशो-विरह, न भोग-विरह। कोई विरह रहा ही नहीं, बस हुआ भगवद्-विरह!

सर्वं पदं हस्तिपदे निमग्नम्

जितना दुःख उसके जीवनमें होनेवाला था, वह सब दुख भगवान्‌के विरहमें एक साथ ही हो गया—

दुःसह प्रेष्ठविरह, अपने परम प्रियतमका जो दुःसह विरह हुआ उस विरहके तीव्र तापसे सारे अशुभ प्रारब्ध भस्म हो गये।

यह जब प्रियतमका विरह-ताप उठता है—**उत्तापि पुटपाकतोऽपि गरल ग्रामादपि क्षोभणः** तो खौलते हुए सोनेसे भी ज्यादा दाहक होता है और सब जहर

एकमें मिला दिया जाय तो उनसे भी ज्यादा तेज होता है; वज्रसे भी ज्यादा दुःसह होता है, हृदयमें शल्य चुभ जाय उससे भी ज्यादा कठिन होता है; कालरा होनेपर, हैजा होनेपर, जितनी पीड़ा होती है, उससे भी ज्यादा पीड़ा उसमें होती है। श्रीकृष्णका विरह गोपीके हृदयमें उदित हुआ और उदय होनेसे उसके जो अशुभ प्रारब्ध, जो ज्ञान होने पर भी क्षीण नहीं होते वे विरह-तापकी प्रबलतासे सारे-के-सारे क्षीण हो गये।

जब अशुभ क्षीण हो गये तब चित्त निर्मल हुआ, सारे पाप-ताप आँसूमें बह गये, तब ध्यानमें आये श्रीकृष्ण! **ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः।** ध्यानमें प्राप्त अच्युताश्लेष, श्रीकृष्णका आलिंगन प्राप्त हुआ। हृदयमें आये श्रीकृष्ण! गोपीका शरीर तो घरमें बैठा हुआ, आँखे बन्द, किवाड़ी बन्द और ये महाराज, महाचोर न जाने कैसे बीचमें-से घुस आते हैं, छतमें-से टपक पड़ते हैं! किवाड़ी बन्दका इनके ऊपर कोई असर नहीं पड़े, तालाबन्दीका प्रभाव नहीं, आँख बन्द-की-बन्द और दिलमें घुस गये। और आँख बन्द करके उन्होंने कहा—अरी गोपी! मेरे बिना तुमको इतना कष्ट हुआ! गोपी तो, शरीरसे जो बाहर बैठी हुई थी, भीतरसे उठकर खड़ी हो गयी, और अच्युतने अपना आश्लेष—आलिंगन दिया उसको। **अच्युताश्लेष—अच्युतस्य आश्लेष, अच्युतः यो आश्लेष।** ऐसा आलिंगन दिया, ऐसा गाढ़ा आलिंगन दिया जिसमें गोपीको ऐसा लगा कि हड्डी गयी, पसली गयी, मांस गया, चाम गया, अब कुछ नहीं बचा; इतने जोरसे दबाया श्रीकृष्णने। वह आलिंगन दिया उसको कि घुल-मिलकर एक हो गयी श्रीकृष्णके साथ और ऐसा आनन्द आया कि—**निर्वृत्य क्षीणमङ्गलाः**-निवृत्ति हो गयी; निर्वृत्ति हो गयी माने आवरण-भंग हो गया।

वृत्तिकी जहाँ निःशेष निर्वृत्ति हो, उसको निर्वृत्ति बोलते हैं और जहाँ वृत्ति माने आवरणका निःशेष अभाव हो गया उसको निर्वृत्ति बोलते हैं। कृष्ण और गोपीके बीचमें जो आवरण था, जो परदा था—प्रारब्धका पर्दा, वासनाका पर्दा, संसारके सम्बन्धका पर्दा—सब-का-सब उतर गया। इन्हीं पर्दोंका लिहाफ ओढ़कर जब जीव बैठ जाता है, तो भगवान्‌का दर्शन नहीं होता। अब गोपीके सब पर्दे उतर गये; गोपी नग्न होकर कृष्णसे मिल गयी। '**निवृत्याक्षीणमङ्गलाः**' ऐसा सुख, ऐसा सुख मिला गोपीको कि उसको यदि अपने प्रारब्धके पुण्य कर्म कोटि जन्मतक फल (सुख) देते रहते तो इतना सुख नहीं मिलता, जितना मन-ही-मन श्रीकृष्णका आलिंगन प्राप्त करनेसे हुआ। इसलिए पापके फल दुःख और पुण्यके फल सुख जितने उसके जीवनमें मिलनेवाले थे, वे सब अपना फल देकर नष्ट हो गये।

उसका आवरण भंग हो गया। सारे संस्कार निःशेष हो गये। अब तो बाबा, तेरा कोई न ***रोकनहार, मगन होय मीरा चली।*** देहकी जरूरत प्रारब्ध-भोग करनेके लिए है, इन्द्रियोंकी जरूरत प्रारब्ध-भोग करनेके लिए है, अन्तःकरणकी जरूरत प्रारब्ध-भोग करनेके लिए है, सो कुछ रहा ही नहीं। तब अन्तःकरणसे, इन्द्रियोंसे और शरीरसे सम्बन्ध क्यों रहे? सबको छोड़ चली वह!

अब एक दूसरा प्रश्न उठाकर और इसका समाधानकर फिर आगे बढ़ता हूँ। प्रश्न यह है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए मर्यादामें ज्ञानकी आवश्यकता होती है। यही वेदका कहना है—**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति** बिना ज्ञानके तो मुक्ति नहीं होती। परन्तु व्रजकी इस गोपीकी तो घर-गृहस्थीसे, शरीरसे, इन्द्रियसे, अन्तःकरणसे मुक्ति हो गयी! उधर पुष्टिमें भक्तिसे मुक्ति होती है। पुष्टि और मर्यादा का यही भेद है। पुष्टिमें भगवत्-शक्तिसे मुक्ति होती है और मर्यादामें जीवका थोड़ा प्रयत्न भी काम करता है। देखो, मर्यादामें कितना अपरस मानते हैं और पुष्टिमें तो सबसे परे हो जाते हैं! बल्लभाचार्यजी महाराजके सम्प्रदायकी भाषा है, यह पुष्टि और मर्यादा। लेकिन ज्ञानसे भक्ति होवे कि भक्तिसे मुक्ति होवे यह बात उस समय है जब भगवान् प्रकट नहीं रहते हैं, भला! जब भगवान् प्रकट नहीं होते हैं, अपने ब्रह्मस्वरूपमें अन्तर्यामी हैं, निराकार हैं; निर्विकार हैं, एकरस हैं, निर्धर्मक हैं, तब चाहे जीव ज्ञान प्राप्त करें या भक्ति प्राप्त करें तब मुक्ति होती है। लेकिन जब भगवान् स्वयं प्रकट हो जाते हैं, तब जीवको मुक्तिके लिए ज्ञानभक्तिकी जरूरत नहीं होती। भगवान् प्रकट ही इसलिए हुए हैं कि जिनको ज्ञान नहीं है, उनको भी अपने हृदयसे लगा लें और जिनको भक्ति नहीं है उनको भी अपने हृदयसे लगा लें; नहीं तो प्रकट होनेकी जरूरत नहीं है। कंस, शिशुपाल तो यों ही (संकल्प से ही) मर जाते, रावण हिरण्यकशिपु पैदा ही न होते अगर भगवान् चाहते! तो अवतार लेनेकी जरूरत क्या? अवतार लेते हैं भगवान्—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तेर्भगवतो नृप।

लोगोंका कल्याण करनेके लिए भगवान् प्रकट हुए। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि महाभारतके युद्धमें श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनके रथमें बैठे थे। अर्जुनके बाणमें उतना सामर्थ्य नहीं था जितना श्रीकृष्णकी आँखोंमें और उनके सौन्दर्यमें। सबकी आँख खींच लेते थे बिना तीरके, बिना तुक्काके। अर्जुनके रथपर आगे बैठ गये; बड़े-बड़े वीर जब निशाना मारने लगते, तो उनकी नजर तो चली जाय कृष्णकी ओर। बाण फेंके कहीं और किसीको लगे ही नहीं, और तबतक पाण्डव पक्षसे बाण आवें और उनको मार दें।

यमिह निरीक्ष्य हता गताः स्वरूपम्।

श्रीमद्‌भागवतमें यह बात है कि कृष्णको देख-देखकर मरे और स्वरूपको प्राप्त हो गये। यह तो महाराज! बड़ा विलक्षण है, युद्ध भूमिमें तेइस अक्षौहिणी सेनाको यों ही मुक्ति देनेवाला, आकर व्रजभूमिमें प्रकट हुआ और गोपीको अभी पाप लगा है, अभी पुण्य लगा है, अभी उसको पाप-पुण्यसे छुटकारा पाना बाकी है? गौडेश्वर सम्प्रदायके लोग मानते ही नहीं इस बातको। पहले जो मैं बात कर रहा था, वह सुबोधिनीके अनुसार कर रहा था, अब विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीकाके अनुसार बात कर रहा हूँ—

दुःसहप्रेष्ठ विरह तीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

वे कहते हैं कि गोपियोंमें अशुभ तो था ही नहीं। कहते हैं—व्रजके वृक्ष-लतामें भी ताप नहीं है। जब उद्धव चाहते हैं कि हम व्रजमें वृक्ष बन जाँय, और जब ब्रह्माजी चाहते हैं कि हम व्रजका कोई पौधा बन जायँ, तो जो वृक्ष जो लता, जो पौधा बननेके लिए उद्धव और ब्रह्मा व्याकुल हैं, वह वृक्ष कोई पापसे पैदा हुआ है, वह लता कोई पापसे पैदा हुई है, यह कल्पना ही व्यर्थ है। तब वे क्यों उगे हैं? बोले—वे बड़े-बड़े भक्त हैं, प्रेमी हैं। बोले—हम यहाँ लता बनकर रहेंगे और हमारे फूल खिलेंगे तो कृष्ण उनकी गन्ध लेंगे। हम वृक्ष बनकर यहाँ रहेंगे तो श्रीकृष्ण हमारा फल चखेंगे, हमारी छायाका आनन्द लेंगे; वे तो कृष्णकी सेवा करनेके लिए प्रेमके वैवश्यसे वृक्ष बने और प्रेमके वैवश्यसे लता बने! तो गोपीमें यह कहाँसे आया कि पाप-कर्म शेष रहा हो और पुण्य-कर्म शेष रहा हो।

तब उसका दूसरा अर्थ करते हैं—**दुःसहप्रेष्ठविरह तीव्रतापधुताशुभाः।** जिस समय गोपीके हृदयमें श्रीकृष्णके विरहका तीव्र ताप आया, ऐसी आग आयी, ऐसी जलन आयी, कि सारी दुनियामें जितने पाप हैं—त्रैकालिक, भूतमें जितने पापी हुए और उनके जो पाप थे, फिर वर्तमानमें जितने पाप हैं और उनका जो पाप है और भविष्यमें होनेवाले जितने पापी और उनका जो पापी होगा—वे सब पाप जो चिदाकाशमें, समस्त चित्ताकाशोंमें संस्काररूपसे मौजूद थे, थर-थर काँपने लगे। बोले—यदि हम सब पाप इकट्ठे हो जायँ और किसी एकको इतनी तकलीफ देना चाहें; तो इतनी तकलीफ हम लोग नहीं दे सकते जितना दुःख और जितना

ताप ये गोपी श्रीकृष्णके विरहमें भोग रही हैं! फिर महाराज इकट्ठे हुए जगत्के पुण्य—

ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः।

संसारके सब पुण्य इकट्ठे हुए, पहलेके। अबके और आगेके, सब जीवोंके सब पुण्य इकट्ठे हुए और उन्होंने देखा कि गोपीके सामने प्रकट होकर श्रीकृष्णने एकबार अपने दिव्य अंगकी दिव्य गन्धसे उसकी नासिका भर दी, उसकी सारी इन्द्रियाँ अपना काम छोड़कर नाकमें चली आयीं। एक बार उन्होंने बाँसुरीपर धुन फूँक दी तो उसके कान भर गये प्रेमसे, आनन्दसे। एक बार उन्होंने दोनों हाथसे उसका आलिङ्गन किया मन-ही-मन और वह आनन्दसे भर गयी—

पिबन्त्य इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त्य इव जिह्वया—

मानो आँखोंसे पी रही हों, मानो जीभसे चाट रही हों! जब श्रीकृष्णके साथ मिलकर गोपी आनन्दमें मगन हो गयी तो दुनिया भरके जितने त्रैकालिक पुण्य हैं—भूतके, वर्तमानके, भविष्यके—सब-के-सब छोटे पड़ गये!

क्षीणमङ्गला—क्षीणमङ्गलाका अभिप्राय हुआ कि मङ्गल क्षीण हो गये। उन्होंने कहा—कि अगर हम सब पुण्य मिल जाते और किसी एक व्यक्तिको चाहते कि फल दें, तो क्या इतना सुख हम दे सकते थे? बोले अरे नहीं, कृष्णके ध्यानमें इतना सुख मिला, इतना सुख मिला, कि सब-के-सब पुण्य क्षीण हो गये। गोपीके साथ पाप-पुण्यका सम्बन्ध नहीं है।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें रूप गोस्वामीका एक श्लोक है—वह कहते हैं: दुनियामें अबतक जितना सुख हुआ है—धर्मसे, अर्थसे, कामसे, मोक्षसे, समाधिसे—जितना हो रहा है और जितना सुख आगे होगा, उन सबको इकट्ठा करके तराजूके एक पलड़ेपर रख दें और दूसरे पलड़ेपर भगवान्के विरहाभासके दुःखको रखदें, तो उस दुःखमें जितना सुख है उतना सुख सृष्टिमें न कभी था, न है, न होगा, क्योंकि यह भगवत्-सम्बन्धी सुख है, भगवत्-सम्बन्धी दुःख है।

एक बार ललिता सखी जा रही थी यमुना जल भरने। वे तो बहाना बनाती थीं कृष्णका दर्शन करनेका; उनको पानी भरनेकी जरूरत नहीं थी, गोरस बेचनेकी जरूरत नहीं थी। तो जल भरने जा रही थी, इतनेमें क्या देखती हैं कि नारदजी वृक्षके नीचे बैठे रो रहे हैं। वीणा एक ओर पड़ी है और बस झर-झर आँसू गिर रहे हैं। ललिताजीने जाकर दण्डवत् प्रणाम किया; बोली—महाराज! आज आप क्यों रो रहे हैं? दुःख क्या है आपको। अच्छा क्या श्रीकृष्णके दर्शनके लिए रो रहे हैं?

करवा दें दर्शन आपको? नारदजी बोले—न-न, हम अपने दर्शनके लिए नहीं रो रहे हैं, हम तो चाहे जब कर लें; हम उन लोगोंके लिए रो रहे हैं जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गये—क्योंकि उनको कृष्ण-दर्शनका यह सुख अब नहीं मिल सकता। हाय,हाय! यह सुख पाये बिना ही वे संसारसे चले गये—इसलिए हमें रोना आता है।

नारायण! ये श्रीकृष्ण जो हैं—**निरावरण प्रकट परब्रह्म परमात्मा हैं**। नेति-नेति जीवोंके लिए हैं, परमात्माके लिए नेति-नेति नहीं है। यह व्यतिरेकमुखी जो ज्ञान है कि निषेध करो फिर तुम ब्रह्म कहो, यह तो जिनमें अज्ञानका आवरण है उनके लिए है। परन्तु जहाँअज्ञानके आवरणका अत्यन्ताभाव है-अर्थात् पहले भी न कभी अज्ञानका आवरण था और न बादमें ज्ञान प्राप्त करके वह मिटाया गया, जहाँ अज्ञानका आवरण कभी आया ही नहीं, हुआ ही नहीं, जिनको कभी अज्ञान छुआ ही नहीं, वह श्रीकृष्ण—**तमेव परमात्मानम्**—वही है वही, दूसरा मत समझना! जिसका तीनों अवस्थामें अन्वय है वह नहीं, जो तीनों अवस्थासे व्यतिरिक्त है सो नहीं, जो सर्वत्म है-जिसमें तीन अवस्थाएँ जो हैं जिससे अलग नहीं हैं, तीन अवस्थाएँ जिसका स्वरूप हैं, ऐसा जो परमात्मा है-वह है श्रीकृष्ण! भले गोपी **जारबुद्ध्यापि सङ्गताः**—श्रीकृष्णको पहचानती नहीं थी। परन्तु व्यवहारमें आप देखो—**नहि वस्तुशक्तिः बुद्धिमपेक्षते**। वस्तु-शक्तिको बुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। अच्छा, अनजानमें कोई नमक खावे, तो क्या उसकी जीभपर नमकीन पानी नहीं बनेगा? अनजानमें कोई आगमें हाथ डाल दे, तो आग क्या उसके हाथको नहीं जलावेगी अनजानमें कोई अमृत पी ले, तो क्या वह अमर नहीं हो जावेगा? अनजानमें कोई विष पी ले, तो क्या नहीं मरेगा? तो जब वही निरावरण परमब्रह्म परमात्मा जीवोंके कल्याणके लिए आया, यहाँ भी यदि बुद्धिकी अपेक्षा होवे कि पहचानो कि ये परमब्रह्म हैं तो अवतारकालमें और सामान्य कालमें अन्तर ही क्या होगा? ये तो अवतीर्ण ही हुए हैं, इसलिए कि लोग बिना श्रवण-मनन- निदिध्यासनके भी अमरत्व प्राप्त हो जायँ। वह अवतीर्ण ही इसीलिए हुए हैं कि बिना माला फेरे, बिना मूर्ति-पूजा किये, कल्याणको प्राप्त हो जायँ! यह जो अहीरका छोरा है न—

देखो री, यह नन्दका छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी सी तिरछी चितवनसे पैनी छुरी चलाता है॥
हमको घायल देख बेदर्दी, मन्द मन्द मुसकाता है।
ललित किशोरी जखम जिगर पै नौनपुरी भुरकाता है॥

जारबुद्ध्यापि सङ्गताः—माना कि गोपीको यह नहीं मालूम था कि

श्रीकृष्ण परमब्रह्म परमात्मा हैं; परन्तु प्रेमसे मोक्षमें इस बुद्धिकी अपेक्षा नहीं है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि कर्मसे ही बन्धन हैं और कर्मसे ही मुक्ति है। यह पूर्वमीमांसाका सिद्धान्त है। सकामतासे बन्धन और निष्कामतासे मुक्ति-यह कर्मयोगका पक्ष है। विक्षेपसे बन्धन और समाधिसे मुक्ति-यह योगियोंका मत है। अविवेकसे बन्धन और विवेकसे मुक्ति-यह सांख्योंका मत है। और अज्ञानसे बन्धन और ज्ञानसे मुक्ति-यह वेदान्तियोंका मत है। तो बन्धनका जैसा हेतु मनुष्य कल्पित करता है उसीके अनुरूप मुक्तिका हेतु उसको कल्पित करना पड़ता है। असलमें बन्धन और मुक्ति दोनों कल्पित हैं। यह बन्ध जैसी अवस्थामें कल्पित हुआ है। मुक्ति भी वैसी अवस्थामें होगी। परन्तु व्रजकी बात विलक्षण है। **'जार-बुद्ध्यापि सङ्गताः'** वृन्दावनमें जितने सम्प्रदाय हैं उनमें **निम्बार्क सम्प्रदाय** और **'राधा वल्लभ सम्प्रदाय'**—ये दोनों गोपीके कृष्णप्रेमको जार-भाव नहीं मानते हैं। श्रीचैतन्यसम्प्रदाय और श्रीवल्लभसम्प्रदायमें जार-भाव मानते हैं। रामानुजसम्प्रदायमें भी थोड़ा-थोड़ा मानते हैं। पर उनके यहाँ मुख्य रूपसे नारायणकी उपासना है, इसलिए वे ज्यादा इधर ध्यान नहीं देते। वहाँ तो राधिका रानीको, गोपियोंको, दूसरे ढंगसे माना गया है। वैसे श्रीमद्भागवतपर तो टीका सभीकी है, सभी सम्प्रदायकी टीका है। निम्बार्क सम्प्रदायका सिद्धान्त-प्रदीप है। गौडेश्वर सम्प्रदायकी कई टीकाएँ है—जीव गोस्वामीने तीन-चार टीकाएँ लिखी हैं। सनातन गोस्वामी की है, विश्वनाथ चक्रवर्तीकी है। राधावल्लभ सम्प्रदायकी विशुद्ध रस-दीपिका है, रसिक रञ्जनी है; कई छपी हैं, कई नहीं छपी हैं। रामानुज सम्प्रदायमें वीरराघवाचार्यकी है, श्रीनिवासाचार्यजीकी है, सुदर्शन श्री निवासाचार्यजीकी है और सुदर्शन सूरीकी है। मध्वाचार्यके सम्प्रदायमें विजयध्वजतीर्थकी है, स्वयं मध्वाचार्यने ने ही भगवत-तात्पर्य निर्णय लिखा है। हनुमानकी है, चित्सुखाचार्यकी है। हम समझते हैं प्राचीन आचार्योंकी कोई ३५-४० संस्कृतकी टीकाएँ आज भी उपलब्ध हैं।

जारबुद्ध्यापि सङ्गताः—जार शब्दका अभिप्राय बड़ा गम्भीर है। **जरयति इति जारः**—जो भोगवासनाको जला दे, उसका नाम जार है—ये श्रीकृष्ण जो हैं ये हमारी ऐन्द्रियक भोगवासनाको जलानेवाला है। इसलिए **जार बुद्ध्यापि सङ्गताः** इस जार-बुद्धिसे गोपी गयीं श्रीकृष्णके पास। परन्तु-**जहुर्गुणमयं देहं**, उनके गुणमय देहका त्याग हो गया। जो जार मानते हैं उनका अभिप्राय बड़ा विलक्षण है। ये जो हमारी इन्द्रियाँ हैं, इनका असली प्यारा कौन है? बड़ा धोखा होता है आदमीको समझनेमें, मालूम यह पड़ता है कि फूल हमको प्यारा है या भोजन हमको प्यारा है; जीभ कहती है कि भोजन प्यारा है, आँख कहती है कि गुलाबका फूल प्यारा

है। लेकिन असलमें गुलाबको देखकर आँखको जो सुख होता है वह उसको गुलाबको नहीं देती, खुदको भी नहीं देती, अपने भीतरके चैतन्यको लेजाकरके सुख दे देती है। भोजनमें जो सुख जीभको है, वह क्या जीभ भोजनको सुख देती है या स्वयं सुख लेती है? वह तो भोजनमें-से सुख लेकर भीतर जो चैतन्य बैठा हुआ है उसको ले जाकर देती है। देखो, हमारी इन्द्रिय-वृत्तियोंका और मनोवृत्तियोंका असली प्यारा जो है वह तो भीतर बैठा हुआ है और हमारी इन्द्रिय-वृत्तियोंने झूठ-मूठका नाता जोड़ रक्खा है संसारके बाह्य विषयोंसे। ये बाहर जो सम्बन्ध हैं वे दिखाऊ हैं-हमको भोजन प्यारा है, रूप प्यारा है, रस प्यारा है, गन्ध प्यारी है, ये सब हमारे ब्याहते हैं। पर जो असली प्यारा है वह तो हृदय-मन्दिरमें, नित्यनिकुंजमें, वृन्दावनमें, छिपा हुआ है। जार भावका अर्थ है कि बाहरसे इन्द्रियोंका ब्याह विषयोंसे मालूम पड़ता है लेकिन उनके असली प्यारे भीतर हृदय-वृन्दावनमें बैठे हुए हैं, नित्यनिकुंजमें विहार कर रहे हैं।

१७

जार-बुद्धिसे भी भगवत्प्राप्ति सम्भव है

(तमेव परमात्मानं . . . . . किमुताधोक्षजप्रियाः)

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.११-१३)

वे कहते हैं कि विरहसे गोपियोंको इतना ताप हुआ कि उनके भगवत्-प्राप्तिमें प्रतिबन्धक जो पापकर्मके संस्कार थे वे नष्ट हो गये; मन-ही-मन मिलनमें, आलिंगनमें, जो आनन्द हुआ उस आनन्दसे जितने-**स्वर्गादिप्रापक**—पुण्य कर्मके प्रतिबन्धक संस्कार थे वे सब भस्म हो गये। भक्त लोग ईश्वरकी प्राप्तिमें अज्ञानको प्रतिबन्धक नहीं मानते हैं। यह बात अगर आपके ध्यानमें नहीं रहेगी तो भक्तिका सिद्धान्त समझमें नहीं आयेगा। वे कहते हैं कि यह जो संसारमें कर्मवासना, भोगवासना-रूप-विक्षेप है इसीने हमको ईश्वरसे जुदा कर दिया है। हम यह करेंगे तो यह पावेंगे, यह करेंगे तो यह पावेंगे; यह पानेके लिए यह करना चाहिए- इसीमें दुनिया कैसे फँस गयी है। पानेके लिए भी बहुत है और करनेके लिए भी बहुत है—

श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः।

सुनते-सुनते कहीं दुनियाका अन्त हो जाय, करते-करते कहीं दुनियाका अन्त हो जाय, पाते-पाते कहीं विषय-भोगोंका अन्त हो जाय, ऐसा सम्भव नहीं है। तो बोले—भगवद्-भावमें डूब जाना चाहिए। दुनियाको जहाँ-का-तहाँ रहने दो और तुम भगवान्‌की भावनामें डूब जाओ। भगवान्‌का अज्ञान है तो रहने दो, वह उनकी प्राप्तिमें बाधक नहीं है। यदि शंका हो कि हम तो भगवान्‌को पहचानते

नहीं हैं, तो भाई, वे पहचान बता देंगे! शक्कर तुम्हारी जीभमें पड़ जाय तो क्या तुम्हारी जीभ यह नहीं बतायेगी कि शक्कर है? खटाई-नमक तुम्हारी जीभ पर पड़े तो क्या मालूम नहीं पड़ेगा कि खटाई है कि नमक है? तो जब ईश्वर तुम्हारे सामने आयेगा तो तुमको साफ मालूम पड़ जायेगा कि यही ईश्वर है। परन्तु दुनिया कर्म और भोगमें मग्न है। कर्म और भोगमें जो मन फँस गया है उससे ईश्वरके भावमें डूबनेका मजा नहीं आता। नमकके पहाड़की चींटी गयी शक्करके पहाड़पर रहनेवाली चींटीके पास। तो बोली कि जैसा हमारे घरका पहाड़ वैसा तुम्हारे घरका पहाड़। शक्करकी चींटीने कहा—बहिन! तुम्हारे मुँहमें कुछ है तो नहीं? देखा तो अपने घरके नमककी डली थी। बोली—धो डालो इसको! फिर देखो नमकके स्वादमें और शक्करके स्वादमें क्या फर्क है! लेकिन जबतक मुँहमें नमककी डली पड़ी है तबतक शक्करका स्वाद मालूम नहीं पड़ता। यह जो संसारका स्वाद है, उससे संसारी लोगोंको ईश्वरका स्वाद नहीं आता। संसारी लोगोंको गुरु नहीं चाहिए, ईश्वर नहीं चाहिए, ज्ञान नहीं चाहिए, भक्ति नहीं चाहिए? इनको तो चाहिए—

भज कलदारं, भज कलदारं, कलदारं भज मूढ मते।

कर्मवासना और भोगवासना दोनों भगवद्भक्तिमें, भगवत्प्राप्तिमें रुकावट है, अड़चन है, प्रतिबन्धक है। गोपीकी दोनों छूट गयीं। जब दोनों छूट गयी, तो भगवान्के पास पहुँची। बोले ठीक है पहचानती तो नहीं भगवान्को? अरे नहीं पहचानती है तो क्या हुआ? नारायण, एक हमारे महात्मा हैं उनके दोनों आँख नहीं है। वे जाते हैं बिहारीज़ीका दर्शन करने। वृन्दावनमें रहते हैं। किसीने पूछा कि देखते नहीं हो तो क्यों जाते हो? बोले—बाबा, हमारे आँख नहीं है तो क्या हुआ, उनके तो है, वे तो देखते होंगे कि आया है!

तमेव परमात्मनं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः

परमात्मा तो वही है—आत्माका परम रूप। एक बड़ी मजेदार बात है—परमात्मा माने राधा, लक्ष्मी। उन राधा या लक्ष्मीका जो आत्मा अर्थात् परम प्रेमास्पद है उसका नाम है परमात्मा।

रमायाः परमं रूपं, परमा रमा परमा, परा रमा परमा, रमायाः परमं रूपं परमेत्याभिधीयते। तस्या परमायाः आत्मा परमात्मा, जो उस परमा राधारानीका परम प्रेष्ठ है, परमप्रियतम है, उसका नाम परमात्मा! असलमें जिससे हम प्रेम करें वह खाली हमारा ही प्यारा नहीं होना चाहिए, औरोंका भी प्यारा होना चाहिए। यदि राधारानीका अखण्ड प्रेम श्रीकृष्णसे न हो, तो दूसरी गोपियोंके लिए प्रेम

करनेकी रीति तो मिलेगी न! अच्छा क्या आप ऐसेसे प्रेम करना चाहते हैं कि जिसे दुनियामें कोई न पूछता हो? अपने प्रियतमके सम्बन्धमें ऐसी धारणा होना कि दुनियामें उसको कोई पूछनेवाला न हो—जब खिलावें तो हम खिलावें, जब पिलावें तो हम पिलावें, हमारे बिना भूखे रहें और प्यासे रहें—ऐसी संकीर्ण दृष्टि ईश्वरमें नहीं जाती है। तो गोपियाँ देखती हैं कि परमा राधाके आत्मा हैं, परम प्रेष्ठ हैं; बोलीं—वाह-वाह, हमको तो प्रेमका मार्ग मिल गया। जैसे इनसे राधारानी प्रेम करती हैं वैसे हम भी प्रेम करेंगे। *परमः आत्मा परमात्मा, परमः अन्तःकरणादि सम्बन्धवर्जितः आत्मा-परमात्मा* परम माने अन्तःकरणादिके सम्बन्धसे रहित जो आत्मा है उसको परमात्मा बोलते हैं।

'प्रीञ् पालनपोषणयोः' से **पिपर्ति इति परमाः**—जो सबका पालन-पोषण करें, सबको पुष्टि दें, उसको परमात्मा बोलते हैं। कोई कैसे गया उसके पास वह परमात्म-वस्तु सत्य यह नहीं देखता कि यह किस बुद्धिसे उसके पास आया है। इसलिए जार-बुद्धिसे भी गोपी जब कृष्णके पास गयी तो कृष्णरूप हो गयी मानो बन्धनमुक्त हो गयी। उसका गुणमय शरीर छूट गया और बन्धनमुक्त हो गयी। **जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः**— पञ्चदशीमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन आया है। पञ्चदशीमें एक प्रकरण है 'ध्यानदीप'। जैसे—संस्कृतमें व्याकरण शब्दका अर्थ होता है वैसे ही वेदान्तमें प्रकरण शब्दका अर्थ होता है। प्रक्रिया बतानेवाले ग्रन्थभागको प्रकरण कहते हैं—**प्रक्रियते अनेन**। तो ध्यानदीपमें ऐसे बताया कि दो आदमी थे, दोनोंने देखा कि दूरसे चमक आ रही है, कोई चीज झिलमिल-झिलमिल झलक रही है। दोनों को शंका हुई कि वहाँ कोई हीरा पड़ा हुआ है, निश्चय हो गया कि वहाँ कोई हीरा ही है। दोनों ने बँटवारा कर लिया कि उस हीराको तुम ले लो और वह हीरा हम ले लें। दोनोंके मनमें हीरा-बुद्धि हो गयी लेकिन एक आदमी जब उस चमकके पास पहुँचा तो वहाँ दीया जल रहा था। उसी दीपककी प्रभामें उसको हीराकी भ्रान्ति हो गयी थी। वहाँ हीरा नहीं मिला। दूसरा भी चमक ही देख रहा था और चमक देखकर गया लेकिन वहाँ तो दर-असल हीरा था। तो दोनोंको चमक देखकर हीराकी पहले भ्रान्ति ही हुई थी परन्तु एक पहुँच गया हीरेके पास और एक पहुँच गया दीपकके पास। वहाँ चमकमें हीरेकी भ्रान्ति होना एकके लिए लाभकारक हो गया और एकके लिए लाभकारक नहीं हुआ। जिसको हीरा मिला उसके भ्रमको वहाँ संवादी भ्रम बताया है; दूसरेको विसंवादी भ्रमके रूपमें बताया गया है। वहाँ बात यह बतायी कि एक बिना जाने यह ध्यान करे कि आत्मा ब्रह्म है और एक जानकर ध्यान करे तो बोले—अनजानमें भी कोई ध्यान करेगा कि

आत्मा ब्रह्म है तो उसको भी वही अनुभव होगा जो जानकर ध्यान करनेवालेको होगी क्योंकि यह तो सत्य ही है कि आत्मा ब्रह्म है। जब ध्यान करनेसे झूठी चीज भी मिल जाती है तब सच्ची चीजकी तो बात ही क्या है। ध्यानमें बड़ा बल है!

जिसने श्रीकृष्णको भगवान् समझा उसको तो भगवान्की प्राप्ति हुई ही; परन्तु यह जो गोपी जिनके पास दौड़ी जा रही है, जानती तो नहीं है कि ये भगवान् हैं पर हैं तो वे भगवान् ही। अज्ञानमें भी कोई अमृत पी ले, अमर तो वह हो ही जायेगा। **जारबुद्ध्यापि सङ्गताः**-अरे! बाबा! वही ब्रह्म है, परमात्मा है और अपने सब आवरण तोड़कर, फोड़कर प्रकट होकर आया है, उसको यशोदा मैया बच्चा समझकर प्यार करती हैं तो ब्रह्मसे ही प्यार करती है, ग्वालबाल, सखा समझकर प्यार करते हैं तो भी ब्रह्मको ही प्यार करते हैं और गोपियाँ यार समझकर प्यार करती हैं तो परब्रह्म परमात्मासे ही प्यार करती हैं, क्योंकि दरसल वे परब्रह्म परमात्मा हैं।

अब आगे देखो—'**जारबुद्ध्याऽपि**' क्या बुद्धि है उनके चित्तमें? ऐसे समझो कि हमारे हिन्दू धर्मकी यह बात है—कभी कर्मनाशामें आदमीको नहाना पड़ जाय, कभी वरुणामें नहाना पड़ जाय और कभी नर्मदामें नहाना पड़ जाय, परन्तु उसके मनमें भाव हो कि हम गंगामें स्नान कर रहे हैं, तो गंगा-स्नानका पुण्य उसको मिलेगा और यदि कदाचित् गंगाजीमें स्नान कर रहा हो और गंगाजीको समझता हो कि कोई मामूली नदी है, तो हिन्दू धर्मके अनुसार उसको गंगा-स्नानका पुण्य ही मिलेगा। क्योंकि वह तो असली गंगामें नहा रहा है, यह हिन्दू धर्म की मर्यादा है। केवल भावमें ही गुण नहीं होता, द्रव्यमें भी गुण होता है। देखो, डाक्टर लोग दवा देते हैं नाम नहीं बताते हैं कि क्या है; परन्तु शरीरमें जानेपर दवा गुण तो करती है। हमारे वैद्य लोग तो पहले बताते ही नहीं थे कि क्या देते हैं। ये महाराज खिलावें कबूतरका बीट (कोई औषधि है जिसको खानेसे शरीरका कोई रोग दूर होता है।) लेकिन बताते नहीं थे कि रोगी नहीं खायेगा, उसको ग्लानि होगी।

तो क्या हुआ कि वस्तुमें भी गुण होता है। यहाँ वस्तु हैं श्रीकृष्ण और उनका गुण है कि जो उनसे मिलेगा, कृष्णरूप हो जायेगा। यह साँवरा सलोना यह मीठा-मीठा व्रजराजकुमार, जिसकी आँखें प्रेम-रससे सनी, खिले कमलकी पंखुड़ी-सी जिनमें गुलाबी शर्बत घुला है, जिसके होंठ सन्तरेकी फाँक जैसे हैं उनमें क्या रस रखा है! जिसके कपोलोंमें कचौड़ीका निवास है!

तो चलो आनन्द लो! अब एक गोपी यहाँ जो आयी श्रीकृष्णके पास वह शरीरसे कमरेमें बन्द थी और ध्यानसे मिल गयी कृष्णके साथ; और उसका देह छूट गया। तो जरा उसपर विस्तारसे बात करते हैं। यह तो महाराज ऐसा ही हुआ कि **प्रथमग्रासे मक्षिकापातः**—पहले ग्रासमें ही मक्खी गिर गयी। यह रास-रसोंका मंगल प्रारम्भ होना और उसमें पहले ही मौतका वर्णन आना! गोपीको घरवालोंने रोक लिया, रास्ता मिला नहीं, वह मन-ही-मन भगवान्‌के पास पहुँच गयी और शरीर छूट गया। बोले इसका यह अर्थ तो है ही नहीं बिलकुल, वह मरी नहीं—**जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः**। अगर मरना इष्ट करना था तो यूँ कहना चाहिए था कि **जुहुर्देहं**-उन्होंने देह छोड़ दिया और **प्रक्षीणबन्धनाः**-उनके सारे देह मूलक बन्धन कट गये और वे कृष्णके पास पहुँच गयीं। परन्तु '**गुणमयं देहं**' क्यों कहा? जबकि देह तो गुणमय होता ही है। तीन गुण तो महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे पंचतन्मात्रा, पंचतन्मात्रासे पंचमहाभूत और उनसे शरीर। शरीर बना तो तीनों गुणसे ही बना। जब गुणसे ही बना तो यह कहनेकी जरूरत कहाँ रहती कि गुणोंसे बना शरीर। शरीर तो यहाँ देह कहनेसे ही समझमें आ जाता है कि उनका देह छूट गया, उसको गुणमय देह क्यों कहा गया। विशेषण व्यावर्तक होता है; ऐसे झूठ-मूठ विशेषण नहीं लगाते। तो 'गुणमयं' विशेषण किसका व्यावर्तक है? क्या कहना चाहते हैं। वैष्णव सिद्धान्तमें देह दो प्रकारका होता है—एक गुणमय प्राकृत देह और एक गुणमय नहीं अपितु अप्राकृत देह। तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिए प्राकृत देह जो इस गोपीका था, वह तो घरमें गिर गया, लेकिन जब इसने ध्यान किया तो प्राकृत देह त्याग होकर आप्राकृत देहकी उत्पत्ति हो गयी। जातिका परिवर्तन हो गया, देहस्थ जो प्राकृत परमाणु थे वे बदल गये, उसका भौतिक देह आतिवाहिक देह हो गया। अतिवाहिक शब्दका अर्थ होता है-**अतिक्रम्य वहति** जो दीवारमें-से निकल जाय भी तो जिसको रोक न सके, जो फाटक बन्द हो तो भी निकल जाय, जिसे कोई रोक न सके, ऐसे शरीरको बोलते हैं। आतिवाहिक शरीर वह अप्राकृत शरीर किसी ग्वालेकी पत्नी नहीं था, किसी ग्वालेकी बेटी नहीं था, वह किसी मकानमें आबद्ध नहीं था। ध्यानसे गोपीको दिव्य शरीर प्राप्त हुआ और वह जो उसका गुणमय शरीर था उसका परित्याग करके ऐसा अप्राकृत रूप ग्रहण किया। यह ध्यानके बलका वर्णन किया। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज एक श्लोक बोला करते थे—

आतिवाहिकदेहोऽयं शुद्धचिद्व्योम केवलः।
आधिभौतिकतान्नीतः पश्याभ्यासविजृम्भितम्॥

तुम अभ्यासकी महिमा देखो! असलमें यह आत्मा शुद्ध मुक्त ब्रह्म है, यह चिदाकाश है। लेकिन मैं देह हूँ—मैं देह हूँ, इस अभ्यासके कारण यह परिच्छिन्न जड़ हो गया है। यह भावका ही बल है कि ब्रह्म अपनेको परिच्छिन्न द्रव्य मान रहा है। इसी प्रकार यदि उल्टा भाव किया जाय तो, ध्यानकी महिमा, अभ्यासकी महिमा आपको प्रकट हो जायगी। आप अपनेको दाढ़ी, बाल, मूँछवाला मर्द मत समझो और आप अपनेको बिना दाढ़ीकी, बिना मूँछकी स्त्री मत समझो, अपनेको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त भगवत्सेवोपायिक शरीरवाला समझो। हमारा यह शरीर भगवान्‌की सेवाके लिए है और भगवान्‌का जैसा शरीर वैसा ही शरीर हमारा है, क्योंकि विजातीयके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध कैसे होगा? भगवान् जब हयग्रीव बनेंगे तो भैंस होकर उनसे मैत्री कोई थोड़े जोड़ेगा। अरे, भगवान् मछली बनेंगे तो उनके साथ मछली बनना पड़ेगा और कछुआ बनेंगें तो उनके साथ कछुआ बनना पड़ेगा। वे वराह बनेगें तो उनके साथ वराह ही बनना पड़ेगा। वे मनुष्य बनेंगे तो उनके साथ मानुष ही बनना पड़ेगा। जैसे भगवान्‌का दिव्य शरीर है वैसे तुम भी देखो कि हमारा शरीर दिव्य है! अपने बालको सफेद मत देखो, अपने दाँतको टूटा हुआ मत देखो, अपने चेहरेपर झुर्री मत देखो, अपने शरीरमें हड्डी, मांस, चामका ख्याल मत करो। ऐसा देखो कि दिव्य, चिन्मय, मंगलमय, सच्चिदानन्दघन विग्रहसे हम भगवान्‌से मिल रहे हैं। जो शरीर माँ-बापसे पैदा नहीं होता वह गुरु-गुरुवाइनसे पैदा होता है। बोले—हमारे गुरुजी तो हैं पर गुरुवानीजी तो हमने देखी नहीं। तो गुरुकी जो शक्ति है वही गुरुआनी है। शक्ति सहित गुरु होता है। शिष्यकी श्रद्धा और गुरुका अनुग्रह यही उसके माँ-बाप है। श्रद्धा और अनुग्रहसे उस शरीरकी प्राप्ति होती है, तब वह रूप धारणकर भगवान्‌के पास जाना होता है।

अच्छा, उस गोपीके गुणमय शरीरका त्याग हुआ और अप्राकृतिक शरीरकी प्राप्ति हुई। अब महाराज वह जो बुढ़िया थी न, जो घरमें बंद हो गयी थी, वह भी जवान बन गयी। श्रीकृष्णके अनुरूप भोग्य उसका शरीर बन गया, उसके भी केश सुनहले हो गये, उसका भी शरीर देदीप्यमान हो गया, उसका भी दिव्य यौवन प्रकट हो गया, वह रासमें नाचने योग्य हो गयी, गाने योग्य हो गयी, बजाने योग्य हो गयी, श्रीकृष्णका आलिंगन प्राप्त करने योग्य हो गयी और उसका शरीर भक्तिभावसे परिपूर्ण ध्यानके द्वारा, भगवान्‌की सेवामें पहुँच गया। अब इसपर राजा परीक्षितने एक शंका की? क्या शंका की—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।
गुणप्रवाहो परमस्तासां गुणधियो कथम्।

असलमें जहाँ साकारका प्रश्न हो उसमें निराकारको नहीं जोड़ना चाहिए और जहाँ निराकारका प्रश्न हो उसमें साकारको नहीं जोड़ना चाहिए। ये तो जो साकारके अश्रद्धालु लोग होते हैं उनके संतोषके लिए साकारको निराकारमें जोड़कर बताया जाता है। असलमें तो साकार निराकार एक ही है।

एक बात और आपको सुनावें! जैसे ब्रह्मके बारेमें जो भी बात शास्त्रमें कही हो, वह बात हमारे बारेमें भी बिलकुल सच उतरती है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो एकांगी ज्ञान होगा, वैसे ही हमारे बारेमें जितनी बात है वह भी सब ब्रह्ममें सच उतरती है क्योंकि अगर ऐसा न हो तो दोनों बराबरीके ब्रह्म नहीं निकलेंगे—एक छोटा ब्रह्म और एक बड़ा ब्रह्म हो जायेगा। इसलिए ये श्रीकृष्ण जो हैं उनमें चूँकि ब्रह्मके सारे लक्षण हैं ही, हमारे भी सारे लक्षण श्रीकृष्णके अन्दर हैं। अद्‌भुत लीला है यह, इस बातको समझो! प्रक्रिया कालमें, व्यतिरेक कालमें, वेदान्तीके समझमें यह बात नहीं आती! अच्छा बोले—हमारा तो जन्म होता है पर ब्रह्मका नहीं होता। बोले कि नहीं यही बात नहीं समझते हो कि ब्रह्मका ही जन्म हुआ है, हम ब्रह्म ही हैं और हमारा भी जन्म हुआ है। इसीका नाम लीला है। कृष्ण ब्रह्म ही है और कृष्णका जन्म हुआ है—यह बात लीलाकी क्यों समझ नहीं पड़ती है? अपरिच्छिन्नतामें परिच्छिन्नवत् जन्म लेना और अन्य क्रीड़ा करना लीला है। वह श्रीकृष्णमें जैसा है वैसा ही हममें हैं। सब ब्रह्म ही कर रहा है। जो ब्रह्ममें है, मुझमें है और जो मुझमें है, ब्रह्ममें है नारायण!

अहमेव परं ब्रह्म, ब्रह्माहं परमं पदम्।

भागवत्‌का यह सिद्धान्त बड़ा विलक्षण है! वेदान्तका सार है!

अच्छा अब आपको बताते हैं—परीक्षितका प्रश्न क्या हुआ? ये जो गोपियाँ हैं ये कृष्णको समझती हैं **परम कान्त**! क्या छाँटके शब्द रखा है। कान्त माने प्यारा, कमनीय जिसके लिए प्यास लगे! कान्त शब्दका एक अर्थ होता है सुन्दर। कान्तिसे कान्त बना—**कान्ति अस्यास्ति इति कान्तः** कान्ति इसमें रहती है इसलिये कान्त है, सुन्दर है और एक अर्थ बोलते हैं—'क' माने सुख, उसका अन्त माने पराकाष्ठा जिसमें हो, जिसमें सुखकी पराकाष्ठा हो उसको बोलते हैं कान्त। और 'क' माने रस, जल, उसकी पराकाष्ठा माने अमृत। जैसे सुन्दरके दर्शनके लिए आँखें प्यासी रहती हैं वैसे जिस रसके लिए हमारा दिल प्यासा हो उसका नाम कान्त है। उसमें भी महाराज ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरेका नाम कान्त नहीं है। **परं कान्तं**—सबसे परे है यह कान्त! यह पर पुरुष है। पर भी तो लग गया इसमें।

कल आपको सुना रहा था कि परपुरुष माने क्या होता है? इन्द्रियोंने विषयोंसे व्याह कर लिया है, दिखाऊ ढंगसे। परन्तु असलमें उनका प्रेम आत्मासे है।

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति,
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

इन्द्रियाँ बाहर विषयोंसे सुख दुहती हैं और भीतर बैठे हुए आत्मदेवको पहुँचाती हैं। असलमें तो ये आत्मदेवकी नौकर हैं सेवा आत्माकी करती हैं, प्यार आत्मासे करती हैं, उनको सुख पहुँचाकर सुखी होती हैं। बाहरसे तो सिर्फ लानेका ही काम करती हैं। विषयोंके साथ इनका असली ब्याह नहीं हुआ है। उनका असली ब्याहता तो वही है, इसीको परपुरुष बोलते हैं, भला! व्यवहारमें इन्द्रियोंका प्यारा विषय है और विचार करके देखो तो परमार्थमें अपना आत्मा है। चूँकि व्यावहारिक दृष्टिसे ये आत्मदेव पतिदेव नहीं हुए, इसीसे इनको परपुरुष बोलते हैं। अच्छा, अब ज्यादा वेदान्तकी बात आपको नहीं सुनावेंगे!

'परं कान्तं विदुः'—गोपी तो समझती थी कि यह श्रीकृष्ण जो है हमारा यार है, हमारा प्यारा है, ब्रह्म तो वे समझती नहीं थी। कृष्ण ब्रह्म है कौन समझे! अरे बड़े-बड़े वेदके पण्डित नहीं समझते हैं। वे सबको ब्रह्म बता देंगे पर कृष्णको ब्रह्म नहीं बतावेंगे। ये क्या महामायाका खेल है कि बड़े-बड़े वेदान्ती कहेंगे कि हम ब्रह्म हैं और ये भी कहेंगे कि तुम ब्रह्म हो। (औरोंको न कहें तो अपने चेलोंको जरूर बोलेंगे।) लेकिन जब कृष्ण ब्रह्म आये तो अपने बराबर भी उनको नहीं मानते और अपने चेलोंके बराबर भी नहीं मानते थे। वे कृष्णको ब्रह्म नहीं कहते—**न तु ब्रह्मतया** वे गोपी बिचारी किसी ब्रह्मज्ञानीकी चेली नहीं हुईं, इसलिए उनको चेली बनानेके लिए भगवान् स्वयं आये! *गोपीनां स गुरुर्गति,* कृष्ण गोपियोंके गुरु भी हैं और प्यारे भी हैं। भागवतमें यह लिखा है—**अध्यात्मशिक्षया गोप्यः एवं कृष्णेन शिक्षिताः** उनको अध्यात्म ज्ञानका उपदेश खुद दिया—खुद गुरु और खुद गति और खुद पति और खुद मति। गोपियोंके गुरु कृष्ण गोपियोंके पति कृष्ण, गोपियोंकी मति कृष्ण और गोपियोंकी गति कृष्ण। भागवतमें— **गोपीनां स गुरोर्गति** कुरुक्षेत्रके प्रसङ्गमें ये वचन हैं और गोपियोंके पंचकोषका ध्वंस हुआ इसका भी वर्णन है।

प्रश्न यह है कि ब्रह्मके रूपमें गोपी नहीं जानती थी, तो यह जो कहा कि उनका प्राकृत-शरीर, गुणमय शरीर बदल गया, गुणप्रवाहमें यह जो त्रिगुण हुआ है वह त्रिगुणसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकार त्रिविध होकर सात्त्विक,

राजस, तामस होकर जो ज्ञान, क्रिया और द्रव्यके रूपसे उनके बैठा हुआ था—वह कैसे मिट गया? उनको अप्राकृत दिव्य शरीर कैसे प्राप्त हुआ?

गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्।

उनकी बुद्धि तो गुणमें लगी हुई थी, गुणोंसे पार कैसे पहुँच गयी।

अब महाराज श्रीशुकदेवजी बोले कि देखो तुमको बार-बार बात समझायी समझमें तो तुम्हारे आता नहीं है, याद रहता नहीं हैं, और प्रश्न ठोंक देते हो! देखो क्या बढ़िया हम वर्णन कर रहे थे कि सब गोपियाँ कृष्णके पास पहुँच गयीं और वर्णन करते कि कृष्णने यह कहा और गोपियोंने यह कहा, अब कहाँ हम वृन्दावनका रस सुनाते तो कहाँ यह बीचमें ढेला फेंक दिया सवालका। अब कोई प्रश्न करे और उसका उत्तर न दे तो वह बात भी ठीक नहीं जमती देखो, भगवान्की कथा जो होती है वह रसास्वादन करनेके लिए होती है और आनन्द बढ़ानेके लिए होती है। सत्सङ्ग जो होता हैं संशयकी निवृत्तिके लिए होता है। प्रश्नोत्तर जो होता है वह भी संशयकी निवृत्तिके लिए और चिद्विषयक ज्ञान बढ़ानेवाला होता है। और योगाभ्यास जो है सत्यनिष्ठित करनेके लिए होता है और रंगमंचपर ये जो भिन्न-भिन्न व्याख्यान होते हैं वे नेताओंके अपनी पार्टी बढ़ानेके लिए होते हैं, कुर्सी पर अपना अधिकार जमानेके लिए होते हैं। श्रीशुकदेवजीने कहा—**उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।** अरे-ओ, ओ परीक्षित! परीक्षितका अर्थ है परीक्षा करके, तब जो बातको पक्की करे। गर्भमें देख आये थे भगवान्को, तब लोकमें उसकी परीक्षा करें। पूरी तरहसे ये परीक्षित हैं—परीक्षित हैं माने जानते हैं; जिसका इम्तहान, जिसकी परीक्षा पूरी तरहसे कर ली गयी हो उसका नाम परीक्षित है, इनकी परीक्षा क्या हुई है, कि वह जो ब्राह्मणका बेटा था, उसने कहा कि तक्षक तुमको काट लेगा। तक्षक तक्षक माने बढ़ई। जो वसूलेसे लकड़ी छीलकर आरीसे चीरकर, काटकर, रन्दा मारकर लकड़ीको सुन्दर कामकी बना देते हैं। तो यह तक्षक जो आया सो तो देहाभिमानको छील करके काटकरके फेंकनेके लिए शुद्ध, बुद्ध, मुक्तरूपमें परीक्षितको चमका देनेके लिए रन्दा मारकर देहाभिमान् छुड़ानेके लिए और पालिश करके गुणाधानके लिए मनन निधिध्यासनके द्वारा, श्रवणके द्वारा उनका निर्माण करनेके लिए आया। यह तक्षक कोई दंशक नहीं है। लेकिन मृत्युका प्रसंग उपस्थित होनेपर परीक्षितने क्या कहा? यह ही उसकी परीक्षा है बोला—बाबा, एकदिन तो मरना था अभी सही, **दशत्वलं गायतविष्णुगाथाः**—आकर डसने दो तक्षकको, तुम तो भगवान्की लीला-कथा सुनाओ। तुम मौतकी परवाह छोड़कर कृष्ण-कथा सुननेके लिए बैठे हो परीक्षित! मैंने तुमको पहले यह बात बतायी थी—**उक्तं**

पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः। जिस प्रकारसे चैद्यको सिद्धि मिली (चैद्य माने शिशुपाल, चेदि देशका राजा, उसका नाम चैद्य), अरे देखा नहीं, सुना नहीं, तुम्हारे दादाके यज्ञमें गाली दे रहा था शिशुपाल, द्वेष कर रहा था शिशुपाल और उसके शरीरमें-से ज्योति निकली और कृष्णके शरीरमें समा गयी, कृष्णाकार हो गयी। गाली देनेवालेकी जब ऐसी गति हुई, तो प्रेम करनेवालेको भला क्या गति मिलेगी!

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।

द्विषन्नपि हृषीकेशं—वह तो हृषीकेशसे द्वेष करता था। द्वेषमें दो चीज होती हैं और प्रेममें भी दो चीज होती हैं, प्रेममें स्मरण होता है और स्वाद आता है; द्वेषमें स्मरण होता है और जलन होती है। एकमें जलन है और एकमें मजा है, लेकिन स्मरण दोनोंमें है। **चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।**

एक बापके सामने दो बच्चे बैठे थे। देखा, बाप बैठा है तो एक दौड़कर पाँव छूने लगा, बापने झट उसको गोदमें बैठा लिया। दूसरा दौड़ा कि मूँछें उखाड़ लें! उस जमानेमें लोग मूँछ रखते थे, अब नहीं रखते। उस जमानेमें पौरुषका चिह्न मानते थे। नाकमें-से बलगन सीधे मुँहमें न पहुँच जाय इसके लिए भगवान्ने मूँछ बनायी थी। इतना ही नहीं जब हम लोग साँस लेते हैं तो हवाके कण साफ-साफ छन जायँ और हवा शुद्ध होकर नाकमें घुसे इसके लिए भी हमारे पूर्वजोंने मूँछोंकी आवश्यकता समझी थी। इसपर पुरुषोंने कहा कि अगर यह कोई बात होती तो भगवान् स्त्रियोंके लिए भी मूँछें देते कि उनका भी बलगम सीधे मुँहमें न जाय और उनकी नाकमें भी शुद्ध हवा जाय। भगवान्ने ऐसा पक्षपात क्यों किया? लेकिन पक्षपात यों किया कि स्त्रियोंके बारेमें भगवान्की धारणाएँ थीं कि ये सड़कपर ज्यादा नहीं घूमेंगी, ऐसा उनका ख्याल था! अब इसमें क्या बात हुई कि जब बाप बैठा था और बच्चा मूँछ पकड़नेके लिए दौड़ा, नाकमें उँगली डालनेके लिए दौड़ा, तो जैसे उसने प्रणाम करनेवालेको गोदमें बैठाया था वैसे ही उसको भी उसने अपनी गोदमें बैठा लिया। तो क्यों बैठाया? क्योंकि वह उसको भी अपना बच्चा समझता है—**कथञ्चिन्नेक्ष्यते पृथक्** श्रीमद्भागवतमें आया कि बच्चे भले न पहिचाने कि हमारा बाप है लेकिन बाप तो पहचानता है कि यह हमारा बेटा है।

किसी भी भावसे जब अपना बेटा अपने पास आता है तो बाप उसके प्रति स्नेह ही करता है, वात्सल्य ही करता है, उसका भला ही करता है। **द्विषन्नपि**

हृषीकेशं—शिशुपाल, दन्तवक्र, कंस, कंस भयसे आया, शिशुपाल द्वेषसे आया, पाण्डव लोग सम्बन्धसे आये, यदुवंशी लोग स्नेहसे आये नारद आदि ईश्वरकी भक्तिसे आये और कुब्जा आदि कामसे आयीं और गोपियाँ प्रेमसे आयीं, लेकिन भगवान् यह नहीं देखते हैं कि कैसे आये, वे तो यह देखते हैं कि हमारे पास आते हैं। उनका यह ख्याल है कि दुनियामें जो हमारे पास आता है वह हमारी छातीसे लगनेके लिए आता है; उनको अपने सच्चिदानन्द होनेका भाव है न! ये सब चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप, रसस्वरूप हैं, तो जो मेरी ओर आ रहा है, हृदयमें ही लगनेके लिए आ रहा है! द्वेषसे आनेवालेके हृदयमें भगवान्का स्मरण जो है वह भगवान्के पास पहुँचा देता है और जलन जो प्रतिबन्ध है उसको मिटा देता है और अन्तमें भगवान्का वात्सल्य उसको हृदयसे लगा लेता है।

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि
यन्मुनय उपासते, तदरयोऽपि ययुःस्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥

—श्रीमद्भा० १०.८७, २३

वेद स्तुतिमें यह प्रसङ्ग आया कि बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, यती, संन्यासी, महात्मा प्राणवायुको वशमें करके मनको वशमें करके, इन्द्रियोंको वशमें करके, अपने हृदयमें जिसका ध्यान करते हैं, द्वेष करनेवाले शिशुपाल, दन्तवक्र आदि शत्रु भी उसी परमात्माको प्राप्त हुए। क्यों हुए? बोले—स्मरणात्; स्मरण तो उनमें भी है भले ही द्वेषसे हो। किस कारणसे द्वेष करते हैं, यह मतलब नहीं है। एकने कहा कि लड़ेंगे चलकर, एकने कहा कि हम प्यार करेंगे चलकर, लेकिन जब सामने गये तो दोनों मिल गये। पनाला गया, गन्दी नाली गयी कि हम समुद्रको गन्दा करेंगे और गंगा गयी कि हम समुद्रको पवित्र करेंगे, लेकिन समुद्रमें मिलनेके बाद गन्दा करनेवाली समुद्र हो गयी और पवित्र करनेवाली गंगा भी समुद्र हो गयी। एकमें पवित्र करनेका भाव था एकमें गन्दा करनेका भाव था लेकिन समुद्रमें मिलनेके बाद दोनों एक हैं—**यथा नद्यः स्यन्दमानाःसमुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय;** उनका नाम-रूप टूट जाता है। ये गोपियाँ जो हैं किस कारणसे गयीं; बाँसुरीसे आकृष्ट होकर गयीं, उनका सौन्दर्य देखकर गयीं, उनका बल-पौरुष देखकर गयीं, प्रेमसे आकृष्ट होकर गयीं कैसे भी गयीं, कैसे भी उनका ध्यान लग गया, गयीं तो उन्हींके पास। ध्यान लगा तो उन्हींका न! तो बाबा जब दुश्मनी करनेवाले भी उनसे जाकर मिल जाते हैं, फिर प्रेमसे जाकर क्यों नहीं मिलेंगी।

द्विषन्नपि हृषीकेशं—हृषीकेश कहनेका क्या अभिप्राय है? अरे भाई, द्वेष किया तो उसने बड़ी भारी गल्ती की? बोले न-न ऐसा नहीं समझना, उन्होंने द्वेष करवा लिया—बोले बेटा! तुम हमसे द्वेष करके मिलो! इन्द्रियोंके स्वामी तो वे हैं, अपनेसे द्वेष करनेकी प्रेरणा दे दी। बोले बहुत बढ़िया नाटक किया है बेटा! अब आ जाओ हम तुमसे प्रसन्न हैं। जब द्वेष करनेवालोंके लिए भी यह गति, यह मति, यह वात्सल्य, यह स्नेह, फिर जिससे भगवान् प्रेम करें, जो भगवान्‌को प्यार करें, उनके सम्बन्धमें कहना ही क्या। **किमुताधोक्षजप्रियाः अधोक्षजः प्रियो यासां, अधोक्षजस्य प्रियाः**—गोपियाँ कृष्णकी प्यारी हैं और कृष्ण उनके प्यारे हैं; और प्यारके सम्बन्धसे ध्यानमग्न होकर यदि कृष्णके पास पहुँच गयीं, तो क्या आश्चर्यकी बात है!

विकारयुक्त प्रेमसे भी भगवत्प्राप्ति सम्भव है

(उक्तं पुरस्तादेतत्ते.......... पेशैर्विमोहयन्)

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥
ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.१३--१७)

रासलीलाके सम्बन्धमें राजा परीक्षितने शुकदेवजीसे प्रश्न उठाया। शुकदेवजीने कहा यदि भक्तके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी हार्दिक व्याकुलता हो और प्रेमपूर्वक ध्यान हो, तो शरीरका एक-एक कण बदलकर भौतिकसे दिव्य हो जाता है, लौकिकसे अलौकिक हो जाता है, आधिभौतिक देहकी जगह आतिवाहिक देहकी प्राप्ति हो जाती है और मंगलमय, दिव्यमय होकर भगवान्‌के उपभोगयोग्य शरीर प्राप्तकर वह उनकी लीलामें प्रविष्ट हो जाता है। भगवान्‌के प्रेमपूर्वक ध्यानमें बड़ी शक्ति है।

राजा परीक्षितने शंका की कि भगवान्‌का आदरभाव ज्ञानसे होता है या भक्तिसे होता है और गोपियोंको न तो ज्ञान था और न तो ईश्वरकी जैसी भक्ति होनी चाहिए वैसी भक्ति थी, ऐश्वर्य ज्ञानपूर्वक तो भक्ति नहीं थी, पहचानती नहीं थी गोपियाँ कि ईश्वर है; उल्टे उनको अपना यार समझती थीं। फिर दोनोंके बिना जो गोपियोंको गुणप्रवाहोपरम हुआ वह कैसे हुआ? वह जो गोपियोंके शरीरमें प्रकृतिके गुणोंका प्रवाह बन्द हो गया और भगवत् प्रवाहका अविर्भाव हो गया-बिना ज्ञानके,

बिना भक्तिके, वह कैसे हो गया? प्रेम करने भरसे उनको भगवान्‌की प्राप्ति कैसे हो गयी? यह प्रश्नका अभिप्राय है। इसके उत्तरमें शुकदेवजी महाराजने कहा कि हमने दशम स्कन्धके पहले इतनी विशाल-भूमिका तुमको सुनायी—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥

राजन्! मैंने तुमको पहले बताया कि शिशुपालको सिद्धि कैसे मिली। सातवें स्कन्धमें यह प्रसंग आया था। युधिष्ठिरने नारदसे प्रश्न किया था। अर्थात् तुम्हारे दादाने हमारे दादा गुरुसे यह प्रश्न पूछा था। वह बात हमने तुमको सारी-की-सारी सुना दी थी। **उक्तं पुरस्तादेतत्ते**। क्या सुनायी कि शिशुपालके शरीरमें-से निकली हुई ज्योति श्रीकृष्णके शरीरमें समा गयी। यह आश्चर्य हुआ। बोले—हाँ, महाराज! समझाया तो था। तो बोले—देखो, ज्ञानका प्रयोजन है स्वयं प्रकाशके आविर्भावमें जो प्रतिबन्धक है, आवरण है, अज्ञान है, उसको ज्ञान मिटा दे। ज्ञानका प्रयोजन भगवान्‌के आविर्भावमें है। अरे, भगवान् तो ब्रह्म हैं; आत्मा हैं; भगवान्‌के अविर्भावमें ये ज्ञान और भक्ति तब जरूरी होते हैं, जब भगवान्‌का स्वयं आविर्भाव न हुआ हो। और जब बिना ज्ञानके और बिना भक्तिके ही स्वयं भगवान् ही प्रकट होकर आगये हैं तो उस समय भी यदि ज्ञान भक्ति की जरूरत पड़े तो भगवान्‌का आविर्भाव व्यर्थ। शत्रुओंको मारना, पृथिवीका भार उतारना—यह काम तो बिना भगवान्‌के अवतारके हो सकता था। भगवान् संकल्प करें कि कंस पैदा ही न हो, शिशुपाल, दन्तवक्र पैदा ही न हों और पैदा होवें तो दुष्ट ही न बनें। अरे उनके संकल्पसे ही सारा काम चल जाय! असलमें भगवान्‌का आविर्भाव दुष्टोंके दमनके लिए नहीं होता, शिष्टोंके पालनके लिए होता है। और फिर वे जब प्रकट होते हैं तो छुट्टी कर देते हैं! उदार आदमीके घर जब भोजन होता था तो उसमें यह नहीं देखा जाता था कि जो निमन्त्रित हैं वही खायँ, निमन्त्रित हैं या अनिमन्त्रित जो भोजनके समय आगया, खोल दो दरवाजा! क्या भगवान्‌के घरमें कोई कमी है? वह तो सबसे मिलनेके लिए, सबको मुक्ति देनेके लिए, सबके सामने आविर्भावके लिए आते हैं। भगवान्‌का अवतार पुष्टिमें है। जीवके भावकी, ज्ञानकी उस समय अपेक्षा नहीं रहती है, जिस समय भगवान् प्रकट होते हैं—

द्विषन्नपि हृषीकेशं—भगवान्‌से कोई द्वेष करे तो? कल आपको सुनाया कि अपना ही बच्चा नाकमें उँगली डालनेके लिए दौड़े, तो भी बाप उसको गोदमें बिठा लेता है। **द्विषन्नपि हृषीकेशं**-उद्देश्यकी उपाधिसे भगवान्‌का स्मरण होता है कि नहीं? **तदरयोऽपि ययुःस्मरणाद्**-कल सुनाया—'**निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोग-**

युजो हृदि यन्मुनय उपासते' मुनि लोग ध्यान करते हैं और शिशुपाल द्वेष, किन्तु **वहीं वह पहुँच** गया। क्यों पहुँच गया? अरे बाबा, रागसे स्मरण करो, कि द्वेषसे स्मरण करो, प्रेमसे दौड़कर आओ, कि द्वेषसे दौड़कर आओ, आते तो हो, भगवान्‌की गोदमें।

कथञ्चित् नेक्ष्यते पृथक्—भगवान् तो देखते हैं कि हमारा बच्चा बहुत देरके बाद खेलकर, घूमकर, भटककर, रोकर, गाकर, कैसे भी हमारी गोदमें आया। वे यह नहीं देखते कहाँसे कैसे आया-'**कथञ्चिन्नेक्ष्यते पृथक्**' कैसे भी आये, उसको पराया समझते ही नहीं हैं, अपना आया ही समझते हैं, अपना ही समझते हैं।

द्विषन्नपि हृषीकेशंका अर्थ वल्लभाचार्यजी महाराजने बताया है कि यह मत समझना कि कंसने भगवान्‌से भय किया था, शिशुपालने द्वेष किया, तो वे भय करनेमें या द्वेष करनेमें स्वतन्त्र थे। **हृषीकेशं**-अरे! वही तो उनके इन्द्रियोंके स्वामी हैं, जब कंस कृष्णको गाली देता था और शिशुपाल कृष्णको गाली देता था तब उनके हृदयमें भगवान् बैठे थे कि नहीं? और उनको प्रेरणा दे रहे थे कि नहीं? तो जब खुद ही अपनेको गाली दे रहे थे; तो उन्हें गाली सुनकरके भी खुश होना पड़ेगा कि नहीं? यह मैंने वल्लभाचार्यजी महाराजका भाव सुनाया-सुबोधिनीमें जैसा है, भला! **हृषीकेशम्**-वही अन्तःकरणको प्रेरणा देनेवाले, वही इन्द्रियोंको प्रेरणा देनेवाले, वही स्वामी, वही अन्तर्यामी, वही गाली दिलवा रहे हैं, वही गाली सुन रहे हैं। अब गालीकी वजहसे नहीं मिलेंगे तो कैसे भगवान्? गाली भगवत्-प्राप्तिमें प्रतिबन्धक नहीं हो सकती, वही तो दिलवा रहे हैं अपने लिए।

नारायण! अब देखो, मधुसूदन सरस्वतीने दूसरा ढंग लिया। उन्होंने तो इसका विवेक करनेके लिए बहुत बड़ा निबन्ध ही लिखा है, वे कहते हैं कि परमात्मा एक है, अद्वितीय है और मिलेगा तो एक ही होगा, नहीं मिले तो बात दूसरी, पर मिलेगा तो वही-का-वही होगा; तो प्रेमसे मिले कि द्वेषसे मिले, जब मिलेगा तो वही मिलेगा। तो बोले फिर प्रेमीमें, द्वेषीमें कोई फर्क ही नहीं हुआ, तो क्या हुआ? जो प्रेम करेगा सो जिन्दगी भर खुश रहेगा। और मरनेके बाद भी उसको प्राप्त करेगा। जब वे मिलेंगे तो मिलेंगे, इस जीवनमें मिलें या अगले जन्ममें मिलें! लेकिन जो दुश्मनी करेगा वह इस जीवनमें दुःखी रहेगा, घुलता रहेगा और मर जायेगा तो वह मिलेगा। शिशुपालकी ज्योति समा जायेगी लेकिन शिशुपाल जबतक जिन्दा रहेगा, तबतक हाथ-पाँव पटकता रहेगा, दाँत पीसता रहेगा, चेहरा लाल रहेगा, मार डालेंगे इस ग्वालेको, जिन्दा रहते द्वेषमें रहा। उन्होंने कहा-

तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्- बोले स्मरण तो दोनोंको है, द्वेष, करनेवालेको भी है; और प्रेम करनेवालेको भी है; लेकिन प्रेम करनेवाला स्मरण कर करके खुश होता है और द्वेष करनेवाला स्मरण कर-करके जलता है।

ये तो हुई जिन्दगी, लेकिन द्वेष और प्रेम दोनोंके अन्तमें जब मिला परमात्मा तो वहो-का-वही। ये तो रंगमंचपर हैं—प्रेम और द्वेष दोनों रंगमंच पर हैं, परदेके पीछे नहीं हैं, परदेके पीछे तो अपना घर है। एक आदमीके घर कोई मेहमान आया और टाले-न-टले तो पति-पत्नीने आपसमें सलाह की कि इसे कैसे टालें, तो महाराज! दोनों बस चाय पीनेकी लिए बैठे, तो लड़ गये आपसमें। पत्नीने कहा—चूल्हा ही नहीं जलेगा, घरमें रोटी नहीं बनेगी। पतिने कहा-कैसे नहीं जलेगा। आज मेहमान हैं घरमें और चूल्हा कैसे नहीं जलेगा? तो बोली—तुम्हारे मेहमानके मुँहमें मैं आग डाल दूँगी। अब महाराज, मेहमानने दोनोंको नमस्कार किया; बोला हम तो जाते हैं। मेहमान चले गये तो दोनों ताली पीटकर हँसने लगे, कि अच्छी युक्ति निकाली। तो यह जो लड़ाई है वह केवल रंगमंचपर है, नेपथ्यमें नहीं है। नेपथ्यमें ईश्वरसे किसीकी लड़ाई नहीं है। वह परम प्रेमास्पद आत्मा सबका अन्तर्यामी, सबका स्वामी है। एकान्तमें लड़ाई नहीं है, वह तो नाटकमें लड़ाई है। यह तो भगवान्‌की लीला थी, इसमें कोई भगवान्‌का द्वेषी नहीं है, प्रेमी नहीं है। भगवान् जैसा खेलना चाहते हैं उसके साथ वैसा ही खेल खेलते हैं। **चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।**

अब बोले **द्विषन्नपि हृषीकेशं**—शिशुपालकी बात तो ठीक, परन्तु गोपियोंकी कथा तो बिलकुल निराली है। क्या? **किमुताधोक्षजप्रियाः**—अधोक्षज शब्द भगवान्‌के लिए आता है। इसका अर्थ होता है कि संसारमें जितना सुख है भगवान्‌से नीचे है, जितना ज्ञान है सो भगवान्‌से नीचे है, जितनी वस्तु है सो भगवान् से नीचे है **अधस्ताद् अक्षजं ज्ञानं यस्मात्**—इन्द्रियजन्य ज्ञान, ऐन्द्रियक ज्ञान जिससे बहुत नीचे हैं उसको बोलते हैं अधोक्षज। नारायण! अर्न्तयामी, आत्मदेव, साक्षी अधोक्षज हैं। बोले—उनसे करे कोई प्यार और वे करें किसीसे प्यार तो प्रेमी और उनका प्यारा उसको यदि सद्भाव, चिद्भाव, आनन्दभाव, अप्राकृतिक, अलौकिक दिव्य शरीरकी प्राप्ति हो जाय और वे भगवान्‌की लीलामें पहुँच जायँ तो आश्चर्य क्या?

अब जरा बात आगे बढ़ती है। बोले—भाई, और कोई प्रयोजन हो भगवान्‌के प्रकट होनेका! बोले—नहीं, **नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप**—अरे बाबा, राजा तो सिपाहीको भेजकर काम चला लेता है। कहीं थानेदारको भेज दिया, बहुत

हुआ तो कहीं दीवानको भेज दिया, लेकिन कहीं-कहीं खुद जाता है। तो क्यों जाता है? अपनी प्रजाकी भलाईके लिए जाता है—**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप**—हे नृप, हे राजन्, जैसे तुम्हारा प्रजामें जाना, प्रजाके कल्याणके लिए होता है वैसे भगवान् किसीको साधन न करना पड़े, चलना न पड़े और भगवान् मिल जायँ इसलिए अवतार लेता है।

एक नयी बहू आयी गाँवमें। सासने कहा—बेटी, यहाँ जरा सम्हलकर रहना। बोली, क्या बात है माँजी? तो बोली—यहाँ एक नन्दनन्दन है, श्याम-सुन्दर! उसकी ओर देखना मत, उससे बोलना मत। उसने कहा कि यह क्या बड़ी बात है, बचपनसे मैंने किसीकी ओर नहीं देखा। तो आयी महाराज, वह बैठ गयी, चावल बीनने लगी। उधरसे निकले कृष्ण, उन्होंने देखा तो उनकी ओर देखे ही नहीं। तो महाराज जरा पाँव जोर-जोरसे रखकर चलने लगे तो पाँवमें नूपुर बजा। अब नूपुरकी ध्वनि सुनकर उसके मनमें आया कि देखें जरा! बोली—सासुजीने मना किया है, चावलमें मन लगाया। तो कृष्ण थोड़ा खाँस दिये, फिर उठाकर एक ढेला मारा। तब भी बिचारी बच गयी, नहीं देखा। तब बाँसुरी बजाकर नाचने लग गये। अब तो देखना पड़ेगा न! ये तो बलात् लोगोंको आकृष्ट करनेके लिए ही आये हैं। यह ब्रह्मका काम नहीं है। ब्रह्म तो अपने स्थान पर ज्यों-का-त्यों रहता है, जिसको हजार गरज हो तो उसकी ओर देखे। और इनका काम कि जो न देखता हो उसको भी अपनी ओर दिखाना, इसीका नाम कृष्ण है। ब्रह्म शब्दसे महत्त्व है और कृष्ण शब्दमें चुम्बकत्व है। जैसे चुम्बक लोहेको खींचता है वैसे श्रीकृष्ण चीजोंको अपनी ओर खींचते हैं—कर्षति, आकर्षित जो आकर्षण करे उसका नाम कृष्ण है।

बोले—देखो यह जो भगवान्का आविर्भाव हुआ है, वह तुम्हारी भलाईके लिए हुआ है। परन्तु व्यक्ति चाहे जो कर ले, चाहे तो भगवान्को प्रकट कर ले, किसीमें यह सामर्थ्य नहीं हैं कि अपने बलपर भगवान्को प्रकट कर ले। यह तो महाराज—**यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः।** पहले ये पसंद करते हैं कि ये आदमी हमारे पास आवें, ये जीव हमसे मिलें, पहले इशारा करते हैं कि आजाओ हमारे पास, फिर जब जीव इशारा समझता है तब जाता है उनके पास। बोले; नहीं कि देखो, हम कर्मसे प्राप्त करेंगे भगवान्को! अब जो चार विशेषण हैं भगवान्के—

अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।

किसीके घरमें गेहूँ है, चावल है और खानेका मन है। तो गेहूँ, चावल चबाकर ईश्वरको बुलालें कि हमारे कर्मसे प्रसन्न होकर तुम आजाओ और वह

प्रसन्न होकर आ जाये, यह बात दूसरी है। तुम दृष्टान्त दे दो, कि भाई, अमुकके होता तब तो हम ईश्वरको गुणोंसे छान लेते—गुणोंको अलग कर देते कि हट जा, अब हमारा परमात्मा रहेगा। अरे, वह तो गुणोंसे न्यारा नहीं। यह नहीं कि साँपको भगावेंगे तब रस्सीके रूपमें परमात्मा मिलेगा, जिसको तुम सर्प समझ रहे हो वही तो है।

तब कैसे मिलेगा? देखो, यदि वह रस्सीकी तरह जड़ होता, बुद्धिहीन होता, मूर्ख होता तब तो हम जाकर उसको पकड़ लेते! अरे वह तो बड़ा समझदार है। सब ज्ञानोंका खजाना है जब तक वह स्वयं आविर्भावको प्राप्त न होवे तब तक लोग उससे कैसे मिलें! वह स्वयं आता है मिलनेके लिए, भला! उसतक पहुँच नहीं होती है भले चाहे सब गुणोंमें देखो कि वह भरा हुआ है। चाहे भले देखो कि नेति-नेतिसे निषेध कर देनेपर वही रहता है। चाहे यह कहो कि सब प्रमाणोंका विषय वही है, चाहे कहो कि सब वही है, लेकिन महाराज वह स्वयं-प्रकाश सर्वावभासक, जब स्वयं प्रकट होता है तब लोगोंका कल्याण होता है। आज वह कृष्णके रूपमें आया है। अब यह शर्त मत लगाओ कि उसको हम कर्मके द्वारा जानेंगे, प्रमाणके द्वारा जानेंगे, गुणोंको नेति-नेति करके जानेंगे, सर्वरूपमें जानेंगे सर्वरूपमें जाननेसे कृष्ण नहीं मिलेगा, नेति-नेतिसे निषेध करनेसे कृष्ण नहीं मिलेगा। प्रमाणके विषय रूपसे कृष्ण नहीं मिलेगा और कृति-साध्य रूपसे नहीं मिलेगा। ये चारों बातें, सुबोधनीजीमें हैं। तब कैसे मिले? **नृणां निःश्रेयसार्थाय।**

कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोः॥

वह स्वयं कृपा करके आया है। यह प्रकट हुआ है और अपने साथ ये जो आचारहीन हैं, जातिहीन हैं, ज्ञानहीन हैं, भक्तिहीन हैं, उनको भी अपने साथ लेकर प्रकट हुआ है, उनको नचानेके लिए आया है, उनको भी मिलनेके लिए आया है। उसे भावसे पकड़ो या कुभावसे, उसे पकड़नेमें ही कल्याण है।

अच्छा, अब कहो भाई, एक आदमी गया गंगा-स्नान करने, बोले भाव होगा तब न गंगा-स्नानका फल मिलेगा? बोले-भाई तुमने तो जिसके लिए गंगाजीका अवतार हुआ था उसीको व्यर्थ कर दिया! बोले—ब्राह्मणकी पूजा कब करो कि जब सम्पूर्ण वेदोंका पूर्ण विद्वान् हो? वेदपर प्रामाण्य बुद्धि करवानेके लिए ब्राह्मणकी सेवा है। क्योंकि इनकी परम्पराने वेदको धारण किया है, वेदके संस्कारको धारण किया है। इसीलिए अन्तरंग साधनके अन्तर्गत ब्राह्मण-सेवा आयेगी। और बहिरंग साधनके अन्तर्गत साधुकी सेवा आती है क्योंकि त्याग-वैराग्यपर श्रद्धा करानेके

लिए साधु-सेवा है। अतः साधु किसी भी जातिका हो, लेकिन त्यागी-वैरागी हो तो उसका आदर करना चाहिए; लेकिन वह बहिरंग साधनका आदर हुआ। और वेद जो है उसको धारण करनेके कारण, उपनिषद्को धारण करनेके कारण ब्राह्मणकी सेवा है, माने अन्तरंग जो प्रमाण है श्रवण आदि, उसके प्रति आदर भाव करना है। यह बड़ी अद्भुत गति है। इसीलिए ब्राह्मण, साधु एक साथ—आदरके पात्र हैं, अब गंगा स्नानमें यह मालूम हो कि यह गंगा है या न मालूम हो-नहानेसे हृदय पवित्र होगा। जिस दिन बादमें भी मालूम होगा कि मैंने जिसको वैतरणी समझकर स्नान किया था वह तो गंगा थी उसी दिन हृदय पवित्र हो जायेगा। वैतरणी भी एक नदी है। उड़ीसामें वैतरिणी पार करके तब जगन्नाथपुरी जाते हैं।

और महाराज इधर भी एक वैतरणी है कौन-सी? यही कर्मके दुराग्रहकी प्रमाण और निषेधकी अनिवार्यताकी, इत्यादि। बात क्या हुई कि जब भगवान् आये हैं, भगवान् तुम्हारे बीचमें खड़े हैं और वे इसीलिए आये हैं कि अब उनके साथ कर्म मत जोड़ो, अब उनके साथ नेति-नेति मत जोड़ो, उनको यह मत कहो कि सब वे ही हैं, पहचानो उनको वह अपनी पहचान करानेके लिए मोरमुकुट धारण करके, बाँसुरी हाथमें लेकर, पीताम्बर ओढ़कर नन्द-नन्दन, श्याम सुन्दर, मुरली मनोहरके रूपमें आये हैं। जो लोग कहते हैं कि यह भाव है, कल्पना है, वे तो शास्त्रमें जिस प्रयोजनसे जिसका वर्णन है उस प्रयोजनका ही लोप कर देते हैं, शास्त्रमें इस प्रयोजनसे भगवान्के अवतारका वर्णन है कि अज्ञ भी, आचारहीन भी, ज्ञानहीन भी, भक्तिहीन भी उसका सहारा लेकर पार हो जायँ। मगर उसको कल्पना-कल्पना करनेवाले लोग उसका भाव कहाँ बनने देते हैं?

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥

अरे बाबा! जब आ गया वह, तो उसके साथ जुड़ो, यह मत देखो कि कैसे जुड़ते हैं? किसी बहानेसे जुड़ जाओ! बोले—ए! गोपी कहाँ जा रही हो? बोली-तुमसे मतलब? हम तो जमुना जल भरने जा रहे हैं। इधर कैसे रास्ता भूल गयी? राह भूल गयी इसीलिए निकल आयी। है न, नारायण! यह बतानेकी जरूरत नहीं कि तुमसे मिलनेके लिए आये। राह भूल गयी, पहुँच तो गयी कृष्णके पास! कैसे भी हो। पूछा—अब क्यों लौट आयी? हमारी माला खो गयी, मोतीकी माला

कहीं तुमने चुरायी तो नहीं ? लो, आयी मिलने, और चोर बना दिया। फिर आ तो गयी न!

कामं क्रोधं, अरे महाराज कोई कामवश आया, पर आया कृष्णके पास। वह महाराज, गाली देती हुई जटिला-कुटिला पहुँची! अरे, ओ नन्दके छोरे! तू धर्म बिगाड़नेके लिए आया है हमारे गाँवमें ? अब महाराज पहुँचीं, तो देखकर कृष्ण बोले—आओ सासुजी! वैसे तो सब ठीक है न! यह आज इतना काजल आँखमें कैसे लगा लिये! और इतनी चमकती चम-चम क्यों आ रही हो ? बोली-क्या तू समझता है कि मैं बुढ़िया हो गयी। अरे, नहीं, सासुजी! अभी तो तुम्हारी जवानी उभर रही है ? नारायण! वह भौहोंतक काजल लगाकर वर्णन किया महात्मा लोगोंने, बड़े-बड़े महात्माओंने जिनके जीवनमें कोई संग्रह नहीं, परिग्रह नहीं, जिनके मनमें कोई सांसारिक विषयासक्ति नहीं, उन्होंने वर्णन किया है—***तुम्बी-लम्बि कुचासि, दर्दुरवधूवन्नासाग्रिके।*** कृष्णने कहा कि सासुजी तुम्हारी नाक कैसी ? कि मेंढक जैसी। तुम्हारा वक्षःस्थल कैसा ? कि तुम्बा जैसा—ऐसे विरक्तोंने वर्णन किया। यह काजल कैसे तुम्हारे सासुजी! आज नाचती हुई क्यों चल रही हो! कृष्ण समझ गये कि ये अपनी बहूके लिए नहीं आयी है, अपनी बेटीके लिए नहीं आयी है, ये तो हमको देखनेके लिए आयी है। बहाना बना रही है।

कामं क्रोधं भयं स्नेहं—कोई डरसे जाते हैं कि देखो, कृष्ण इस रास्ते न आना! कोई वात्सल्य करते हैं। ऐसा वर्णन आया है कि कृष्णने गोपीका आँचल पकड़ा तो गोपीने कहा—***मुञ्चाञ्चलं चञ्चल पश्य लोकं***—अरे चञ्चल छोड़ दे आँचल! देख-देख, लोग कैसे देख रहे हैं!

बालोसि नालोकयसे कलंकम्।

अभी तू बालक है, तुम्हें तो मालूम नहीं कि कलंक लग जायेगा। कृष्ण हट गये और छोड़ दिया आँचल। पर जब छोड़ दिया तब? ***भावं न जानासि विलासिनीनाम्***—मूर्ख हैं यह तो, छोड़नेका मतलब छोड़ना नहीं था। अभी क्या मालुम तुमको ? ***गोपाल गोपालनपण्डितोऽसि*** अरे ग्वाले! अभी तुझे गाय चराना आता है, अभी तुझे शृंगार रस नहीं आता है।

स्नेह रस दिया यशोदा मैयाने! पूछा, कितना माखन लेगा बेटा ? बतानेका ढंग ही न्यारा है।

तो चाहे कैसे भी हो, काम हो कुब्जाकी तरह, क्रोध हो शिशुपालकी तरह, भय हो कंसकी तरह, सोते-उठते-जागते-चलते लड़खड़ाता था कंस, चौकन्ना रहता था, अपनी परछाँईं देखकर कंस डरता था कि कहीं कृष्ण न आगया हो।

यदुवंशी लोग कहते थे कि कृष्ण हमारा है, पाण्डव लोग कहते थे कि हमारा सम्बन्धी है। नारद कहते थे कि हमारा ईश्वर है। लेकिन फल क्या होता था? जिसके मनमें जो भाव, कृष्णके प्रति आया, तन्मयता आगयी—**यान्ति तन्मयतां हिते**। अपने आपको भूल गये। तन्मय हो गये। इसलिए—

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥

इसलिये श्रीकृष्णसे प्रेम करके कोई अज्ञानी भी मुक्त हो गया, उनको यार समझकर मुक्त हो गया—जार समझकर मुक्त हो गया। श्रीधरस्वामीने एक टिप्पणी जड़ी है इस प्रसंगमें वे कहते हैं—**जीवेषु आवृतं ब्रह्मत्वम्**। ये जो जीव हैं, इनमें ब्रह्मत्व आवृत है, आवरण भंग नहीं हुआ है, परन्तु—**कृष्णे तु अनावृतं ब्रह्मत्वं**—श्रीकृष्णमें तो आवरणका प्रादुर्भाव भी नहीं है, उनमें पहले आवरण हुआ हो और भंग हुआ हो, ऐसा नहीं है, वे तो अनावृत ब्रह्म हैं। फिर जीवन्मुक्त और कृष्ण-मुक्तमें क्या फर्क? जीवन्मुक्त भी ब्रह्म है, परन्तु जीवन्मुक्तमें पहले आवरण था, ज्ञानसे भंग हुआ तब उसने अपनेको ब्रह्म जाना और कृष्णमें कभी आवरण हुआ ही नहीं—**कृष्णे अनावृतं ब्रह्मत्वं**।

इसलिए वस्तुका ज्ञान न होवे और साधन प्रणाली न हो, निस्साधन हो तो जैसे जो लोग समर्थ होते हैं वे तो दिल्ली जाकर राष्ट्रपतिका दर्शन करते हैं और जो लोग वहाँ नहीं जा सकते, उनको दर्शन देनेके लिए राष्ट्रपति स्वयं बम्बई आते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी, भक्त तो ईश्वरके साधनसे सम्पन्न है, वे तो ईश्वरके पास जाकर ईश्वरसे मिलते हैं और जिनके पास साधन-सम्पत्ति नहीं है, उनसे मिलनेके लिए स्वयं ईश्वर आता है। कहीं विस्मय नहीं करना, ये परम सुन्दर, परम मधुर, परम सुशील, परम उदार कृष्ण आये हैं गापियोंके लिए। अब वह यह देखेंगे कि क्या वे खानेके बाद हाथ धोकर आयी हैं कि नहीं? ये देखेंगे कि उसने आँखमें अंजन लगाया है कि नहीं? इतनी छोटी चीज देखकर छोड़ देंगे उसको! नहीं, इसपर उनकी नजर नहीं जाती। वे तो उसका दिल देखते हैं। मिलनेके लिए आयी—बस यही देखते हैं।

भगवान् अज हैं। संस्कृतमें अजका दो अभिप्राय होता है। अज माने एक तो होता है जिसका कोई बाप न हो, जो जात न हो और अज माने दूसरा होता है जिसका कोई बेटा न हो, जो कार्य न हो, जिसमें विकार न हो। स्वयं पैदा न हुआ हो, और उससे कोई दूसरा पैदा भी न हो। किसीके फूटनेसे बना न हो,

और स्वयं फूटकर दूसरेको बनावे नहीं। अज शब्दका अर्थ अकार्य, और अकारण दोनों होता है

न जायते इति, न जायते यस्मादिति।

जिससे कोई पैदा न हो और जो स्वयं किसीसे पैदा न हो, उसका नाम अज होता है, और स्वयं तो ज्यों-का-त्यों है। एकने उलाहना दिया भगवान्‌को—

गोपालाजिरकर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे।

ग्वालेके आँगनमें जो तरह-तरहकी कीचड़ हरी-हरी, पीली-पीली, लाल-लाल, काली-काली उसमें तो लथपथ होकर उसको तो अपने शरीरमें लगाते हो, क्या ब्राह्मणोंके यज्ञमें जानेको तुमको कोई शर्म आता है।

ब्रूषे गोधनहुंकृतैःश्रुतिशतैर्मौनं विधत्से विदाम्।

गौएँ जब हुंकार करती हैं तो उनके साथ ही, सरस्वती, गंगे, यमुने करते हुए दौड़ते हो और जब ब्राह्मण लोग वेदपाठ पढ़ते हैं, तो मौनीबाबा क्यों बन जाते हैं?

दास्यं गोकुलपुंश्चलीसुपुरुषे स्वाम्यं नदान्तात्मसु।

गोपियोंकी तो सेवा करना चाहते हो, और संन्यासियोंका मालिक बनना भी मञ्जूर नहीं करते हो?

जाने कृष्ण तवाऽङ्घ्रिपकंजयुगं प्रेमैकलभ्यं शताम्।

समझ गया कृष्ण, समझ गया, तुम्हारे चरणारबिन्दकी प्राप्ति केवल प्रेमसे होती है, उसके लिए साधनकी, उसके लिए प्रमाणकी, उसके लिए साधन-प्रमाणके निषेधकी और उसके लिए सर्वमय भगवद्भावकी जरूरत नहीं होती। सर्वमय भगवद्भाव तो इष्ट-दर्शनके अनुकूल नहीं है, उसके लिए तो एकमें ईश्वर-बुद्धि होनी चाहिए, सर्वमें कैसे होगी? नारायण! तो बोले बाबा कृष्णके बारेमें शंका मत करो—

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते—अरे ये योगेश्वरेश्वर कृष्ण हैं, मामूली योगी भी शक्तिपात करे तो भगवत्-प्राप्तिमें जो प्रतिबंधक है उसको मिटा देता है और योगेश्वर शंकरजी स्वयं प्रसन्न हो जायँ तो कहना ही क्या। सनकादिक योगी प्रसन्न हो जायँ तो ईश्वरको मिला दें, नारदादि प्रसन्न हो जायें तो मिला दें, शिवजी प्रसन्न हो जायँ तो मिला दें। और ये कृष्ण तो योगेश्वरेश्वर उनके भी स्वामी हैं, वे स्वयं सबको खींचनेके लिए आये हैं। अरे! उनके पाँवके नीचे जो तिनका भी पड़ गया, उसको भी भगवत्प्राप्ति हो गयी! जिस पेड़पर उन्होंने हाथ रख दिया

उसको भी भगवत्प्राप्ति हो गयी—**यत् एतत् विमुच्यते**। जो धूलिकण उनके पाँवके नीचे आगया, उसका स्पर्श जिसको मिला, उसकी मुक्ति हो गयी। और राजा परीक्षित तुम्हें गोपीके सम्बन्धमें संदेह है?

अब शुकदेवजी महाराज कथा आगे बढ़ाते हैं— कृष्णने देखा कि गोपियाँ आ गयीं—**ताः दृष्ट्वान्तिकमायाताः भगवान् व्रजयोषिताः** भगवान्‌ने तो खड़े होकर जरा कमर टेढ़ी की, घुटना टेढ़ा किया, चिबुक टेढ़ी की और बाँसूरी लेकर बजाना शुरु किया और देखा कि ये महाराज झुण्डकी झुण्ड चली आ रही हैं—

किंभूत किमाकार—किसीकी आँखमें काजल एकमें है, एकमें नहीं, किसीके पाँवमें कपड़ा, किसीमें नहीं, किसीने घाघरा ठीक पहना है, किसीने नहीं, किसीके शरीरपर ओढ़नी है, किसीके नहीं, किसीके कानमें एक ही कुण्डल है। बोले—यह पागलोंका झुंड कहींसे आ रहा है? और महाराज! आयीं तो दूर खड़ी हो जातीं परन्तु वे तो खड़ी ही नहीं हुईं, इनसे चिपकी जायँ, चिपकी जायँ—**तां दृष्ट्वान्तिकमायाताः** बिना छुए माने नहीं।

दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।

भगवान्‌ने कहा-सुनो बाबा! उन्होंने सोचा बाँसुरी बजानेसे काम नहीं चलेगा, अब इनसे बात करनी पड़ेगी। अब अपने मुँहकी आवाजसे काम बनेगा, बाँसुरीकी आवाजसे परम्परया काम नहीं चलेगा। आचार्यका काम पूरा हो गया है अब भगवान्‌का काम है। बुलाकर ले आना, यह आचार्यजीका काम है उनके पास पहुँच जानेपर आचार्य बाँसुरीका काम खत्म।

गोपी दौड़कर गयी कृष्णके पास और कृष्णने कहा लौट-जाओ!

(ता दृष्ट्वान्तिकमायाता.................ब्रूतागमनकारणम्)

अब चलें फिर वहीं, नारायण! जैसे नाटक प्रारम्भ हो—बिगुल बजे। रास-लीला प्रारम्भ हो रही है। दिव्य वृन्दावनधाम जो अपनेको कभी गुप्त नहीं करता, केवल अभक्तको नहीं दिखता है। अभक्त हृदयमें उसको देखनेकी आँख नहीं है। नहीं तो वृन्दावन धाम अपनेको कभी गुप्त नहीं करता, हमेशा प्रकट रहता है। ***'यहीं कहूँ श्याम; काहू कुंज में फिरत होइहैं, भुज भरि भेंटबे कूँ जिय उमगत है।'*** आज भी, इस समय भी है वह तमालकी हरियाली, वह कदम्बकी डाली; आनन्द-वृन्दावनमें हमारे बगीचेमें एक कदम्बका वृक्ष है, ऐसी डाल है उसकी कि उसको देखते ही ऐसा मन होता है कि उसमें झूला-डालकर झूलें। पहले झूलते थे, उड़ियाबाबाजी महाराज झूलते थे, भक्त कोकिल साँईं झूलते थे! हमने उस डालीका नाम दोला कदम्ब रखा है। श्रीठाकुरजी महाराज उसपर राधाके संग हिंडोला झूलते—***'यहीं कहूँ श्याम काहू कुंज में फिरत होइहैं।'*** सेवाकुञ्जमें जाओ तो बताते हैं ठाकुरजी माखन खाकर हाथ यहाँ पोंछ देते थे, यह कदम्ब चिकना है। हमारे कदम्बके वृक्षमें-से देनें निकलते है; बने बनाये दोने, बनाना नहीं पड़ता है। उनपर मक्खन लेकर, दही लेकर ठाकुरजी खाते थे। ये जो ठाकुरजीकी लीला है वह पाँच हजार वर्ष पुरानी नहीं है, यह तो आज भी देखनेकी है! ***'यहीं कहूँ श्याम काहू कुंजमें फिरत होइहैं, भुज भरि भेंटबै को मन उमगत है।'*** मन होता है कि दोनों हाथसे पकड़ें और हृदयसे लगा लें, वह यमुनाका तीर, वह बालुकामयं पुलिन, वह कदम्ब कुञ्ज, वह तमाल वृक्षोंकी पंक्ति, वह मोर- चकोर, वह चाँदनी छिटकी हुई! नारायण! पीताम्बरधारी, मुरली मनोहर, बादल जैसा शरीर जिसको देखकर गौएँ दौड़ती हैं कि यह कोई यमुना जल है, पीलें, इसको देखकर मोर नाचने लगते हैं क्योंकि इसकी वंशी-ध्वनिको बादलोंकी मधुर-मधुर गर्जन समझते हैं। चलो वृन्दावनमें चलो—चलो सखी वाम कुंजकी ओर :—

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः।
अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्॥

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.१७-१८)

नारायण **ता दृष्ट्वान्तिकमायाता**। देखो 'ता' में पहले तो होता है सा च, सा च, सा च और बादमें होता है ताश्च, ताश्च, ताश्च। कर्ता विभक्तिके बाद कर्म विभक्ति होती है। **ता दृष्ट्वा**-भगवान्ने देखा—वह गोपी आ रही है, वह गोपी आ रही है, वह गोपी आ रही है; फिर देखा वे आ रही हैं, वे आ रही हैं, वे आ रही हैं! वह गाय दुहती आ रही हैं। उसी मुद्रामें दोनों हाथ वैसे, ज्यों-का-त्यों, चली आ रही है! गिरती-पड़ती, बाल खुले, कपड़े गिरे हुए, पाँव कहाँ गिरते हैं, पता नहीं! महाराज कृष्ण अद्भुत हैं। इनको अद्भुत-कर्मा बोलते हैं! अक्लिष्ट-कर्मा रामचन्द्र भगवान्का नाम है और श्रीकृष्णचन्द्रका नाम है अद्भुत कर्मा। ये दोनोंके विशेषण हैं, संस्कृत साहित्यमें। रामचन्द्रको कहते हैं कि वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशसे युक्त कर्म नहीं करते। और कृष्णको कहते हैं—अद्भुत कर्मा—देखो तो अविद्या, देखो तो अस्मिता, देखो तो राग, देखो तो द्वेष, देखो तो अभिनिवेश, देखो तो सब कुछ, परन्तु असलमें उनका कुछ नहीं! अद्भुत जादूका खेल दिखाते हैं कृष्ण! **ता दृष्ट्वा**, देखा गोपियोंको—'**दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्,पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा**' कोई दूध गरम करके चली, कोई हलुआ चढ़ाकर चली, कोई गाय दोहती भागी, कोई परोसती हुई भागी, कोई बच्चेको दूध पिलाते भागी, कोई अंजन लगाते भागी, कोई लेप करते भागी, कोई कपड़ा पहनते भागी! बाजी रे बाजी, बँसी कहाँ बाजी? अब वे महाराज बाजी-बाजी करते-करते, एक गर्दन उठी तो उठी—**ता दृष्ट्वा**—वह जो मकानमें बन्द कर दी गयी थी उसको भी देखा तो दृष्ट्वा—जो दुहती चली थीं, परोसती चली थीं, दूध पिलाते चली थीं उन्हें देखकर और जो अंजन लेप करते चली थीं, जो कपड़े पहनते चली थीं जो हाथमें अंचल पकड़े चली जा रही हैं, हाथमें चोली पकड़े चली जा रही हैं, नारायण, पाँवका कपड़ा हाथमें, हाथका कपड़ा पाँवमें पहने चली जा रही हैं, रुकती नहीं- और जो मकानमें घिर गयी थीं जिसका शरीर दिव्य हो गया था, उसको भी देखा! वे महाराज आयीं तो उनको मर्यादाका तो ध्यान ही नहीं था,सीमाका ध्यान ही नहीं था कि कहाँ जायँ? श्रीकृष्णने देखा कि ये तो आकर कोई पाँवके नीचे घुस जाती हैं, कोई कन्धेपर चढ़ जायेंगी, कोई पीछे पीठसे चिपक जायेंगी, कोई पेटसे चिपक जायेंगी। ये तो बिलकुल चीटींकी तरह आकर हमारे शरीरमें चिपक जायेंगी। इनके पास आसक्तिकी गोंद हैं, छुड़ाये नहीं छूटेंगी। राग है न! एक पूर्व राग होता है एक

उत्तरराग होता है। पूर्व रागमें ये बाँसुरी सुनती थीं, उत्तर रागमें कृष्णके पास पहुँच गयीं।

महाराज, अब तो वे पहुँचीं। देखा भगवान्‌ने अरे बाबा, उनसे अब कैसे छूटें? तो बाँसुरी हटा दी, क्योंकि बाँसुरीतो बुलाती है, कहाँतक बुलायेगी? वह तो आँख मिले तब भी बुलावे, साँस-से-साँस मिल जाय तब भी बुलावे, त्वचा-से-त्वचा मिल जाय तब भी बुलावे, कहाँ तक बुलावे ये बाँसुरी? भगवान्‌ने बाँसुरीको अलग किया। बाँसुरी मुखर है, मुखर है माने जो ज्यादा बोले। किसी-किसीका स्वभाव होता है बोलता जाय, बोलता जाय, बोलता जाय। बाँसुरीने अपनी जड़ताका खूब फायदा उठाया है। यह साक्षात् सरस्वती है, यह तो श्रीकृष्णके रूप-सौन्दर्यपर उनके प्रेमपर जब मोहित हो गयी तो जड़ हो गयी। सरस्वती जड़ भावापन्न होकर जड़ बनी; अब वह तो लगी-लगी अधरामृतका पान करे और बोलती जाय; तो भगवान्‌ने कहा—ये बुलाये भी। अब इन गोपियोंके लिए बुलानेकी जरूरत नहीं है, अब ये तो आ गयीं। अब इनको बाँसुरीकी जरूरत नहीं है, इनको गुरुकी जरूरत नहीं है, अब इनको दूतीकी आवश्यकता नहीं है। अब कोई बीचमें तीसरेके रहनेकी जरूरत नहीं है, अब सीधे-सीधे बात करनेकी जरूरत है।

देखो शृंगाररसका प्रभाव यह है कि उसमें पुरुष जो है वह अपनी ओरसे मिलनेके लिए उत्सुक होवे, वो धृष्टता करे और स्त्री दुर्लभ होवे, मानिनी होवे, यह शृंगारको साहित्यिक मर्यादा है। तभी शृंगार समृद्ध होता है। यहाँ उल्टा हो गया—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।

उत्सुकता आ गयी गोपीमें, व्याकुलता आ गयी गोपीमें, उत्कण्ठा आ गयी गोपीमें! तो शृंगाररसकी दृष्टिसे इस स्थितिको बहुत अच्छी नहीं मानते, रसाभास हो जायेगा। तो भगवान्‌ने कहा कि हमारी लीलामें रसाभास भला क्यों होगा? आओ रस बनाते हैं। कैसे? कि तुम सब सुलभ हो गयीं तो हम दुर्लभ हो जायेंगे, एकको दुर्लभ हो जाना चाहिए। तब यह जो प्यास जगती है न, प्यास ही रसको रस बनाती है और सुलभतामें प्यास नहीं होती है, सुलभतामें प्यास बढ़ती नहीं है। तो कृष्णने कहा कि ठहरो—'**स्वागतं वो महाभागाः**' अरे गोपियो! महाभाग्यवती है! अरे सब कैसे आयीं? सायंकालका समय कहीं बिच्छू घूम रहा है, कहीं साँप बोल रहा है, कहीं गीदड़, कहीं साही। जंगलमें भूली-भटकी नहीं? किसीको साँप-

बिच्छूने तो कहीं काटा तो नहीं? अरे आयीं कैसे? आनेका आखिर मतलब, प्रयोजन क्या है? महाभाग्यवती गोपियो, महाभाग्य हैं।

महाभाग कौन है? वेदमें जहाँ महाभागका शब्द आता है वहाँ एक तो भजनके लिए आता है—

सचिविदं सखायं न तस्य वाचि भागो अस्ति।

ज्ञानसूत्रमें यह मन्त्र आता है कि जिसने अपने सच्चे प्यारेको छोड़ दिया, आत्मदेवसे विमुख हो गया, परमात्माकी ओर पीठकर दिया, '**सचिविदं सखायं न तस्य वाचि भागो अस्ति**' उसको बोलनेका कोई अधिकार नहीं। जिसने परमात्माको छोड़ दिया, विमुख हो गया, वाणीका अभिप्राय समझनेका उसका अधिकार ही नहीं है, उसका भाग ही नहीं है। तो महाभागा क्या हुआ कि जो अपने सखाके पास दौड़कर आ गया वह भागीदार नहीं है, महाभाग है। धर्ममें उसका भाग, अर्थमें उसका भाग, बोधमें उसका भाग, मोक्षमें उसका भाग, परमात्मामें उसका भाग, हिस्सेदार है। भगवान्‌ने कहा कि भाग्यवती गोपियो! तुम्हारा स्वागत है, स्वागत है।

अब महाराज आजकलकी कोई स्त्री होय तो फूली न समाय कि हमारे प्यारे हमारा इतना स्वागत करते हैं। गोपियोंको तो नारायण! बड़ा दुःख हुआ। बोलीं—हम कोई पराये घर आयी हैं? परायेके पास आयी हैं? स्वागत-शिष्टाचार तो दूसरेके घरमें होता है। अपने प्यारेके पास तो स्वागतम्‌में बन्दनवार नहीं बाँधे जाते, स्वागतम्-स्वागतम्, नहीं लिखा जाता! ये तो ऐसे बात कर रहे हैं जैसे बिना बुलाये आयी हों, जैसे इनको कुछ मालूम ही न हो! ये तो तटस्थ हो गये? सुष्ठु आगतम् सुष्ठु आगतम्—भले आयीं, भले आयी; अच्छा हुआ, कोई तकलीफ तो नहीं हुई?

अब तो गोपियाँ महाराज, सूरत देखने लगीं! जैसे प्रेमसे हम आयीं ऐसा प्रेम तो इसके अन्दर नहीं दिखता है! शिष्टाचार कर रहा है—पधारिये-पधारिये। हमको याद है, बचपनमें जब कभी बहुत देरतक बच्चोंमें खेलते रह जाते और बहुत देरसे घर आते तो हमारे बाबा बोलते थे—कहो महात्मा कहाँसे आ रहे हो? कभी महात्मा बोलते कभी महापुरुष बोलते—कहो महापुरुष कहाँसे आ रहे हो? इतनी देर कहाँ लगा दी? तो व्यंग्य हुआ न! यह नहीं कि वह हमको महात्मा या महापुरुष समझते थे, वह तो बच्चा समझते थे पर बोलते ऐसे थे। और एक बड़े भाई थे तो उनको उर्दूका अभ्यास था; तो वे बोलते थे कि कहो हजरत, इतनी देर कहाँ

रहे ? गोपियोंके लिए यह महाभागा शब्द ऐसे ही है जैसे कोई महात्मा, महापुरुष, महाभाग, हजरत कहकर स्वागत-सत्कार करे।

'स्वागतं वो महाभागाः' गोपियोंको अरुचिकर लगा। वे रुक गयीं, अगर ये शब्द अरुचिकर न लगते तो वे जाकर महाराज चिपक ही जातीं, घुस जातीं शरीरमें! तो जब टिक गयीं तो कृष्ण समझ गये कि इनको अप्रिय लगा; तो बोले— **'प्रियं किं करवाणि वः'** क्या हमारे योग्य कोई सेवा है ? प्यास लगी है गोपी तो जमुना जल ला दूँ ?। पाँवमें काँटे-वाँटे तो नहीं गड़े हैं ? निकाल दें ? रास्ता भूलकर आयीं तो चलो घर बतला दें, लौट जाओ! क्या कोई गाय-बैल तुम्हारे भाग गये हैं ? कोई बच्चा तुम्हारा खो गया है ? आखिर शामको किस भावसे जंगलमें आयी हो ?—**'प्रियं किं करवाणि वः'** में कौन-सी सेवा आपकी करूँ ? हमको तो डर लग रहा है, क्या बात है, जल्दी बताओ।

अब तो गोपियाँ उदास हो गयीं; चेहरा उतर गया। यह भावकी जो प्रतिक्रिया है वह स्त्री-शरीरपर ज्यादा होती है, खासकर प्रेमी शरीरपर ज्यादा होती है। तुरन्त मुँह लाल हो जाय, तुरन्त आँखसे पानी गिरने लगे, तुरन्त मुँह लटक जाय! तो उसको यह नहीं समझना कि हमेशाके लिए हो गया। वह तो थोड़ी देरके लिए होता है। मैंने एक स्त्रीको देखा तो एक साथ ही आँखसे आँसू गिरे और मुँहसे हँसे। तो देखा कि गोपियोंका मुँह लटक गया, तो भगवान्‌ने कहा—'समझ गया गोपियों', मालूम पड़ता है हमको गाँवसे बाहर समझकर कंसका भेजा हुआ कोई असुर आगया गाँवमें! क्या कहीं आग लग गयी ? कहीं कोई उपद्रव हो गया तो क्या उसीसे दुःखी हो रही हो तुम लोग ? क्या हमको बुलानेके लिए आयी हो तुम लोग ? **'व्रजस्यानामयं कश्चिद्'** व्रजमें मंगल तो है न ? अनामय अर्थात् कुशल तो है न ?

अब महाराज जैसे तवा खूब जल रहा हो और उसमें कोई पानीका छींटा मार दे तो फक्कसे हो जाय वैसे ही ये गोपियाँ कितना प्यार, कितनी उमंग, कितनी लालसा, कितनी व्याकुलता, कितनी उत्कण्ठा मिलनकी, कितनी तीव्र आकांक्षा लेकर कृष्णके पास कृष्णसे मिलनेके लिए गयीं और अब उनकी यह बात! हमको पहले तो दिया रासका वरदान और फिर बाँसुरी बजाकर बुलाया और अब जब आनन्द-ही-आनन्दकी आशा लिए इनके पास आयीं तो महाराज कुशल मंगल पूछने लगे कि ब्रजमें कोई बीमारी तो नहीं आयी, ब्रजमें कोई असुर तो नहीं आया, आयी क्यों हो, जैसे कुछ याद ही न हो! इसका मतलब क्या ? क्या कात्यायनी

पूजनके पूर्णाहुतिके दिन जो वरदान दिया था वह भूल गये? बाँसुरी बजायी बुलानेके लिए, हमारा नाम ले-लेकरके क्या यह भूल गये? कृष्णने कहा—राम-राम! बाबा, तुम्हारे मन समायी होंगी ये बातें हम तो आनन्दमें विभोर होकर अपनी बाँसुरी बजा रहे थे, एकान्तमें अभ्यास, रियाज कर रहे थे, उसमें तुम लोगोंने अपना नाम क्यों जोड़ दिया? हम क्या यहाँ न्यौता देनेके लिए खड़े हैं? क्यों आयी हो तुम? बांदमें कृष्णने कहा—तुम रोज-रोज हमको छकाती थीं और हमारी जरा-सी बातमें तुम छक गयी?

व्रजस्यानामयं काश्चिद् ब्रूतागमनकारणम्।

पहले बताओ कि तुम आयी क्यों हो? आनेका कारण अब कौन बतावे? न गोपी बतावे कि हम तुमसे प्रेम करनेके लिए आयी हैं न कृष्ण बतावें कि तुमसे प्रेम करनेके लिए हमने बुलाया हैं! कैसे अपने मुँहसे बतावें? पर भगवान्ने कहा कि जब तक अपने मुँहसे बताओगी नहीं गोरी, तबतक ये साँवरा-साँवरा भी हिलने डुलनेवाला नहीं है।

श्रीकृष्णका अमिय-गरल-वर्षण

(रजन्येषां घोररूपा.............तान् पाययत दुह्यत)

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररंजितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥
तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९,१९-२२)

जब परमात्माके केवल आनन्दस्वरूपका अनुसन्धान करते हैं तब हृदयमें भगवान्‌का प्रेम और संसारसे वैराग्यका उदय होता है। तो जो कहते हैं कि दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति लक्ष्य है, उन सबके लिए भगवद्भक्ति करना अनिवार्य है, क्योंकि प्रेम आनन्दसे होता है और जो आनन्दके सिवाय होता है, उससे जो पृथक् होता है, वह तो दुःख होता है और दुःखसे वैराग्य होता है। तो भक्ति जो है वह सच्चिदानन्दमें-से आनन्दप्रधान है; और सांख्य योगका जो विवेक है कि यह दृश्य और हम द्रष्टा, वह चैतन्यप्रधान है। द्रष्टा चैतन्य होता है और दृश्य जड़ होता है। तो जड़से अपने-आपको विविक्त करना, अलग करना, चैतन्य हो जाना है और दुःखसे अपनेको अलग करना आनन्दसे जोड़ना है।

अब देखो, इसमें सूझ-बूझकी बात क्या है कि 'मैं आनन्द हूँ' ऐसा अनुसन्धान नहीं करते। वह परमेश्वर जिसको हम पाना चाहते हैं 'वह आनन्द है', ऐसा अनुसन्धान करते हैं। उधर वह चैतन्य है, ऐसा अनुसन्धान नहीं करते, मैं दृश्यका द्रष्टा, जड़का द्रष्टा स्वयं चैतन्य हूँ, ऐसा अनुसन्धान करते हैं। क्योंकि दूसरेको चैतन्य मानना केवल मान्यता हो जायेगी और अपनेको आनन्द माननेमें पुरुषार्थकी हानि हो जायेगी। तुम खुद ही आनन्द हो तो चाहते क्यों हो? हमारे बड़े-बड़े वेदान्ती महाराज बीस-तीस वर्षसे लगे हैं, और बोलते हैं कि महाराज हमको यह अनुभव तो होता है कि हम चैतन्यरूप हैं, लेकिन हम आनन्दरूप हैं यह अनुभव नहीं होता। यह जरूरी है कि एक बार आनन्दको, प्राप्तव्य प्राप्त करके

विवेक कर लिया जाय कि जिस आनन्दको हम चाहते हैं वह कैसा है और एक बार पानेवाला कौन है, इसका भी विवेक कर लिया जाय।

और सत्ताकी प्रधानतासे योग-साधना होती है। असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प, निर्बीज सन्मात्र होता है। यह सन्मात्र कैसा होता है, यह समाधि बताती है। तो सत्ताकी प्रधानतासे योग, चेतनताकी प्रधानतासे विवेक और आनन्दकी प्रधानतासे भक्तिभाव होता है।

देखो आनन्द तो सृष्टिमें सब चाहते हैं, ऐसा कौन है जो आनन्द न चाहता हो? अगर हाथ उठवाया जाय कि हम आनन्द नहीं चाहते, तो एक भी हाथ न उठे, सब आनन्द चाहते हैं। तो यह जो गोपियोंका श्रीकृष्णकी ओर आकृष्ट होना है वह सच्चिदानन्दघन परमार्थरूप प्रभुकी ओर आकृष्ट होना है। इसी आकर्षणका नाम प्रेम है। दिल खिंचता है कृष्णकी ओर! यह दिलका खिंचना, दुनियाके सब सम्बन्धोंको, वस्तुओंको छोड़कर कृष्णकी ओर दौड़ जाना, यही गोपियोंका त्याग है। जैसे लोग अपनी इन्द्रिय-वृत्तिसे बाहरके शब्दको छोड़कर वंशी-ध्वनि सुनना चाहें, बाहरके स्पर्शको छोड़कर कृष्णका स्पर्श करना चाहें, बाहरके रूपको छोड़कर कृष्णके रूपको देखना चाहें, और बाहरके रस-गन्धको छोड़कर कृष्णका रस-गन्ध लेना चाहें, तो यह जो इन्द्रिय-वृत्तियोंका बाहरकी अपेक्षासे भीतरवाले कृष्णके लिए उन्मुख होना है और बाहरकी चीजोंको छोड़कर कृष्णके पास जाना है—अर्थात् यही जो आध्यात्मिक क्षेत्रमें वृत्तियोंका आनन्दोन्मुख प्रवाह है, इसीका गोपियोंके अभिसारके रूपमें वर्णन किया गया है। इसीसे श्रीधर स्वामीने लिखा कि—**वस्तुतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायी** वस्तुतः यह रासपञ्चाध्यायी निवृत्तिपरक है। यह भोगका वर्णन नहीं है, योगका वर्णन है। यह रागका वर्णन नहीं है, वैराग्यका वर्णन है। यह संसारके स्वार्थका वर्णन नहीं है, परमार्थका वर्णन है।

तो अब आओ! गोपियाँ श्रीकृष्णके पास पहुँचीं, और यह महाराज प्रेम जो है ना, इसकी चाल बड़ी निराली होती है—

अहेरिव गति प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च यो नोः मोद उदञ्चति॥

जैसे साँप टेढ़ी चालसे चलता है वैसे प्रेम भी टेढ़ी चालसे चलता है। टेढ़ी चालसे चलना भी क्या है इसमें रस बढ़ाना है। इसलिए इसमें प्रत्येक क्रिया रस बढ़ानेवाली होनी चाहिए, दुःख बढ़ानेवाली नहीं चाहिए। रस कैसे बढ़े? तो रस थोड़ा खींचा-खींचीमें बढ़ता है। पर यह बात मालूम पड़े कि यह खींचा-खींची रस-वृद्धिके लिए है। हृदयमें एक साथ ही प्रेम भी रहे, और द्वेष भी रहे ऐसा नहीं हो

सकता। प्रेम और दु:ख तो एक साथ हृदयमें रह सकते हैं क्योंकि दु:ख प्रेमका विरोधी नहीं है, कभी-कभी हम अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिए भी बहुत दु:खी हो जाते हैं। उसमें भी यह नहीं कि हमारे हाथका बनाया नहीं खाया, यह प्रेमका लक्षण नहीं है; प्रेमका लक्षण यह है कि हमारे हाथके भोजनके बिना उनको स्वाद नहीं आता, आज वह भूखे रह गये होंगे। हमारे हाथका भोजन उन्होंने नहीं किया—इसमें अहंभाव आया, और उनको तृप्ति नहीं हुई, इसमें उनके सुखका ख्याल हुआ। प्रेममें तो उनके सुखका ख्याल ही होता है। प्रेम-स्थिति बड़ी विचित्र है। प्रेममें सेवाका अभिमान नहीं होता, प्रेम में अपनी तृप्तिपर ध्यान नहीं होता, प्रेममें अपने प्रियतमकी तृप्तिपर ध्यान होता है। इसमें प्रेमीको गरमागरम भोजन देना भी प्रेम है और साथमें फ्रिजका ठंडा पानी देना भी प्रेम है।

नारायण! तो श्रीकृष्णने बाँसुरी बजायी, और ऐसा अमृतका लोभ दिया गोपियोंको कि आओ! हम तुम्हारे बिना दु:खी हैं, तुम्हारे बिना प्राण तड़फड़ा रहे हैं, तुम्हारे बिना क्षण-क्षण काटते हैं। और जब गोपियाँ आ गयीं तो बोले-अच्छा अब थोड़ा ठण्डा लिया तो थोड़ा गरमा भी लो।

अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्। शुकदेवजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण बाँसुरी भर ही बजानेमें निपुण नहीं हैं—**वदतां श्रेष्ठो** बोलनेवाले जितने हैं व्यास, पराशरादि, उनमें भी श्रेष्ठ हैं। तो कैसी वाणी बोले? प्रेमकी वाणी भी बोले और रूक्षताकी भी। बचपनमें एक पत्रिका पढ़ते थे उसका नाम था 'मतवाला'। कलकत्तेसे निकलती थी। उसपर लिखा रहता था—***'अमिय गरल शशि सीकर रविकर राग विराग भरा प्याला, पीते हैं जो साधक उनको प्यारा है मतवाला'***। ये दोहरे रस जिसमें भरे-अमृत भी विष भी, राग भी, विराग भी, चन्द्रामृत भी और सूर्य-ताप भी—ऐसा है यह मतवाला पत्र!

ऐसी वाणी बोले श्रीकृष्ण—**अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्।** उनकी वाणीमें ऐसे अवयव हैं, ऐसे हिस्से हैं कि उनको सुनकरके आदमी मोहमें पड़ जाय। आपको पहली बात सुनायी! मोह क्या? **स्वागतं वो महाभागाः**- आइये-आइये महाभाग्यवती गोपियो पधारिये, तुम्हारे दर्शनसे हम धन्य-धन्य हो गये! भला कैसे पधारीं? भला माने बिना निमन्त्रणके पधारीं, बिना बुलाये ही कैसे पधारीं? माने कहाँसे टपक पड़ीं? '**प्रियं किं करवाणि वः**' आपकी क्या सेवा करें? नहीं कि क्या सेवा करनेके लिए बुलाया है? नाचनेके लिए बुलाया, गानेके लिए बुलाया, बजानेके लिए बुलाया, चाँदनीका आनन्द लेनेके लिए बुलाया, अब पूछते हैं कि क्या सेवा करूँ! अरे भई,बहुत-सीनारियोंके बीचमें एक नटको जो सेवा करनी चाहिए सो सेवा करो, रासलीला करो।

व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्।

अरे बाबा! व्रजमें कुशल-मङ्गल तो है न? किसी संकटमें पड़कर तो नहीं आयी हो? आनेका कारण बताओ! इसका भी अर्थ बदल देते हैं पर उसको पीछे सुनावेंगे। रास्तेमें कोई तकलीफ तो नहीं हुई? गाँवमें तो सब अच्छा है? समझमें नहीं आता रातके समय क्यों आयीं आप लोग?

श्रीकृष्ण सोचते थे कि गोपी तो सब कुछ छोड़कर आ गयीं, अब श्रीकृष्ण यदि तुरन्त उनसे मिल जायँ और दुनियामें अगर रासलीला गायी जाय, लिखी जाय, तो यही लिखा जावेगा कि गोपियाँ घर छोड़कर आयीं और कृष्ण उनके साथ ता-ता-ताई, ता-थेई-थेई नृत्य करने लगे। इससे यह कैसे मालूम पड़ेगा कि गोपियोंके हृदयमें कृष्णके प्रति कितना प्रेम है? और असल रासलीला तो इसीलिए प्रकट की गयी। जैसे सीताजीको त्याग देनेपर भी सीताका प्रेम रामके प्रति तनिक भी कम नहीं हुआ, जैसा जुआमें दाँवपर लगा देनेपर भी द्रौपदीका प्रेम पाण्डवोंके प्रति नहीं छूटा, जैसे नलद्वारा दमयन्तीको छोड़ देनेपर भी दमयन्तीके मनमें कुछ कड़वा भाव नहीं आया, माने अपमानके समय, त्यागके समय, संकटके समय, दुःख सहकर भी, जो प्रेम बढ़ता है उस प्रेममें वेग है, उस प्रेममें शक्ति है और जो प्रेम मनकी अनुकूलता प्राप्त करके बढ़ता है और मनकी प्रतिकूलता होनेपर घट जाता है वह प्रेम ही नहीं है; उसी प्रकार श्रीकृष्णको यह जाहिर करना था कि देख लो, गोपियाँ हमसे कितना प्रेम करती हैं। कैसे भी गोपियोंका प्रेम संसारमें प्रकट होना चाहिए? यही रासके प्रसंगमें श्रीकृष्णकी कड़वी वाणी और करनीका रहस्य है। हम बाँसुरी बजाते हैं, वे आ जाती हैं, सब कुछ छोड़कर आजाती हैं। ये नहीं, उनके हृदयमें क्या है, कितना प्रेम है, इसको दिखानेकी बात है। श्रीकृष्णने स्वयं कहा—**न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।**

यदि हम जीवनसे, ब्रह्म अविनाशी जीवनसे तुम्हारी सेवा करें तो भी तुम्हारी सेवासे उऋण नहीं हो सकते। लेकिन और तो नहीं जानते हैं ना कि श्रीकृष्ण गोपियोंके ऋणी हैं! श्रीकृष्ण चाहते हैं कि सब जानें कि कितना प्रेम होनेपर गोपियोंके वे ऋणी हो गये, गोपियोंका प्रेम धरतीपर प्रकट हो, इसके लिए वे बोले—अरी गोपियो! यह तुम्हारा आगमन तो अस्थानीय है, माने अयुक्त है, ठीक मौकेपर नहीं आयीं। **अस्थाने** क्यों? तो बोले—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥

एक तो रात्रि है और वह भी भयङ्कर है। **एषा रजनी तत्रापि घोररूपा**—बड़ी

घोर- सत्त्वनिषेविता और इसमें जो घोर प्राणी हैं—भूत, प्रेत, शंकरजीके गण, सर्प, बिच्छू, भेड़िये, गीदड़ ये सब जो दिनभर छिपे रहते हैं वह सबके सब रातमें निकल आते हैं, इसलिये तुम अपने घर लौट जाओ!

'प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः' स्त्रियोंको रातके समय जंगलमें नहीं रहना चाहिए वो भी तुमलोग कोई साधारण स्त्री नहीं हो—**'सुमध्यमाः'** बड़ी सुन्दरी हो, तुम्हारा मध्यभाग बड़ा सुन्दर है। मध्यमभागके सौन्दर्यका अभिप्राय है सर्वाङ्गसौन्दर्य! जैसे किसीको कहें कि तुम्हारी आँखें सुन्दर हैं तो उसका मतलब है कि वह पूर्ण सुन्दर है।

प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः।

हे सुमध्यमा! आप तो बड़ी सुन्दर हो, रात्रिमें यहाँ क्यों?—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥

तुमको मालूम नहीं, तुम्हारे भाई ढूँढ़ रहे हैं, तुम्हारे पिता ढूँढ़ रहे हैं, तुम्हारे पुत्र ढूँढ़ रहे हैं, तुम्हारी माताएँ ढूँढ़ रही हैं, तुम्हारे पति तुमको ढूँढ़ रहे हैं।

विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्—अपने भाई बन्धुओंको दुःख पहुँचाना—यह तो आवश्यक नहीं है न! अब देखो, पहले श्लोकमें तो कहा कि गोपियोंके आनेकी हमारी कोई जानकारी नहीं है। माने पहले यह प्रगट किया कि तुम हमारी जानकारीमें नहीं आयी हो अर्थात् पहले तो अपना प्रणय-निमन्त्रण वापस ले लिया और फिर उनको डराया कि रातमें क्यों निकलीं—भूत हैं, प्रेत हैं, पिशाच हैं, चोर हैं, सर्प हैं—तुम्हारे लिए बहुत भय है। और तीसरी बात यह कही, कि तुम्हारे घरके जो लोग हैं वे व्याकुल हो रहे हैं।

विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्-तुम्हारे घरमें ना देखकर वे ढूँढ़ रहे हैं, मैं देख रहा हूँ भला! हमारी दृष्टि वहाँतक पहुँचती है, तुम लोगोंको तो पाँवके नीचे-तकका नहीं सूझता है। और हमको तो वहाँतकका सूझता है कि तुम्हारे घरवाले, डर-डरके कि हाय-हाय, बड़ी बदनामी हो जायेगी, हमारे घरकी बहू-बेटी कहाँ चली गयीं, घरमें तुम्हें रातमेंनहींदेखकर ढूँढ़ रहे हैं। इधर-उधर भगवान् क्यों तुम उनके चित्तमें भय उत्पन्न कर रही हो? अपने भाई-बन्धुओंका ख्याल करो।

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजतरुपल्लवशोभितम्॥
तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

अब गोपियोंको सामने देखा न जाय! आमन्त्रण तो गया अलग, आमन्त्रणकी जानकारी भी नहीं है, और शरीरका भय दिखा रहे हैं। क्या गोपियोंमें श्रीकृष्णका प्रेम नहीं है? बिना प्रेमके ही उनके पास आयी हैं? अरे, उनका विश्वास तो यह है कि हम तो श्रीकृष्णसे कम प्रेम करती हैं, वह ही हमसे ज्यादा प्रेम करते हैं! प्रेममें मनमें जब यह कल्पना हो जाय कि हमारा प्रेम तो बहुत ज्यादा है उनका कम है, तो यह प्रेमका उल्टा मार्ग है; और प्रेमका सीधा मार्ग यह है कि उनका प्रेम बहुत ज्यादा है, हमारा कम है। जब उनके प्रेमपर विश्वास होता है तब अपना प्रेम बढ़ता है। और जब अपने प्रेमका अभिमान होता है और उनके प्रेमपर अविश्वास होता है तो प्रेम घट जाता है क्योंकि प्रेममें अपने प्रेमकी निरभिमानता और सामनेवालेके प्रेमपर विश्वास, ये दोनों प्रेमकी जड़ हैं। ***विश्वास प्रेमका बाप है और अभिमान प्रेमका शत्रु है।*** तो प्रणय-निमन्त्रण ही वापस ले लिया श्रीकृष्णने! माने गोपियोंके हृदयमें जो उनके प्रति विश्वास था उसपर एक ठोकर लगायी। और श्रीकृष्णके लिए गोपियोंके हृदयमें जो त्याग था—अपने शरीरतकका त्याग, खाना छोड़कर आयीं, अञ्जन त्यागकर आयीं, शरीरकी परवाह छोड़कर आयीं—अब उसकी याद दिलाते हैं कि अँधेरी रातमें तकलीफ होगी तुमको। इस प्रकार उनके त्यागपर चोट की। और तीसरे देखो माता, पिता, भाई, बन्धु, सब उनको रोक़ रहे थे, उन सबके ऊपर पाँव रखकर आयीं—

ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥

उनको पता ही नहीं लगा कि हमारे पाँवके नीचे कौन पड़ा है? उल्लंघन करके आयीं, अपने घरके सम्बन्धियोंको लाँघ-लाँघकर आयीं, अब उनको उन्हीं सम्बन्धियोंकी याद फिरसे दिला रहा है कि उनके लिए तुम लौट जाओ! ये तो उनके अभूतपूर्व त्याग, अभूतपूर्व वैराग्य, अभूतपूर्व संसारके प्रति निर्भयता और केवल कृष्णके प्रति जो ममता, उस ममतापर ही आक्षेप हुआ ना! अब तो गोपी देख नहीं सके उनकी ओर! क्या मनमें समझकर आयी थीं? सोचकर आयी थीं कि पीनेको मिलेगा अमृत, और यहाँ तो विष वर्षण प्रारम्भ हो गया! विश्वनाथ चक्रवर्तीने इसको विष-वर्षण कहा है!

ऐसा विष बरसा, ऐसा विष बरसा महाराज, कि सिवाय गोपियोंके इसको कोई दूसरा सहन नहीं कर सकता था। यह गोपियोंका अद्भुत प्रेम है श्रीकृष्णके प्रति। ऐसी विष-वर्षा करनेपर भी वे जीवित रह गयीं। उनका सामने देखनेका

मन ही न हो, अपना मुँह घुमा दिया, दूर देखने लगीं। श्रीकृष्ण भी समझ गये, इसलिए बोले—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥
तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

ओहो! गोपियो! गलती हुई, गलती हुई, माफ करना! मैं समझ गया तुमलोग क्यों आयी हो? देखो, शरद् ऋतु है, चाँदनी रात है और यह हरा-भरा वन, पुष्पोंसे लदा हुआ, फलोंके भारसे झुका हुआ, और चन्द्रमाकी किरणोंने इनके ऊपर पच्चीकारी की है— रँग दिया है '**दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्**' वनका जो राजा है, औषधियों-वनस्पतियों का जो राजा है राकेश, चन्द्रमा, उसने अपने कर अर्थात् किरणोंसे स्वयं इस वनको रंग दिया है! मान गया, तुमलोग प्रकृतिप्रेमी हो, इस वनकी झाँकी करनेके लिए आयी हो! सचमुच बड़ा सुन्दर है—'**यमुनानिललीलैजतरुपल्लवशोभितम्**' यमुनामें स्नान करके, शीतल होकर वायु भी धीरे-धीरे मन्द-मन्द मन्थर गति से यहाँ चलकर आता है और यहाँ लताओंको गुदगुदाता है। क्या शोभा है! '**यमुनानिल**' माने यमुनाजलमें स्नान करके आया हुआ वायु; **लीलै** माने शीतल मंद सुगन्ध वायु चल रही—लीलापूर्वक चल रही; **तरुपल्लवशोभितम्** माने लता और वृक्षोंके पल्लवोंको वह वायु हिला रही है। '**दृष्टं**' अच्छा, तुम ये देखनेके लिए आयी हो, मैं समझ गया, बाँसुरी सुनकर नहीं आयी हो, मुझे देखनेके लिए नहीं आयी हो! समझ गया, समझ गया कि तुम वृन्दावनकी शोभा देखनेके लिए आयी हो! अथवा—

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिललीलैजन्तरुपल्लव शोभितम्॥

यमुनायां अनिललीलैजत्—यमुनाजीमें चाँदनी छिटकी हुई है और तरङ्गें बहुत शान्त हैं, तो मन्द-मन्द वायुसे जब वृक्ष और लताके जो अग्रभाग हैं वे काँपते हैं तो चाँदनी रातमें जब पूर्वसे चन्द्रोदय हुआ और वृक्षकी छाया पड़ी, तो ऐसा मालूम पड़ेकि और वृक्ष, लता सब नृत्य कर रहे हैं, रास हो रहा है!

तो भगवान्ने देखा यमुनाजीमें वह रासलीला हो रही है, वृक्ष नाच रहे हैं, ये लताएँ नाच रही हैं, ये फूल नाच रहे हैं, ये पत्ते नाच रहे हैं। यही देखनेके लिए आयी थीं ना! ठीक है-ठीक है। गलती हुई। मैंने आक्षेप किया, आप तो प्रकृतिकी

शोभा देखनेके लिए, सौन्दर्य देखने-निरीक्षण करनेके लिए यहाँ पधारी थीं तो '**तद् यात**' अब लौट जाओ—

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

तद् यात मा चिरं जल्दी जाओ देर मत करो। कहाँ जायँ? बोले—**गोष्ठं** गोष्ठमें जाओ। वहाँ जाकर क्या करें? **पतीन् शुश्रूषध्वं**—अपने पतियोंकी सेवा करो। बोलीं-हम तो महाराज उनको छोड़कर आयी हैं। हे नन्दनन्दन, हे श्याम सुन्दर, **ते दास्याः** हम तो तुम्हारी दासी हैं, और उनको छोड़कर आयी हैं। बोले—राम-राम-राम, गोपियो! ऐसी अधर्मकी बात अपनी जबानपर कभी नहीं लाना! पतियोंको छोड़कर आयी हैं? सीताराम-सीताराम, नारायणका नाम लो! '**शुश्रूषध्वं पतीन्**' जाओ पतियोंकी सेवा करो। बोलीं—हमारी तो रुचि बिलकुल नहीं है। तो कहा—**सती** '**शुश्रूषध्वं**' अरे तुम्हारे गाँवमें कोई सती है कि नहीं? **इह सन्तो न वासन्ति सतो वा स्नान वर्तते।**

क्या तुम्हारे गाँवमें कोई सती नहीं है? अरे, सती हो तो जाओ, उसके चरणकी धूलि लेकर अपने शिरपर लगाओ कि हे सती माता! हमसे गलती हो गयी, हम अपने पतियोंको छोड़कर उस नन्दके छोराके पास बाँसुरी सुननेके लिए चली गयीं जाओ, जाओ, सतियोंके चरणोंकी धूलि लेकर-लेकर अपने शिरपर लगाओ। उनकी सेवा-शुश्रूषा करो कि तुम्हारे हृदयके पाप मिट जायँ। पतियोंके धर्मको छोड़कर यहाँ आयी हो? राम-राम, भ्रष्ट हो जाओगी, नरकमें जाओगी! राम-राम, लौट जाओ—**शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।**

क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत।

अरे, तुम्हारे हृदयमें दया-ममता नहीं है, अरी ओ कठोर गोपियो! '**क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च**' उधर गायके बछड़े पाँवमें बँधे-बँधे डकरा रहे हैं, बिना दूधके बच्चे रो रहे हैं। जाओ-जाओ! बछड़ोंको छोड़ो, गाय दुहो, बच्चोंको दूध पिलाओ, तुम यहाँ क्या करने आयी हो? यहाँ अपने धर्म, कर्म, कर्त्तव्य छोड़कर, घर-द्वार छोड़कर यहाँ आयी हो? इसीको विषवर्षण कहते हैं।

अब आपको फिर एक बार लौटा देते हैं। भगवान् जानते हैं कि गोपियोंमें दो तरहकी थीं। दो ही नहीं, बहुत तरहकी थीं—एक तो जानी-पहचानी, गोलोक से आयी हुई और कृष्णकी नस-नस को पहचाननेवाली, उनके रोम-रोमसे वाकिफ। और जो नयी-नयी आयी थीं, कात्यायनीकी पूजा करके, अज्ञातयौवना, मुग्धा, बड़ी भोली। इन बिचारियोंके आँखसे आँसू गिरने लगा। जो समझदार थीं वे

मुस्कुराने लगीं। इसमें क्या बात है? इसमें बात यह है कि **स्वागतं भो महाभागाः** गोपियो! तुम सचमुच महाभाग्यवती हो, सौभाग्यवती हो, आज तुम्हारा सौभाग्य जग गया! तुम भले आयीं, मैंने बाँसुरी बजायी, कितना तुम्हारा प्रेम है! धन्य हो!! मेरी आवाज धन्य हो, बाँसुरीकी आवाज सुनते ही तुम आ गयीं। सचमुच हम तुम्हारे प्रेमके ऋणी हैं- **प्रियं किं करवाणिवः**—अब आप बताओ तुम्हारा क्या प्रिय है? पाँव दबा दें? कहो तो तुम्हारा बाल शृंगार कर दें? कहो तुम्हारा अञ्जन ठीक लगा दें? कहो-वेणी गूँथ दें? कहो—कपड़े ठीक कर दें? अच्छा, तुम जो राग कहो, वह राग गाकर सुना दें? जिस तालपर कहो नाच दें? बोलो- अरे! बाबा जो कहो सब कर दें। मन तुम्हारा और तन हमारा, जो तुम्हारे मनमें आवे सो हमारा तन वही नाच नाचनेके लिए तैयार है। अब जो गोपी मुस्कुरा रही थी, वह बोली कि ठहरो-ठहरो, ऐसी बात मत करो! हम लोग यहाँ देरतक रह जायँ और व्रजमें कोई नयी घटना घट जाये—तुम्हारे सिवाय हमारे भी घर है, द्वार है, पूज्य हैं, नाते-रिश्तेदार हैं। हम सायंकाल व्रज से बाहर हो जायँ तो वहाँ अनर्थ हो जाय! तुम हमको यहाँ रोकते हो, बात नहीं करते!

तो कृष्ण भगवान् बोले—**व्रजस्यानाममयं कच्चित् ब्रूतागमनकारणम्**—क्या तुम कल्पना करती हो, व्रजका कोई अमङ्गल हो सकता है! मैं मौजूद हूँ, मेरे रहते क्या व्रजमें किसीको कोई कष्ट हो सकता है! फिकर मत करो, बिलकुल भूल जाओ—आओ, नाचो, गाओ, बजाओ, हमसे खेलो— **व्रजस्यानामयं कच्चित्**। गोपीने मुँह फेर लिया। तो कृष्ण बोले—**ब्रूत** —अरे गोपियो! एक बार तो अपने मुँहसे फूल झरने दो। **ब्रूता**—हम तुम्हारे प्यारे हुए और तुम हमारी प्रेयसी, आओ बातचीत करें!

गीत-गोविन्दमें आया है—एक बार राधारानी रूठीं, और श्रीकृष्ण लगे मनाने। तो बोले कि तुमको हमारे ऊपर गुस्सा ही आया है तो गुस्सा आनेपर मालूम है क्या किया जाता है? बोले—आदमीको जिसपर गुस्सा आता है उसको बाँधता है—***घटै भुजबन्धनम्।*** अरे, बाँधो तो! हमको बाँध लो! और फिर जिसके ऊपर गुस्सा आता है, आदमी उसको काटता है—**रदखण्डनम्।**

यदि तुमको हमपर गुस्सा आता है तो तुम बोलो ना, गाली दो, अरे, तुमको जैसे मजा आवे, बाबा वही तुम कर लो, लेकिन खुश हो जाओ। जैसे तुमको सुख हो जाय, वही करो।

कुमरगरलखण्डनं मन शिरसि मण्डनं, देहि पदपल्लवमुदारम्।

हमारे हृदयमें जो मिलनकी आकाङ्क्षा है उसको आँखसे बुझाओ। हमारे

शिरपर जो मुकुट है,उसमें मोरपंख तो रहता ही है, जंगली वृक्षोंके पत्ते भी लगाते हैं। ये तो हम अपने चरणपल्लवको अपने मुकुटका आभूषण बना रहे हैं।— **देहि पदपल्लवमुदारम्।** हे प्रिय चारुशीले! **मुञ्च मयि मानमनिदानं** बिना कारणके तुमने मान किया है। रोग होता है तो उसका कोई कारण होता है, निदान होता है और तुमको कुछ मानका रोग हो गया वह तो—बिना कारणके ही हो गया।

ब्रूत—तो गोपी महाराज, मुँह खोल लें, और वे बोले कि **ब्रूत** बोलो! एकने पूछा— महाराज बोलें क्या? कहा—'**आगमनकारणम्**' ये जो आयी होना, इसमें जो सुखका हिस्सा भरा हुआ है सो बोलें। आयी तो हो सुखके लिए और मौन होकर दुःखकी सृष्टि कर रही हो? तो आनेका जो सुख है उसको बोलो। गोपी ऊपर देखने लगी। कहा—देख लो— सचमुच देख लो। एक ने आँख बन्द कर ली, एकने अपनी आँख नीची कर ली। समझती हैं। बोले—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥

बोले—**रजन्येषा**—रजनी है रजनी, रजनी माने रञ्जनी, जिसमें लोग मनोरञ्जन करते हैं। यह मजदूरी करनेका समय नहीं है, यह तो मनोरञ्जन करनेका समय है। '**रञ्जनात् रजनी**' जो रञ्जन करें उसको रजनी कहते हैं। **रजनी एषा**—अरे, ये देखो रात है। क्यों आँख बन्द करती हो? आँख नीचे काहेको करती हो? यह तो रजनी है। देखो न, रात्रिकी तरफ! कैसी चाँदनी छिटकी है, **अघोररूपा** और **अघोरसत्त्वनिषेविता** यहाँ न कोई साँप, न बिच्छू न जानवर, यह तो वृन्दावन पृथिवीका हृदय है, कोमल! **प्रतियात व्रजं न**—व्रजमें नहीं जाना, अब कभी मत जाना, लौटकर मत जाना, गाँवमें मत जाना! आओ, हमलोग आजीवन इस वृन्दावनमें ही रहेंगे और नाचेंगे, गायेंगे, हँसेंगे, फूलसे शृंगार करेंगे, केलेके पत्ते पहन लेंगे और फल खा लेंगे और यमुना-जल पी लेंगे और दिनभर रातभर वृन्दावनके कुञ्जोंमें विहार करेंगे। **व्रजं न प्रतियात**—अब गाँवमें मत जाओ। बोलो— क्यों? '**इह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः**' अरी! ओ सुन्दरी गोपियो! गोपियोंके लिए यह जगह है, वह जगह नहीं है। वह, पतियोंके बीचमें, माताओंके बीचमें वह जगह नहीं है गोपियोंके लिए, गोपियोंके लिए तो यह जगह है। ये देखो दूसरा भाव है '**वाचः पेशैर्विमोहयन्**' शब्द बोलते हैं—एक और बेचारी भोली-भाली समझती है कि मना कर रहे हैं। और जो समझदार हैं, चतुर हैं, वे समझती हैं कि प्रार्थना कर रहे हैं, हमको मना रहे हैं कि यहीं रह जाओ।

गोपीके प्रेमकी परीक्षा-धर्मका प्रलोभन

(तद् यात मा चिरं गोष्ठं....प्रतियात ततो गृहान्)

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥
अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥
श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९, २२-२७)

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि तुम लोग वनकी शोभा देखनेके लिए आयी हो, सचमुच प्राणीके चित्तमें प्रकृतिकी सुषमा देखनेका मनोरथ होता ही है। **सुषमा परमा शोभा** परम शोभाको सुषमा कहते हैं। सुषमा शब्दका मूल अर्थ यदि आपको सुनावें, तो बहुत विलक्षण है। जैसे आँख दो होती हैं तो दोनों अगर बराबर हों और मिलकर देखें तो वे-'समा' हो गयीं ' और यदि एक आँख बड़ी और एक आँख छोटी हो और एक बायें देखे और एक दायें देखे तो वे' 'विषमा' हो गयी। तो सुषमा कहाँ होती है? जहाँ दोनों कान बराबर हों, दोनों हाथ बराबर हों, दोनों नाकके छेद बराबर हों, दोनों हाथ बराबर हों, दोनों पाँव बराबर हों सौन्दर्यमें ये जो नाप-तौलकर बनाते हैं जैसे दर्जी लोग कपड़ा सीते हैं, नाप-तौलकर बनाते हैं, वैसे विधाताने जो नाप-तौलकर शरीरको बनाया है, होंठकी कट कैसी हो, कपोल कैसा हो, दोनों कपोल एक जैसे होने चाहिए। सममिततासे सुषमा बनती है। तो **सुषमा परमा शोभा**!

दृष्टं वनं कुसुमितं—वनमें कुसुम लगे हुए हैं—'**राकेशकररञ्जितं**'

औषधि-वनस्पतिका जो पति है चन्द्रमा—*सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा*—उन्होंने अपने हाथोंसे रँग दिया है और फिर शीतल मन्द सुगन्ध वायुसे पल्लव हिल रहे, मानो हाथसे बुला रहे हैं कि आओ- आओ! लता-वृक्षके साथ लिपट रही। तुमने प्रकृतिकी शोभा देख ली। **तद् यात**—अब लौट जाओ अपने घरको। **मा चिरम्**—देर मत करो। कहाँ जायँ तो **गोष्ठं** अपने घरमें जाना सबसे बढ़िया है। वहाँ जाकर क्या करें? कहा—**शुश्रूषध्वं पतीन्**—पति-सेवा करो क्योंकि स्त्रीके लिए पति परमेश्वरका प्रतीक है। ऐसी सनातन धर्मकी मान्यता है।

देखो, शालग्राममें नारायण होनेका भाव करते हैं, नर्मदा-चक्रमें शिव होनेका भाव करते हैं और उसमेंसे मनुष्य अपना परम मङ्गल, परम कल्याण निकाल लेते हैं और तुम एक चलते-फिरते मनुष्यमें परमेश्वरका भाव करके उसमें परमेश्वरको प्रकट नहीं कर सकते? भावका बड़ा सामर्थ्य है, यह भाव ही संसारके रूपमें प्रगट हो रहा है! शिष्यके लिए गुरु, पत्नीके लिए पति, बेटेके लिए माँ-बाप—ये सब परमेश्वरके प्रतीक हैं, इनकी सेवा-शुश्रूषा करो।

गोपियोंने कुछ अरुचि दिखायी—**सती शुश्रूषध्वं**—अरे! जाओ- जाओ, तुम्हारे गाँवमें कोई सती-सावित्री हो, तो उसकी सेवा-शुश्रूषा करो, उससे फिर पति सेवामें रुचि हो जायगी। **क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत**—तुम्हारे बछड़े डकरा रहे हैं और बालक जो हैं रो रहे हैं। जाओ, बछड़ोंको छोड़ दो गायके पाँवोंमें-से उन्हें दूध पिलाओ। बच्चोंको दूध पिलाओ, गाय दुहो, अपना धर्म-कर्म पालन करो। इसको छोड़ करके तुम हमारे पास क्यों आयी हो?

गोपियाँ तो उत्तरमीमांसाका आश्रय लेकर श्रीकृष्णके पास गयी थीं—*यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्*—जब वैराग्य होवे तब ही प्रव्रज्या लेनी चाहिए। श्रीकृष्ण पूर्वमीमांसाका आश्रय लेकरके उपदेश करने लगे—यावज्जीवन धर्मानुष्ठान करना चाहिए। लेकिन सब श्रुतियोंका समन्वय केवल पूर्वमीमांसासे नहीं लगता। श्रीकृष्णका वचन ही श्रुति-विरुद्ध हो जायेगा। यदि सबको यावज्जीवन धर्मानुष्ठान करना पड़े। देखो—देवर्षि नारदने कहा—**भवतु निश्चयदार्ढ्यात् ऊर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्**—पहले भगवान्‌में अपने निश्चयको दृढ़ कर लो, पक्का कर लो, भगवान्‌से प्रेम हो जाय; फिर जब ऐसा मालूम पड़े कि अब हमारा निश्चय दृढ़ हो गया और यह कभी टूटेगा नहीं कि हम भगवान्‌का भजन करेंगे, तब लोक-धर्मका ठीक-ठीक पालन करके दूसरोंके लिए आदर्श बनाना चाहिए। यदि पहले ही आदर्श बनानेके चक्करमें कोई पड़ जाय और निश्चय दृढ़ न हो तो? *अन्यथा पातित्यशंकया*—पतित होनेकी आशंका है। तो क्या करो?

भगवान्‌ने कहा-धर्मानुष्ठानके द्वारा अपना-अपना अन्तःकरण शुद्ध करो। इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें भगवद्‌भक्ति मिलेगी, तुम्हारा कल्याण होगा, इस जन्ममें अपना धर्म मत बिगाड़ो!

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

अब यह है कि—**वाचः पेशैर्विमोहयन्** भगवान्‌की वाणीमें दोनों अर्थ हैं। एक प्रकारसे मजाक भी कर रहे हैं, विनोद भी कर रहे हैं, जिससे रसकी वृद्धि हो। बोले—**तद् यात**—चली जाओ। **मा चिरम्**—जल्दी चली जाओ और वहाँ जाकर क्या करो? देखो, यह मजाक है— **शुश्रूषध्वं पतीन्**—अरे बाबा! तुम लोगोंके बहुतसे पति हैं! पति शब्दमें यहाँ बहुवचन है तो अनादिकालसे तुम संसारके प्रवाहमें बह रही हो और अबतक न जाने कितने पति मिले और आगे न जाने कितने पति मिलेंगे। कहा—उनकी (ईश्वररूपसे) सेवा-शुश्रूषा करो। माने ईश्वरको भजोगी तो ईश्वरको पतिके रूपमें प्राप्त करोगी और फिर अनन्तकाल तक ईश्वर ही पति रहेंगे। पूर्वमीमांसाके धर्मसे उत्तरमीमांसाका धर्म श्रेष्ठ है।

अब दूसरा मजाक इसमेंसे क्या निकला कि बोले—तुम्हारे जो पति हैं न, वे पहले जन्मके सती हैं। **कथं भूतान् पतीन्** तो **सती?** ये वल्लभाचार्यजी महाराजने अर्थ किया है। सुबोधिनीकारने दोनों ही अर्थ लिखा है। बोले कि जाओ, जाओ, ये जो तुम्हारे पति हैं ये बड़े सती हैं। बोले-बाबा! सती तो स्त्री होती है, कहीं पति भी सती होता है? बोले—ये पूर्वजन्ममें स्त्री थे और इन्होंने खूब पतिव्रतका पालन किया है, खूब सती रहे हैं, तब देखो, अपने पतिका चिन्तन करते-करते अब ये पुरुष हो गये हैं और पति हो गये हैं। नारायण! तुम भी जाकर सती-धर्मका पालन करो तो अगले जन्ममें तुम भी पुरुष हो जाओगी, तो कल्याण-भाजन हो जाओगी, और फिर ये तुम्हारी स्त्री बन जायेंगे और तुम्हारा संसार-चक्र चलता रहेगा!

शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः—क्रन्दन्ति बालाः वत्साश्च हे सत्याः पतीन् शुश्रूषध्वं—इसका जो अर्थ हमने कल सुनाया था उसको अब बन्द कर देते हैं। क्यों? उसमें नारायण! गोपियोंके लिए जो बात कही गयी है—**तव चिरं मा यात**—तुम चिरकालतक मत जाओ और गोष्ठमें मत जाओ, पतियोंकी सेवा मत करो, सतियोंकी सेवा मत करो, माने यहीं हमारे पास ही रहो—**गोष्ठं मा यात पतीन् मा शुश्रूषध्वं, सतीन् मा शुश्रूषध्वं** जिसमें **माम्,** सबके साथ जुड़ जायगा वह केवल संस्कृतके पण्डितोंके लिए छोड़ देते हैं।

अच्छा, अब भगवान् गोपीमें माया-मोह पैदा करते हैं, स्नेह पैदा करते हैं—

अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः।

गोपीको आया क्रोध, और आँख टेढ़ी करके क्षुब्ध दृष्टिसे उसने कृष्णको देखा। मानो कहती हैं—देखो ना, आज यह धर्मशास्त्रीजी बन गये! पहले तो बाँसुरी बजा-बजाकर, नाच-नाचकर, मुस्करा-मुस्कराकर, इशारा कर-करके हम लोगोंको मोहित किया, अपनी ओर आकृष्ट किया, बुलाया और अब बुलाकर हमको धर्मोपदेश कर रहे हैं ? हम धर्म जैसे व्रतका पालन करनेवाली नहीं हैं, हम तो हैं भक्ति-प्रेमके मार्गपर चलनेवाली—***अतिहि कठिन है निगमपथ चलिबो*** हम कोमल चित्तकी गोपियाँ, कोमल वृत्तिवाली, और अर्थका, भोगका, धर्मका उल्लंघन करके प्रकृतिसे परे जो परम मधुर परम सुन्दर सच्चिदानन्दघन मूर्त परमात्मा है, उससे प्रेम करनेके लिए यहाँ आयीं संन्यासिनी होकर और अब यह हम संन्यासीको फिरसे गृहस्थी करनेका उपदेश करते हैं ? अगर संन्यासी फिरसे गृहस्थी करे तो वह तो स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाता है! हम तो अर्थसंन्यासिनी, कामसंन्यासिनी, धर्मसंन्यासिनी, मोक्षसंन्यासिनी अपना लोक-परलोक सब छोड़कर तुम्हारे प्रेमकी पगली, तुम्हारे पास आयी हैं और तुम हमको धर्मका उपदेश करते हो ?

धर्म नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
हम प्रभु शिशु सनेह प्रतिपाला। मन्दर मेरु कि लेईं मराला॥

हंसके लिए मन्दर और सुमेरुको अपने ऊपर उठाना नहीं होता। हमारे तो गुरु, माता, पिता, स्वामी सब तुम्ही हो।

श्रीकृष्णने कहा—सब ठीक है, प्रेममें ऐसे ही लगता है गोपियों—**अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशया आगताः** हमारे प्रति स्नेह है तुम्हारे हृदयमें, माना उसके परतन्त्र होकर तुम हमारे पास आयीं यह भी माना, स्नेह माने घीकी तरह, मक्खनकी तरह, दिलका हो जाना।

यह गोपियोंका हृदय जो है वह असलमें घीकी तरह नहीं है, शहदकी तरह है। दो तरहका प्रेम होता है—एक घृतप्रेम और एक मधुप्रेम। घृतप्रेम गर्मी लगनेपर पिघलता है और मधुप्रेम गर्मी लगनेपर नहीं पिघलता है। एक बात और, घृतका अपना स्वाद नहीं—शक्कर डालो तो शक्कर, नमक डालो तो नमक; पर शहदकी मिठास जो है वह अपना स्वाद होता है। एक घृतप्रेम होता है और एक मधुप्रेम होता है। तो मधुप्रेमपर सर्दी-गर्मीका असर नहीं होता है, एक जैसा होता है, और घृतप्रेम जो है वह ठंडक मिली तो जम जाता है और गर्मी मिली तो पिघल जाता है, वह एकरूप नहीं रहता। स्नेहके दो रूप माने जाते हैं और तीन रंग माने जाते

हैं—एक कुसुम्भ राग एक नीली राग और एक मंजिष्ठ राग। जैसे वेदान्तकी प्रक्रिया होती है— आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद, ऐसे ये आनन्दवादकी भी प्रक्रिया होती हैं।

सच्चिदानन्दमेंसे जब चित्‌को प्रधान और सत् तथा आनन्दको गौण कर दिया तब क्या हुआ तो सांख्यका विवेक हो गया। अस्ति प्रत्ययका विषय और प्रिय दोनों चले गये दृश्यमें और केवल चिन्मात्र द्रष्टा रह गया। योगकी प्रक्रिया सत्प्रधान है। चिन्मात्रको और आनन्दमात्रको गौण कर दिया और सन्मात्रको प्रधान कर दिया तो निर्विकल्प समाधिमें स्थिर हो गया। भक्तिकी प्रक्रियामें आनन्दको प्रधान कर दिया और सत्-चित्‌को गौण कर दिया। आनन्दमात्र प्रिय हो गया।

वेदान्तकी प्रक्रियामें यह बात समझनेकी है कि सत्-चित्-आनन्द ऐसे नहीं है कि इसमें गौण-मुख्यभाव किया जा सके। अत: जब गौणता-मुख्यताकी बात आवे तो इनको सच्चिदानन्दके वाच्यार्थमें ही लेना चाहिए। भक्ति उपासना-धर्म है। इसलिए जितने वैष्णव हैं, शैव हैं, शाक्त हैं, सब सच्चिदानन्दका वाच्यार्थ लेते हैं; और अद्वैत वेदान्तमें सच्चिदानन्दका लक्ष्यार्थ लेते हैं अर्थात् केवल असत्‌की निवृत्तिके लिए सत्, अचित्‌की निवृत्तिके लिए चित्, दु:खकी निवृत्तिके लिए आनन्द इस रूपसे परब्रह्म परमात्माको समझाते हैं। मुख्य वृत्तिसे, अभिधावृत्तिसे ब्रह्म सच्चिदानन्द भी नहीं है, लक्ष्यार्थकी दृष्टिसे सच्चिदानन्द है। यह विवेककी बात आपको सुनायी। तो सत् पृथक्, चित् पृथक्, आनन्द पृथक्—ऐसे नहीं; और सच्चिदानन्दका वाच्यार्थ एक और सच्चिदानन्दका लक्ष्यार्थ प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म। इस प्रकारसे इनका विवेक होता है। ये प्रक्रिया भी जाननेकी होती है।

तो—**मदभिस्नेहाद्**—यहाँ जो सच्चिदानन्द हैं श्रीकृष्ण, वह झिलमिल-झिलमिल नन्दनन्दन, यशोदानन्दन हैं। यशोदानन्दन होनेसे व्यापक हैं और नन्दनन्दन होनेसे आनन्द हैं। यशोदा यश देती है, तो यशका स्वभाव व्यापक होता है। देशमें परिपूर्ण कर देना यह यशोदाका स्वभाव है और आनन्दसे परिपूर्ण कर देना नन्दका स्वभाव है। अब ये महाराज गोपी जो हैं, उसका दिल तो पिघल गया प्रेममें और वह गलकर बहा जा रहा है कृष्णमें। बोले—वाह-वाह! प्रेमका यह स्वभाव ही है कि जिसके हृदयमें आता है उसको पराधीन कर देता है। यह देखो—ज्ञान और प्रेमके स्वभावमें फर्क। ज्ञान जिसके हृदयमें आता है उसको स्वतन्त्र कर देता है और प्रेम जिसके हृदयमें आता है उसको परतन्त्र कर देता है। अगर तुम्हें प्रियतमके परतन्त्र होनेमें डर लगता है तो प्रेमके रास्तेमें पाँव नहीं रखना, भला! वह तो तुमको नचावेगा, गवावेगा, बैठावेगा, वह तुमको जो

उसकी मौज होगी आटेकी तरह तुमको गूँध देगा! यदि परतन्त्र होनेमें डर लगता है तो प्रेमके रास्तेपर नहीं जाना। ज्ञानका स्वभाव है स्वातन्त्र्य और प्रेमका स्वभाव है प्रियतम- पारतन्त्र्य। दूसरेकी परतन्त्रता नहीं, अपने प्रियतमकी परतन्त्रता। यह प्रेमका स्वभाव है।

तो बोले—ठीक है—तुम हमारे प्रेममें परतन्त्र होकरके हमारे पास आयीं। ठीक है गोपियो—**आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः आगताः** आ गयीं हमारे पास, बिलकुल युक्तियुक्त है; हम तुम्हारी निन्दा नहीं करते। यह नहीं कहते कि तुमने कुछ गलती की है। तुम्हारे सरीखे प्रेमियोंके लिए तो ये बिलकुल ही ठीक लगता है कि तुम प्रेमके पराधीन हो करके हमारे पास आ जाओ। अरे गोपियो! तुम्हारी बात तो क्या करें, तुम तो मनुष्य हो, और मनुष्य ही नहीं, हमारी जातिकी अहीर हो, और अहीरमें भी कुमारी हो; किशोरी! तुम हमारे ऊपर प्रेम करके आ गयी हो तो क्या बड़ी बात है—यहाँ— **प्रीयन्ते मयि जन्तवः**—क्या तुमने देखा नहीं है कि गौएँ भी हमसे प्रेम करती हैं? क्या समझती हो? हरिणियाँ भी हमसे प्रेम करती हैं, बकरियाँ भी हमसे प्रेम करती हैं, भैंसे भी हमसे प्रेम करती हैं—**प्रीयन्ते मयि जन्तवः** भौंरे भी हमारे पीछे-पीछे डोलते हैं, चिड़ियाँ भी हमसे प्रेम करती हैं, मोर भी हमको देखकर नाचता है, कोयल भी हमको देखकर कुहुक-कुहुक करती है। हम जानते हैं कि संसारके सब प्राणी हमसे प्रेम करते हैं। तुम्हीं कोई प्रेम करनेवाली नहीं आयी हो, भला! जो-जो हमसे प्रेम करें सबको हम ब्याह-ब्याहकर घर रखें तो कितनी गायें रखें, कितनी भैंसे रखें—**प्रीयन्ते मयि जन्तवः** जन्तुपदका अर्थ देखो ना। संसारके सब जन्तु! अरे बाबा! हम रास्तेमें चलते हैं तो भी हमारे आसपास चलते-मँड़राते हैं, उनको भी हमारा ही रस प्यारा लगता है। तो जब भँवरे-भँवरी ही हमारे चारों तरफ मँड़राते हैं, गाय हमको देखना चाहती है, हरिणी हमको देखना चाहती है, सारस, हंस, विहंग हमको देखना चाहते हैं, तो कोई हमसे प्रेम करे यह हमारे लिए आश्चर्यकी बात नहीं है। अरे! तुमने प्रेम किया, बहुत बढ़िया है, हम तुम्हारे प्रेमका अभिनन्दन करते हैं, तुम बिचारियाँ प्रेमसे परतन्त्र होकर हमारे पास आ गयीं। हम तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। लेकिन गोपियों, इस तरह प्रेमके पराधीन हो जाना ठीक नहीं है। जरा सोचो तो, इस प्रेमकी पराधीनतामें कहीं तुम अपना धर्म न खो बैठो। अब तुम तो भूल गयीं प्रेमके पराधीन होकर, हम तो प्रेमके पराधीन हुए नहीं, क्योंकि हमारे प्रेमी तो हजारों हैं—सभी जन्तु हमसे प्रेम करते हैं। हम तो भँवरेको प्रेम करते देखते हैं, गाय, बैल, हरिनको भी प्रेम करते देखते हैं। अब तुम तो अपना धर्म भूल गयी!

अगर हम भी तुम्हारा धर्म भूल जायँ, तब तो अनर्थ ही होगा। वेदका वचन तुमने छोड़ दिया, मनुस्मृति तुमने नहीं मानी, बाप- दादोंकी बात नहीं मानी, तो मैं तुम्हारा प्रियतम तुम्हें धर्मका उपदेश करता हूँ। अब तो मानकर लौट जाओ!

भगवान् ऐसा क्यों बोलते हैं? तो आपने कभी मोट चलते देखा होगा। खेतकी सिंचाई करनेके लिए चामके बड़े-बड़े मोट चरस बनाते हैं। बैल उसको ढोकर जब एक किनारे चले जाते हैं तब वह कुएँसे बाहर निकल आता है। जब वह ऊपर निकलता है, तो किसान उसको ऐसे पकड़कर खींचते नहीं हैं, खीचें तो कुएँमें चले जायँ, तो एक बार उस चरसेको यूँ धक्का देते हैं, कुएँकी तरफ; तो कुएँको तरफ जाकर वह झूलकर फिर किसानकी तरफ चला आता है। तब झट पकड़कर महाराज! उसको वहीं गिरा देते हैं, पानी गिरा लेते हैं। अगर एक बार उसको धक्का न दें तो वह पूरी तरहसे पास न आवे और उसका पानी न मिले। इसी प्रकार ये प्रेमी लोग जो हैं, अगर आते ही, इनको कह दिया जाय कि हाँ-हाँ आइये, हम तो आपके लिए व्याकुल थे, तब तो महाराज ये ले जायँ कुएँमें। इनको एक बार धक्का देना चाहिए कि लौट जाओ। जब एक बार धक्का दिया तब फिर पूरे वेगसे आये। अरे! कृष्ण तो किसान ही हैं ना, वह तो किसानोंकी सब रीति जानता है। उसका जो यह त्याग है वह चरसिया त्याग है। एक बार अपनेसे दूर इसलिए हटाया कि गोपी और पास आ जायँ। क्या धर्मका उपदेश करते हैं। तुम वेद, शास्त्र, पुराण, मनुस्मृति-पराशर स्मृति नहीं मानते हो तो हमारी बात मानो। कहा—अच्छा महाराज, आप क्या बताते हैं? कहा—हम यह बताते हैं कि—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद् बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

स्त्रीका सबसे बड़ा धर्म क्या है? **भर्तुः शुश्रूषणम्**—अपने पतिकी शुश्रूषा सबसे बड़ा धर्म है। बोले—सेवामें कोई शर्त है? कहा—हाँ, एक शर्त है। कपट नहीं जोड़ना— **अमायया**। धर्ममें तो अधिकारी पुरुष, श्रद्धासे, विधिपूर्वक, धर्मका अनुष्ठान करे, तो वह फलप्रद होता है। और यदि अधिकारी न हो तो भी धर्म गया, और श्रद्धा न हो तो भी गया और अधिकारी हो, श्रद्धा हो, और विधि न हो, तो नारायण! अपने मनसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती। यह जिसको सनातन धर्म कहते हैं; वह स्वर्गप्रापक धर्म है। माने उसके फलके रूपमें यह वर्णन आता है कि यह धर्म करो तो तुमको स्वर्गकी प्राप्ति होगी। अच्छा, स्वर्गप्राप्तिके साधन भूत जो

धर्म है उसका अनुष्ठान कौन करे? तो कहा—'**अर्थी समर्थी विद्वान्शास्त्रेणापर्युदस्तः**' शबरस्वामी पूर्वमीमांसादर्शनका भाष्य प्रारम्भ करते समय लिखते हैं—'**अर्थी**' होवे माने स्वर्ग चाहता होवे; और लँगड़ा लूला, अन्धा, यज्ञ करनेमें असमर्थ न हो, अर्थात् समर्थ होवे; और धर्मको समझता होवे; और शास्त्रमें उसके लिए उस धर्मका अनुष्ठान निषिद्ध न होवे, तब धर्म करे।

अब महाराज! जो स्वर्ग न चाहता हो, उससे कहो कि तुम स्वर्ग प्राप्त करनेके लिए धर्म करो, तो क्या वह धर्म करेगा? नहीं, करेगा, क्योंकि वह अर्थी नहीं है। अर्थी न होनेसे माने स्वर्गका इच्छुक न होनेसे वह उस धर्मका अनधिकारी हो गया। यह जो श्रीकृष्णका धर्मोपदेश है यह भी जो स्वर्गका अर्थी हो, उसके लिए स्वर्गका प्रापक धर्म है। उसमें क्या चाहिए? तो, उसमें श्रद्धा चाहिए '**अमायया**'। और पतिके जो भाई-बन्धु हों, जिनकी सेवासे पतिकी प्रसन्नता हो, उनकी भी सेवा करे। महाराज! एक आदमीके घरमें एक बहू आयी। पतिसे तो बहुत प्रेम करे; पतिने कहा कि हमारी माताजीके पाँव छूकर आओ। तो बोली कि देखो—हमारा ब्याह तुम्हारे साथ हुआ। तुम कहो—हम तुम्हारे पाँव पर शिर रगड़नेको तैयार हैं, लेकिन माताजी-वाताजीको हम नहीं जानते हैं। पति बेचारेने शिर पीट लिया। भाई, जैसे पति सुखसे घरमें रह सके, उसकी माता अनुकूल हो, पिता अनुकूल हो, भाई अनुकूल हों, पतिके सुखकी दृष्टिसे वातावरणको भी तो ठीक बनाना पड़ता है न! तो जैसे—पतिकी सेवा धर्म है, इसी प्रकार जैसे पतिके जीवनयापन में सुविधा हो, उसके अनुकूल वातावरण बने, माता आशीर्वाद दे कि बेटा, ऐसी बहू आयी कि हमको बड़ी शन्ति मिली, बड़ा सुख मिला, इसको ईश्वर हमेशा सौभाग्यवती बनावें। आशीर्वाद देते हैं। भाई कहें कि भाभी घरमें आ गयी जैसे हमारे घरमें दूसरी माँ आ गयी, ऐसा उसको अनुभव हो रहा है। तो ये भी स्त्रीके धर्मके अन्तर्गत हैं—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद् बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥

श्रीकृष्णने कहा—तुम कल्याण-सन्तानका पालन करना, पतिके भाई बन्धुओंको सुखी रखना, पतिसे किसी प्रकारका कपट मत रखना—और उसकी सेवा करना। यह स्त्रीका धर्म है। तब भी गोपियोंके मनमें रुचि नहीं हुई पति-सेवाके लिए। तो भगवान्ने कहा—अरे! तुम्हारे पतियोंमें कोई दोष है क्या? मारते-पीटते होंगे मालूम पड़ता है—**दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो**—एककी ओर देखकर कहा—अहो, तुम्हारा पति तुमको मारता है, समझ गया। दूसरीकी ओर देखकर कहा—

अच्छा, तुम्हारा पति पैसा नहीं लाता है क्या ? अभागा है ! तभी तुम उससे नाराज हो ! तीसरीकी ओर देखा—अब बुढ़ऊ मिल गये क्या ? तुम बेवकूफ बनाकर आयी हो क्या ? बोले—जड़ो—**रोगि अधनोऽपि वा**—क्या बेहोश पड़ा है और छोड़कर चली आयी हो ? अरे बाबा देखो, पति कैसा भी हो, तब भी पत्नीका धर्म है कि अपने शील-स्वभावसे बुरे, अभागे, बुड्ढ़े, मूर्ख रोगी और निर्धन पतिका भी त्याग न करे। यह स्त्रीका धर्म है। तुम लोग भाई पहचान लो तुम्हारे कैसे पति हैं ? क्या ऐसे पतियोंको छोड़कर तुम आयी हो ? देखो, तुम अगर अपना लोक-परलोक बनाना चाहती हो तो पति मत छोड़ो।

और ***अपातकी*** तुम्हारे पतिने कोई पाप-वाप कर दिया है क्या ? देखो—इसके सम्बन्धमें शास्त्रका निर्णय है कि यदि पति ब्रह्महत्या करे, शराब पिये, चोरी करे और गुरु-पत्नीसे गमन करे, और ऐसे कुकर्मी लोगोंके साथ बैठे, खाये-पिये, मिले-जुले—पाँच महापाप हो गया।

ब्रह्महा च सुरापायी स्तेयी च गुरुतल्पगः।
महान्ति पातकान्याहुः तत् संसर्गी च पञ्चमः॥

तो स्त्री ऐसी स्थितिमें क्या करें ? पति ब्राह्मण मारकर आवे या चोरी करके आवे और पत्नी पुलिससे पकड़वावे, यह उचित नहीं है। यदि पति ब्रह्मघाती भी हो, शराबी भी हो, चोर भी होवे, तो स्त्रीको अपने पतिकी सेवा तो करनी चाहिए। माने उसको भोजन देना चाहिए, उसको जल देना चाहिए, उसको सुलाना चाहिए, उसको दवा देनी चाहिए, उसको सम्हालना चाहिए, पत्नीको तो अपने धर्मका पालन करना चाहिए; लेकिन आगे सन्तान भी वैसी न होवे, पतित सन्तान उत्पन्न न होवे—ब्रह्मघातीसे, शराबीसे, चोरसे सन्तान उत्पन्न न होवे—इसके लिए उसको ब्रह्मचर्यसे रहकर अपने पतिकी सेवा करनी चाहिए, उससे सन्तानोत्पादन नहीं करवाना चाहिए, ये इसके सम्बन्धमें प्राचीन शास्त्रका निर्णय है। इसीलिए भगवान्‌ने कहा—

पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यः स्त्रीको अपने पतिका परित्याग नहीं करना चाहिए। किसी हालतमें भी— यदि वह अपातकी होय, पापी न हो, तो और यदि वह पापी हो, तो तलाक नहीं देना चाहिए। वैदिकधर्ममें मन्त्रोच्चारणपूर्वक धार्मिक विधिसे जो संस्कार होता है उसमें परित्यागका विधान नहीं है। पतिकी सेवा तो करनी चाहिए परन्तु उससे शारीरिक सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। अन्यथा उसका पातकपना सन्तानमें संक्रमित हो जायगा। परम्परा ही पतित हो जायगी। विवाह धर्मकी रक्षाके लिए, धर्मकी वृद्धिके लिए होता है, धर्मके नाशके लिए विवाह नहीं होता—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो, लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥

यदि स्त्री दूसरे पुरुषके साथ सम्बन्ध रखे तो वह स्वर्गसे और यशसे वंचित हो जाती है; उसको तुच्छ सुखकी प्राप्ति होती है और नारायण ! कष्ट मिलता है, भय मिलता है, निन्दा होती है। इसलिए स्त्रीको इस सम्बन्धमें बहुत सावधान रहना चाहिए।

गोपियोंने कहा—महाराज! यह धर्मकी बात जहाँ मनुका शासन हो, वहाँ करना; हम तो वेणुके शासनमें आ गयी हैं, और यह जो तुम्हारा वेणु है, यह राजा वेनका अवतार है, और हम तुम्हारे प्रति प्रेमभावमें मगन होकरके आयी हैं। इसलिए अब अपने मुँहसे लौट जानेके लिए मत कहो।

भगवान्ने कहा—ठीक है। गोपियो, तुम्हें हमारे अन्दर भाव ही तो चाहिए ना। तो लो,हम भाव देते हैं, भावका साधन बताते हैं। क्या तुम्हारे गाँवमें कोई कथा वार्ता सत्सङ्ग होता है कि नहीं? ये तो भगवान् विनोदमें बोल रहे हैं ना। वे चाहते हैं कि गोपियोंके दिलमें छिपा जो प्रेम है वह दुनियाके लिए जाहिर हो जाय। तो उस सत्सङ्गमें हमारे बारेमें, हमारी लीला सुनो, हमारी कथा सुनो, हमारे गुण सुनो।

गोपी बोलीं—हमने तुम्हारी लीला देखी है—माखन-चोरी करते हमने देखा है। अब सुनें क्या? तुम्हारी लीला तो हमलोगोंने अपनी आँखोंसे देखी है; और तुम्हारी सुन्दरता भी हम लोगोंको मालूम है कि काले-काले हो; और तुम्हारे गुण भी हमने देखे हैं। हमारे कपड़े ही चुरा लिये—तो गुण भी बहुत देखे हैं! क्या यही सब सुननेके लिए हम गाँव जायँ? अरे बाबा! हमको तुम्हारे अन्दर कोई गुण, कोई लीला, कोई चीज अच्छी नहीं दिखती! हमको तुम्हारी कोई चीज अच्छी नहीं दिखती। हम तो अपने दिलसे बेबस होकर आयी हैं, नहीं तो तुम हमको क्या खींच सकते? अरे तुम्हारे सब लक्षण हमको मालूम हैं, लेकिन फिर भी हमारा दिल नहीं मानता।

देखो, प्रेमकी एक यह भी रीति है। आपको इशारेमें बताता हूँ। जैसे ये वेदान्ती लोग हैं ना, वे ब्रह्मको निर्गुण कहते हैं, और उसको जाननेकी कोशिश करते हैं। तो निर्गुण कहना और जाननेकी कोशिश करना! तो उसको कैसे जानोगे—या तो गुणाधिष्ठानके रूपमें जानोगे और या गुणाभावसे उपलक्षितके रूपमें जानोगे? गुणीके रूपमें ब्रह्मको जानोगे क्या? तो जैसे ब्रह्मके ज्ञानके लिए

ब्रह्मका गुण गुणीभावमें होना आवश्यक नहीं है वैसे ही जब प्रेम अपनी पराकाष्ठापर पहुँचेगा, तब उसमें प्रियतममें गुण-गुणीभावका होना आवश्यक नहीं है। भगवान् बड़े दयालु हैं भाई-प्रेम करो! बड़े सुन्दर हैं—प्रेम करो तो जरा चाट लेंगे। कुछ न कुछ स्वार्थ होगा।

बिन गुन, यौवन, रूप, धन, बिनु स्वारथ, हित जान।
शुद्ध कामनासे रहित प्रेम विशुद्ध महान॥

बोले—रूप देखकर प्रेम किया तो आँखोंको स्वाद चाहिए, गुन देखकर प्रेम किया, तो मनको स्वाद चाहिए; जवानी देखकर प्रेम किया तो काम है; धन देखकर प्रेम किया, तो लोभ है; कहीं न कहीं स्वार्थ अटक जावेगा, और जब स्वार्थ अटकेगा तो शुद्ध प्रेम नहीं होगा।

गुणरहितं, कामनारहितं—नारदजीने बताया कि गुण देखकर प्रेम नहीं होता, कामनाकी पूर्तिके लिए प्रेम नहीं होता। *प्रतिक्षणववर्धमानम्*-घटता हुआ प्रेम नहीं होता। प्रेममें स्थूलता नहीं होती, प्रेम में द्रष्टा- दृष्यभाव भी नहीं होता, प्रेम अनुभवरूप होता है। तो आप देखो। ज्ञानके लिए जैसा शुद्ध ब्रह्म चाहिए—निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निर्द्वन्द्व—प्रेमके लिए भी प्रियतम वैसा ही चाहिए। प्रेम जिससे होता है उसमें प्रेमगुणकी सृष्टि कर देता है। असलमें ब्रह्म-ज्ञानमें ब्रह्ममें ज्ञेयत्व उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर ज्ञेयत्व बाधित हो जाता है। क्षणभरके लिए ज्ञेयत्व उत्पन्न हुआ, वृत्ति-ज्ञान हुआ और अगले क्षण ही मिटा। तो यह जो निर्गुण ब्रह्मकी प्रणाली है वही प्रणाली प्रेमकी है। प्रेमास्पद स्वरूपसे निर्गुण ही है परन्तु प्रेम उसमें क्षण-क्षण नये-नये गुणोंकी सृष्टि करता रहता है और आनन्दका हेतु बनता है—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां,
निन्दातिप्रमदं प्रयच्छति परिहासश्रियं बिभ्रति।
दोषेण क्षयतां गुणेन गुरुतां कामप्यनातन्वति,
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया॥

प्रेम स्वारसिक है। अरे, यह लोहा जो है वह चुम्बकको खींचता है तो क्या स्वार्थसे खींचता है? और लोहा सोना बन जायगा क्या इसलिए वह चुम्बककी ओर जाता है? लोहेका स्वभाव है कि वह चुम्बककी ओर खिंचता है। प्रेमका प्रारम्भ प्रशंसासे भले होता हो, लेकिन प्रेमके परिपाकमें तारीफका होना जरूरी नहीं है। अपने प्रियतमकी निन्दा सुनकर यदि प्रेम हट जाता है तो तुमने प्रियतमसे प्रेम किया है कि उसके गुणसे प्रेम किया है? जो सौन्दर्यसे प्रेम करेगा, जो मीठी

वाणीसे प्रेम करेगा, जो सुगन्धसे प्रेम करेगा, उसका प्रेम एक दिन टूट जायगा। कभी सुगन्धकी जगह शरीरमें दुर्गन्ध निकले, कभी मीठी वाणीकी जगह कड़वी वाणी निकले, कभी आँख प्रेमभरी होनेकी जगह कड़वी निकल आयी, तो कभी उदारताकी जगह कंजूसी निकल आये, तो क्या प्रेम छूट जावेगा ?—

दोषेण क्षयतां गुणेन गुरुतां कामप्यनातन्वति—

दोषसे प्रेम घटता नहीं और गुण देखकर प्रेम बढ़ता नहीं, जैसे ज्ञान एकरस होता है वैसे प्रेम भी एकरस होता है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धत........ ।

कर्मसे ज्ञान बढ़ता नहीं, और कर्मसे ज्ञान घटता नहीं। गुणसे प्रेम बढ़ता नहीं और अवगुणसे प्रेम घटता नहीं।

प्रेम्णः स्वारसिकस्य प्रेम स्वरस है, आत्म-रस है, आत्मानन्द है। जैसे सूर्य प्रकाश फेंकता है, जैसे चन्द्रमा चाँदनी फेंकता है, जैसे गुलाबके फूलमेंसे सुगन्ध निकलती है, वैसे प्रेमीके हृदयमेंसे प्रेमकी वर्षा होती है, प्रेमकी सुगन्ध निकलती है, प्रेमका रस निकलता है। प्रेमीके हृदयमेंसे, प्रियतमके हृदयमेंसे नहीं। प्रेमीके हृदयमेंसे प्रेमका सौरभ, प्रेमका सौरस्य, प्रेमका सौन्दर्य, प्रेमका सौकुमार्य, प्रेमका सौहृद्य, प्रेमीके हृदयमेंसे निकलता है और प्रियतमपर छा जाता है। प्रेमीके हृदयमें प्रेमानन्दका प्रकाश होता है और वह सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपने प्रकाशसे घेर लेता है।

तो नारायण, गुण देखकर, रूप देखकर, यौवन देखकर, अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिए, प्रेम नहीं होता। प्रेम तो निर्गुणको सगुण बनानेकी प्रक्रिया है। ठीक वैसे ही जैसे ज्ञान सगुणको निर्गुण बनानेकी प्रक्रिया है। ज्ञान माने सगुणको निर्गुण बनानेकी प्रक्रिया, और प्रेम माने निर्गुणको सगुण बनानेकी प्रक्रिया। तो महाराज! वस्तुप्रधान ज्ञान होता है और कर्तृप्रधान प्रेम होता है। प्रेम करनेवालेके हृदयमें रहता है और निर्गुणता उसमें रहती है जिसका ज्ञान होता है।

२२

'लौट जाओ'-सुनकर गोपियोंकी दशाका वर्णन

(इति विप्रियमाकर्ण्य,.........संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः)

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्।
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्॥
कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्-
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥
प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किंचित्-
संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥

(श्रीमद्भागवत-१०.२९.२८,३०)

अब अपने मनको फिर एक बार वहाँ ले चलो जहाँ हैं श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, नन्दनन्दन और चाँदनी रातमें शीतल मन्द सुगन्धित वायु बह रही है और मन्द-मन्थर गतिसे सुन्दर यमुनाजी बह रही हैं। बालूका ज्योतिर्मय सुन्दर यमुना-पुलिन है, हरा-भरा वन है और गोपियाँ चारों ओरसे श्रीकृष्णको घेरे हुई हैं। श्रीकृष्णने कहा—हाँ गोपियों! समझ गया तुम बड़े भावसे आयी हो, ईश्वर करे तुम्हारा भाव बढ़ता रहे। भक्तका भाव कैसे बढ़े? भगवान्ने कहा कि इसमें शारीरिक मिलनकी कोई जरूरत नहीं है। गोपियों! लौट जाओ अपने घर और वहाँ जाकर सब मिलकर एक पण्डित अपने घरमें बुलाओ और हमारी कथाका श्रवण प्रारम्भ कर दो। देखनेका बहुत मन हो तो अपने घरमें तस्वीर रख लो, भाव बढ़ जावेगा, ध्यानमें दर्शन कर लो, भाव बढ़ जावेगा। और कहो कि ध्यान-वान हमारे नहीं लगता, ऐसी बला हमको नहीं चाहिए, तो अच्छा, बाबा! कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण हमारे नामका कीर्तन करो, तुम्हारा भाव बढ़ जावेगा।

अब गोपियोंसे यह कहना कि अब वे हमारे पास न रहें, घरमें जाकर भजन करें, कीर्तन करें, दर्शन करें, श्रवण करें—यह तो दूरके लोगोंके लिए बात है,

निकटके लोगोंके लिए नहीं है। श्रवण करनेसे भगवान् मिलते हैं, सो तो ठीक है परन्तु जिनको भगवान् नहीं मिले हैं, वे श्रवण करें। गोपी तो भगवान्से ऐसी मिली हुई हैं कि एक गोपी श्रीकृष्णसे अपनी सखीकी प्रेमदशाका वर्णन करती हुई कहती है—

दूरादप्यनुसङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे।
बालेयं मदिरेक्षमाविरुदति धत्ते मुहुर्वेपथुम्॥

श्यामसुन्दर! हमारी सखीका क्या हाल है, क्या दशा है कि कहीं कोई कृष्ण कमल, कृष्ण भ्रमर, कृष्ण मेघ, कृष्ण जल दिख जाता है या दूरसे कृष्ण शब्द कानमें पड़ जाता है तो कृष्ण शब्दका एक अक्षर 'कृ' सुनते ही वह बड़े जोरसे चिल्लाने लगती हैं और शरीरमें कंपन होने लगता है, शरीरमें रोमांच होने लगता है!

श्यां कञ्चनकाञ्चनोज्ज्वलपटं, संदर्श्य निद्राक्षणम्।
मामाजन्म सखि विमुच्य चलिता रुष्टैव नावर्तते॥

श्यामसुन्दर! हमारी सखीको एक क्षणके लिए नींद आयी, और नींदमें उसको एक पीताम्बरधारी, साँवरे-साँवरे, किशोरका दर्शन हुआ; और फिर हमेशाके लिए वह नींद दूर हो गयी। यदि तुम चाहते हो कि हमारी सखीका हित हो, तो ऐसी कोशिश करो कि उसको वही नींद फिर आवे, और वही सपना फिर हो, और सपनेमें वही चोर फिर मिले! यदि वही नींद उसको फिर नहीं आवेगी तो उसे अब कोई लौटा नहीं सकता।

मान्यः स्वात्मिकतस्करोपहरणे सक्तोजनस्तां विना।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—'**इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्**' गोपियोंने गोविन्दकी विप्रियवाणी सुनी, सुनकरके विषादग्रस्त हो गयीं, उनका सङ्कल्प टूट गया और दुरत्यय चिन्ता-सन्तापका उनके हृदयमें प्रदाह होने लगा।

गोपीका स्वभाव है इन्द्रियोंके द्वारा भगवत्-रसका पान करना। यह स्वभाव सांख्यों और योगियोंका भी नहीं है और वेदान्तियोंका भी नहीं है। उनके अध्यात्मशास्त्रमें तो इन्द्रिय और विषयके संयोगमें जो सुख मिलता है वह अनित्य है, असत्य है। योगीके इन्द्रियका विषय संसार हैं, सांख्ययोगीके इन्द्रियका विषय संसार है, वेदान्तीके इन्द्रियका विषय संसार है, लेकिन प्रेमयोगमें इन्द्रियका विषय तो साक्षात् नराकृति परब्रह्म है। इसलिए यहाँ इन्द्रिय और विषयके संयोगमें जो रसका दान और आदान है वह कोई लौकिक रसका दानादान नहीं है, वह तो भगवत् रसका ही दानादान है।

गोपी शब्दका अर्थ देखो—*'गोः इन्द्रियं पान्ति रक्षन्ति इति गोप्यः'* जो लौकिक विषयके इन्द्रियोंके सेवनसे अपनेको बचाती हैं उनका नाम गोपी है। जो नरकमें ले जानेवाले पर-पुरुषसे अथवा स्वर्गमें ले जानेवाले स्वपतिसे अपनी इन्द्रियोंको बचाती हैं वे गोपी। और *'गोभिः कृष्णरसं पिबन्ति इति गोपी'*—जो अपने स्वरूपभूत परमार्थ परमात्मा हैं श्रीकृष्ण, उनके रसका पान इन्द्रियोंके द्वारा करती हैं वे गोपी। इसलिए गोपीपनेमें दोनों बात हैं, इन्द्रियोंसे भगवत् रसका पान और लौकिक विषयसेवनसे इन्द्रियोंकी रक्षा। भगवत्-रसका पान किसको प्राप्त होगा, जो विषयरससे अपनी इन्द्रियोंको बचावेगा और जो विषयरसमें अपनी इन्द्रियोंको लगावेगा उसको भगवत्-रस नहीं मिलेगा। अगर परपुरुषके द्वारा इन्द्रियरसका पान होवे तो नरकमें जाना पड़ेगा और स्वपुरुषके द्वारा इन्द्रियरसका पान करे तो धर्मानुकूल होनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होगी। परन्तु यह भगवत्-रस नरक-स्वर्ग दोनोंमें ले जानेवाला नहीं है।

भगवत्-रस वह होता है जो सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्ववस्तुमें, और सर्वप्रक्रियाके द्वारा उपलब्ध होता है। क्योंकि जब भगवान् उपलब्ध हैं तो उनकी उपलब्धिकी प्रक्रिया भी सर्व है। समझो भगवान् सब है तो इसमें मिलेगा कि नहीं मिलेगा? भगवान् सर्वकालमें हैं तो अब मिलेगा कि नहीं? भगवान् सर्वदेशमें है तो यहीं मिलेगा कि नहीं मिलेगा? जो इस समय न हो वह भगवान् नहीं, और जो यहीं न हो सो भगवान् नहीं, और जो यही न हो सो भी भगवान् नहीं? भगवान् किसीसे व्यतिरिक्त नहीं होता। ***ब्रह्मैवेदं सर्वम्।***

अब कृष्णने जब यह कहा कि लौट जाओ तो यह तो उनके गोपीपनेके नाशका प्रसंग उपस्थित हो गया। क्योंकि गोपी तो वह है जो इन्द्रियवृत्तिसे भगवत्-रसका पान करें। यदि भगवान् उनको लौटा दें तो इन्द्रियवृत्तिसे भगवत्-रसका पान नहीं होगा और तब उसके गोपीपनेका नाश हो जायेगा। गोपी जिन्दा नहीं रह सकती, मर जावेगी, और हमेशाके लिए मर जावेगी। गोपी नामकी चीज न कभी हुई और न होगी, अगर उसको उसकी इन्द्रियोंके द्वारा भगवत्-रसकी प्राप्ति न हो और उस भगवान्को जाने दो जो इन्द्रियोंके सामने आनेसे डरता है कि हम दृश्य हो जायेंगे, जड़ हो जायेंगे, विकारी हो जायेंगे, अनित्य हो जायेंगे, दुःख हो जायेंगे। उस डरे हुए भगवान्को जरा हिमालयकी ओर रहने दो। इस भगवान्को जो वृन्दावनमें है, इसको डर नहीं लगता है। यह जानता है कि हम इन्द्रियोंके सामने आवेंगे तब भी जड़ नहीं होवेंगे, चेतन ही रहेंगे। दृश्य होनेपर भी दृङ्मात्र रहेंगे। जन्म और मरण हमारे अन्दर दिखनेपर भी हम अविनाशी रहेंगे? हमारी वजहसे

लोगोंको दुःख होगा, तब भी हम रस-स्वरूप ही रहेंगे। यह कोई डरनेवाला भगवान् नहीं है, अभय ब्रह्म है, स्वतन्त्र ब्रह्म है।

'**गोविन्दभाषितं**'—गोपीके लिए यह कहना कि तुम कृष्णके सामने मत रहो, लौट जाओ, यह गोपीके स्वरूपके विपरीत है; और गोविन्दका यह कहना कि तुम लौट जाओ यह गोविन्दके स्वरूपके भी तिपरीत है। क्योंकि गोविन्द किसको बोलते हैं? गोविन्दने हाथपर गोवर्धन पर्वत उठाकर गौ और वृजकी रक्षा की थी। इसलिए उनका नाम गोविन्द है। इन्द्रने श्रीकृष्णको गोविन्द संज्ञा दी है। व्याकरणसे यह सिद्ध है—***'गां पृथिवीं विन्दति, गां व्रजववासिनं विन्दति, गां इन्द्रियवृत्तिं विन्दति।' 'विद् लाभे'*** से गोविन्द शब्दका अर्थ होगा—जो लोगोंकी इन्द्रियोंको अपनी ओर खींच ले। जो लोगोंकी इन्द्रियोंका विषय बन जाय! शब्द हो जाय कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण; स्पर्श हो जाय—आकर छुए रूप हो जाय—आँखसे आँखें मिले; गन्ध बनकर आवे, नाकमें समा जाय। रस बनकर आवे, जिह्वामें समा जाय! यह भगवान् ऐसा गोविन्द है, सर्वात्मक है।

जो लोग ज्यादा पढ़े-लिखे होते हैं उनके मनमें ईश्वरके निराकार होनेका संस्कार थोड़ा प्रबल हो जाता है। पहले तो वे ईश्वर मानें ही नहीं, क्योंकि ज्यादा पढ़-लिख जायँ तो उनके सिरपर डारविन सवार होते हैं, उनके सिरपर मार्क्स सवार होते हैं, उनकी आत्मा बैठ जाती है। तो पहले तो वे ईश्वरको मानते नहीं और मानें तो थोड़ा-सा असर बाइबिलका, थोड़ा असर आर्यसमाजका अपनी बुद्धिपर लेकर ईश्वरको निराकारही मानते हैं, साकार मानतेही नहीं और जो पढ़े-लिखे वेदान्ती हो जाते हैं वे भी वेदान्त पूरा समझमें न आनेसे वह जो प्रक्रियावाली बात नेति-नेतिवाली वह दिमागमें बैठ जाती है। वे गोविन्द शब्दका क्या अर्थ है यह नहीं जानते। ***ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वं, सद्धीदं सर्वं, चिद्धीदं सर्वम्***—इन श्रुतियोंके अर्थको तो वे भूल ही जैते हैं।

तो गोविन्दका गोविन्द नाम इसलिए पड़ा है कि वह लोगोंकी आँखको अपनी ओर खींच ले, कानको खींच ले, और लोग भी बड़े प्रेमसे खिंच जायँ, यह समझें कि कान पकड़कर जो खींचता है वह प्रेमसे खींचता है। दुश्मनीसे नहीं खींचता है। ये इन्द्रियाँ जो संसारमें जानेवाली हैं उनको अपनी ओर खींच लें, इसीलिए उसको गोविन्द कहते हैं। अब यह आज उल्टा हो गया। उल्टा कैसे हो गया कि गोविन्द ही कहता है कि लौट जाओ। जब उसने बाँसुरी बजाकरके क्लींनाद करके अपनी यह जादूगरी दिखायी कि सब गोपियोंको यह मालूम पड़ा कि हमारा ही नाम लेकर बुला रहा है, तबतक तो वह गोविन्द था, परन्तु आनेके

बाद उसने कहा कि लौट जाओ, तो उसमें गोविन्दपना कहाँ रहा? तो लौट जाओ ऐसा कहना गोपीके स्वरूपके भी विपरीत हुआ और गोविन्दके स्वरूपके भी विपरीत हुआ!

अब जरा देखो दूसरी बात **'विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्ता-मापुर्दुरत्ययाम्'**—आपको देखो एक शाश्वत नियम बताता हूँ। जिसके लिए आपको दुःख नहीं होगा। उसके मिलनसे आपको सुख भी नहीं होगा—यह शाश्वत नियम है, भला! यह नियम कहाँसे बना इस बातका गुर हम जानते हैं। चाहे ईश्वरको निर्गुण मानो, चाहे सगुण, वह सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्ववस्तुमें एकरस है। अतः ईश्वर तो नित्य मिला-मिलाया है, उसके मिलनेमें सुख कहाँसे आवेगा? असलमें सुख पैदा करना पड़ता है, यह सिद्धान्त है। एकरस वस्तुमें इतना दुःख है और इतना सुख है, यह बात स्वाभाविक नहीं हो सकती; इतनी दूर सुख है, इतनी दूर दुःख है, इतनी देर सुख है, इतनी देर दुःख है, इतने वजनका दुःख है, इतने वजनका सुख है—ये बातें परमेश्वरके सहज स्वरूपमें स्वाभाविक नहीं हो सकतीं। तब सुख पहले पैदा करना पड़ता है। कैसे? जैसे अगर छायाका सुख लेना हो तो धूपमें चलना पड़ता है, वैसे जिसको पहले भगवान्‌के वियोगमें दुःख होगा उसीको भगवान्‌के संयोगमें सुखकी उपलब्धि होगी। नहीं तो उपलब्धिमें दुःख और सुख, दोनों समान ही हैं। दुःखात्मक उपलब्धि भी वही है, और सुखात्मक उपलब्धि भी वही है। उपलब्धि वही है। नारायण! सुखकी उपलब्धि करनी हो तो पहले दुःखकी उपलब्धि करो। यदि कभी-कभी मिलते हैं तो बड़े प्रेमसे मिलते हैं और रोज-रोज मिलें तो लड़ते हैं। लड़कर पति-पत्नी अलग-अलग हो जाते हैं और फिर पन्द्रह दिन, बीस दिन, एक महीनेके बाद अगर मिलते हैं तो बड़े प्रेमसे मिलते हैं। यही प्रेम बढ़ानेका तरीका है। तो श्रीकृष्णने कहा कि गोपियोंको अधिकसे अधिक सुख मिले इसका क्या उपाय है! कि बोले बाबा, अब थोड़ी गर्मा-गर्मी होनी चाहिए। इसलिए गोपियोंसे कह दिया कि लौट जाओ।

विषण्णा—गोपियोंमें विषाद आ गया। क्यों आ गया? क्योंकि यह प्रसादका बाप है। जैसे गीताके दूसरे अध्यायमें वर्णित सांख्ययोगका बाप था पहले अध्यायका अर्जुनका विषाद, वैसेही रासपञ्चाध्यायीके पहले प्रकरणमें गोपियोंका विषाद है। विषादके बाद प्रसाद है और विषाद ही न हो तो प्रसाद कहाँसे आवे? **'विषण्णा भग्नसङ्कल्पाः'** गोपियोंका सङ्कल्प टूट गया, उनके दिलमें तो था कि चाँदनी रात है, यमुनाका विशाल पुलिन है, वहाँ हरे-भरे वृक्ष फूले हुए फल लगे हुए, मोर नाचते रहे, कोयल कुहुक-कुहुक कर रही—ऐसे वातावरणमें हम

कृष्णसे रूठेंगी और कृष्ण हमको मनायेंगे कि प्रसन्न हो जाओ। यह जो उन्होंने अपने दिमागमें एक झाँकी बनायी थी, उसकी जगहपर कृष्णने एक खँडहर खड़ा कर दिया। **भग्नसङ्कल्पा** जैसे भग्न मन्दिर होते हैं, भग्न महल होते हैं वैसे गोपियोंके सङ्कल्पका महल भग्न हो गया। यह क्यों हुआ, इसमेंभी एक रहस्य है। कामके बापका नाम आप लोगोंको मालूम है? कामके बापका नाम है सङ्कल्प। महाभारतमें एक मंकी गीता है। वहाँ महात्मा ललकारता है—

काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पाद् किल जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि॥

अरे ओ काम! मैं तेरी जड़ जानता हूँ। क्या? **सङ्कल्पाद्किल जायसे,** तुम सङ्कल्पसे पैदा होते हो। जब किसीके बारेमें समत्वकी कल्पना होती है कि यह बड़ा बढ़िया है, यह बड़ा मीठा है, यह बड़ा सुन्दर है, तब तुम इस सङ्कल्पसे पैदा होते हो। मैं कभी तेरा सङ्कल्प ही नहीं करूँगा। तो फिर तू मेरे साथ कहाँसे आवेगा?

जब श्रीकृष्णने कहा कि लौट जाओ तो गोपियोंके चित्तमें जो कामका सङ्कल्प था, जो भोगका सङ्कल्प था, वह टूट गया माने कामका बाप मर गया! गोपियोंके हृदयमें कामका जो भी संस्कार शेष था, उसको भगवान्‌ने लौटनेकी बात कहकर समाप्त कर दिया। भगवान् प्रेमसे मिलते हैं, भगवान् कामसे नहीं मिलते। अपने सुखके लिए कोई भगवान्‌के पास जाय तो वह कामसे जाता है। और भगवान्‌को सुख देनेके लिए जाय तो वह प्रेमसे जाता है। अभीतक गोपियोंकी अपनी मर्जी थी, अब भगवान्‌की मर्जी प्रारम्भ हो गयी। इसलिए '**भग्नसङ्कल्पा**'— सङ्कल्प तोड़कर भगवान्‌ने बहुत बढ़िया किया। बादमें उनका अहंकार भी भगवान्‌ने तोड़ दिया। कैसे? कि जब अन्तर्धान हो गये तो गोपियोंको मालूम हो गया कि हमारे सौन्दर्य, हमारे माधुर्य, हमारे रसास्वादनके लोभसे श्रीकृष्ण हमारे साथ विहार नहीं करते।

तीसरी बात क्या हुई कि '**चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्**' निरन्तर चिन्तन होने लगा। देखो, गोपियोंका श्रवण हुआ, उसका फल हुआ वैराग्य और वैराग्यके बाद भगवान्‌के न मिलनका दुःख हुआ, कामकी निवृत्ति हुई और अब श्रीकृष्णके बारेमें चिन्तनकी धारा बहने लगी जिससे उनके हृदयमें विक्षेप भी समाप्त हो गया। यह रासलीलाका प्रारम्भ है। अब आपको सुनाते हैं—

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद् बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥

'**कृत्वा मुखान्यव**' मुँह लटक गया! अरे भाई, आये तो भगवान्‌के दर्शनके लिए मुँह लटक गया। टीकामें चालीस-पचास बात इसपर लिखीं कि मुँह क्यों लटक गया। गोपियाँ स्वयं भगवान्‌के अभिमुख आयी थीं और भगवान्‌के अभिमुख होनेकी आशा कर रही थीं। इस आशापर कुठाराघात हुआ, आशा टूट गयी, मुँह लटक गया। आगे क्या हुआ कि '**शुचः श्वसनेन शुष्यद् विम्बाधराणि**' होंठ सूख गये। काम रस है जो उनके शरीरमें सूख गया। शरीरकी क्या गति हुई—'**चरणेन भुवं लिखन्त्यः**' बायें पाँवसे धरती खोदने लगीं। इन सबका एक-एककी पाँच-पाँच प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ हैं। अब देखो शरीरकी ये दशा हुई कि पाँवसे धरती खोदने लगीं और इन्द्रियकी क्या दशा हुई—'**अस्त्रैरुपात्तमषिभिः**' आँखोंमें आँसू आगये और काजल जो लगाया हुआ था वह कपोलपर बहने लगा। और जो मनमें आनन्द था उसकी जगह अब दुःख छा गया। बेहोशी होने लगी, अपने होश खो बैठीं। ये बेहोशीका चिह्न नहीं है, प्रेयसीका चिह्न है। श्रीकृष्णसे मिलनकी तीव्र आङ्क्षाक्षा! बोलना बन्द हो गया। आनन्दकी जगह दुःख छा गया। आँखोंमें आँसू आ गये, श्रृङ्गार बह गया, पाँवोंसे धरती खोदने लगीं, होंठ सूखनें लगे, लम्बी-लम्बी श्वास चलने लगी, मुँह लटक गया। ये गोपियोंकी दशा हुई!

जब कृष्णने कहा कि लौट जाओ, तो गोपियोंके मनमें आया कि श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, जो हमारा परम प्रियतम है, उसका स्वभाव तो बड़ा कोमल है, हमारे हृदयमें उसके लिए जितना प्रेम है उससे भी हजारगुना, लाखगुना, करोड़गुना, प्रेम उसके हृदयमें है; आज यह इतना कठोर क्यों हो रहा है? इसमें उसका दोष तो नहीं हो सकता, हमारा ही दुर्भाग्य है, हमारी ही बदकिस्मती है, कोई-न-कोई दोष हमारा ही होगा। तब क्या करना चाहिए? एकने कहा—आओ उसका पाँव पकड़ते हैं, दूसरीने कहा—नहीं सखी-पाँव मत पकड़ो, किसी भी तरह शिर ऊपर उठाओ, आँखसे आँख मिलेगी तो मुस्कुरा देगा। तीसरी बोली—आओ, प्रतिव्रतम् करें। अरे, जब यह बोलनेपर उतारू है, तो हम भी बोल लें, अथवा यह जब हमारे साथ कटुबर्ताव बरत रहे हैं तो हम भी कटुता बरतें, आओ, व्रजमें लौट चलें। देखो, फिर ये दौड़कर हमको मनाते हैं कि नहीं मनाते! पता तो चल जाय कि उनके दिलमें क्या है? एकने कहा प्राण ही त्याग दें! उनके सामने प्राण त्याग करें, अथवा इनके परोक्षमें त्याग करें? कहीं ऐसा तो नहीं है कि इसने हमको टरकाया हो? क्या हम किसी दूसरी तरहकी तो नहीं लग रही हैं? एक गोपी कहती हैं कि बात ऐसी तो नहीं है। क्या फर्क पड़ गया हमारे? भाई! सोच-समझकर कदम उठाना चाहिए कि हमको क्या करना चाहिए। इतनी

कठोर वाणी सुननेके बाद भी हम जिन्दा रहती हैं या नहीं—क्या यह देखनेके लिए ऐसी बात करते हैं? आज मालूम होता है हमारे मुखपर जो सौन्दर्य-माधुर्य रहता था वो आज नहीं है। उसीको देखकर रीझ जाते थे, प्रसन्न हो जाते थे। आज क्या हो गया? आज हमने अपना मुँह ही कहाँ देखा?

गोपियाँ घरसे निकलीं तो एक-एक कर निकलीं, आज कोई सलाह तो की नहीं और एक दूसरेको छिपा-छिपाकर ही आयीं। और यहाँ सब घरसे भागती-भागती श्रीकृष्णके पास पहुँच गयीं। तबतक उनको मालूम नहीं था कि यहाँ सभी मौजूद हैं। यह ख्याल था कि यहाँ अकेली आयी हैं, दूसरी कोई आयी नहीं है। श्रीकृष्णने जब झुण्डका झुण्ड देखा तो बोले—'**स्वागतम्वो महाभागाः**' महाभाग्यवानो, आपका स्वागत है। गोपीने कहा अरे, यहाँ तो मेरे सिवाय और बहुत सारी आयी हैं; तो एक-दूसरेको देखकर तुरन्त हमारा मुँह लटक गया है कि सखी, हमने तुमसे छिपाया, सखी, हमने छिपाया; सखी, हमने तुमसे छिपाया। किसी-किसीको यह ख्याल हुआ कि ये हमारे होंठ जो हैं वे पके बिम्बाफलके समान लाल हैं, तो कहीं हमारा बिम्बाफल देखकर इनकी बुद्धि शायद बिगड़ गयी हो, तो जरा मुँहको लटका लें सखी, इनकी आँखके सामने न जायँ तो ठीक है! किसीने कहा कि हमारे मुख चन्द्रमा हैं और इनका मुख कमल है। तो चन्द्रमाके उदित होनेसे कमल सङ्कुचित हो जाता है। हम लोग चन्द्रमुखी यहाँपर आ गयीं। इसीसे इनका मुखकमल शायद सङ्कुचित हो गया है, इसलिए हम अपना मुँह नीचे लटका लें, तो कमल फिर खिल जायगा। इस तरहसे गोपियाँ तरह-तरहकी बात अपने मनमें सोचने लगीं।

'**चरणेन भुवं लिखन्त्यः**'—जब आदमीको चिन्ता होती है तब बायें पाँवके अँगूठेसे धरती खुरचने लगता है, यह स्वभाव है। मनुष्यके मनमें जब खुशी आती है तब उसके चेहरेपर दूसरे लक्षण दिखने लगते हैं और जब दुःख आता है तब दूसरे लक्षण होते हैं। जब चिन्ता आती है तब दूसरे लक्षण होते हैं। मनुजी कहते हैं कि आकार, इशारे, गति, चेष्टा, भाषण, नेत्र और वाणीके विकारोंको देखनेसे मालूम पड़ जाता है कि मनुष्यका अन्तर्मन कैसा है।

आकारैः इङ्गितैः गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥

गोपियोंके मनमें इस समय क्या है? बोले—दुःखका अनुभव प्रकट हो रहा है। कैसे?—'**चरणेन भुवं लिखन्त्यः**' वे अपने पाँवोंसे धरती खोद रही हैं मानो

कहती हैं कि धरती! तू फट जा! तेरे अन्दर समा जायँ। यदि कृष्णने हमें स्वीकार नहीं किया तो धरतीपर हम रहकर क्या करेंगी?—

'**चरणेन भुवं लिखन्त्यः**' चरणसे चिह्न बना रही हैं। बोली—हे कृष्ण! हम तो मर जावेंगी, लेकिन कल जब लोग आवेंगे तो जो हम पाँवसे धरतीपर लिख रहे हैं इसको देखेंगे—'**लिखित्वा साक्षते**' फिर यह सुनहले अक्षरोंमें लिखा जावेगा कि श्रीकृष्णकी प्रेमिका गोपियाँ श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल होकर मर गयीं। इतिहासकी सामग्री हो जावेगी और बड़ी बदनामी होगी तुम्हारी? ये तो भाई देखो श्रीकृष्ण और गोपी एक-दूसरेसे मिले हुए हैं। ये तो मिलीभगत है उनकी। ये कहें कि लौट जाओ वह भी मिलीभगत है और इनका रोना-धोना जो है वह भी मिलीभगत है। कहते हैं कि—***'हम तुम एक कुञ्जके सखा रूठे नाहि है बनत!'*** हम-तुम तो एक कुञ्जके सखा हैं, रूठनेसे नहीं बनता है! ये जो करते हैं, लीला करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि संसारमें जो दूसरे लोग होंगे उनके हृदयमें भी वियोगका भाव उदय हो, श्रीकृष्णके प्रति रसमयी वृत्तिका उदय हो, भक्ति ऐसी करनी चाहिए, लोग यह बात समझें। इसलिए गोपियोंकी कृष्णकी मिलीभगत है, यह संयोग-वियोगकी लीला!

२३ २४

प्रेममें सूखी जा रहीं गोपियाँ आखिर बोलीं

(प्रेष्ठं प्रियेतरमिव . . . . मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं)

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसेन शुष्यद् बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥
प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥
मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलम्।

(श्रीमद्भागवत, १०.२९.२९-३१)

बचपनमें हमको एक महात्माने योग सिखाया था। इसका नाम उन्होंने राजयोग बताया था। उन्होंने कागजपर एक छोटा-सा घेरा बनाया और उसके भीतर एक बिन्दी बना दी; और उसके बादके घेरेमें छोटे-छोटे हजारों-सैकड़ों बिन्दु बना दिये। फिर उन्होंने उन छोटे-छोटे बिन्दुओंसे एक रेखा खींची जो बाहरको जा रही थी। बोले—देखो, यह बड़ा बिन्दु तो अहम् है और ये जो छोटे-छोटे बिन्दु हैं ये वृत्तियाँ हैं; और यह जो बाहरको जाना है यह इन वृत्तियोंका विषयोंकी ओर जाना है।

इसके बाद एक दूसरी तस्वीर बनायी। उसमें बीचमें बिन्दु बड़ा और उसके चारों ओर छोटे-छोटे सैकड़ों बिन्दु वैसे ही थे, परन्तु वह जो रेखा पहले बाहरकी ओर निकलती थी उसको बाहर न ले जाकर भीतरकी ओर, बड़े बिन्दुकी ओर खींची गयी थी। तो बोले—देखो, जो यह बड़ा बिन्दु है वह तो अहं है और ये जो वृत्तियाँ हैं वे सब-की-सब चलकर अहंकी ओर जा रही हैं। तो उन्होंने बताया कि यह ध्यान करना कि बड़े केन्द्रके बीचमें अहं बिन्दुके रूपमें मैं बैठा हूँ और सारी वृत्तियाँ मेरी ओर दौड़ रही हैं। अब वृत्तियाँ जब मुझको विषय करनेके लिए आयीं तो संसारकी ओर तो उनकी पीठ हो गयी और हमारी ओर उनका मुँह हो गया। लेकिन अब यह सोचो कि मैं उनको विषय कर रहा हूँ कि वे मुझको विषय कर रही हैं? नारायण, तो ये सब वृत्तियाँ मुझको विषय नहीं कर सकतीं, न एक-एक करके अलग-अलग विषय कर सकती हैं और न सब मिलकर विषय कर सकती हैं। एक अन्धा जिस चीजको नहीं देख सकता, सौ अन्धे भी मिलकर उस चीजको नहीं देख सकते। तो इसका नाम है अध्यात्म।

अब समझो इसका अभिप्राय। इसमें बड़ी बिन्दी हैं श्रीकृष्ण। बिलकुल, साँवरे-सलोने बिन्दु हैं। और ये जो सैकड़ों-हजारों छोटे-छोटे बिन्दु हैं ये गोपियाँ हैं। जबतक ये पतिकी ओर, पुत्रकी ओर, संसारकी ओर मुख किये हुए थीं, तबतक उनका पहला चित्र था। और जब उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान्‌की ओर अपना मुख किया, और उनको विषय करनेकी कोशिश की तब यह हो गया उनका दूसरा चित्र—श्रीकृष्णकी ओर उन्मुखता। धनको छोड़कर, घरको छोड़कर, भोगको छोड़कर, मोक्षकी आकांक्षाको छोड़कर अपने प्रियतमको मिलनेके लिए, अपने प्रियतमको विषय करनेके लिए, वे सब-की-सब श्रीकृष्णके पास चली आयीं।

अहंकी प्रधानतासे, त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे, अध्यात्मकी चर्चा होती है और श्रीकृष्णकी प्रधानतासे, अधिदैवकी प्रधानतासे भक्तिकी चर्चा होती है। परन्तु शास्त्रमें त्वं-पदार्थ अध्यात्म विषय और तत्-पदार्थ प्रधान भक्तिपरक अधिदैवकी चर्चा-दोनों तत्त्वमसि आदि महावाक्यार्थके लिए है। अध्यात्म और अधिदैवकी एकता महावाक्यद्वारा होती है। महावाक्यजन्य जो ब्रह्माकारवृत्ति है उसको श्रीराधारानीके नामसे कहा जाता है। श्रीराधारानी ब्रह्मविद्या हैं, उनका कृष्ण-ब्रह्मके साथ नित्यसंयोग है।

इतनी बात तो मशहूर है कि गोपकी पत्नीको गोपांगना बोलते हैं, गोपी बोलते हैं। बुड्ढे, बच्चे, मूर्ख, सब जानते हैं कि गोपी माने व्रज की ग्वालिन। लेकिन विद्वान् लोग एक-एक श्रुतिके रूपमें गोपीको पहचानते हैं। सारी श्रुतियाँ दौड़ी जा रही हैं मिलनेके लिए—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं इसका वर्णन किया है—

ता नाविदन् मयि अनुषंगबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

ग्यारहवें स्कन्धमें श्रीकृष्णभगवान्‌ने उद्धवसे जब गोपियोंका वर्णन किया, तो बोले—

यथा समाधौ मुनयः—जैसे मुनि समाधिमें स्थित होते हैं। यह अध्यात्म हो गया, **अब्धितोये नद्यःप्रविश्य इव** यह आधिभौतिक हो गया, जैसे नदियाँ जाकर समुद्रमें मिलती है। अध्यात्ममें वृत्तियाँ जाकर अहंमें विलीन होती है। और **ता नाविदन् मयि अनुषंगबद्ध**—वैसे ये गोपियाँ सब कुछ छोड़कर मुझ श्रीकृष्णमें तन्मय हो गयीं। यह अधिदैव हो गया। अधिदैवमें सम्पूर्ण वृत्तियाँ—गोपियाँ श्रीकृष्णमें जाकर मिलती हैं। तो सम्पूर्ण श्रुतियोंका परम तात्पर्य परमात्मामें है।

इड़ा, पिंगुला, सुषुम्रा आदि, सम्पूर्ण नाड़ियोंकी अन्तिम गति परमात्मामें है—ऐसा भी वर्णन है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्द्धानं अभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

सैकड़ों नाड़ियाँ हैं इस शरीरमें। उनमें-से एक मूर्धामें जाती है। जो उस नाड़ीसे, सुषुम्रासे चलता है, उसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। तो श्रुति नाड़ी और वृत्ति ये गोपियोंके आध्यात्मिक रूप हैं जो अहं तत्त्व आत्माके प्रति समर्पित होती हैं; और आधिभौतिक रूपसे वही ग्वालिनी हैं, जो श्रीकृष्णके प्रेममें, भगवान्‌के प्रेममें मग्न हैं।

अब जब ये वृत्तियाँ अहंके पास पहुँच गयीं, तो ठीक वैसे जब कोई नदी समुद्रमें मिलनेके लिए जाती है, एक ज्वार आया समुद्रमें बड़े जोरसे और महाराज नदीजीको उल्टा फेर दिया कि आओ लौट जाओ। आपने कभी देखा है संगम स्थल? नर्मदा मिलती है खम्भातकी खाड़ीमें, गंगाजी मिलती हैं बंगालकी खाड़ीमें। तो जब समुद्रमें ज्वार आता है तो उनको लौटाकर दूर कर देता है। और फिर थोड़ी देरमें जब भाटा आता है तो नर्मदाका जल, गंगाका जल, जाकर समुद्रमें मिल जाता है। मिलती हैं नदियाँ ही समुद्रमें यह आधिभौतिक रूप हुआ। और ये वृत्तियाँ जो हैं एक बार विषयकी ओर जाती हैं और दूसरी बार आत्मामें ही लीन होती हैं। यह आध्यात्मिक पक्ष हुआ। आधिदैविक पक्षमें ये गोपियाँ एक बार रोक दी जाती हैं कि ठहरो! तुम अपने बलपर हमको विषय करना चाहती हो? भला स्वयंप्रकाश आत्मदेव वृत्तियोंके विषय कैसे हों? पूर्ण स्वतन्त्र, समर्थ, परमार्थ देव वृत्तियोंके चपेटमें कैसे आवें? इतना बड़ा जलग्रासी वह समुद्र, उसमें अपने बलपर नदी जाकर कैसे मिले?

रोक दिया—ठहरो! क्या गति हुई? '**कृत्वा मुखान्यव**' मुँह लटक गया। क्यों? क्योंकि घर तो ये छोड़ चुकी हैं, संसार तो ये छोड़ चुकी हैं, वहाँ तो अब लौटकर जा नहीं सकतीं और जिनके लिए सबको छोड़ा, उन्होंने ना कह दिया, कह दिया हम अविषय हैं। यदि वे घरको फिर लौट जायँ तो अपने लक्ष्यसे, अपने साधनसे च्युत हो गयीं और यदि लौटती नहीं हैं, तो भी लक्ष्य प्राप्त नहीं होता दिखता। विषय भी नहीं करतीं और लौट भी नहीं सकतीं। इसलिए मुख लटक गया। प्रवृत्ति भी नहीं, निवृत्ति भी नहीं, एक समताकी दशामें आगयी। '**शुचः श्वसनेन शुष्यद् बिम्बाधराणि**' विम्बाधरमें जो बाह्य रस था वह सूख गया। बाह्य विषयका रस चला गया। '**चरणेन भुवं लिखन्त्यः**' चरणसे पृथिवीका उल्लेख

करने लगीं। कहती हैं—हे पृथिवी, तुम फट जाओ, हम तुम्हारे अन्दर समा जायँ। पूछने लगीं कि क्या विधाताने हमारे भाग्यमें यही लिखा था? नहीं-नहीं, क्या तुम समझती हो कि हम लौट जायेंगी? प्रेममें दृढ़ता चाहिए, और परब्रह्म परमात्माके ज्ञानमें जो प्रीति है उसमें भी दृढ़ता चाहिए, नहीं तो लौट जायेगा विषयकी ओर। लगीं अपने पाँवसे धरती खोदने, तो क्यों? बोलीं—हम गाड़ देंगी अपने पाँव धरतीमें; अगर हमारा मन चंचलता करेगा, तब भी हम माननेवाली नहीं, लौटनेवाली नहीं। **'चरणेन भुवं लिखन्त्यः'** गोपियोंने अपने पाँवसे धरतीको कुरेदा और पूछा—अरी ओ धरती! क्या तुमने किसी भी कृष्णावतारमें गोपियोंको घर लौटते देखा है? कभी नहीं लौटी हैं तो आज भी गोपियाँ नहीं लौटेंगी। यदि श्रीकृष्ण नहीं मिले तो हमारा जन्म निष्फल है, अब मुँहमें कालिख लगा लें क्या।

'चरणेन भुवं लिखन्त्यः' देखो, जब वृत्ति सीधे परमात्मामें नहीं लगी तब उन्होंने क्या किया कि—**'चरणेन पादकल्पनया'** *भुवं सत्तां ब्रह्म विश्वतैजसप्राज्ञरूपेण लिखन्त्यः कल्पयन्त्यः'* बोले—पूरा ब्रह्म तो विषय नहीं होता, आओ पाँवसे पादकल्पना करें। यह जाग्रत्- अवस्थारूप विश्व, यह स्वप्नावस्थारूप तैजस, यह सुषुप्ति-अवस्थारूप प्राज्ञ, इस प्रकार पादकी कल्पनासे **(भू सत्तायाम्) भुवं लिखन्त्यः चरणेन** माने पादकल्पनासे; और पृथिवीका अर्थात् ब्रह्म-सत्ताका उल्लेख कर रही हैं माने ब्रह्मसत्तामें पहुँचनेका प्रयास कर रही हैं।

अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।

आँखोंमें जो काजल था उसको ले-लेकर आँसू बह रहे। कैसे बह रहे? बोले—उनके वक्षस्थलपर जो केसर लगी थी वह उन आँसुओंसे धुलने लगी। केसरके लिए संस्कृतमें कश्मीर शब्द है, वह 'कश्मीर' (केसर) जहाँ पैदा हो उस देशका नाम काश्मीर है। पुराणोंमें कथा आती है कि कश्यपजी महाराजने बड़ी तपस्या करके भगवान्‌की पूजाके लिए काश्मीरको अवतीर्ण किया था। उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि महाराज, आपकी पूजा कैसे करें? आपको चन्दन लगावें इस ठंडे देशमें? भगवान्‌ने उनको दर्शन दिया और पूजाके लिए केसरका प्रदेश काश्मीर दिया। कश्यपके नामसे काश्मीर देश प्रसिद्ध हुआ। कहते हैं वहाँ एक जलोद्भय नामका असुर रहता था, जो लोगोंको बहुत पीड़ा पहुँचाता था। कश्यपजीकी प्रार्थनापर भगवान्‌ने उस असुरको मार दिया। तब कश्यपजीके नामपर काश्मीर नाम पड़ गया।

कुचकुङ्कुमानि गोपियोंने अपने वक्षस्थलपर केसर लगा ली थी जिसमें स्वेदजन्य दुर्गन्ध न आवे हमारे प्रियतमको! वक्षस्थलपर पसीना होनेसे जो दुर्गन्ध आती है उस दुर्गन्धसे हमारे प्रियतमको अरुचि न हो, इसके लिए केसरका लेप करते हैं। अब आँखोंसे आँसूकी धारा बही, उसके साथ कज्जल प्रवाहित हुआ, और उससे वक्षस्थलपर जो केसर लगी थी वह धुलने लगी। काजल क्यों मिल गया आँसूमें? ये आँसू जो हैं ना, ये हृदयकी द्रवताको दिखानेके लिए हैं। पिघलता है दिल और गीली होती हैं आँखें। दिल जलता है, आँखें बहती हैं! क्या स्वभाव है! दिलमें ताप होता है, तो जो चीज गर्मकी जाती है वही तो गलती है, वही द्रवित होती है, वही गीली होती है, परन्तु गीली होती हैं आँखें! एक कविने लिखा है— ***आँसू बनकर आग बरसने आयी,*** ठीकसे हमको याद नहीं है—*'जो घनीभूत पीड़ा थी'* पीड़ा जो है घन बन गयी बादल बन गयी, और वह आँखोंसे आँसू बनकर बरसती है। लेकिन उसमें मिल गया कज्जल, क्यों? इसलिए कि हमारे हृदयमें जो राग है वह साँवरेका है, गोरेका नहीं है। हमारे दिलमें काला है, इसलिए काले आँसू बह रहे हैं, ***श्याम राग कज्जल मिलनेसे आँसू हो गये काले!*** नारायण! तो अब देखो, आँसू बहते हैं तो केसरको धोते हैं; कहते हैं, यदि श्याम नहीं मिले, तो अब श्रृंगार किस काम का? जब उन्होंने ही मना कर दिया तो वक्षस्थलको धो दो, इसपर तो अब केसरका नहीं, काजलका लेप स्याही लगा दो। ये कृष्णको दिखाना चाहती हैं, बताना चाहती है कि हमारे हृदयमें कितनी व्याकुलता है! घनश्याम रसकी वर्षा कराकर घनश्यामको बताना चाहती हैं कि तुम भी रस बरसो, ना! कठोर क्यों हो रहे हो? कहती हैं, यदि इन आँखोंसे श्यामसुन्दर देखनेको नहीं मिलते तो इनका अन्धा हो जाना ही श्रेष्ठ है। दोनों आँखोंसे महाराज वह यमुना निकली, काली-काली नदी, और ये हृदयपर आवे तो सूख जाय क्योंकि वहाँपर विरहका ताप है। श्यामसुन्दरके त्यागका ताप बड़ा है कि ये आँखोंसे निकलनेवाली यमुना बड़ी है? दो यमुना-प्रवाह, दो-दो यमुना आकर हृदयपर, वक्षस्थलपर सूख जाती हैं। देखो, हमने गाँवमें देखा था कि कोई लकड़ी चीरनी होती है तो एक सूत रँग लेते हैं। कोयला पीसकर उसमें सूतको काला रँग लेते हैं, फिर उससे लकड़ीपर निशान लगाते हैं कि आरा जायेगा तो कहाँ-कहाँ होता हुआ जायेगा! बोले—यह जो विरहका बढ़ई है वह हमारे शरीरको चीरना चाहता है। चीरनेके लिए इसने कज्जलमिश्रित आँसूसे ये दो रेखाएँ बनायी हैं, इसपर चीरते चले जाओगे तो कलेजा जो है, दिल जो है चीर-चीर हो जावेगा, चीरनेके लिए निशान बैठा दिया है इसलिए आँखोंसे आँसू बह रहे हैं।

खैर आप देखो—अस्त्रैरुपात्तमषिभिः **कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम॥**

भगवान्‌से मिलना है, और राग है हृदयमें? प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार करना है और केसरका राग-रंग है हृदयमें? तो यह राग धलना चाहिए कि नहीं? *रागो लिङ्गमबोधस्य। वीतरागभयक्रोधैः मुनिर्भिर्वेदपारगैः॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। वीतरागभयक्रोधः।*

राग दो तरहका होता है; एक शरीरसे बाहरकी चीजोंका राग और दूसरा शरीरसे भीतरकी चीजोंका राग। भक्तमें शरीरसे बाहरकी चीजोंका राग कभी नहीं आता; लेकिन शरीरके भीतरकी जो चीजें हैं ना, उनमें यह अहं जो है वह कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है, कभी फूलता है, कभी पटकता है। तो गोपियोंने कहा, कि यह हमारे हृदयपर जो कुमकुम-राग है; केसरका राग है, वह दुनियाका रंग है, संसारका रंग है। प्यारेसे मिलनेके लिए दिलमें संसारकी रंगीनी नहीं चाहिए, जिस प्यारेसे मिलना है उसीका राग चाहिए, उसीका रंग चाहिए। इसलिए उन्होंने श्याम रंग आँखोंमेंसे निकालकर अपने हृदयपर जो केसरका रंग था उसको पोंछ दिया और बोलीं कि हमारे हृदयमें भी श्यामरंग ही है, केसरका रंग नहीं है। **श्रवसोकुवलयनं** गोपी कानमें कमलाकार आभूषण धारण तो करती है, लेकिन नीलमका। **श्रवसोकुवलयनं अक्षिणो अञ्जनं** आँखोंमें श्याम अञ्जन लगाती हैं, और हृदयमें हार पहनती हैं, परन्तु वह भी नीला—यह महाकवि कर्णपूरका प्रथम श्लोक माना जाता है—

श्रवसो कुवलयं अक्षणो अञ्जनं उरसो महेन्द्र मणिदानं वृन्दावनरमणीनां।

मण्नमखिलं हरिर्जयति— गोपियाँ सोने-चाँदीका आभूषण नहीं पहनती हैं, सोने-चाँदीसे उनको प्रेम नहीं है; उनको अपने-अपने शरीरको सजाना है, पर श्याम रंगकी वस्तुओंसे सजाना है, कषाय रंगकी वस्तुओंसे नहीं सजाना है। उनको कषाय नहीं चाहिए माने उनको संसारका राग नहीं चाहिए। परमात्माके साक्षात्कारके लिए हृदयका रागद्वेष-रहित होना आवश्यक है।

गोपियोंने कहा कि ये श्रीकृष्णाने हमको मना किया तो इसमें जरूर हमारे हृदयमें ही कोई दोष होगा। प्रेममें सारी बुद्धि इस दृष्टिसे काम करती है कि अपने प्रियतमको सुख पहुँचे। प्रेममें दोष कहाँ होगा? कि जहाँ अपने सुखकी बात आ जायेगी। अब अपने सुखके लिए प्रियतमके सिवाय दूसरेको देखना, यह तो व्यभिचार होगा और प्रियतमके सुखके लिए प्रियतमके अतिरिक्त अपनेको सुख पहुँचाना, यह व्यभिचार तो नहीं हुआ। लेकिन अभिमानके कारण प्रेमका रस

किरकिरा हो गया! तो ये गोपियाँ क्या करती हैं कि **अस्त्रैरुपात्तमषिभिः कुचुकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य** श्यामरागरंजित आँसूसे केसर-राग-रंजित हृदयको धो रही हैं, माने अपने हृदयको शुद्ध कर रही हैं।

प्रियतमकी अप्राप्तिसे उनको बड़ी भारी पीड़ा है, और मुँहसे शब्द नहीं निकलता—**उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।** प्रेमका स्वभाव यह है कि उसमें जिससे सुख होता है उसीसे दुःख होता है। अगर दूसरेसे दुःख होता हो, तब तो वह प्रेम ही नहीं है। वह तो जिससे दुःख होगा उससे द्वेष हो जावेगा, लेकिन प्रियतमसे दुःख होगा तो प्रियतमसे द्वेष नहीं होगा।

देखो, जबतक मनुष्यका शरीर है, तबतक दुःख-सुख तो दोनों आवेंगे, लेकिन जिसको अपने दुश्मनसे दुःख मिलेगा, उसके हृदयमें दुश्मनके प्रति-द्वेषका उदय होगा। लेकिन हमारे हृदयमें यदि अपने प्रियतमसे ही दुःख होगा तो प्रियतम के प्रति द्वेषका उदय नहीं होगा, और जो पीड़ा होनी है, जो प्रारब्धसे दुःख आना है वह सब भोग हो जायेगा। अच्छा कहो कि प्रेम करें किसी दूसरेसे और सुख मिले दूसरेसे, तो चलेगा? बोले—नहीं चलेगा। प्रेममें स्वसुखपर तो दृष्टि ही नहीं है, फिर उसे दूसरेसे प्राप्त करना तो व्यभिचार है। प्रेममें प्रियतमको सुख पहुँचाना है, जैसे भी पहुँचे। यदि प्रियतम कैसे भी प्रसन्न नहीं हो पाता तो प्रेमीके हृदयमें यह तकलीफ होती है कि अरे, हमारा जीवन हमारे प्रियतमको प्रसन्न करनेके काम नहीं आया! प्रेम क्रिया-प्रधान नहीं है, प्रेम भोगप्रधान नहीं है, प्रेम वस्तुप्रधान नहीं है। चाहे अपना प्रियतम प्रत्यक्ष हो, चाहे अपना प्रियतम ईश्वर-चैतन्य हो, चाहे अपना प्रियतम प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न हो, प्रियतमकी जो स्वयं प्रकाशता है वही प्रेमीको अभीष्ट है।

इसलिए गोपियाँ खड़ी हैं शरीरसे; लेकिन '**तूष्णीम्**' एक क्षणके लिए तो उनकी बोलती बन्द हो गयी, और दुःखके भोरसे दब गयीं। फिर उनके मनमें आया कि प्रियतम अपना है, कोई पराया तो है नहीं। तो बोलीं-फिर तो इनको गाली देकर ठीक करेंगे—**संरम्भ गद्गद-गिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥** इनको गाली देकर ठीक करेंगे, इनको मारकर ठीक करेंगे, इनको नाराज करके ठीक करेंगे, श्राप देकर भी ठीक करेंगे! ब्रह्मवैवर्तमें राधारानीने श्राप दे दिया है श्रीकृष्णको! वह बड़े प्रेमकी कथा है! कई लोग तो उसपर बड़ा आक्षेप करते हैं कि क्या राधारानी हैं जो श्रीकृष्णको श्राप दे देती हैं। पर बात तो यह है कि यह जो अपना प्रियतम है उसके ऊपर प्रेम करनेका जैसा अधिकार है वैसे उसके ऊपर क्रोध करनेका भी अधिकार

है। हाथ जोड़नेमें भी प्रेम है और **क्रोध करनेमें भी प्रेम है, परन्तु बोलनेसे पहले वे** मौन हो गयीं—**तूष्णीम्।**

तूष्णीम्—यह मौन जो **है वह सन्धि है**। गोपियाँ तो वेगसे दौड़ी आयीं कृष्णके पास, और कृष्णने डाली रुकावट, और दोनोंके सन्धिस्थलपर है मौन। इस मौनके बाद गोपियाँ अगर कमजोर हैं तो घर लौट जायँ, जैसी यज्ञपत्नियोंकी दशा हुई थी वह हो जाय, और कमजोर न हों तो कृष्णके मना करनेपर भी, पहाड़ बीच रास्तेमें आ जानेपर भी आगे बढ़ जायँ। गोपियोंका प्रेम ऐसा है कि इसमें लौटना नहीं है। श्रीकृष्ण भी कौन उनको लौटाना चाहते थे, वे तो स्थूणाखनन-न्यायसे उनके प्रेमको मजबूत करना चाहते थे। वह प्रेम ही क्या, जिसमें लौटना हो!

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किंचित्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥

अपना जो हृदयेश्वर है, परम प्रियतम है, प्रेष्ठ है। जैसे श्रेयाम्‌को श्रेष्ठ बोलते हैं, ज्यायाम्‌को ज्येष्ठ बोलते हैं। उसी प्रकार प्रेयाम्‌को प्रेष्ठ बोलते हैं और ये तो प्राण-प्रियतम हैं। इनके लिए हृदय द्रवित हो गया, जो संसारकी पकड़की कठोरता थी वह मिट गयी। परन्तु वह आज वाणी ऐसी बोल रहा है, जैसे कोई प्रियेतर् बोल रहा हो। अपने प्यारेके सिवाय और कोई बोल रहा हो। बोली है दूसरेकी, और बोल रहे हैं कृष्ण। यहाँ 'इव' शब्द जोड़नेका अभिप्राय है कि वास्तवमें कृष्ण प्रियेतर नहीं हैं, प्रियेतर लगते हैं। श्रीशुकदेवजी महाराज गवाही दे रहे हैं कृष्णकी ओरसे, '**प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं**'—कि यह गोपियोंकी कम-अक्ली है जो प्रियको प्रियेतर समझती हैं। श्रीकृष्णका ऐसा जादू है कि वह प्यार जताना चाहें तो प्यार जता दें, मार जताना चाहें तो मार जता दें; धर्म-ही-धर्म, धर्म-ही धर्मकी बात करते हैं कि लौट जाओ, अरे लौट जाओ। गोपियाँ रो रही हैं, आँसूकी धारा बह रही है, धरतीमें धँसी जा रही हैं, मुँह लटका जा रहा हैं और बोलते हैं—गोपियो! चिन्ता छोड़ो, रोओ मत, स्वस्थ हो जाओ, अगर रास्ता भूल गयी हों तो चलो, हम पहुँचा दें, तुमको धर्मके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिए! यह यदि हमारा प्यारा है जिसके लिए हम सब छोड़कर आयी हैं तोयहतो दुश्मन बन रहा है ऐसा बोलता है—'**प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं**' '**कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः**' पर बोलता कौन है? जिसने आकर्षण किया है, जिसने खींचा है, वही कृष्ण बोलता है। जैसे लोहेके लिए चुम्बक होता है वैसे गोपियोंके लिए हैं श्रीकृष्ण! परन्तु कृष्ण सबको नहीं खींचते हैं। किसको खींचते हैं? गोपीको। गोपी शब्दका अर्थ है—गो माने इन्द्रियाँ और प माने रक्षा

करनेवाली। **गां इन्द्रियाणि पान्ति इति गोप्यः**—जो अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे सुरक्षित रखे वह गोपी और **गोभिः पिबन्ति इति गोप्यः**—इन्द्रियोंसे श्रीकृष्ण-रसका जो पान करें सो गोपी। पान्ति और पिबन्ति—पा-रक्षणे और पा-पाने, दोनों धातुसे गोपी शब्द बनता है। तो कृष्ण सिर्फ उन्हींको खींचता है जो इन्द्रिय-संयमी हैं, भोग और कामके परायण नहीं हैं और जो अपनी इन्द्रियोंसे कृष्ण-रस पान करनेके इच्छुक हैं।

निर्गुण ब्रह्मके पास बाँधनेकी कोई रस्सी नहीं है, खींचनेकी कोई आकर्षण-शक्ति नहीं है। तुम स्वयं उसकी ओर खिंचकर जाओ और उसके साथ बँधो और बँधो मत, एक हो जाओ। परन्तु कृष्ण तो सगुण है, इसके पास फन्दा है, रस्सी है, यह चुम्बक है। इसके पास तो आकर्षण-शक्ति है, यह खींचता है।

तो कृष्णके खींचे आयी हैं गोपियाँ। गोपियोंकी विशेषता क्या है—**'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः'** नारायण, बेटेको लेकर पतिके पास नहीं जाया जाता। काम तो कृष्णका बेटा है (प्रद्युमके रूपमें) तो बेटेको भेज दिया बाहर—माने श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए गोपियोंने कामको लौटा दिया। अब देखो उसका शाब्दिक अर्थ बतलाते हैं। एक तो सर्वकामाःका अर्थ है पति, सारी कामना जिससे पूर्ण हो उसका नाम सर्वकाम—***'सर्वे कामाः अस्मात् सा सर्वकामाः पतिः'*** स्त्रीकी सारी कामना अपने पतिसे पूरी होती है। माँकी जगह भी पति है, पिताकी जगह भी पति है, पुत्रकी जगह भी पति है, भाईकी जगह भी पति है, उसका घर-परिवार वही है, उसकी जाति वही हैं, उसका कुल वही है। गोपियोंने क्या किया कि **'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः तदर्थं विनिवर्तिताः सर्वकामाः पतयः याभिः ताः**। पति कहते थे कि यमुना-तटपर मत जाओ। चाँदनी मत देखो, वृन्दावनमें मत जाओ, परन्तु कृष्णका प्रेम आत्मज है। कृष्णके लिए उन्होंने पतियोंको उनके आदेशोंको छोड़ दिया। दूसरा **सर्वकामाः**का अर्थ है सर्व कामनाएँ—**'तदर्थविनिवर्तित सर्वकामाः'** सारे काम उन्होंने निवृत्त कर दिये। देखो श्रुति आ गयी।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

हम आपको एक बात बताते हैं—साधकके हृदयमें घर बनाकर रहनेवाली जो कामनाएँ हैं ना, उनको जब फेंक दिया जाता है बाहर, उस समय यह मनुष्य मरकर अमृत हो जाता है और इसी जीवनमें **ब्रह्म समश्नुते**, ब्रह्मास्वादी हो जाता हैं, ब्रह्मानन्दी हो जाता है। अब गोपियोंका वर्णन करते हैं—**'तदर्थ-**

विनिवर्तितसर्वकामाः' 'यदा सर्वेप्रमुच्यन्ते, कामाः यस्य हृदि श्रिताः ग्रन्थयः' हृदयमें जो कामकी गाँठ है—काम-ग्रन्थि है, हृदयमें जो काम है वह कठोर ग्रान्थ है, जिसमेंसे रस तो निकलता है, परन्तु ग्रन्थि इतनी कठोर है कि जल्दी टूटती नहीं। काम-ग्रन्थि है। क्रोध-ग्रन्थि भी है, क्रोध बड़ा घटाटोप बनाकर आता है। मुँहसे गाली निकले, आँख लाल हो जाय, भौंहें चढ़ जायँ, हाथ-पाव काँपने लगें, नारायण! ऐसी अनेक ग्रन्थि शरीरमें रहती हैं। कभी कोई उमड़ जाती है, कभी कोई उमड़ जाती है। गोपियाँ कृष्णके पास कामवश नहीं गयी हैं—**'तदर्थ-विनिवर्तितसर्वकामाः'**—श्रीकृष्णके लिए उन्होंने अपने सम्पूर्ण कामको बाहरसे लौटा दिया है।

इसमें एक बात देखने लायक है कि श्रीकृष्णने हँसी-हँसीमें यह बात कही थी कि 'लौट जाओ!' गोपीके ध्यानमें यह बात आनी तो चाहिए कि यह हँसी है। बोले—नहीं, भोली हैं। श्रद्धा है, प्रेम है, भक्ति है, विश्वास है, मुग्धता है। कितने ही गुण हैं। कहते हैं—अच्छा, काम तो सारे लौटा दिये, अब न माँसे कोई काम, न बापसे, न भाईसे, न बहनसे, न परिवारसे, न पतिसे, न पुत्रसे, न गोपसे, न शरीरसे कोई काम, न लोकसे, न परलोकसे कोई काम। तो अब किसीकी ओर देखना तो बाकी नहीं रहा, आँखोंने जवाब दे दिया, काजलमिश्रित आँसू निकलने लगे। बोले—अब तो मरना ही है—**'नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म'** रोते-रोते आँखें उपहत-सी हो गयीं, खराब हो गयीं तो पोंछ लें आँख? पर आँख काहेको पोंछने लगीं? एकबार देख तो लें भला, मरना तो है ही। मरनेके पहले एक बार देख लें। ***'बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।'*** देखा जब तो मनमें आया कि क्या मौन ही प्रेम है? अरे, मौन ही प्रेम नहीं है, बोलना भी प्रेम है। प्रेमको एक भागमें नहीं कर सकते। खिलाना प्रेम है तो कभी भूखे रखना भी प्रेम है। मीठा बोलना प्रेम है तो कभी कड़वा बोलना भी प्रेम है। प्रेमका स्वभाव थोड़ा ठंडा, थोड़ा गरम दोनों है, थोड़ा संयोग, थोड़ा वियोग दोनों है, थोड़ा रोना, थोड़ा हँसना दोनों है। प्रेमका स्वभाव अनिर्वचनीय होता है। उसको एक रूपमें नहीं बाँधा जा सकता, भला!

तो मौन ही प्रेम नहीं, मौन तो जरा दुःख हो गया था कि अब क्या करें? कर्त्तव्य-विमूढ़तामें मौन था—**'संरम्भगद्गदगिरो'** जीभ लड़खड़ा रही है क्योंकि गुस्सा आ रहा है। बोले कि तब गुस्सा ही गुस्सा होगा? बोले—नहीं, **'अनुरक्ताः'** रंग तो उन्हींका है, अनुरागके रंगमें रँगी हुई अनुरक्ता हैं ये। जैसे विरक्त शब्द है—इसके कई अर्थ होते हैं; जिसके शरीरमें रक्त न हो, कम हो,

उसका नाम विरक्त—विगत रक्त; और एक विशेष प्रकारका रक्त शरीरमें आ जाय तो भी विरक्त होगा; जो दुनियासे अपनेको ना जोड़ना चाहे माने संसारमें जिसका किसीसे राग न हो सो विरक्त, विगतराग; और ईश्वरसे जिसका विशेष राग हो सो विरक्त; तो विशेष रक्तवाला, विगत रक्तवाला, विशेष रागवाला और विगत रागवाला ऐसे विरक्त होते हैं। ये गोपियाँ जो हैं वे श्रीकृष्णके प्रति अनुरक्त हैं। अनुरागका रंग चढ़ा हुआ है—*'एकहि रँगमें रँगे ये दोऊ।'*

अनुरागका रंग—यह अनुराग क्या होता है? इसमें बड़ी विशेषता है। देखो, प्रेममें दो ही बात बाधक हैं—एक तो विश्वासकी कमी और एक अभिमानकी वृद्धि। प्रेममें विश्वास बना रहता है कि वे हमसे बहुत प्रेम करते हैं, और उनके प्रेमके सामने तो हमारा प्रेम कुछ है ही नहीं। अपने प्रेममें कमीका अनुभव हो, और उनके प्रेममें अधिकताका अनुभव हो। अपने प्रेमकी कमी देखकर अनुराग बढ़ता है। और उनके प्रेमकी अधिकताका ख्याल करके अपना प्रेम बढ़ता है और यदि अनुभव होय कि उनका प्रेम कम, हमारा ज्यादा तो प्रेम और कम हो जायेगा। दूसरे अभिमान न हो, क्यों? अभिमानमें दोष यह है कि अभिमानमें अपनी नजर अपने ऊपर होती है, प्रियतमपर नहीं होती है। विश्वासमें अपनी नजर अपने ऊपर नहीं होती है, प्रियतमके ऊपर होती है।

एक राग है, एक अनुराग है। ईश्वरके हम आत्मज हैं। इसलिए ईश्वरका हमारे ऊपर राग होना स्वाभाविक है; उस रागके प्रति जो हमारा उनके प्रति राग है वह अनुराग है। जैसे एक यायी होता है, एक अनुयायी होता है; जैसे एक गमन होता है, एक अनुगमन होता है। वैसे ही जो ईश्वरका अखण्डराग हमारे ऊपर बरस रहा है, उसके प्रति हमारे हृदयका जो उन्मुख होना है, इसका नाम अनुराग है। गोपियोंके मनमें दोनों बातें हैं—संशय नहीं है। वे कहती हैं कि ऐसा नहीं है कि चूँकि ये निष्ठुर भाषण करते हैं इसलिए हमारे प्रति इनका प्रेम नहीं है। वे कहती हैं कि इनके हृदयमें हमारे प्रति राग तो बहुत है, क्योंकि राग न होता तो रोज गोचारणसे लौटते हुए हमको देखते हुए क्यों जाते, हमारे लिए बाँसुरी क्यों बजाते, उलटकर हमारी ओर क्यों देखते, चीरहरणके समय हमारे साथ क्यों आते, हमसे छेड़छाड़ क्यों करते! फिर सखी, ऐसा बोलते क्यों हैं? तो बोलनेमें शायद सखी ये चाहते हों कि हम कलेजा चीरकर क्यों नहीं दिखातीं? तो चलो, जबानसे अपना हृदय निकालकर उनको दिखा दें। अपना हृदय दिखानेका तरीका यही नहीं है कि छूरेसे हृदयको चीर दिया जाय और फिर प्रियतमके सामने तश्तरीमें रख दिया जाय कि देखो हमारा दिल ऐसा है! अपना दिल दिखानेका यह तरीका नहीं है। यह

दिलमेंसे जो वाणी निकलती है ना, इससे पता चलता है कि कितना प्रेम है। सखी शायद उनके मनमें हो कि गोपियोंकी मीठी-मीठी प्रेमभरी बातें सुनें, इसलिए अब गोपियाँ बोलीं। **गोप्य ऊचुः—**

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

मैवं—संस्कृत भाषाकी प्रणाली यह है कि एक पूर्वपक्ष होता है और एकउत्तर पक्ष; तो जो न माननेकी बात होती है वह पूर्वपक्षमें कही जाती है और जब उत्तरपक्षी बोलने लगता है, खण्डन करता है, तो पहली बात उसके मुँहसे नहीं निकलती है। **मैवं—एव मा**=ऐसा नहीं; जैसा तुमने कहा ऐसा नहीं। अरे नारायण! कृष्णने कहा, घर देखो, धर्म देखो, शरीर देखो, परिवार देखो, दुनिया देखो, भजन करो, कीर्तन करो, ध्यान करो, माला फेरो, तस्वीर रखो घरमें, ये सब बताया। गोपीके मुँहसे पहले ही शब्द निकला—'**मैवं**' ऐसी बात मत बोलो, तुम्हारी यह बात बिलकुल गलत है, सोलह आने! कैसे गलत है? **विभो**। विभो माने हे व्यापक! तुम हमारे दिलमें बैठे हो। ये जो हमारी साँस चलती है इसको भी गिन लेते हो, हमारे मनमें जो तुम्हारे लिए प्रेमके सङ्कल्प उठते हैं उनको तुम देखते हो, तुम विभु हो। हमारे दिलमें अगर तुम न होते और ऐसी बात कहते तो हम समझते कि कोई ऐरा-गैरा, जो हृदयेश्वर नहीं है, वह बोल रहा है। परन्तु तुम तो हमारे दिलमें बैठे हो। 'हे विभो एवं मा'-तुम जानते ही हो, ऐसी बात नहीं है।

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशसं—एक तो विभु होनेके कारण तुमको ऐसा कहना अयोग्य है, क्योंकि तुम जानते हो; दूसरे तुम्हारे जैसा प्रेमी अगर ऐसा कहे तो यह तुम्हारे अयोग्य है। और तीसरी बात यह कि मीठेमेंसे कड़वाहट कहाँसे निकली? **नृशंसं**। जीवनदान करनेवालेमेंसे यह वधका उद्योग कहाँसे निकला? जो जीवनदाता है वही हत्या करनेके लिए आवे, इसलिए यह निश्चय होता है कि यह बात तुम जो बोल रहे हो वह ऊपर-ऊपरसे है, भीतरसे नहीं है! '**मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं**' माने आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए। यह कोई दूसरा बोल रहा है! ऐसा लगता है कि हमारा जो प्यारा कृष्ण है वह नहीं बोल रहा है। यह कोई वैकुण्ठसे आ गया होगा बाबा! यह कोई निर्गुणियोंका, वेदान्तियोंका ब्रह्म होगा, हमारा वह नन्दनन्दन, हमारा श्यामसुन्दर, हमारा पीताम्बरधारी, हमारा मुरलीमनोहर, हमारा गोपीजनवल्लभ, हमारा राधारमण, हमारा वृन्दावनविहारी, ऐसा नहीं बोल सकता! '**मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं**' यह वक्ता कोई और होगा!

बोले—क्यों ऐसा नहीं बोल सकते? '**सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् भक्ताः**' अरे, हम तो सारे बन्धन काटकर तुम्हारे चरणके तलवेमें सट गयी हैं—'**विशेषवन्ति इति विषयाः**' विषय उनको कहते हैं जो बाँधें, बन्धनकी रस्सीका नाम विषय है। दुनियामें बन्धनकी रस्सी बहुत होती हैं। एक आदमीको जाना था गंगोत्री। हमने कहा—भाई, तुमको पान खानेकी आदत है, वहाँ तो पान नहीं मिलेगा। बोला—बाबा, तब हम नहीं जायेंगे। एक सच्ची घटना आपको सुनाता हूँ। एक ब्रह्मचारी थे। पचास वर्षकी उनकी उम्र हो गयी थी, स्वयं-पाकी थे। एक दिन उन्होंने सङ्कल्प किया कि अब संन्यास ग्रहण कर लें। तो उनके घरके लोग श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके पास आये और कहा कि ब्रह्मचारीजी संन्यास लेना चाहते हैं। फिर तो हमारा-उनका मिलना-जुलना सब कुछ कट जायेगा। कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, दण्डीस्वामी हो जायें तो बड़े कड़े। तो बाबा जब स्नान करने गये तो वहीं ब्रह्मचारीजीकी कुटिया थी छप्परकी जंगलमें, उनकी कुटियामें चले गये। ब्रह्मचारी जी झट भोजनसे उठे और प्रणाम किया, बैठाया, बोले—कैसे पधारे? तो बाबाने कहा कि सुना है तुम संन्यास लेनेवाले हो? बोले—महाराज, इच्छा तो है, ले लें? आपकी क्या आज्ञा हैं? बाबाने कहा—अरे, पचास वर्षसे तुम अपनी हाथकी रसोई बनाकर खाते आये हो। इतना मीठा भोजन अब तुमको खानेको कहाँ मिलेगा। क्योंकि तब अपने हाथसे बना खा नहीं सकोगे और पता नहीं किसके-किसके हाथका खाना पड़ेगा। बोले—हाँ, यह तो हमको ख्याल ही नहीं था, महाराज! अब हम संन्यास नहीं लेंगे, हम तो दूसरेके हाथका खा ही नहीं सकते। तो जिनको महाराज कोई अपनी आदत होती है, अपनी बुद्धि, अपना अभ्यास वह दूसरेके साथ जुड़े भी तो क्या करेगा? अपनी आदत पूरी करेगा, अपनी बुद्धि पूरी करेगा, अपना अभ्यास पूरा करेगा और प्रेम तो महाराज सामने वालेकी आदत, सामनेवालेकी बुद्धि, सामनेवालेका अभ्यास पूरा करनेके लिए होता है। गोपियोंने साफ कह दिया—'**संत्यज्य सर्वविषयान्**' हम अपने सारे बन्धन, सारे विषयभोग, सारे लोक-परलोक, छोड़कर तब तुम्हारे पास आयी हैं। हम अपने अहंको दबानेके लिए आयी हैं। आपको ये कठोर वचन शोभा नहीं देते।

गोपियोंका समर्पण-पक्ष

(मैवं विभोऽर्हति भवान्..........................किल बन्धुरात्मा)

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

(श्रीमद्भागवत, १०. २९, ३१-३२)

जो उपासनासम्बन्धी, भक्तिसम्बन्धी, प्रेमसम्बन्धी मन्त्र हैं उन मन्त्रोंके लिए श्रीकृष्णका ध्यान बताया जाता है : कृष्ण खड़े हैं—त्रिभंगललितभावसे—माने बाँके-बिहारीके रूपमें, बाँयें पाँवपर दाहिना पाँव रखकर, घुटने टेढ़े, कमर थोड़ी टेढ़ी, सिर थोड़ा टेढ़ा, और बाँसुरी अधरोंपर लगाकर, मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए, प्रेमभरी चितवनसे देखते हुए; भालपर गोरोचनका तिलक; और गोपियाँ जो हैं छटपटा रही हैं, मन ही मन कृष्णसे मिलनेके लिए। यह जो गोपियोंके छटपटानेका ध्यान है, तड़पने और व्याकुल होनेका जो ध्यान है, यह ध्यान जब कोई प्रेमी भक्त करता है तो उसके हृदयमें भक्तिका, प्रेमका अवतरण होता है। तो हमारे हृदयमें गोपियों सरीखा प्रेम होवे, इसका उपाय है कि गोपियोंके हृदयमें जो श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए व्याकुलता है उस व्याकुलताका हम ध्यान करें—**स्मरे वृन्दावने रम्ये गोपगोभिः समावृतम्। गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्यासहस्रशः॥** सबकी आँखरूपी भ्रमर श्रीकृष्णकी ओर दौड़ रही हैं, एक-एक गोपी कृष्णकी ओर देख रही है, गोरी भी, काली भी; और गेहुँए रंगकी-सी जो गोपी है वे भी कृष्णकी ओर देख रही हैं; पीली साड़ीवाली, नीली साड़ीवाली, लाल ओढ़नीवाली, लहँगेवाली, ये सबकी सब; जिसके बाल खुले हैं वह भी और जिसके बालमें फूल लगे हैं वह भी चारों ओर गोपी खड़ी हैं श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए और देखो कि एक-एक गोपी मिलनेके लिए ललक रही है।

नारायण! असलमें इस ध्यानमें आपका मन अनेक रूप धारण करके श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए व्याकुल हो रहा है। ध्यानका अभिप्राय हुआ कि आपके मनको श्रीकृष्णके लिए व्याकुल होनेका अभ्यास हो जायेगा, आपके मनमें श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी इच्छा हो जायेगी!

एक लालसा मन मँह डारूँ।

वंशीवट, कालिन्दी तट नटनागर नवल निहारूँ॥ तो

आत्मनो हृदयाम्भोजे प्रेरिताक्षिमधुव्रताः।

पीडिताः कामबाणेन चिरमाश्लेषणोत्सुकाः॥

अपने हृदयकमलमें देखो कि श्रीकृष्णके मिलनकी कामनाके बाणसे पीड़ित है गोपी और भगवान्‌के आश्लेष, आलिंगनकी प्राप्तिके लिए चिरकालसे उत्सुक है। अपने हृदयमें ऐसा ध्यान करते हैं कि—

मुक्ताहारलसत्पीनोत्तुङ्गस्तनभरानताः।

सस्त्रधं भिल्लवसनाः मदस्खलितभाषणाः॥

यह कोई निर्गुण, निराकार, निर्विकारका ध्यान थोड़े ही है। यह गोपीका ध्यान है और मनमें कृष्ण आवें, इसलिए ध्यान है। यह प्रेम-पन्थ अलग है, निराला है।

अच्छा आओ! जब श्रीकृष्णने कहा—हटो, लौट जाओ। तो गोपी जो श्रीकृष्णके चारों ओर हैं, बोलीं—क्या सब एक साथ बोलीं या एक-एक करके? एक साथ बोलीं तो एक-सी बात ही कैसे बोल गयीं? परन्तु उन सबका श्रीकृष्णके प्रति समानभाव था। अतः समानभाव होनेसे समानवाणी निकल सकती है। कभी-कभी हम देखते हैं कि सूरदासका और हितहरिवंशका दोनोंका पद एक-सा है, क्योंकि जब भाव दोनोंका समान है तो समानपदका स्फुरण हो गया। नारायण! हमको पहले विश्वास शायद न होता, पर एक बार हम दो जने रेलगाड़ीमें आपसमें निश्चय करके बैठे—दूर-दूर बैठे—कि आओ भगवान्‌का ध्यान करके कोई कविता लिखें। जब लिखी और मिलायी तो दोनोंने जो लिखा था वह एक ही कविता लिखी थी। वह सज्जन अभी हैं। हमको तो यह बात भूल गयी थी क्योंकि बचपनकी बात है, लेकिन उन्होंने जब अपना संस्मरण लिखकर भेजा तो उसमें इस बातकी चर्चा थी, तब हमको भी याद आ गयी।

यह बात क्यों कही? इसलिए कही कि गोपियाँ अनेक हैं और उनका कृष्णके प्रति भाव एक है। एक भावसे यदि सब गोपियाँ एक ही श्लोक बोलती हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु चार दिशामें रहनेवाली गोपियोंने चार प्रकारसे बोलना शुरू किया। क्योंकि एक साथ बहुत लोग बोलने लगें तो वह तो

सट्टाबाजार हो जाय। बहुत सारे सटोरिया-लोग एक साथ बोलते हैं। प्रेमकी बात करनी हो तो ऐसा कोलाहल तो नहीं मचना चाहिए, शान्ति रहनी चाहिए। पहले संसारके लिए जो विक्षेप है वह शान्त हो जाता है, तब भगवान्के लिए भाग्योदय होता है। जबतक संसारके लिए विक्षेप है तबतक भगवान्के लिए भाव नहीं उठेगा। यह संसारीभाव नहीं है।

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितु नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

मैवं विभो—विभो माने हे विभु! आप विभु हैं। कहती हैं—प्राणनाथ! यह जो हमारे शरीरमें श्वास चलता है, इसको चलने देनेका, या रोक देनेका पूरा-पूरा अधिकार आपको है, मारो या जिलाओ! हमें हमारे जीने-मरनेका अधिकार नहीं है, तुम्हें हमारे जिलाने-मारनेका अधिकार है। चीज तुम्हारी हम कैसे मार डालेगें? यह जो प्रेमी होता है;वह न जीनेमें स्वतन्त्र है, और न मरनेमें स्वतन्त्र है; जीता है तो अपने प्रियतमके लिए और मरता है तो अपने प्रियतमके लिए, गोपियोंका शरीर अपना है ही नहीं। गोपियोंके प्रेममें यह बात विशेष है। आपको आश्चर्य होगा कि ब्रह्माण्डपुराणमें ऐसा वर्णन है कि श्रीकृष्णके विरहमें किसी गोपीका वजन कम नहीं हुआ था, और बढ़ा ही था। बोले—अरे बाबा, गोपियोंको क्या विरह व्यापता है, ये तो बिलकुल अच्छी तगड़ी हैं, गाय दुहती हैं, पानी भरती हैं, गोबर उठाती हैं, उनको विरह कहाँ है? तो गोपियोंने कहा—यह शरीर तो हमारा नहीं है, कृष्णका है। इसको सुखा डालनेका अधिकार हमको नहीं है। हम इनके विरहमें इसको दुबला नहीं कर सकतीं। वे आवेंगे और देखेंगे कि हमारा चेहरा सूख गया है, हमारी आँख रोते-रोते खराब हो गयी है, हमारा श्रृंगार बिगड़ गया है, हम उदास हो गयी हैं, तो उनके मनमें ग्लानि होगी, दुःख होगा, अपने कियेपर उनको पछताना पड़ेगा। तो उनको न पछताना पड़े,इसके लिए हमको ठीक रहना चाहिए। यह विभु शब्दका अर्थ बताया। विभु माने, अपने प्राणोंका स्वामी प्रियतम। गोपियाँ कहती हैं—बाबा, इन प्राणोंके स्वामी हम नहीं हैं,तुम हो। जब तुम इन प्राणोंको पीड़ा पहुँचाते हो, तो अपनी ही वस्तुको पीड़ा पहुँचाते हो—

'मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं'-भवान् बड़े आदरका शब्द है। गोपियाँ कहती हैं—कृष्ण, आपने हमारा महाभाग्यवती गोपियो कहकर स्वागत किया था न ! **स्वागतं वो महाभागाः**-पधारिये, पधारिये, बड़ी खुशी हुई कहा था, क्या वह '**स्वागतम्**' हमें लौटानेके लिए था? **भवान्**—अब आप बताइये स्वागत क्या यही है? '**नृशंसं गदितुंअर्हति**' आपकी ऐसी क्रूर वाणी आपके योग्य नहीं

है। ऐसी प्रेमभरी बातें, इतना कोमल शरीर, ऐसी कोमल आँखें, ऐसी अनुग्रहभरी भौंहें, और ऐसी कठोर वाणी कि लौट जाओ!

यह महाराज, जब मनुष्यका शरीर बनाया गया तो भगवान्‌को आशंका पहलेसे थी कि मनुष्य कड़वा जरूर बोलेंगे, इसलिए उन्होंने जीभको ऐसा नरम-नरम, कोमल, रसीली बनाया, कि अगर तुम किसीसे बात करो तो नरम-नरम बात करो। कोमल मुँहसे कठोर बात मत निकालो, गुलाबजामुन निकालो।

एक बहुत वृद्ध सन्त थे जब मरने लगे तो लोगोंने उनसे कहा कि अपना अनुभव बता जाओ, कुछ शिक्षा दे जाओ। सन्तने पूछा कि तुमको मेरे मुँहमें दाँत दिखते हैं? पूछनेवालेने कहा—नहीं। सन्तने कहा—मेरे मुँहमें जीभ दिखती है? उसने कहा—हाँ, दिखती है। सन्त बोले—जो कठोर होता है वह टूट जाता है, और जो कोमल होता है वह बना रहता है। जीभ कोमल है तो बनी रहती है और दाँत कठोर होता है,वह टूट जाता है। यही मेरे जीवनका अनुभव है 'पड़ाइन! शुभ-शुभ बोलो, मीठा बोलो'—हमारे गाँवमें कहते हैं।

गोपियाँ कहती हैं—तुम इतने मीठे, तुम्हारी वाणी इतनी कड़वी क्यों है? देखनेमें इतने सुन्दर, ललाटपर गोरोचनका तिलक और सिरपर मयूरपंख, उसका भी इतना आदर करते हो, घुँघचीके दानेको गलेमें पहनते हो और बाँसुरीको अधरामृत पिलाते हो, और हमसे इतना कड़वा बोलते हो, आखिर क्यों?

भवान्—भवान् माने चन्द्रमा भी होता है—***'भान्ति आकाशे इति' भ'***=जो आकाशमें चमकते हैं उनको बोलते हैं 'भ' और ***'भ नक्षत्राणि सन्ति अस्य इति भवान्'*** चन्द्रमा। चन्द्रमा से तो अमृत बरसना है, और तुम चन्द्रमा होकर विष बरसाते हो? देखो, अपने स्वरूपके विपरीत कोई काम नहीं करना चाहिए, नारायण!

'भवान् भ भयदा यमदूता सन्ति अस्य अस्तीति भवान्?' अरे, ऐसी क्रूर वाणी तो पापियोंको यमलोकमें सुनाई जाती है, हम कोई पापिनी नहीं हैं, हम तो पाप-पुण्य दोनोंको छोड़कर तुम्हारे पास आयी है—**'मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं'** बाबा! आपको ऐसा नृशंस बोलना उचित नहीं है।

प्रेममें दो होते हैं। एक प्यार और एक अस्वीकार। दुनियाको छोड़ना और प्रभुको पकड़ना। **'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्'** श्री शुकदेवजी महाराजने कहा था कि गोपियोंने श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग कर दिया है—**'विनिवर्तितसर्वकामाः'** शुकदेवजीने यह गवाही दी थी कि गोपियाँ हृदयसे सांसारिक विषयको नहीं चाहती हैं। लेकिन ये स्वयं ऐसी बात कह रही हैं कि हम केवल निष्काम कहलाने योग्य नहीं हैं। क्यों? ये कहती हैं कि हम

निष्काम भी हैं और त्यागी भी हैं। हम स्वरूपसे विषयका परित्याग करके आयी हैं। माने हम संन्यासिनी हैं। '**सन्त्यज्य सर्वविषयान्**' हम सारे विषयोंका सम्यक् त्याग करके आपके पादमूलको प्राप्त हुई हैं। '**तव पादमूलम् भक्ताः**' गोपियोंके प्रेमका दो अंक हुआ। त्याग हुआ और संत्याग हुआ—त्याग नहीं संत्याग है, सम्यक् त्याग। क्या सम्यक् त्याग है कि विषयोंका स्वरूपसे ही त्याग है, भला! जो भोजन करते-करते छोड़कर आवे, पतिको परसते-परसते आवे, कपड़ा पहनते पहनते आवे, अञ्जन लगाते-लगाते आवे, उसके चित्तमें भगवत्प्राप्तिके लिए कितनी त्वरा है, जरा सोचो तो। वह तो ऐसा है कि मोटरकी इन्तजार न करे, ट्रकपर दौड़कर बैठ जाय, ऐसी त्वरा है। यह त्वरा, त्वरक, ट्रक बन जाती है। त्वरासे जो सामग्रीको पहुँचा दे उसका नाम त्वरक है। तो सन्त्यज्यका अर्थ है कि स्वरूपसे विषयोंका त्याग करके जो किसीको छोड़ेगा नहीं वह किसीको पकड़ेगा भी क्या? जिसमें त्यागका सामर्थ्य नहीं है, उसकी निष्ठामें दृढ़ता नहीं आ सकती; निष्ठा दृढ़ होनेके लिए त्यागकी जरूरत पड़ती है। जो उसको पकड़ेगा वह सबको छोड़नेके लिए तैयार होगा, तब उसको पकड़ेगा। शुकदेवजीने कहा था कि गोपीके हृदयमें कामना नहीं है। और गोपी कहती है कि हमने विषयका परित्याग कर दिया। निष्कामताकी बात तो शुकदेवजीने कही, और त्यागकी बात गोपियोंने कही। तो गोपियाँ निष्काम भी हैं और त्यागी भी हैं, संन्यासिनी हैं, श्रीकृष्णके लिए संन्यासिनी हैं।

'**सर्वविषयान् सन्त्यज्य**'—विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा कि देखो, इसका अर्थ हुआ कि श्रीकृष्ण विषय नहीं हैं। विषय उसको बोलते हैं जो बाध्य है, जिसके प्रेम करनेपर बन्धन हो, उसे विषय बोलते हैं; जिससे प्रेम करनेपर दुनिया छूट जाय वह विषय कहाँ हुआ? वह तो मोचक हुआ, छुड़ानेवाला हुआ। श्रीकृष्णसे प्रेम करना माने संसारके सारे बन्धनसे छूटना, माने मोक्ष हो जाना! जैसे अनर्थकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको मोक्ष बोलते हैं, वैसे कृष्ण-प्रेममें अनर्थ जो विषय हैं उनका त्याग हुआ, और परमानन्द जो श्रीकृष्ण हैं उनकी प्राप्ति हुई।

तव पादमूलम् भक्ताः, पादाम्बुजम् भक्ताः, पादपद्मम् भक्ताः, पादकमलम् भक्ताः—ऐसे नहीं बोलती हैं। क्या बोलती हैं कि **पादमूलम् भक्ताः**। गोपियोंने कहा कि इस समय इनके किसी अङ्गको कमल कहना शोभा नहीं देता। अरे, जो इतनी कठोरता करे उसको कमल क्या बोलें? मुखकमल, नेत्रकमल, पादकमल, हस्तकमल बोलते हैं ना! कमल तो तब होवे, जब कोमलता हो; काम तो करे पत्थरका और कहें उसको कमल। तो बोलीं—बाबा, भले तुम्हारा चरणकमल न हो, माना कि तुम्हारा चरण मूल ही है। '**पादमूलम्**' हम तुम्हारे

तलवेके नीचे कुचल जानेको आयी हैं। हम तुम्हारे चरणकमलको अपने हृदयमें रखकर हृदयको ठण्डा करनेके लिए नहीं आयी हैं। हमको नहीं चाहिए हृदयकी शीतलता कि अपने कोमल चरणारविन्द हमारे हृदयपर रख दो, कि हम ठण्डी हो जायँ, नहीं चाहिए हमको! अरे, ये पादमूलसे ही हमको दबा दो, हम तो तुम्हारे पाँवके नीचे पड़कर खाक होनेके लिए आयी हैं। हम अपने अहंकी पूजाके लिए नहीं आयी हैं; तुम्हारे पादमूलकी पूजाके लिए आयी हैं।

अब देखो ये कहती है—**सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव भक्ताः तव पादमूलम् भक्ताः; तव वयं** सब कुछ छोड़कर हम तुम्हारी भक्त हो गयीं, और सब कुछ छोड़कर तुम्हारे तलवेके नीचे आ गयीं। अच्छा, भला बताओ संसारमें कहीं ऐसा भी उदाहरण मिलता है कि भगवान्‌के पास आवे, और फिर लौटकर चला जाय? श्रुतिने कहा—'*न स पुनरावर्तते*' परमेश्वरके पास आकर फिर कभी कोई लौटता नहीं। खुद कृष्णने ही गवाही दी है; तुम तो अब कृष्ण हुए हो व्रजमें, नये-नये कृष्ण पैदा हुए; परन्तु जो पुराने कृष्ण थे, इसके पहलेके द्वापरमें जो पैदा हुए थे, वे तो अपने मित्र अर्जुनसे कहकर गये कि '*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*' मेरे धाममें आने-पर फिर लौटना नहीं होता। अब ये द्वापरमें नये कृष्ण कहाँसे आये? कोई कलियुगी कृष्ण तो नहीं? तुम द्वापरी कृष्ण हो, तो हम तुम्हारे पाँवमें आकर लौटेंगी कैसे!

भक्ताः— भक्ति जिसमें हो उसको भक्त बोलते हैं; और उसका यह कर्ममें बहुवचन है भक्ताः। अरे, हम तुम्हारे लिए खूब पक गयी हैं, पाक बन गयी हैं, खूब भक्ता माने भात बन गयी हैं—

'**भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्**' अपने लोगोंके प्रति इतनी जिद्द नहीं करनी चाहिए। दुरवग्रह शब्द व्याकरणकी रीतिसे बड़ा विलक्षण बनता है। अवग्रह माने है—प्रतिबन्ध। जैसे वर्षा होनेवाली हो और बीचमें बड़ी तेज हवा आवे और बादलको उड़ाकर तितर-बितर करके कहींका कहीं कर दे, तो हवाको बोलेंगे अवग्रह, दृष्टिमें रुकावट पड़ गयी है। ग्रह-ज्योतिषकी दृष्टिसे—

शुक्रास्तसमये वृष्टिः कुजोदिते ह्यवर्षणम्।

जब शुक्रास्त होता है, तब वर्षा होती है, और जब बृहस्पति उदय होता है तब वर्षा होती है। अब बीचमें महाराज यदि अङ्गारक मङ्गल आ जाय, तो वृष्टिका प्रतिबन्ध हो जाता है। तो उस मङ्गलको बोलेंगे—अवग्रह। तो गोपियाँ कहती हैं कि महाराज, यहाँ तो रसवर्षा होनेवाली थी, आज हमारा रोम-रोम नृत्य करता, आज वृन्दावन वंशी-ध्वनिसे भर जाता, आज तुम्हारे नूपुरकी रुनझुनसे, हमारी

करधनी और कङ्कणकी ध्वनिसे आकाश मुखरित हो जाता, भीग जाती आज सारी सृष्टि, इस रास-रसकी वर्षामें; यह मङ्गल ग्रह प्रतिबन्ध कहाँसे आ गया? लेकिन सचमुच अपने लोगोंके प्रति इतना हठीला, जड़ावग्रह, जड़ाग्रही नहीं होना चाहिए। सचमुच, तुम जिद्दी हो!

देखो, यह बात ब्रह्मा नहीं कह सकते श्रीकृष्णसे कि तुम हठी हो, स्वच्छन्द हो, स्वतन्त्र हो! शंकरजी हाथ जोड़ें, ब्रह्माजी हाथ जोड़ें, इन्द्र हाथ जोड़ें, पर ये गाँवकी ग्वालिन कहती हैं कि ओ हठीले! छोड़ दो अपना हठ। इसमें स्वविग्रहका दूसरा अर्थ भी है—अपने स्वजनके प्रति हँसी? अरे बाबा, परायेके प्रति हँसी होय तो होय। अपनेके प्रति कोई हँसी होती है! हम तो तुम्हारा भजन करती हैं; तुम्हारी हम सेविका हैं, दासी हैं; तुम्हारी भक्त हैं! कृष्ण बोले—अच्छा, बोलो गोपी—**'प्रियं किं करवाणि वः'** क्या करें तुमसे? तो बोलीं—**भजस्व,** हमारी भक्ति करो, जैसे हमने तुम्हारी भक्ति की है, वैसे तुम हमारी भक्ति करो। हमने तुम्हारी सेवा की तुम हमारी सेवा करो, हम तुम्हारा भजन करती हैं तुम हमारा भजन करो, कृष्णने कहा—तुम हमारी बराबरी करनेपर उतारू क्यों हो? बोलीं—इसमें है बात! बराबरीकी बात नहीं, हम तो सिर्फ दस्तावेजको जो तुमने पहले लिख दिया था दुहरा रही हैं। **'यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** उस दस्तावेजके मुताबिक हम तुम्हारा भजन करती हैं तुम हमारा करो; हम कृष्ण-कृष्ण बोलती हैं, तुम गोपी-गोपी बोलो; हम तुम्हारे लिए नाचती हैं तुम हमारे लिए नाचो; हम तुम्हारे लिए व्याकुल, तुम हमारे लिए व्याकुल।

भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् अरे, मत छोड़ो बाबा, इसमें बादमें तुमको दुःख होगा। तुम्हारी भलाईके लिए कह रही हैं। अरे, हम तो गोपी हैं, मर जायेंगी, पर करोड़-करोड़ ये गोपी लौटकर व्रजमें जानेवाली नहीं हैं, तुम्हीं इनकी हत्याका पाप लेकर व्रजमें लौटो तो लौटो। और जाकर खुश होना, पर अब ये गोपी तो लौटनेवाली हैं नहीं। हम तो तुम्हारी भलाईके लिए कहती हैं कि तुम्हारी बदनामी हो जायेगी, कि कृष्णके लिए इतनी गोपियाँ मर गयीं। हाँ, तुमको ग्लानि होगी, कि हाय-हाय, हमने अपने प्रेमियोंके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया। इसलिए **मात्यजास्मान्**—हमें छोड़ो मत, हमारा त्याग मत करो, हमारी मान लो!

बोले—इसमें दृष्टान्त क्या है? तो इसमें दृष्टान्त बताती हैं—

'देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्' जैसे आदिपुरुष भगवान् नारायण हैं—उनके समान तो गर्गाचार्य तुमको बता गये और उनसे बड़ा तुमको पौर्णमासी पुरोहितानी बताती हैं। तो जैसे कोई जब संसारका त्याग करके नारायण भगवान्‌की

शरणमें जाता है और नारायण उसका त्याग नहीं करते हैं, उसको अपनी शरणमें ले लेते हैं, हमेशाके लिए हाथ पकड़ लेते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण! हम भी संसार त्यागकर आपकी शरणमें आयी हैं, हम तुम्हारी भक्ता हैं, तुम हमको स्वीकार करो!

'देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्' देव तो खिलाड़ी हैं, वे अनेक रूप धारण करके विहार करते हैं, तुम भी हमारे साथ विहार करो। इसमें अकारका श्लेषण करके **भजतेऽमुमुक्षून्** ऐसा अर्थ भी कोई-कोई निकालते हैं। वे कहते हैं कि मोक्ष चाहनेवालोंकी सेवा नारायण नहीं करते हैं। क्यों? बोले—संसाररूपी जेलके दरवाजेपर नारायण भगवान् बादशाह खड़े हो गये; जेलमें-से कैदी निकलने लगे; बोले—क्या चाहते हो? बोले—महाराज, छुट्टी चाहते हैं, जेलमेंसे निकल जाना चाहते हैं। तो कहा—जाओ, खुला है दरवाजा, जिसको-जिसको हमारा दर्शन हो जाय सो निकलते जाओ, जेलखानेसे छुट्टी! नारायण, उनको वैकुण्ठमें थोड़े ही रखते हैं जो मोक्ष चाहते हैं, माने जो जेलखानेसे छूटना चाहते हैं। मुक्ति माने छुटकारा। जो लोग संसारके कैदखानेमें कैद किये गये हैं वे नारायणका भजन करें, तो नारायण उनका भजन नहीं करते, कहते हैं जाओ छुट्टी, जाओ मुक्त हो गये, तुम ब्रह्म हो गये, निर्गुण, निर्विकार, एकरस, निर्धर्मक हो गये! खड़े होकर नारायण फाटकपर बोलते हैं ***तत्त्वमसि, तत्त्वमसि!*** जितने-जितने कैदी निकलते हैं सबको बोलते हैं नारायण ***तत्त्वमसि, तत्त्वमसि*** तू ब्रह्म है, तू ब्रह्म है, जाओ मुक्त हो गये। अब एकने कहा, महाराज, जेलखानेसे तो मैं निकल आया, लेकिन हमको मोक्ष वोक्ष तो चाहिए नहीं। हम तो चाहते हैं महाराज कि आपके साथ-साथ महलमें चलें, और आपका पाँव धोयें अपने हाथसे, और आपके कपड़े धोवें, और अपने हाथसे आपकी रोटी बनावें, आपके बाल सँवार दें, आपको चन्दन लगा दें, आपको पंखा झलें, आपके मुँहमें पानकी बीड़ी हम अपने हाथसे डालें! बोले—जेलसे तुमको छोड़ दिया, अब तुम जेलमें तो जा नहीं सकते, यह नियमके खिलाफ हैं। फिर क्या करें? अब नारायण भगवान् पड़े चक्करमें! ***'ता ते जे हरि भगति सयाने। मुकुति निरादरि भगति लोभाने॥'*** नारायण बोले—अच्छा भाई, तो फिर चलो हमारे साथ वैकुण्ठमें। वृन्दावनमें हमारे कोकिल साँईं थे, वे कहते थे कि एक दिन भावमें मैं मालीकी लड़की बनकर, डलियामें फूलमाला लेकर, पहुँच गया भगवान्के दरबारमें। तो महाराज रामचन्द्र बहुत नाराज हुए कि यहाँ मालीकी लड़की बिना आज्ञाके कैसे घुस आयी? मैं डर गयी, डर गयी तो उन्होंने पकड़कर एक चपत लगा दी। जानकीजीने दूरसे देखा और दौड़कर आयीं, और हमारा हाथ पकड़ लिया। बोलीं—यह लड़की तो हमको बहुत प्यारी लगती है, रोज हमारे

लिए माला ले आती है, फूल बनाती है। यह भावकी दृष्टि है। भाव दूसरी वस्तु है और तत्त्व और तत्त्वज्ञान दूसरी चीज है, वहाँ तो अध्यस्त और अधिष्ठानका विचार है। तत्त्व वस्तु जो है वह निराकार, निर्विकार, एकरस है। भक्ति व्यक्तिकी शक्ति है, और ब्रह्म अव्यक्तका स्वरूप है। जीवनमें जो आनन्दका स्वरूप है, उसीको ब्रह्मनिष्ठा बोलते हैं। वह वृत्ति है।

गोपियोंने कहा—अरे, हम भी अमुमुक्षु हैं, हमको मोक्ष नहीं चाहिए, हमको ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए। हमको अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, काम नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए; हमको तो चाहिए यह कि हम तुम्हारे पाँवके नीचे कुचल जायँ। हम तुम्हारे पाँवके नीचे पड़कर मर जाना चाहती हैं।

अब आओ कृष्ण, धर्मशास्त्रकी बात करें तुमसे—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

तुम यह कहते हो कि स्त्रीका अपना स्वधर्म है और '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः**' अपने धर्ममें मरना अच्छा है और दूसरेके धर्ममें स्थित होना, उसका पालन करना, उतना ही भयङ्कर है। तो स्त्रीका धर्म क्या है? स्त्रीका धर्म है कि पति, अपत्य (पुत्र) और सुहृद्, इनके अनुकूल होकर स्त्री रहे। हे अङ्ग! हे कृष्ण प्यारे! यह स्त्रीका स्वधर्म है। बात ठीक है। '**इति धर्मविदा त्वयोक्तम्**' तुम्हारे धर्मके ज्ञानपर हमको कोई सन्देह नहीं है, तुम धर्मशास्त्री हो, मनुजीने जैसा कहा वैसा ही तुमने कहा; जैसा सनातन धर्म है वही तुमने कहा। स्त्रीधर्म यही है कि पति, पुत्र, सुहृद्, सबके अनुकूल रहकर अपने पतिव्रतधर्मका ठीक-ठीक पालन करें। लेकिन बाबा! हमने इस बातको मना कहाँ किया? हमारे पति, हमारे अपत्य, हमारे सुहृद्, एक तुम ही हो।

चार प्रकारसे इस वाक्यका अर्थ श्रीधरस्वामीने लिखा है। बढ़िया गम्भीर प्रश्न है, यह! आपको पहले गम्भीर सुनावेंगे। गोपी कहती हैं कि पतिकी सेवा इसलिए है, पुत्र और सुहृद्की सेवा इसलिए है कि अपने धर्मका पालन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होवे और शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माकी प्रीति उदय हो, परमात्माका ज्ञान उदय हो, परमात्माका साक्षात्कार हो। धर्म स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, सत्य वस्तुके साक्षात्कारमें धर्म प्रमाण नहीं है। एक अन्धा था। उसने दान किया कि इससे हमको जगन्नाथजीका दर्शन होना चाहिए। दान तो हुआ हाथसे परन्तु दानके फलस्वरूप जगन्नाथजीका दर्शन नहीं होगा, दानके फलस्वरूप उसको आँख मिलेगी; और आँखसे वह जगन्नाथजीका दर्शन करे। जगन्नाथजी तो

पहलेसे मौजूद हैं, वे तो पहलेसे बैठे हैं, उनको देखनेके लिए चाहिए आँख। कर्मसे वस्तु नहीं दिखती, ज्ञानसे वस्तु दिखती है। तो धर्म-कर्म क्यों? कि जिससे आँख मिले, और आँखसे शुद्ध परमात्माका दर्शन हो, माने ज्ञान प्राप्त होवे। विविदशा वाक्य जो है ना—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदशन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसा, अनाशकेन।

सारे व्रत, सारे दान, सारे तप, सारे यज्ञ इसके लिए हैं कि हमारा हृदय शुद्ध होवे और हृदय शुद्धिका फल है भगवान्‌से अनुराग होना। तो गोपियोंने कहा कि अब हमारा भगवान्‌से अनुराग हो गया। इसलिए जब धर्मानुष्ठानका जो फल है भगवदनुराग वही प्राप्त हो गया तो अब हम अनुराग-धर्मका ही पालन करेंगे, पुनः धर्मानुष्ठानमें नहीं जायेंगी। ईश्वर की भक्ति परमधर्म है। याज्ञवल्क्यकी स्मृतिमें एक श्लोक आता है—

अयं तु परमो धर्मो यज्ञयोगेनात्मदर्शनम्

एक धर्म है और एक परमधर्म है। दान, व्रत, तपस्या ये सब धर्म हैं; और अपने दिलमें बैठा हुआ जो दिलवर है उसके प्रति जो अनुराग है वह परमधर्म है। ईश्वर ही दिलवर है। धर्मका फल है परमधर्म। जब हमको परमधर्म मिल गया तो पुनः हमको धर्म करनेको क्यों कहते हो?

श्रीधरस्वामीने एक दूसरा अभिप्राय और बताया। वह बोलते हैं कि धर्मका पालन करनेके लिए धर्मज्ञान होना चाहिए। धर्मका ज्ञान होता है आचार्यसे और आचार्य धर्मका उपदेश करता है तब जब उसकी सेवा करो। बिना सेवा किये ही अगर कोई आचार्य धर्मोपदेश करता हो तो लेकर लाउडस्पीकर सड़कपर घूमे कि तुम्हारा यह धर्म है, तुम्हारा यह धर्म है, तुम्हारा यह धर्म है। जो सेवा नहीं करेगा, उसके हृदयमें धर्म-भावना बैठेगी नहीं। गुरुकी सेवा करके तब धर्म प्राप्त किया जाता है, फिर धर्मके द्वारा ईश्वरकी आराधना की जाती है। गोपी कहती हैं कि ठीक है, श्रीकृष्ण! तुमने आज हमको धर्मोपदेश दिया, तो आओ गुरुजी, पहले तुम्हारी सेवा हमलोग कर लें। उसके बाद हम धर्मपालन करेंगी, क्योंकि बिना गुरु-सेवाके हमारी धर्म-निष्ठा सच्ची नहीं होगी। और एक बात यह है कि धर्म होता है ईश्वरकी सेवाके लिए; तो जहाँ ईश्वर और गुरु दोनों एक हो गये वहाँ धर्म और सेवा एकमें मिल गये। तो हमारे तुम ईश्वर भी हो, और गुरु भी हो, और हमारा धर्मपालन और तुम्हारी सेवा दोनों एक साथ मिल गये।

संस्कृत भाषामें सेवाकी अपेक्षा भक्ति शब्द ज्यादा अन्तरङ्ग है। यह शब्दकी बात बताता हूँ। सेव् और भज्—दोनों धातु सेवाके अर्थमें हैं। परन्तु सेव् धातु

आत्मनेपदी है जब कि भज् धातु उभयपदी है। सेव्से सेवते होता है, सेवति नहीं होता है। जब कि भज् धातुसे आत्मनेपदीमें भजते बनता है और परस्मैपदीमें भजति बनता है। इसका अर्थ है कि सेवा करनेमें सेवा जो है वह सेवाका सुख सेवककी ओर ले आता है। जो सेवा करेगा, मेवा पावेगा, सेवा करनेवाला सुखी होता है। गुरुकी सेवा करके शिष्य सेवाका फल मेवा प्राप्त करेगा। लेकिन ईश्वरकी जो भक्ति है, ईश्वरकी जो आराधना है, उसमें जबतक भक्ति पहली कक्षाकी रहती है, तबतक तो उसका फल अपनी ओर (भक्तकी ओर) आता है, जैसे कि हमको यह चाहिए, हमको धर्म चाहिए, काम चाहिए, मोक्ष चाहिए, जो चाहिए सो मिले। परन्तु जब भक्ति प्रेम हो जाती है तो उसका फल भक्ति करनेवालेकी ओर नहीं आता, प्रियतमकी ओर चला जाता है। इसीलिए भज् धातु जो है, वह प्रारम्भिक दशामें 'भजते' (आत्मनेपदी) और पराकाष्ठामें 'भजति' (परस्मैपदी) है। उभयपदी होनेसे भक्तिका फल भजनीयकी ओर, ईश्वरकी ओर जाता है। जैसे देखो, आदमी अस्पतालमें रोगीको पंखा झल रहा है। सौ रुपया महीना उसको तनख्वाह मिलती है। तो जो पंखा झलनेका फल है (रुपया) वह पंखा झलनेवालेको, सेवकको मिलता है। तो, सेवा आत्मनेपदी हुई। अच्छा, अब एक दूसरा आदमी है, वह गुरुजीको पंखा झल रहा है। तो आपने देखा होगा कि पंखा ऐसे झलते हैं लोग कि थोड़ी हवा अपनेको भी लगे और थोड़ी हवा जिसको झलें उसको लगे। तो अब यह सेवा उभयपदी हो गयी, क्योंकि उसमें तनख्वाह तो मिलनी नहीं है, अपनेको भी हवा लगे, और उनको भी लगे। और यदि कोई पंखा ऐसे झलते हैं कि स्वयं चाहे पसीनेसे तर-बतर रहें, लेकिन दूसरेके लिए ही पंखा झलते हैं तो यह प्रेम हुआ, भक्ति हुई। यह सेवा परस्मैपदी हो गयी। नारायण! यह भाषाका विज्ञान है भाषामें यह बात भरी हुई है।

यहाँ तो गुरु और ईश्वर दोनों एक हो गये, इसलिए यहाँ सेवा नहीं है, भजन है। और यह आत्मनेपदी भजन नहीं है, परस्मैपदी भजन है। अपने प्यारेको सुख मिले : यह भजन हुआ। तो बोले—अब हमारा धर्म तो पूर्ण हो गया, चरितार्थ हो गया, धर्मका फल मिल गया।

'**अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे**' श्रीधरस्वामी कहते हैं कि असलमें पतिकी सेवा नहीं होती, उसके आत्माकी सेवा होती है। पुत्रके शरीरकी सेवा नहीं होती, पुत्रकी आत्माकी सेवा होती है। सुहृद्के शरीरकी सेवा नहीं होती, उसके आत्माकी सेवा होती है। नारायण, देखो, शरीरकी सेवा कौन करे, अगर आत्मा न हो तो? शरीरकी सेवा कोई करेगा? बिना आत्माके इसमें दुर्गन्ध आने लगती है,

तभी तो इसको घरसे बाहर निकाल देते हैं। असलमें सेवा आत्माकी होती है। तो सेवा करनेवालेको यह ख्याल रखना चाहिए। तो क्या कहती हैं गोपियाँ? हम तो न पतिको जानें, न पुत्रको जानें, न सुहृद्को जानें। **उपदेशपदे**—यह जो उपदेश तुम कर रहे हो, पति, पुत्र, सुहृद्की भक्तिका, तो पतिमें भी अधिष्ठान और द्रष्टा-साक्षीरूपसे तुम्हीं हो कृष्ण, और पुत्रमें भी तुम्हीं हो, और सुहृद्में भी तुम्हीं हो। सेवा करनेवालेको तो ध्यान रखना चाहिए कि हम किसकी सेवा करते हैं। तो ये अलग-अलग हैं और तुम एक हो। अधिष्ठानकी सेवा करनेपर अध्यस्तकी सेवा अपने-आप हो जाती है। ईश्वरकी सेवा करो,

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन प्रत्यन्ति तरुस्कन्दविवेकशाखाः।
प्राणद्वारा यथेन्द्रियाणि सर्वार्हणं तथैव अच्युतोज्ञा॥

जैसे वृक्षकी जड़ सींचकर उसका कन्धा, उसकी बड़ी-छोटी डाली, उसका फल, उसका फूल, सब सिंच जाता है; और जैसे प्राणोंको भोजन देनेसे सब इन्द्रियोंको शक्ति मिलती है; इसी प्रकार यदि श्रीकृष्णकी पूजा की जाय, तो कृष्णकी पूजामें पतिकी, पुत्रकी, सुहृद्की, सबकी पूजा हो जाती है, क्योंकि कृष्ण सबकी आत्मा हैं। सबके मूल हैं। कृष्णकी पूजा करो, तुम्हारे पति दीर्घायु हो जायेंगे, कृष्णकी पूजा करो, तुम्हारे पुत्र धनी हो जायेंगे, सब पढ़े-लिखे हो जायेंगे, कृष्णकी पूजा करो, तुम्हारे सुहृद् तुम्हारा बड़ा आदर करेंगे। क्योंकि असलमें कृष्णकी पूजामें सुहृद्की, पतिकी, पुत्रकी, सबकी पूजा है। कृष्ण सर्वके अधिष्ठान हैं, कृष्ण सर्वका द्रष्टा, सर्वका साक्षी, सर्वका आत्मा है। आत्मदेवकी, भगवान्की, परमात्माकी ,अधिष्ठानकी पूजा करनेसे सबकी पूजा अपने-आप हो जायेगी।

कृष्णने कहा—अरी गोपियो! तुमने कैसे पहचाना कि मैं वहीं हूँ, मैं वही ईश्वर हूँ? अब पहचान बताती हैं गोपियाँ कृष्णकी—

'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा'

तुम सम्पूर्ण शरीरधारियोंके प्रेष्ठ हो, आप ईश्वर हैं। अतिशय प्रियको प्रेष्ठ बोलते हैं। सबसे ज्यादा प्रेम किससे है? हे भगवान्! गौएं अपने बछड़ेसे उतना प्रेम नहीं करती थीं जितना प्रेम श्रीकृष्णसे करती थीं। दूध पिलाकर अपने बछड़ेको छोड़ दें, और जाकर श्रीकृष्णके सामने खड़ी हो जायँ! अच्छा, तबकी बात जाने दो, चमत्कारकी बात बताते हैं। अभी ऐसी-ऐसी कृष्णकी मूर्ति हैं जहाँ गाय स्वयं जाती हैं और खड़ी हो जाती हैं, और उसके थनसे दूध झराझर झर जाता है। माथेरामके पास एक शङ्करजीकी मूर्ति है, जहाँ गाय आकर शङ्करजीके ऊपर खड़ी हो जाती है और उसके थनसे दूध झर जाता है। ईश्वरकी पहचान कैसी की हमने? सुनो, कृष्ण जब वृन्दावनमें निकलते हैं, तो मोर नाचने लगते हैं, कोयल कूकने

लगती हैं, हरिण-हरिणियाँ अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंसे देखने लगती हैं, बछड़े और गाय प्रेमसे चरना बन्द कर देते हैं, वृक्षोंसे मधुक्षरण हो जाता है, नदियोंका बहना बन्द हो जाता है और वृक्ष फूल और फलसहित झुक जाते हैं! गोपियोंकी बात क्या कहें—

प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां—*'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्राणी।'* ईश्वरकी यह पहचान है कि संसारमें जहाँतक प्राणी हैं सबको वे प्यारे होते हैं। श्रीमद्भागवतमें यह प्रश्न उठा कि व्रजवासी लोग अपने बच्चोंसे इतना प्रेम नहीं करते, और नन्दबाबाके बच्चेसे इतना प्रेम करते हैं, क्यों? राजा परीक्षितने यह प्रश्न किया और इसका उत्तर शुकदेवजी महाराजने दिया कि अरे भाई, जितनी वस्तुएँ हैं सब अपने-आपसे प्रेम करती हैं। सबके शरीरोंमें जो अलग-अलग अहं-अहं-अहं फुर रहा है वह तो सबके शरीरोंमें अलग-अलग है परन्तु सबके अहंमें जो एक अहं है वही श्रीकृष्ण-प्यारेका अहं है इसलिए वह सभीको प्यारा है। वह प्यारेका भी प्यारा प्रेष्ठ है, परम प्रियतम है। गोपियाँ बोलीं कि तुम आत्मा हो, तुम ब्रह्म हो, तुम ईश्वर हो, तुम परम प्रियतम हो, तुम हमारे भोग्य हो और तुम्ही सबकी भोगती आत्मा हो, तुम्हीं सबके नियन्ता ईश्वर हो। तुम्हीं सबके परम प्रेमास्पद हो, प्रेमानन्दस्वरूप हो, और तुम्हीं सबके परम हितैषी और दयालु हो। सब धर्मोंका फल है तुमसे प्रेम होना और तुम कहते हो कि जाओ तुम धर्म, कर्ममें? हमारा देवता इन्द्र नहीं, तुम हो, हम अधिकारी धर्मकी नहीं प्रेमकी हैं, हमारा सङ्कल्प तुम्हारे साथ विहार है, हमारा प्रयोजन तुमको सुख पहुँचाना है। अरे, कुछ तो विचार करो! अर्थी होय, समर्थी होय, जानकार होय, अधिकारी होय, तब धर्मका उपदेश करना ठीक है।

धर्म नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मैं शिशु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मन्दरु मेरु कि लेंहि मराला॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी॥

लक्ष्मणजीने कहा—हे रामचन्द्र, मैं गुरु, पिता, माता किसीको नहीं जानता। मेरे तो माता, पिता, स्वामी, सब तुम्हीं हो। धर्मका, नीतिका उपदेश उसके लिए करो, जिसकी कीर्ति, भूति, सुगति प्यारी हो। मैं तो आपके स्नेहमें पला हूँ। भला कहीं हंस अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वतको उठाता है? धर्मका यह बोझ हमारे सिरपर नहीं उठाया जा सकता। हमारा हृदय तो प्रेमीका कोमल हृदय है। प्रेम कोमल है। यह स्वर्गप्रापक यज्ञयागादियुक्त धर्मानुष्ठानका बोझ सहन करनेयोग्य नहीं है। इसमें तो बस केवल प्रीति रहती है।

२६

श्रीकृष्णमें रति ही बुद्धिमानी है

(कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं......चिरादरविन्दनेत्र)

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

(श्रामद्भागवत, १०.२९, ३३)

गोपियाँ कहती हैं श्रीकृष्णसे कि तुम्हारे धर्मके निरूपणमें कोई त्रुटि नहीं। एक स्त्रीका धर्म है पति, पुत्र, सुहृद्की सेवा, उनको सन्तुष्ट रखना, पर उससे भी बड़ा धर्म है, परमेश्वरसे प्रेम। एक धर्म है, एक परमधर्म हैं। तापसे बचनेके लिए, पापसे बचनेके लिए, सामाजिक उच्छृङ्खलतासे बचनेके लिए, वासनाप्रेरित इन्द्रियोंके भोगसे बचनेके लिए, धर्मकी आवश्यकता है। नहीं तो ये वासनायें इन्द्रियोंके माध्यमसे ले जाकर गड्ढेमें गिरा दें। पापकर्म आकर नरकमें ले जाय। सब कुछ मनके अनुसार नहीं किया जा सकता। मन जिस चीजको कहे कि यह खा लो तो क्या खा लोगे? मन कहें कि यह कर डालों तो क्या कर डालोगे? मन कहेगा कि इससे बोल दो तो क्या बोल दोगे? एक नियन्त्रणकी आवश्यकता सबके जीवनमें होती है। एक ऐसी जगह है, सबके जीवनमें, जहाँ अपने संग्रहको, अपने भोगको, अपने कर्मको, अपने भावोंको रोकना पड़ता है, अगर किसीके जीवनमें ऐसी जगह नहीं है तो वह पशुसे भी गया-बीता है। इसीको धर्म कहते हैं। जीवनमें धर्मका होना आवश्यक है। अब परमधर्म यह है कि जो आप जहाँ बैठे हैं वहाँसे आपको उठाकर जहाँ पहुँचना चाहते हैं वहाँ पहुँचा देता है। दोषोंसे बचानेवाला है धर्म और आपको अपने इष्टदेवतक पहुँचा देनेवाला है परमधर्म। जैसे आपके घरकी दीवार गिरनेवाली हो तो उसकी मरम्मत करना, यह दूसरा कार्य है, और इसको बढ़िया रंग-रोगनसे सजाना यह दूसरा कार्य है। दोषका अपनयन दूसरी चीज है, और अपने इष्टदेवको मिला देना यह दूसरी चीज है।

अगर गोपियाँ अपने घरका काम करती हैं, पति, पुत्र आदिकी सेवा करती हैं तो उन्हें नरक नहीं होता, पाप नहीं लगता; पर पाप ना लगना, नरक न जाना दूसरी बात है और ईश्वरको प्राप्त करना दूसरी बात है। तो यह जो गोपियोंके हृदयमें भक्ति है, प्रीति है, वह ईश्वरको प्राप्त कराने वाली है। आप देखो, एक आदमी

सन्ध्यावन्दन रोज करता है। एक दिन जुआ खेलने लग गया, तो सन्ध्यावन्दन छूट गया और एक दिन समाधि लग गयी तो सन्ध्या-वन्दन छूट गया। सन्ध्या-वन्दन तो दोनों दशामें छूटा, पर दोनोंमें फर्क क्या हुआ? जिस दिन जुआके कारण सन्ध्यावन्दन छूटा उस दिन तो उसका पतन हुआ और जिस दिन समाधि लगनेसे सन्ध्यावन्दन छूटा उस दिन वह छूटना उसकी उन्नतिका हेतु हुआ। इसी प्रकार गृहस्थधर्म वैसे तो पापसे बचाता है, नरकसे बचाता है, मन और इन्द्रियोंको संयम सिखाता है, वासनाको मिटानेसे मुक्त करता है। परन्तु यदि भगवान्की भक्तिके कारण गृहस्थधर्म छूटता है तो वह उसकी उन्नतिका हेतु है। बोले—गृहस्थधर्म जिन देव, ऋषि, पितृ आदिके ऋणसे मुक्त करता है उसका क्या होगा? तो जो भगवान्के रास्तेमें चलता है वह किसीका ऋणी नहीं होता—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्। (११.५.४१)

मनुष्यके ऊपर देवताका, ऋषिका, भूत-प्राणियोंका, सबका ऋण रहता है। सूर्यकी किरणोंकी रोशनीमें आप देखते हैं परन्तु बदलेमें सूर्यको क्या देते हैं? यह रोज ऋण चढ़ता है। पृथ्वीपर पाँव रखते हैं, शौच-लघुशंका जाते हैं, सोते हैं लेकिन पृथ्वीको कुछ नहीं देते तो उसका भी ऋण है। यह देवऋण है। ऋषियोंके बनाये हुए ज्ञानसे लाभ उठाते हैं और उनको देते कुछ नहीं हैं तो यह ऋषि-ऋण हुआ। दौड़कर चलते हैं या खेतको जोतते-बोते हैं तो रोज हजारों कीड़े मारते हैं उनका ऋण चढ़ता है। यह भूतऋण है। अपने बड़े-बूढ़े, माता-पिताका ऋण है कि माताने हमको पेटमें धारण किया, अपनी छातीका दूध पिलाया, अङ्गुली पकड़कर चलना सिखाया। यदि बच्चा समझे कि माँ-बापका हमारे ऊपर कोई ऋण नहीं है तो वह बेवकूफ है ना! यह पितृ-ऋण है। अपने गुरुजनोंका कर्ज हुआ कि जिसने पढ़ाया। तो इन सब ऋणोंको चुकाना एक समझदार मनुष्यका कर्त्तव्य है। भले उनका बिल न आवे, लेकिन जो समझता है कि हमारे ऊपर कर्ज है उसको तो चुकाना चाहिए। तो इन्हींको चुकानेके लिए गृहस्थधर्म है लेकिन अगर यह मनुष्य सर्वात्मना भगवान्की शरणमें चला जाये, तो फिर वह न किसीका कर्जदार है और न किसीका गुलाम है। वह सबकी गुलामीसे बच गया और सबके कर्जसे बच गया। क्योंकि वह तो राजाके पास शरणमें पहुँच गया। उसका अपना खास आदमी हो गया। पहले राजा लोग ऐसा करते थे कि कोई शरणमें आ जाय तो उसकी ओरसे राजा लोग शरणागतको भय देनेवालेसे लड़ जाते थे। आपने सुना होगा अर्जुनने एकको मारनेकी प्रतिज्ञा कर दी थी, और सुभद्राने उसको बचानेकी प्रतिज्ञा

कर दी थी, और फिर तो श्रीकृष्ण अर्जुनकी ओरसे लड़े परन्तु सुभद्राने कहा कि कृष्णसे युद्ध करके भी शरणागतकी रक्षा करेंगे। सुभद्रा शरणागतकी रक्षा करनेके लिए श्रीकृष्णसे लड़ गयी। तो पहले शरणागत-वात्सल्यको बड़ा भारी गुण मानते थे।

ये गोपियाँ धर्म छोड़कर अधर्ममें नहीं गयी हैं, धर्म छोड़कर परम-धर्ममें गयी हैं। वे पतिको छोड़कर किसी पराये आदमीके पास नहीं गयीं हैं, परमेश्वरके पास गयी हैं, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए। इसलिए गोपियोंपर कलङ्क तो लगाया ही नहीं जा सकता। बोलीं—अब हमको धर्मका उपदेश करना, माने नीचेकी बातका उपदेश करना ठीक नहीं है। मैं पहले-पहल दिन स्कूलमें पढ़नेके लिए गया तो हमारे अध्यापकने एक लकड़ीपर खड़ियासे लिखा क, ख, ग, घ। बोले—इसको लिखकर ले आओ। उन्होंने तो क, ख, ग, घ लिखा था, लेकिन मैंने वे अक्षर तो लिखेही और भी लिखे। य, र, ल, व, ह तक लिखकर ले गया उनके पास। बोले—अच्छा मालूम हो गया कि तुमने आगे पढ़ा है। अच्छा और बताओ तुमने कहाँ तक पढ़ा है? तब मैंने उनको बताया कि हमको श्लोक पढ़ना भी आता है, हमें चौपाई पढ़ना भी आता है। बोले—ठीक है, अब उसके आगे पढ़ायेंगे। यदि वे कहते कि क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ फिर लिखो तो हमारे पढ़े हुएको ही तो पढ़ाते, पिसे हुएको पीसना पड़ता, चबाये हुएको चबाना पड़ता, 'रिवीजन' होता। तो यदि गोपियोंको यह कहा जाय कि तुम घर जाकर वही धर्म पालन करो, तो उनके लिए तो वह पिष्टपषण ही होता। वे तो इस धर्मसे ऊपर उठ चुकी हैं। इसलिए उन्होंने कहा—अरे धर्मशास्त्रीजी, आपने धर्मके अनुसार बिल्कुल ठीक कहा। लेकिन—'**अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे**' हमारे रोम-रोमके स्वामी हो तुम, हमारे प्राणनाथ हो तुम, इसलिए तुम हमारी बुद्धिके सञ्चालक हो, हमारे प्रेष्ठ आत्मा हो। अब तुम्हारे पास धर्मकी क्या चर्चा? मेढ़-मर्यादा तो वहाँ बनती है जहाँ खेतके या घरके मालिक दो होते हैं। हम तो बाबा, सब दीवार तोड़कर, सारी मर्यादा छोड़कर तुम्हारे साथ मिल गयीं, अब हमारे लिए धर्मका प्रश्न कहाँ है?

प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा—सम्पूर्ण जगत्के प्राणियोंके परम प्रियतम, बन्धुरात्मा-बन्धु और आत्मा तुम ही हो। बन्धुरात्मामें दो जने हुए—बन्धु और आत्मा। परन्तु यदि एक करना हो तो—'बन्धुरात्मा= बन्धुः आत्मा शरीरं मनोगात् च यस्य—बन्धु माने सुन्दर है आत्मा अर्थात् शरीर जिसका, माने श्रीकृष्ण। गोपी कहती है कि तुम्हारा तो तन भी सुन्दर है, मन भी सुन्दर है। हम

जानती हैं तुम्हारा हृदय हमारे प्रति प्रेमसे भरा है और हम तुम्हारे प्रेममें अपने-आपको दे चुकी हैं, अब ये बीचमें कोई मेढ़-मर्यादा क्यों, चहारदीवारी क्यों?

देखो, संसारमें सबसे बड़ा बुद्धिमान् कौन है? सब अपने आपको बुद्धिमान् ही समझते हैं। अपनी अकल और दूसरेका धन, सब लोग ज्यादा समझते हैं। परन्तु असलमें वही पुरुष बुद्धिमान् है जिसकी रति संसारमें न होकर श्रीकृष्णमें, परमेश्वरमें रति हो जावे। यह गोपियोंका मत है। हम एक पुरुषसे प्रेम करके पैसा पा सकते हैं, इज्जत पा सकते हैं, अपनी तारीफ सुन सकते हैं; मीठी आवाज सुन सकते हैं, उसका स्पर्श पा सकते हैं, उसका रूप देख सकते हैं, उसका ग्रहण-त्याग सब कर सकते हैं। उसको अपने भोगका साधन बना सकते हैं। पूरा हो गया तुम्हारा अधिकार! परन्तु संसारमें इन्द्रियोंके भोग्य विषय ही समाप्त हो जाते हैं और ईश्वरसे जो प्रेम होता है वह इन्द्रियोंको भोग-वासनासे छुड़ानेके लिए होता है। जो राग है, द्वेष है, मोह है, बन्धन है, दुःख है, जो संसारके विषय-भोगमें लगा ही रहता है, इस दुःखको सर्वात्मना मिटानेके लिए ईश्वरसे प्रेम है। ईश्वर कभी मरेगा नहीं। अगर तुम ईश्वरके साथ ब्याह कर लो तो तुमको विधवापनका दुःख कभी नहीं होगा। कहो कि यह स्त्रियोंके लिए तो ठीक है, परन्तु पुरुषोंके लिए? अरे, तुम दाढ़ी-मूँछ होनेसे नहीं समझना कि तुम मर्द हो; जिसको विषय-वासनाके कारण नीचे आना पड़ता है, उसमें क्या पुरुषत्व है? तो जब तुम्हें भोग्य ही बनना है, तो ईश्वरके भोग्य बनो न! इससे क्या होगा कि संसारमें जितने दुःख हैं उनसे बच जाओगे, जन्मसे बच जाओगे, संयोग, वियोग, मृत्यु, सबसे बच जाओगे।

अरे, क्या इन्द्रियोंका भोग ही सब कुछ है? सीताराम कहो। देख लिया हजारों भोग भोगकर संसारमें! भोगका अन्तिम रूप ग्लानि है, ग्लानिके सिवाय और कुछ नहीं है। देखो, ईश्वरका प्रेम कैसा? जैसे राष्ट्रसे प्रेम करते हैं तो भाई-भतीजेका पक्षपात छूट जाता है, और विश्वसे प्रेम करते हैं तो राष्ट्रीयताका मोह छूट जाता है, जब ब्रह्माण्डसे प्रेम करते हैं तो धरतीका मोह छूट जाता है, और जब अनन्तों ब्रह्माण्डके अधिष्ठान ईश्वरसे प्रेम करते हैं तो ब्रह्माण्डका व्यामोह छूट जाता है। होने दो सृष्टि, होने दो प्रलय!

तो बुद्धिमानी इसमें है कि आप खोटे सिक्केमें ना फँसें। हमने सुना, झूठ कि सच यह नहीं मालूम। सुना कि बम्बईमें एक सौदा हुआ, नम्बर दोका सौदा था, रकम बीस लाख थी। जब बीस लाख रुपया आया तो आते ही उसे रख दिया गया, बण्डल-बण्डल देख लिए गये। सौदा हो गया, माल बिक गया, उसपर दूसरेका कब्जा हो गया। जब बण्डल निकाले गये तो उसमें चौदह लाख नकली नोट थे। तो

बुद्धिमानीकी बात यह है कि नकलीमें न फँसें। बुद्धिमानीकी दूसरी बात यह है कि दु:ख अपने घरमें ना आने दें। मान लो कि एक मेहमान अपने घरमें ऐसा आ गया जिसको हम नहीं चाहते; तो अब तुमको ऐसी अक्ल चाहिए कि उस मेहमानको खिलाकर-पिलाकर कैसे भी चलता कर दें। मेहमान आ गया तो आ गया लेकिन अपने दिलमें मेहमान न बनावें; उसमें हम स्वतन्त्र हैं। कोई बुद्धिमान् कितना भी होवे लेकिन यदि दिन भर रोवे, दु:खी हो, तो वह बुद्धिमान् नहीं है। तुम्हारी बुद्धि किस काम आयी, अगर तुम धोखेसे नहीं बचे, नकलीसे नहीं बचे, मरनेवालेसे नहीं बचे! बुद्धि असलमें वही है जो हमें ईश्वरके साथ जोड़ती है। ईश्वरके साथ जुड़नेपर अज्ञान मिट जाता है मोह मिट जाता है, राग-द्वेष संसारका मिट जाता है, सांसारिक दु:ख जो मनमें आता है वह मिट जाता है।

अनदेखे अनमिले साजनसे जो प्रीति है,
वह दुख मिटाने की बड़ी भारी बुद्धि है।

चुनौती देते हैं हमारे महात्मा लोग—

पातालं व्रज याहि? वासवती आर्द्रहृदां मनसां।

पण्डितराज जगन्नाथ बोलते हैं कि चाहे पातालमें जाओ, चाहे इन्द्रपुरीमें जाओ, चाहे सुमेरु शिखरपर चढ़ो, चाहे सात समुद्र पार जाओ, लेकिन तुम्हारी वासना तुम्हें सुखी नहीं होने देगी। तुम्हारे साथ लगी है मनमें चिन्ता, शरीरमें लगा है रोग-बुढ़ापा, शिरपर खड़ी है मौत। यदि तुम अपना भला चाहते हो, अपना कल्याण चाहते हो, तो आओ—आओ! हमारी पाँतमें शामिल हो जाओ। **श्रीकृष्णेति रसायनं रसय**—ये श्रीकृष्ण रसायन हैं, दूसरे जो संसारके परिश्रम हैं वे तो व्यर्थ हैं। संसारमें वियोग लगा है, रोग लगा है, मृत्यु लगी है, इसमें प्रेम करनेकी यदि कोई वस्तु है तो एक परमेश्वर है।

गोपी बोलती है कृष्णसे—'**कुर्वन्ति त्वयि रतिं कुशलाः**' जो कुशल हैं वे तुमसे प्रेम करते हैं; रति करते हैं। शास्त्रीय भाषामें रति शब्द बड़ा उत्कृष्ट होता है। रसके पूर्व जो चित्तकी अवस्था होती है उसको रति बोलते हैं। रति भाव है। हमारा मनोविज्ञान दूसरी तरहका है; हम उसमें चेतन मन और अचेतन मनका हिसाब नहीं करते हैं। हमारे मनोविज्ञानमें तो सङ्कल्पात्मक मन, विकल्पात्मक मन, निश्चयात्मक मन, अहंक्रियात्मक मन, सर्वातीत मन, आदि मनकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। भाव-विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, व्यभिचारी भाव, स्थायी भाव, ये सब मनमें होते हैं रसोदयके लिए। जैसे किसीको वैराग्यमें मजा आवे, तो उसे शान्त रस

अनुभवमें आवेगा, ***'वैराग्यरागरसिको भव'***—विलक्षण है। निर्वेद जहाँ रति है, स्थायी भाव जहाँ निर्वेद है, वहाँ शान्तरसका उदय होता है। स्त्रीविषयक जहाँ रति है, और पुरुषविषयक जहाँ रति है, वहाँ शृंगाररसका उदय होता है। **'कुर्वन्ति त्वयि रतिं कुशलाः'** रसिकका रस कहाँसे आता है, मजा कहाँसे आता है, सवाल यह है। तुमको मजा चाट खानेमें आता है? शरीरसे शरीर सटानेमें मजा आता है? जब आँखमें आँसू आते हैं तब भी मजा आता है? अपने मजाको तुमने कहाँ डाल दिया है? अपने मजाको पराये घर मत फेंको। जो कुशल पुरुष होते हैं वे अपनी रति कहाँ रखते हैं? **त्वयि रतिं कुर्वन्ति।** वे केवल श्रीकृष्णसे रति करते हैं। उनकी चमक-दमक, हँसी सब उन्हींके लिए है। उन्हींके लिए वे चमकते हैं, उन्हींके लिए दमकते है, और उन्हींके लिए हँसते हैं, उन्हींके लिए सिसकारी भरते हैं।

कुशल बुद्धिका यह फल है कि हमारी प्रीति श्रीकृष्णसे जुड़े। नहीं तो अगर कृष्णसे, ईश्वरसे नहीं जोड़ेंगे तो दुनियामें कहीं न कहीं फँसेगी। ये कन्था (गुदड़ी) तो पुरानी भी हो जाती हैं, नये कपड़ेसे न सिले तो पुरानेसे भी सी लेते हैं मगर यह जो दिलकी गुदड़ी है वह अगर जवानसे न जुड़े तो किसी बुड्ढेसे भी जुड़ जाती है। इसीसे उपनिषद्में यही आया है कि—***यं सर्वेनवन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च***— चाहे कोई मुमुक्षु हो चाहे ब्रह्मवादी हो, उसको अपने हृदयमें जो रति है उस रतिको भगवान्के साथ जोड़ना चाहिए। यह व्यक्तिके हृदयका सवाल है, तत्त्वका सवाल नहीं है। इसलिए जितने बुद्धिमान् पुरुष हैं वे आपमें रति करते हैं और इसीको उल्टा कहें तो? कि **'ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति ते कुशलाः'** जो तुमसे प्रेम करते हैं वही बुद्धिमान् हैं। माने तुम्हींसे प्रेम करना और बुद्धिमान् होना—दोनों एक ही बात है।

भगवान्से प्रेम करनेमें क्या सुविधा ऐसी है? तो गोपी कहती हैं—

स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! तुम प्यार करनेवालेका नित्यप्रिय अर्थात् परमप्रेमास्पद आत्मा हो। **स्व आत्मन्!** भागवतमें वर्णन आया है। गोर्वधन पहाड़की चोटीपर बछड़े चर रहे थे। छठीकराके पास, वृन्दावनसे छः किलोमीटर है। जब गायोंने देखा कि हमारे बछड़े चर रहे हैं, तो दौड़ीं—सिर उठाके, पूँछ उठाकर, दो पाँवपर; ग्वालोंने रोकनेकी कोशिश की, नहीं रुकीं। बड़ा क्रोध आया ग्वालोंको कि आज गायोंको पीटें, गये तो देखा गायें अपने बड़े-बड़े बछड़ोंको दूध पिलाने लगी हैं और ग्वालोंने स्वयं जब अपने बच्चोंको देखा तो गोदमें लेकर उनको प्यार करने लगे, आँसू आ गये आँखमें और श्रीकृष्णजी एक ओर खड़े। बलरामजीने कहा—

यह क्या माया है लाला ? कन्हैया, यह क्या खेल है कि तुम यहाँ खड़े हो और गौएँ अपने बछड़ोंको प्यार कर रही हैं, ग्वाले अपने बच्चोंको प्यार करते हैं, तुम्हारे रहते ये क्या हुआ ? देखो, बलरामजी ठीक प्रश्न करते हैं; सामने हों भगवान् और प्यार करें किसी दूसरेसे ? बोले—माया है। श्रीकृष्णने कहा—हाँ दाऊ दादा ! यह माया है। क्या माया है कि असली बछड़े और असली ग्वाले तो ब्रह्माजीके प्रपंचमें हैं, और ये तो मैं हूँ, ये सब ग्वाले, सब बछड़े मैं हूँ, ये सब मुझसे प्रेम कर रहे हैं। तो राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज, यह क्या बात है कि सब लोग कृष्णसे प्रेम करते हैं ? तो बोले—कृष्ण पराये किसीके नहीं हैं, सबके अपने प्रिय आत्मा हैं। श्रीकृष्णमें असत्पना नहीं है, मरनेवाला नहीं हैं, श्रीकृष्णमें जड़ता नहीं है, श्रीकृष्णमें दु:ख नहीं है, श्रीकृष्णमें दूरी नहीं है, श्रीकृष्णके मिलनेमें देरी नहीं है, श्रीकृष्ण कोई पराये नहीं हैं। सबसे अधिक प्रेम हमारे अपने-आपसे ही होता है। **स्व आत्मन नित्य प्रिये।**

नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

बोले—भाई, पतिसे प्रेम करो, पुत्रादिसे प्रेम करो। कई पुरुष जो यहाँ तो सुनते हैं कथा और घर गये तो अपनी स्त्रीको डाँट दिया कि तुम कथामें मत जाओ क्योंकि स्वामीजी कहते हैं कि पति-पुत्रादिसे प्रेम मत करो, भगवान्‌से करो। फिर तुम क्यों सुनते हो ? तो कहा—हम सुनकर आते हैं तो हमारा कुछ नहीं बिगड़ता, लेकिन अगर तुम सुनोगी, तो घर बिगड़ जायेगा। यह संसारके व्यवहारको बिगाड़नेवाली बात नहीं है। यह तो दूसरेका जो मोह है उसको भगवान्‌की ओर फेरनेके लिए, बात है। ये पति-पुत्रादि जो सगे-सम्बन्धी हैं, एक दिन उनसे वियोग होगा। ये छूटें तो इनसे वियोग होगा और वे छूटें तो वियोग होगा और जब वियोग होगा तो दु:ख भी होगा ही। हमारी दृष्टिमें कई लोग हैं, जिनका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम है, प्रियतम भाव है। कृष्णकी भक्ति हृदयमें आनेके बाद उनके प्रिय-से-प्रिय व्यक्तिका संसारसे वियोग हो गया लेकिन हमने देखा कि उनके हृदयकी ऐसी तैयारी है, जैसे एक साधुकी तैयारी होती है कि भिक्षा मिलेगी तब भी ऐसे रहेंगे, और नहीं मिलेगी तब भी ऐसे रहेंगे। समताकी यह तैयारी उन माताओंके हृदयमें आ गयी है, कि सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार, नातेदार बहुत बढ़िया हैं, ईश्वरके रूप हैं। और अगर ईश्वर उनको अपनी गोदमें ले ले तो ईश्वर तो हमारा है। वे तो— 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' अगर ईश्वरके अलावा किसीसे रिश्ता जोड़ोगे तो भोगके लिए जोड़ोगे, उनसे कुछ पानेके लिए जोड़ोगे, पर कहीं-न-कहीं देनेवाला ऐसे स्थानपर पहुँच जायेगा, जहाँ वह ना कर देगा। एक ईश्वर ही ऐसा है

जो अपनेको देनेमें ना नहीं करता। दुनियामें सब दुःख देते हैं, केवल ईश्वर ही ऐसा है, कि उससे प्रेम करो तो दुःख कभी नहीं मिलेगा—

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र।

हे परमेश्वर! श्रीकृष्णके लिए गोपियाँ बोलती हैं—तुम परमेश्वर हो। परमा जो शक्ति है उसके स्वामी हो। अथवा परम ईश्वर, ईश्वरके भी ईश्वर प्राणेश्वर, हृदयेश्वर हो। और ईश्वर माने है उपाधिसे असंश्लिष्ट होना—जो कभी अन्तःकरणसे बन्धनमें नहीं आता, जो कभी भावनाओंके वशीभूत नहीं होता, जो अपने आनन्दस्वरूपमें, शान्त स्वरूपमें अक्षेप रहता है; उसका नाम परमेश्वर है। हे परमेश्वर! '**तत् नः प्रसीद**' हम लोगोंके प्रति तुम प्रसन्न हो जाओ। हमारा अगर मुँह लटक गया है तो तुम्हारा भी तो मुँह लटक गया है! अच्छा मान लो, हमने आँख नीची कर ली हैं पर मुस्कुराओ तो सही, **प्रसीद**। हमको तुमने लौटनेको कहा पर अपनेको तो नहीं कहा? तुम तो यहीं रहोगे। हमको लौटनेको कहा तो हम तो रोती हैं, लेकिन तुमको तो यहाँ रहना है, तुम तो मुस्कुराओ। '**प्रसीद**' तुम खुश होकर हमारी आँखोंके रास्तेसे हमारे दिलमें अपना जो प्रसन्नरूप है उसको प्रकट करो!

'**मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र**' हे कमलनयन! माने इतनी कोमलता है तुम्हारी आँखोंमें, इतना रसीलापन है तुम्हारी आँखोंमें, और तुमने हमारे हृदयमें एक आशाकी लता लगायी है। तुमने हमारे हृदयमें आशाका ख़ेत बनाया, उसमें बीज बोया, उसको अंकुरित किया, सींचा, पल्लवित किया, पुष्पित किया, फलित किया। ये आशाकी लता अब लहलहा उठी, फूल लग गये, फ़ल लग गये। तो विधि तो यह है, कायदा तो यह है कि अपने हाथके लगाये हुए विषकी बेलको भी नहीं उखाड़ना चाहिए। फिर यह प्रेमलता जो हमारे दिलमें तुम्हारी ही लगायी हुई है उसको क्यों उखाड़ना चाहते हो। अब तो इसके रसास्वादनका समय आया है। तुम इसको काटने क्यों जा रहे हो? यह तुम्हारी रसीली आँखोंके लिए, ये तुम्हारे कोमल हृदयके लिए, ये तुम्हारे प्रेमके लिए, ये तुम्हारे अनुरूप नहीं है। अब रही बात जानेकी! तो पाँव हमारे जल गये, रास्ता घरका भूल गया, अब लौटानेमें तो तुम भी समर्थ नहीं हो; तुम कहो कि लौट जाओ तो तुम्हारी यह आज्ञा हम कैसे पालन करें, सामर्थ्य ही नहीं है पालन करनेकी!

२७

गोपियोंके न लौट पा सकनेकी बेबसी और मर जानेके परिणामकका उद्घाटन

(चित्तं सुखेन....पदवीं सखे ते)

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९, ३४, ३५)

ये जो गोपियोंके वचन हैं श्रीकृष्णके प्रति, ये बोले गये हैं सीधे-साधे? परन्तु गोपियोंके भेदके समान ही-जैसे हजारों प्रकारकी गोपियाँ हैं, और हजारों गोपियोंके मनमें हजारों भाव हैं, वैसे ही—उनके एक-एक वचनमें हजार-हजार भाव भी हैं। गोपी कहती हैं—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्। तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

यह मालूम पड़ता है कि बहुत बुद्धिमान् है यह गोपी! श्रीकृष्णसे प्रेम करनेमें पहले श्रुतिका प्रमाण दिया था—

देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।

वेदमें यह बात कही गयी है, कि जिनका परमप्रेमास्पद परमेश्वर है, जैसे वे अर्थ, धर्म, काम, सबकी इच्छा छोड़ करके परमेश्वरसे प्रेम करते हैं और परमेश्वर उनका परित्याग नहीं करते वैसे हम भी सर्व विषयोंका त्याग करके तुम्हारी शरणमें आयी हैं। इसलिए तुम्हारे द्वारा हमारा त्याग उचित नहीं है। क्या रखा है विषयोंमें? ये तो आज हैं कल चले जायेंगे। ये संसारके भोग चार दिन ज्यादा रहें, चार दिन कम रहें, छोड़कर ये जायेंगे जरूर। जैसे भोग नष्ट हो जाते हैं, इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जाती है, मनमें रुचि नहीं रहती है, शरीर सूख जाता है, चाहे भोगनेवाला मरे, चाहे भोगे जानेवाला मरे, लेकिन संसारके विषयमें वियोग जरूर है। संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो हमेशा अपने पास रहे। जब एक दिन छूटेंगे ही तब जान बूझकर क्यों नहीं छोड़ देते? अगर संसारके विषय तुम्हें छोड़कर जायेंगे, तो

तुमको बड़ा दु:ख होगा, परन्तु अगर तुम छोड़कर चले गये तो छाती ठोंककर भरी सभामें खड़े होकर कह सकोगे कि मैंने छोड़ दिया, तुमको छोड़नेका सुख होगा, त्याग-वैराग्यका सुख मिलेगा, मालूम होता है कि यह गोपी बहुत विदुषी है, उसने धर्मका निर्णय दिया—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।

धर्मकी दृष्टिसे देखो तो अन्त:करणकी शुद्धि धर्मका फल है। भक्तिका फल है—अन्त:करणकी द्रवता, अन्त:करणकी भगवदाकारता।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

सबके असली प्यारे तुम हो, अगर तुमसे प्रेम नहीं किया तो प्रेम गलत रास्तेपर बह गया। किसीके घरमें आया गङ्गाजल, लेकिन बदकिस्मती ऐसी, दुर्भाग्य ऐसा, कि फूटे बर्तनमें रख दिया; सारा जल बह गया। प्रेम अमृत है, यह इधर-उधर बहानेके लिए नहीं है, यह तो ईश्वरको तृप्त करनेके लिए है। अपने प्रेमसे परमेश्वरको तृप्त कर दो! प्रेम यदि पति-पुत्रादिसे किया तो दु:ख अवश्यम्भावी है—'**पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।**'

फिर गोपी बोली कि देखो, तुमने अपने रसीले बड़े-बड़े सुन्दर-सुन्दर नेत्रोंसे प्रेम रसकी वर्षा करके हमारे हृदयमें जो आशा-लता थी, उसका पोषण किया, और हमारा मन चारों ओरसे हटकर तुम्हारे मनमें लग गया। अब उस प्रेमलताको काटो मत। इसके बाद गोपीने कहा—'**कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः**' संसारमें बुद्धिमान् होनेका लक्षण क्या है? आत्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, इस बातको न जाननेके कारण, माने अज्ञानसे, तीन बातें हमारे जीवनमें आयी हैं—(१) दु:खी होना; अपने आनन्दस्वरूपको नहीं जानते, इसलिए दु:खी होते हैं? (२) अपने चेतनस्वरूपको नहीं जानते इसलिए जगह-जगह बेवकूफ बनते फिरते हैं। हीरे-मोतीसे प्रेम किया, सोना-चाँदीसे प्रेम किया, जड़से प्रेम किया, यह सब बेवकूफी है। और (३) अपने सत्-स्वरूपको नहीं जानते, इसलिए मौतसे डरते हैं। ये अज्ञानके तीन बच्चे हैं। जितने कुशल हैं, प्रबुद्ध हैं, बुद्धिमान् हैं, पण्डित हैं वे—***इति मत्वा भजन्ते माम् बुधाः भावसमन्विताः*** भगवान्‌से प्रेम करते हैं। वैसे भगवान् **स्व आत्मन् नित्यप्रिये**—ममतास्पद और अहंतास्पद दोनों हैं। दुनियामें दोसे ही प्रेम होता है। ***मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई,*** यह लोगोंके बीचमें, ममतास्पदके रूपमें कृष्णको अनुभव करना है और जरा आँख बन्द करके भीतरकी ओर देखें कि हमारे शरीरमें, कलेजेमें क्या छिपा है? बोले—यही दिल बनकर धड़क रहा है, वही साँस बनकर चल रहा है,

हमारा प्यारा ही मौत बना है। ज्ञानी महापुरुष तो 'मैंके' रूपमें परमात्माका ही अनुभव करते हैं। सन्त महापुरुष तो मैं और मेरे दोनोंके रूपमें परमात्माका अनुभव करते हैं। दोनों कुशल हैं। **स्व आत्मन् नित्यप्रिये** उससे हमेशा ममता कर सकते हो, उससे हमेशा प्रेम कर सकते हो क्योंकि वह कभी मरनेवाला तो है नहीं, वह तो तुम्हारे दिलमें बैठा है। ये जो संसारके सम्बन्ध हैं सो बाबा आर्त हैं—***'अतोऽन्यद् आर्तम्'*** यह उपनिषद्में कहा है।

गोपियाँ कहती हैं—इसलिए कृष्ण! संभल जाओ, मुस्कुराओ। हम समझ-बूझकर तुम्हारे पास आयी हैं। यह मत समझना कि यह प्रमाद है, यह तो धर्मानुकूल है, शिष्टाचारसे अनुमोदित है। धर्मके लिए चार चीजका होना आवश्यक है : श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मशुद्धि। स्वयं श्रुति, श्रुतिसे अविरुद्ध स्मृति, स्मृतिसे अविरुद्ध सदाचार और सदाचारसे अविरुद्ध आत्मशुद्धि। धर्ममें ये चार प्रमाण होते हैं। मनुजीका वचन है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः ततस्तत् प्रयतात्मनः।
एष चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥

गोपियोंने कहा—सुनो कृष्ण! धर्म विधिमें हमारी क्या हालत है। अपनी हालत यह है कि सदाचार तो यह है कि विद्वान् लोग तुमसे प्रेम करते हैं। और स्मृति यह है कि सब धर्मोंका परम तात्पर्य है श्रीकृष्णसे प्रेम होना और श्रुति यह है कि सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग करके परमात्माको प्राप्त करो; यज्ञ, दान, तप, व्रत, सबका फल यही है। अब रही अपनी रुचि, तो रुचि देखो—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

सच्ची बात बताती हैं कि तुमने हमारा चित्त हर लिया है। एक श्लोक आपने सुना होगा। उसमें कहते हैं— अरे ओ बटोहियो! यमुना किनारे मत जाना। क्यों कि वहाँ एक बड़ा धूर्त काला डाकू रहता है। अरे बाबा, आवेगा तो भिड़ेंगे उससे? बोले भिड़ोगे क्या, वह तो दूर खड़ा रहता है, उसके पास ऐसा जादू है कि आँख मटकाकर, हाथका इशारा करके, कमर टेढ़ी करके, पाँवका नूपुर बजाकर, बाँसुरी बजाकर लूट लेता है। बोले—क्या लूटेगा? कुछ होय ना हमारे पास तब लूटे! बोले—ऐसी-वैसी चीज वह थोड़े ही लूटता है, हीरा-मोती लूटनेवाला नहीं है। वह तो चित्त-वित्त लूटता है। नवद्वारवाली शरीर-नगरीमें, हृदयकी मञ्जूषामें, जो चित्तका हीरा-रत्न छिपाया हुआ है, उसको निकालकर ले जाता है और बिलकुल

हाथ नहीं लगाता। उसके पास जादू है महाराज! सन्दूक खुले नहीं, और उसमेंसे हीरा भाग जाय! ऐसा है वह, मत जाना यमुना किनारे!

एक फूँक मारी बाँसुरीने और चित्त-वित्त गायब। यह जो श्रीकृष्णके मुँहमें बाँसकी नली है न, उसीका नाम तो बाँसुरी है, वह तो लोगोंके कलेजेमें आग लगानेके लिए है।

चित्तं सुखेन भवतापहृतं। सुखेन अर्थात् **अनायासेन।**

सुखेन माने बिना श्रमके। घरमें ना दीवार फोड़नी पड़ी, ना ताला तोड़ना पड़ा, ना किवाड़ी खोलनी पड़ी, ना खिड़कीपर चढ़ना पड़ा, ना सन्दूक खोलनी पड़ी, इनको कोई मेहनत परिश्रम नहीं करना पड़ा और हमारा चित्त लुट गया!

सुखेनका दूसरा अर्थ क्या है—'**सुखेन भवता**' हमने देख लिया दुनियामें तुम्हारे सिवाय और कोई सुख नहीं है।

सुखस्य रूपेण सच्चिदानन्दात्मत्वेन भवता

अरे बाबा, होगा कोई सच्चिदानन्द परमात्मा, जिसकी चर्चा वेदान्ती लोग किया करते हैं। हमारे तो परमानन्द तुम हो। तुमने आनन्द देनेके बहाने हमारा सुख तो चुरा लिया। यह चित्तकी चोरी क्या है? यह कि अब हमारी आँख दूसरेको देखना पसन्द नहीं करती। हमारा मन दूसरेको सोचना पसन्द नहीं करता, हमारा कान दूसरेका सुनना पसन्द नहीं करता, हमारी त्वचा दूसरेको छूना पसन्द नहीं करती। '*सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वकामाः*'— जो रस लेना हो, कृष्णसे लो, जो गन्ध लेनी हो तो कृष्णसे लो, जो शब्द सुनना हो कृष्णकी सुनो, जिसको स्पर्श करना हो कृष्णका करो। हमारा चित्त लुट गया, अब हमारे कामका नहीं रहा।

बोले—अरी गोपियो! तुम जन्मसे ऐसी ही थीं। बोलीं-नहीं महाराज—'**यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये**' हमारा मन पहले घरके काममें लगता था। हमने दूधका दही बनाना सीखा था, मक्खन निकालना सीखा था, घर लीपती थीं, गाय दुहती थीं, माँ-बापकी सेवा करती थीं, घरको सजाती-सँवारती थीं, अपना शृङ्गार करती थीं, बड़े मजेसे अपने घरमें रह रही थीं, लेकिन तुमने बीचमें सब गड़बड़ फैला दिया, अब तो ऐसा लगता है कि तुम्हारे सिवाय कोई सुख ही नहीं है। अब हमारे जीवनसर्वस्व हो तो तुम, हमारे पथ-प्रदर्शक हो तो तुम, हमारे स्वामी हो तो तुम, हमारे सखा हो तो तुम, हमारे प्रियतम हो तो तुम। गड़बड़ा दिया मामला तुमने! पहले हमारा मन घरके काममें ठीक-ठीक लगता था, हमारे हाथ घरका सब काम कर लेते थे, ये बेकार नहीं थे। तुमने चित्त खींच लिया। माने ज्ञानशक्ति खींच ली, नहीं तो किसी वेदान्ती गुरुके पास जाते, और तत्पदार्थ

त्वंपदार्थ, वाक्यार्थ, लक्ष्यार्थ, उपाधि, उपहित, हेतु-दृष्टान्तका श्रवण करते और अपने को ब्रह्म जानते, मस्त रहते। यह रातके समय घर-द्वार छोड़कर, भागकर, तुम्हारे पास आनेकी तकलीफ क्यों उठानी पड़ती? तुमने हमारा चित्त ही तो लूट लिया, ज्ञानशक्ति हमारी लूट ली!

बोले—अच्छा बाबा, ज्ञानशक्ति लूट ली गयी, तो हाथ-पाँव तो है, घरमें ठीक-ठीक काम करो। तो बोली—'**किं करवामि**' ये हाथ पहले घरका ठीक काम करते थे, इनसे हम सेवा करती थीं। हमारे घरमें हमने बद्रीनाथ महाराजको धर रखा था, घरमें नारायण थे, एकने कहा हमारे घरमें शङ्करजी महाराज थे, हम शालिग्रामकी पूजा करती थीं। नारायणकी पूजा करती थीं। हम हाथसे सेवा करती थीं। लेकिन महाराज, तुमने यह क्या किया, हमारी क्रियाशक्ति भी हर ली, हम पूर्वा भक्ति करनेयोग्य नहीं रहीं, हम तो परिचर्या, पूजा, सेवा करने लायक भी नहीं रहीं। किसी कामका नहीं छोड़ा, माँकी सेवा गयी, बापकी सेवा गयी, भाईकी सेवा गयी, पतिकी सेवा गयी, पुत्रकी सेवा गयी, घरमें ईश्वरकी सेवा थी सो छूटी। धर्म-सेवा छूटी, गृह-सेवा छूटी; अरे, तुमने तो पागल बना दिया बाबा, अब न बुद्धि काम देती है और न हाथ-पाँव काम देते हैं।

अच्छा गोप्रियो! देखो, यह तो थोड़ी देरके लिए ऐसा हुआ है, घबड़ाओ नहीं, कभी-कभी बाँसुरी सुनकर ऐसा हो जाता है, आदमीके मनमें ऐसा वेग कभी-कभी आ जाता है, इसमें घबड़ाना नहीं चाहिए। घरमें जाकर सो जा, आनन्दसे, सब ठीक-ठाक हो जावेगा। इसमें क्या फिकर है? हमें जरा एकान्तमें अभी रहना है। हम आज अपनी बाँसुरीका रियाज करना चाहते हैं एकान्तमें रहकर। ज्यादा रात न होने पावे, धीरेसे यहाँसे पधार जाओ। बोलीं—महाराज—'**पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्**' ये जो हमारे पाँव हैं चलते नहीं हैं। बोले तो हाथी, घोड़ा मँगवा दें? बोलीं—ना महाराज, वे तो तुम्हारे चरणकमलको छोड़ना ही नहीं चाहते। बोले—अच्छा, इतनी बात है तो मैं आगे-आगे चलता हूँ, तुम लोग पीछे-पीछे आ जाओ, हम रास्ता बता देते हैं, यदि रास्ता भूल गयी हो।

इसमें एक बात निष्ठाकी देखो। यज्ञपत्नी भी आयी थीं श्रीकृष्णके पास, श्रीकृष्णने भी उनसे यही कहा था कि घर लौट जाओ; और उन्होंने भी यही कहा था-**मैवं विभोऽर्हति भगवान् गदितुं नृशंसं**। जो गोपीके मुँहसे निकला उनके भी यही शब्द हैं। क्या? कि आपकी यह वाणी बड़ी कठोर है, आप निष्ठुर हैं, निर्दयतापूर्ण हैं। जो अपने पास आये हुएको लौटनेको कहते हो। '**सत्यं कुरुष्व निगमं**' वेदने कहा है कि जो भगवान्के पास आता है वह लौटकर नहीं जाता, अब आप इस

वेद-वाणीको सत्य करो, और हमको मत लौटाओ। श्रीकृष्णने कहा कि तुम लौटकर जाओ तो! एक बहुत मजेदार बात हो गयी है दुनियामें, परिवर्तन हो गया संसारमें, तुमको मालूम नहीं है। क्या हुआ महाराज? यह हुआ कि जब तुम लौटकर घर जाओगी, तो जो लोग तुमको आनेसे रोकते थे, तुम्हारे पति, पिता, माता, भाई, सास, श्वशुर, बच्चे तो सब तुम्हारे पाँवकी धूल लेकर अपने सिर में लगावेंगे, और कहेंगे कि यह देखो भक्तसाम्राज्ञी आ गयीं। यज्ञपत्नी लौट गयीं। लेकिन गोपीसे श्रीकृष्णने शास्त्रका, धर्मका विरोध बताया, शिष्टाचारका विरोध बताया, लेकिन निष्ठा गोपीकी कितनी प्रबल है कि स्वयं अपना प्रियतम परमप्रिय, स्वयं भगवान्, उनसे कहते हैं कि लौट जाओ, और गोपी कहती है—

'पादौ पदं न व्रजतस्तव पादमूलाद्' तुम्हारे चरणकमलको खोकर हमारे पाँव बिलकुल चलते नहीं हैं। गति भी गयी! अब देखो, तीन बातें गयीं—(१) चित्तम्—एक तो श्रीकृष्णके सिवाय दूसरी चीज़का ज्ञान नहीं रहा; (२) श्रीकृष्णकी सेवाको छोड़कर दूसरी कोई क्रिया नहीं रही, इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति गयी; और (३) गति गयी—**'पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्'** स्वर्ग गया, ब्रह्मलोक गया, बैकुण्ठ गया, मोक्ष गया! कुछ नहीं चाहिए केवल तुम चाहिए श्रीकृष्ण!

यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा—अच्छा, तुम्हीं बताओ, कि हाथ हमारे रहे नहीं, रास्तेका ज्ञान रहा नहीं, पाँव साथ देते नहीं, फिर जायें तो कैसे? तो कहोगे कि कन्धेपर लेकर पहुँचावेंगे, बैलगाड़ीपर भेज देंगे, हाथी-घोड़ेपर भेज देंगे! अच्छा मान लिया, घर यदि पहुँच भी जायँ तो हम वहाँ जाकर करेंगी क्या? **करवाम किं वा**। जब हम जाकर अपने पतिदेवको, सास-ससुरको, माँ-बापको, बच्चोंको पहचानेंगी ही नहीं और किसीके काम नहीं आवेंगी तो—**करवाम किं वा**—हम वहाँ जाकर करेंगी क्या? इसलिए हमारा जाना निष्प्रयोजन है। यह प्रेमकी बात है, इसका नाम है प्रेमनिष्ठा—***मै बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ।*** मैं पगली अपने प्यारेको ढूँढ़ने चली और किनारे ही रह गयी! कहीं अपनी समझदारी आ गयी कि हम बड़े समझदार हैं, कहीं ख्याल आ गया कि ये-ये हमारे कर्त्तव्य हैं, कहीं बोले—अरे, मरनेके बाद हमको स्वर्गमें, वैकुण्ठमें कहाँ-कहाँ जाना है, अरे, मुक्त होना है! अरे बाबा, ये प्रेम मरनेके बाद स्वर्ग वैकुण्ठ-गोलोकमें जानेको नहीं है, भला! यह भगवत्-फल है।

न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति इहैव प्रविलीयन्ते- इसमें प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता।

इतनेमें कृष्ण बोले कि अच्छा ग्वालिनी, तुम्हारा पता चल गया कि तुम्हें न

कुछ सूझता है, न तुम कुछ कर सकती हो और न तुम चल-फ़िर सकती हो! तुम्हारी बेबसी तो हमको मालूम पड़ गयी। अब हमारे करने लायक कोई काम हो, जिससे तुम्हारी मदद हो सके, ऐसा कोई काम बता दो! कौनसी सेवा करूँ तो तुम्हें सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी, तुम्हारा ज्ञान लौट आवेगा, तुम्हारे हाथ काम करने लगेंगे, तुम्हारे पाँव काम करने लगेंगे? तुमसे कुछ नहीं होता तो न सही। अगर मरीज बीमार हो जाय, दवा न पी सके, तो सामनेवाला उसको दवा तो पिला ही देता है। तो अब तुम बताओ कि हम तुम्हारे लिए क्या करें। गोपी बोलती है—

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥

गोपीने कहा कि भला हुआ—सद्‌बुद्धिका तो उदय हुआ! क्योंकि अगर कोई आदमी जेठमें आ जाय, और किसीके घरमें आग लगा दे, बहुत बुरा है। लेकिन आग लगानेके बाद अगर सावधान हो जाय और फिर वह आग बुझाने लग जाय तो उसके आग लगानेका पाप थोड़ा कम तो हो ही जायेगा। तो आग तो तुमने लगायी निश्चित! कृष्णने कहा—ग्वालिनी! मैंने तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा क्या प्रकट कर दी कि तुम्हारा मान इतना बढ़ गया कि हमपर आग लगानेका आरोप लगाती हो? चुप रहो, मुँहसे ऐसी बात निकालना नहीं, हम क्या घरमें आग लगाते फिर रहे हैं? क्या हम आततायी हैं? हमारे पास आग कहाँ है? अरे, हम शीतल चाँदनीके समान रसवर्षी हैं, चन्द्रमा हैं।

गोपीने कहा—तुम्हारे पास तीन चीजें ऐसी हैं, जिनसे तुम आग लगाते हो—'**हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्**' आग तीन चीजसे बढ़ती है—एक तो आगमें थोड़ा घी डाल दो, इसमें ईन्धन डालो और उसमें हवा करो तो यह जो तुम्हारी मुस्कान है वह तो घी है—मुस्कानका रङ्ग भी सफेद है, घीका रङ्ग भी सफेद है और तुम्हारी चितवन ईन्धनका काम देती है और कलगीत, यह बाँसुरीके बाँसकी नलीमें फूँक मारकर जो स्वर निकालते हो, वह वायु है। इन तीनोंसे तुमने हमारी प्रेमाग्निको बढ़ाया है। तुमने हमारे घरमें आग नहीं लगायी, हमारे शरीरमें आग नहीं लगायी, हमारे दिलमें आग लगायी है। जिसने लगायी, वही बुझावे, तो भला! यह एक बात है—अब दूसरा करनेको क्या कहें? अगर तुम हमसे बात नहीं करोगे तो हम यहाँ खड़े-खड़े मर जायेंगी, फिर मरनेके बाद जो कर्त्तव्य है सो करना! एक बात है कि अभी आग थोड़ी और बढ़ा दें, और जल्दीसे मामला खत्म करें—**सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण**—अपने अधरामृतकी बाढ़से उसे सींच दो, उसको और प्रज्ज्वलित कर दो!

अब देखो, इसमें क्या भाव है कि अभी हमारी आगमें कुछ कमी है, इसीलिए तुम हमसे प्रेमसे बात नहीं कर रहे हो और नहीं मिल रहे हो। यदि हमारे शरीरमें कोई दोष हो, हमारे कर्ममें, मनमें कोई दोष हो, तो उस आगको इतना बढ़ा दो कि उसमें सारे दोष भस्म हो जाय। दूसरी बात यह है कि आग लगाई है तुमने तो बुझाना भी तुम्हारा काम है।

कृष्णने कहा—ठहरो-ठहरो, हम बुझाते हैं! देखो, हम दौड़कर यमुनाजीसे पानी ले आते हैं और बाल्टीकी-बाल्टी पानी तुम लोगोंके ऊपर डालेंगे तो तुम्हारी आग बुझ जायेगी। गोपी बोलीं—यह ऐसी आग नहीं है, कि बाल्टीके पानीसे बुझ जाय या कि मशकके पानीसे बुझ जाय। हाँ, यह नलसे या नदीसे या झरनेसे बुझनेवाली आग नहीं है। यह अलौकिक आग है। अलौकिक उपायसे ही बुझेगी। वल्लभाचार्यजी महाराज लिखते हैं कि जिस किस्मकी आग हो उसी किस्मका उपाय करना पड़ेगा। श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए हृदयमें जो आग प्रज्वलित हुई है वह लौकिक आग थोड़े ही है, वह वासना थोड़े ही है, वह काम थोड़े ही है, वह तो सम्पूर्ण कामनाओंको, वासनाओंको भस्म करनेवाली, सम्पूर्ण इन्द्रिय और विषयको, रागको मिटानेवाली बड़ी विलक्षण आग है। गोपीने कहा—महाराज, तुम हमारी आगमें डालो पानी, यह तो ठीक है, परन्तु पानी बाहरवाला नहीं चाहिए, आपका अधरामृत चाहिए। **सिञ्चाङ्ग**—प्यारे श्यामसुन्दर! हृदयमें जो अग्नि प्रज्वलित हुई है उसको '**अधरामृतपूरकेण सिञ्च**' अपने अधरामृतसे सींचो! सींचो, माने थोड़े अधरामृतसे ही ये आग बुझनेवाली नहीं है। इसके लिए अधरामृतकी बाढ़ चाहिए, माने गङ्गा, यमुना चाहिए।

यह अधरामृत क्या है? **यद् धरामृतं न भवति तत् अधरामृतम्** जो धरतीका अमृत नहीं है वह है अधरामृत। धरा माने धरती। धरतीका जो अमृत है वह है धरामृत। बात यह है कि भगवान् हैं स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप, उनके भोगलायक सृष्टिमें कोई दूसरी वस्तु नहीं है। लेकिन अगर भगवान् भोग न करे, तो संसार व्यर्थ गया, संसारका होना व्यर्थ हुआ। यदि भगवान्के काममें न आवे, भगवान्की सेवामें न लगे, भगवान्का भोग न लगे, तो संसारका फायदा क्या? अमृत तीन तरहका होता है—एक वह जो अन्नमें होता है जिसको मनुष्य खाते हैं; एक अमृत वह है जो समुद्रके मन्थनसे निकला, वह देवताओंका भोग है; और एक अमृत वह है जो भगवान्का स्वरूप है, स्वयं भगवान् ही अमृत हैं और भगवान् ही उसका भोग करते हैं। *आपै ढूँढ़ै, आप ढुँढ़ावै, आपै ढूँढ़नहारी,* तो भगवान् देखते हैं कि यदि हम संसारका भोग नहीं करेंगे, तो संसारका पैदा होना व्यर्थ, हम इस

दुःखरूप, इस जड़, इस असत् संसारका भोग कैसे करें? तो हमारे हृदयमें जो अमृत भरा है वह भगवत्रूप है, उसको ले आते हैं अपने अधरोंमें और उसको बाँसुरीमें भरकर सारी सृष्टिमें बाँट रहे हैं, और वही अमृत गोपियोंके कानमे पड़ता है। ये मन्त्र-दीक्षा, यह ध्वनि-दीक्षा, इससे गोपियोंके हृदयमें अमृत भर जाता है। फिर गोपियोंके शरीरसे वह छलकता है। तो **स्व-अधरामृतपूरकेन** गोपियाँ कहती हैं कि अपने अधरामृतकी बाढ़से हमें सींच दो, हम इसमें तर हो जायँ। और अगर ऐसा नहीं करोगे तो जानते हो?— **वयं किं?** उसके बाद क्या होगा कि तुम्हारा ध्यान कर-करके इसी त्रिविध आगमें हम जलेंगी। तो क्या होगा कि हम सबकी सब कृष्ण बन जायेंगी, और तुम हमारा ध्यान करते-करते गोपी बन जाओगे। और फिर हम बजावेंगी बाँसुरी, और तुम गोपी बनकर व्याकुल होकर रोते हुए हमारी तरह रहना—*खुदा करे मेरी तरह किसी पे आये दिल।*

तुम्हीं जिगरको थामके कहता फिरे हाय दिल॥

'ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते'—प्रियतम सखे! जब हम कृष्ण बन जायेंगी और तुम गोपी हो जावोगे तब तुम व्याकुल होकर और हमारी वंशी-ध्वनि सुनकर आओगे हमारे पास; तब हम भी तुम्हें उपदेश करेंगी कि लौट जाओ, घरको जाओ—**शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया**— जाओ-जाओ, सास-ससुरकी सेवा करो, माँ-बापकी सेवा करो। हम कृष्ण-पदवीको प्राप्त हो जावेंगी और तुम, गोपीपदवीको प्राप्त हो जाओगे। वस्तु तो एक ही है, मामला तो केवल नाम-रूपका है। ध्यानसे बदलकर हम अपना कृष्णरूप और कृष्ण नाम बना लेंगी और हमारा ध्यान करते-करते तुम्हारा नामरूप गोपी हो जायेगा; और तुम व्याकुल होवोगे, और हम ऐसी ही तुमको सतायेंगी। यही हमारा तुम्हारा भविष्य होनेवाला है; सावधान हो जाओ! आओ, रास करो, यह मुँह लटकाकर मत खड़े हो!

गोपियोंका श्रीकृष्णको पूर्वरमणकी याद दिलाना

(सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण.......स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः)

सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीत-जहृच्छयाग्निम्।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥

(श्रीमद्भागवत, २०.२९,३५-३६)

श्रीकृष्णने कहा कि लौट जाओ! गोपियोंने कहा कि हमारे लौट जानेमें देर नहीं है अगर तुम्हें कोई रुकावट नहीं है क्योंकि तुम्हारे मौनमात्रसे ही घर तो क्या, परलोक ही चली जायेंगी। जानेसे अगर रोकोगे तो तुम्हीं रोकोगे, नहीं तो हम चली जायेंगी। श्रीकृष्णने कहा—बाबा, ऐसी क्या तबीयत खराब हो गयी है तुम्हारी, ऐसी क्या तकलीफ है तुमको, क्या रोग हो गया है तुमको कि जिसके कारण तुम मरनेपर उतारू हो? उसकी कोई दवा बताओ तो हम दवा-दारू करें, तुमको जिन्दा रखें! गोपियोंने कहा कि हमारे शरीरमें कोई रोग नहीं है। न कोई रोग है न राग है, बस हमारे दिलमें आग लग गयी है, वह जलाती है। भगवान्‌ने कहा कि अरे गोपियो! इस आगका कोई उपचार नहीं है, इसको करो उपचार। यह आग शरीरमें नहीं लगी है, दिलमें लगी है, जो दिलमें लगती है आग वह हृत्-शयाग्नि है, कामाग्नि है। गोपी कहती हैं कि तुमसे मिलनेके लिए जो हृदयमें तीव्र ताप है, तीव्र आकांक्षा है, यही अग्नि है।

दुनियामें ऐसा कोई प्राणी नहीं होता, न देवता, न मनुष्य, न पशु, न पक्षी जिसके हृदयमें यह रोग न हो यह अग्नि आध्यात्मिक है। अध्यात्म माने होता है शरीरके भीतर रहनेवाली चीज। जो मनमें होवे सो आध्यात्मिक है, जो इन्द्रियोंमें है वो आध्यात्मिक है, जो शरीरमें होवे सो आध्यात्मिक है। अपने अन्दर जो चीज है वही आध्यात्मिक है—आरामकी होवे तो और तकलीफकी होवे तो। दुःख भी आध्यात्मिक है। आप जानते हैं कि तीन तरहके ताप होते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक और सुख भी आध्यात्मिक होते हैं। तो ये जो भावाग्नि है, कामाग्नि है, वह आध्यात्मिक है। माने मनके भीतर ये होती हैं। तो ये दो

तरहकी होती हैं—लौकिक वस्तु-विषयक और अलौकिक वस्तु-विषयका। मन हुआ रोटी-वोटी खा ली, भूखकी ज्वाला शान्त हो गयी। किसीको पैसेके लिए मनमें आग जल रही थी, पैसा मिल गया शान्त हो गयी। स्त्री-पुरुष चाहते थे, मिल गये, शान्त हो गयी कामकी आग। तो यह लौकिक वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो आग होती है वह छोटी छोटी चीजके लिए होती है। भक्से जलती है और बुझ जाती है; फिर जलती है फिर बुझ जाती है। यह बारूदकी आगकी तरह चिनगारी उठती रहती हैं, और बुझती रहती हैं, लेकिन अलौकिक वस्तुके लिए, ईश्वरके लिए, श्रीकृष्णके लिए जब कामाग्नि उदय होती है तब कामकी आग तो सबके जलती है, पर कोई विषयसे भोग चाहता है, तो कोई ईश्वरसे। कोई चाहता है कि अपनी यह प्यास क्षीरसागरके दूधसे ही मिटायेंगे, भेंड़-बकरीके दूधसे नहीं; कोई सोचता है कि अरे बाबा, चाहे गड्ढेका पानी मिले, हमको तो प्यास बुझानेसे मतलब है। लेकिन जिसके चित्तमें अलौकिकविषयक अग्निका उदय हो जाय; अलौकिक कामका उदय हो जाय, तो वह कहेगा कि हम अपनी वासना पूरी करेंगे पर श्रीकृष्णसे करेंगे, भगवान्‌से करेंगे। अब यह जो काम है उसमें कामना तो वही है—धनके लिए होय तो लोभ और कुटुम्बके लिए हो तो मोह, दुश्मनके लिए हो तो क्रोध और स्त्री-पुरुषके लिए हो तो काम—पर ईश्वरके लिए हो, तो प्रेम। उसीका नाम भक्ति! चीज बिलकुल वही ।

भक्ति माने कोई अलौकिक दृष्टिका नाम भक्ति नहीं है, अलौकिकविषयक सामान्य दृष्टिका नाम भक्ति है। यह जो अलौकिकविषयक काम होता है उसका फल लौकिक विषयकी प्राप्तिके फलसे भिन्न होता है। लौकिक विषयकी प्राप्तिसे काम नहीं मिटता। इसका फल क्या निकला? वेदान्ती लोग कहते हैं कि तृणसे लेकर ब्रह्मलोकतकसे वैराग्य करो, एक कणसे लेकर प्रकृतितक वैराग्य करो। तो यह अलौकिकविषयक कामना जो आयी चित्तमें इसने क्या किया कि दुनियाके लोगोंको, वस्तुओंको, संसारके विषयभोगको तुच्छ बना दिया! अरे, इसकी ओर तो हम आँख उठाकर देखना नहीं चाहते! यह जो भगवत् प्रेमका आनन्द है वह देखने लायक है।

तो गोपीने कहा—महाराज, हमारे हृदयमें जो कामाग्नि पैदा हो गयी है यही हमारी तकलीफ है। कृष्ण बोले—अरी गोपियो, भला यह रोग तुम कहाँसे ले आयी? किसको देखकर आया यह रोग? है कोई गाँवमें ऐसा, यदि कहीं हो तो हम कान पकड़कर ले आवें उसको! क्या हमारे दादाको देखकर मनमें आग जली है? हम कहो तो बुलाकर ले आवें दाऊदादाको! गोपियोंने कहा—नहीं, तुम्हारी

मुस्कानने, तुम्हारी चितवनने यह आग लगायी है; और तुम्हारी बाँसुरीने फूँककर इस आगको प्रज्वलित कर दिया है । **हासावलोककलगीत-जहृच्छयाग्निम्।**

अच्छा बाबा, इसकी कोई दवा हो तो बताओ! आगकी दवा तो पानी है। कहो तो ले आवें यमुनाजल! गोपीने कहा—**सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण** यह अग्नि यमुनाजलसे नहीं बुझेगी, वह तो तुम्हारे अधरामृतकी बाढ़से ही बुझेगी। 'पूर' माने बाढ़ और 'क' माने जल। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने 'क'का अर्थ जल किया। तो **अधरामृतपूरकेण**का अर्थ हुआ कि एक क्षणके लिए अधरामृत नहीं, अधरामृतपर अधरामृत, अधरामृतपर अधरामृत। उसकी बाढ़ आ जाय। उसरे हम लोगोंकी अग्नि शान्त होगी। श्रीकृष्णने कहा—जब मुस्कानसे तुम्हारी अग्नि बढ़ी, चितवनसे बढ़ी, वंशीकी ध्वनिसे बढ़ी, तो भला यह अधरामृतसे घटेगी कैसे? वह तो और बढ़ जायेगी। ये तो तुम्हारी बुद्धि कुपथ्य माँग रही है! गोपीने कहा—नहीं, थोड़ी देरका अधरामृत तो अग्नि बढ़ानेवाला है—जैसे आगमें थोड़ा-सा घी डालो तो आग बढ़ेगी, लेकिन टीनका टीन घी उड़ेल दो तो आग बुझ जायेगी। तो अधरामृत अगर थोड़ा दोगे तब तो यह कामाग्नि बढ़ेगी, परन्तु यदि उसकी बाढ़ आ जाय तो वह बुझ जायेगी।

नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्॥

इसका देखो अर्थ है कि यदि आप ध्यान करें भगवान्‌की मुस्कानका, भगवान्‌की चितवनका या भगवान्‌की वंशीध्वनिका, तो आपके मनमें भगवान्‌से मिलनेकी लालसा जागृत होगी और लालसा जागृत होनेपर भगवान्‌का जो दिव्य अमृत है, अमृतरस है, वह आपको प्राप्त होगा।

नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा—गोपी बोलीं कि देखो कृष्ण! यदि ऐसा नहीं करोगे, तो कामाग्नि तो हृदयमें पहलेसे है। एक विरहाग्नि हम और जला देंगे, तो उस अग्निमें तुम्हारा ध्यान करती हुई हम यह शरीर छोड़ देंगी और उसका फल यह होगा कि तुम्हारी पदवीको हम प्राप्त हो जावेंगी। हम कृष्ण हो जावेंगी। तुम्हारी पदवीको प्राप्त हो जावेंगी, इसका अर्थ यह भी है कि तुम जिस रास्तेसे चलते हो ना, उसमें हम खाक होकर मिल जायेंगी, माने तुम्हारे चरणोंकी धूल बन जायेंगी। अथवा पदवीका यह भी अर्थ है कि जहाँ तुम रहते हो—जिस मृत्युधाममें, गोलोकमें, वृन्दावनधाममें—वहाँ हम उस नित्य वृन्दावनधाम की वासिनी हो जायेंगी।

अब देखो संस्कृत भाषाकी एक विशेषता आपको सुनाते हैं—यह तो तबकी बात है, जब श्रीकृष्णने मना कर दिया था कि तुम लौट जाओ! बादमें तो प्रसन्न

हो गये, रासलीला हुई। तो कुछ गोपी जरा अपना मान बताने लगीं कि कृष्ण! हम तुम्हारे बराबर नहीं, बहुत बड़ी हैं, कोई मामूली थोड़े हैं! श्रीकृष्णने कहा कि गोपी! अभी थोड़ी देर पहले जब मना किया था तब तो तुमने कहा था कि हम तो विरहाग्निसे जलकर मर जावेंगी, और ध्यान करके मरकर तुम्हारी पदवीको प्राप्त हो जावेंगी। उस समय यह मान तुम्हारा कहाँ चला गया था? अब मान क्यों करती हो? गोपीने कहा—अच्छा, तुमने हमारी बातका मतलब यह समझा? अरे, हमने तो बात दूसरी कही थी! तुम पण्डित बनते हो और हमारी बात समझी नहीं! क्या बात है, तो बोली—बात यह कही थी कि **'हासावलोककलगीत जहृच्छयाग्निम्'**—हम जब तुमको देखकर खुशीसे मुस्कुराने लगती हैं कि हमारा नन्दनन्दन कितना बढ़िया है, रोज गाय चराने जाता है, और कैसा मुकुट बाँधता है, कैसा बाँसुरी बजाता है, गाता है, कितना सुन्दर है, कितनी बहादुरीका काम करता है और कभी-कभी जब हम तुम्हारी आँखसे आँसू पोंछने लगती हैं और कभी-कभी गा-बजाकर हम तुमको सुला देती हैं, तो इससे तुम्हारे हृदयमें—हमारे हृदयमें नहीं—कामकी अग्नि प्रज्वलित होती है—**'हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम्' 'त्वदधरामृतपूरकेण सिञ्च'** तो अब इस आगको तुम बुझाना चाहते हो तो अपना ही हित समझकर बुझाओ, हमारी ओर मत देखो। हमने तो यही कहा था। अगर तुमने कुछ गड़बड़की हमको छू दिया या छेड़ दिया, तो **'वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा'**—हमारे पति हैं, हमारे माँ-बाप हैं, हमारे भाई-बन्धु हैं, हम सती-सावित्री हैं कोई मामूली थोड़ी हैं, ऐसी आग उठती है हमारे हृदयमें कि हम मर मिटेंगी परन्तु **ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते** ध्यानमें भी हम तुम्हें मिल नहीं सकतीं। हमारा ख्याल छोड़ों, हमने तो ऐसा कहा था, तुमने तो उल्टा ही समझ लिया! हम कभी मनके भीतर तुमको नहीं घुसने देंगी। शरीरकी बात तो जुदा, हम ध्यानमें भी तुमको नहीं छुएँगी। हमने तो यह कहा था।

बात यह है कि कोई गोपी तो साधनसिद्ध है, कोई कृपासिद्ध है, कोई श्रुतिरूप है, कोई ऋषिरूप है, कोई गोलोकसे आयी हुई हैं। कोई कृष्णकी सब चातुरी जानती है। कोई कृष्णकी माधुरीका रस-रहस्य समझती है और कोई बिचारी भोली-भाली है, तो उनके मना करनेका रहस्य नहीं समझती है, रोने लगती हैं। श्लोक तो एक होता है, लेकिन उसमेंसे भाव तरह-तरहका।

यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः॥

अब जब भगवान्‌ने कहा कि लौट जाओ तो यह भी एक प्रेमकी महिमा है,

प्रेमका स्वभाव है कि बुलाओ तो भाग जावें और भाग जावें तो पीछा करो। एक श्लोक है 'कृष्ण-कर्णामृत'में :

हे देव, हे दयित, हे श्रीभुवनैकबन्धो, हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
हे नाथ, हे रमण, हे नयनाभिराम, हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे॥

एक गोपी रात्रिभर इस प्रतीक्षामें रही कि श्रीकृष्ण आवें, हमें दर्शन दें। जब श्रीकृष्ण सबेरे उस रास्तेसे निकले तो दरवाजा खटखटाया। गोपीने आकर दरवाजा खोला। बोले—देखो गोपी, देर हो गयी, माफ करना। यह घटना बाहर हुई, ऐसा ही नहीं, गोपीके ध्यानमें भी ऐसा हो सकता है। गोपीने कहा— अरे, तुम तो देव हो देव! '**दीव्यति इति देवः।**' तुम घर-घर घूमते हो, तुम तो घर-घुमने हो गये, तुम तो चटोरे हो गये, कहीं माखनमें लग गये, कहीं रोटीमें लग गये। कृष्णने कहा—अरे गोपी, मैं तेरे लिए आया हूँ, देख, सबेरे उठकर आया हूँ। अब तुम्हें मेरी जरूरत नहीं है तो मैं जाता हूँ। अब ध्यानमें गोपीकी ओर पीठ करके ज्यों चले, तो गोपी बड़े जोरसे पुकारती है—हे दयित, हे प्यारे, हे नाथ, तुम्हारे बिना तो प्राण ही नहीं रहेंगे। तो फिर कृष्ण लौट आये। दरवाजेके बाहरसे देखने लगी—हे भुवनैकबन्धो, अरे, तुम हमारेभर ही थोड़े हो, दुनिया-भरके हो; तो अभी पता नहीं कहाँ-कहाँसे आये हो, कहाँ-कहाँ जाना पड़ेगा, घुस आये हमारे घरमें! कृष्णने कहा—गोपी, अगर गाली देना है तो हम जाते है, और दरवाजेके बाहर हो गये। तो बड़े जोरसे पुकारती है गोपी—हे कृष्ण! अरे बाबा, तुम कैसे भी हो, तुमने तो हमारे प्राण आकृष्ट कर लिए हैं। कहनेका अभिप्राय: यह कि बारम्बार आयें। आयें तब तो तिरस्कार करे, उपेक्षा करे और चले जायँ तो रोवे, हाथ-पाँव पीटे और बुलावें।

तो प्रेम की रीति है वो, ***'अहिखिगतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्'*** जैसे साँप सीधे नहीं चलता है, कभी दाहिने, कभी बायें, टेढ़े-मेढ़े चलता है ऐसे जो प्रेम है उसकी गति भी कुटिल है। प्रेम शक्ति है, ज्ञान शक्ति नहीं है, ज्ञान शक्तिका प्रकाशक है और प्रेम तो स्वयं शक्तिरूप है, प्रेम पङ्गुको पाँववाला बना देता है, अन्धेको आँखवाला बना देता है, निर्बुद्धिको चतुर बना देता है, तो प्रेममें बड़ी भारी शक्ति है। जब श्रीकृष्णने कहा—अरे गोपियो, तुम जाओ, अपने घर वालोंके साथ हँसो-खेलो, हमारे पास क्यों आयी हो? तो आज तो यह विपरीत हो गया क्योंकि रोज गोपियाँ ऐसा करती थीं; आज कृष्णने ऐसा कर दिया। '**यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य**' गोपियोंमें दैन्यका उदय हुआ—हे देव, हे दयित, हे भुवनैकबन्धो, हे कृष्ण। अब श्रीकृष्णने कहा—गोपी!

मैं चुम्बक हूँ और तुम लोहा हो, अगर हमारी ओर तुम खिंच आयी हो, तो इसमें हमारा क्या दोष? तो लो, हम तुम्हारे पास आते हैं। गोपी बोलीं—हे चपल, बड़े चञ्चल हो, दूर हो जाओ! कृष्णने कहा—अच्छा, मैं चञ्चल हूँ तो मैं जाता हूँ। तो बोलीं—हे करुणैकसिन्धो, दया करो! दैन्य-भावका उदय हो गया। प्रीतिकी रीति यही है। गोपी बोलीं—'**करुणैकसिन्धो**' हे नाथ हे रमण! अरे बाबा, लौट आओ, तुम मालिक हो बाबा, यह हमारा शरीर तुम्हारा है। तुम मारो, पीटो, चाहे जो करो, अब हमारा कोई हक नहीं, हम कुछ नहीं हैं। कृष्णने कहा—अच्छा बाबा, तुम्हारा ऐसा ही ख्याल है तो हम छूते नहीं, जाते हैं। तो बोलीं—हे रमण! लौटके आये तो बोलीं—नयनाभिराम-देखनेमें तो बड़े अच्छे लगते हो बस दिल अच्छा नहीं है, क्योंकि सताते हो। कृष्ण फिर चल दिये। गोपी फिर चिल्लायी—जाना नहीं, बाबा—'**कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे।**' छिप क्यों गये? हमारी आँखें तुम्हें देखनेके लिए तरस रही हैं, तुम्हारे बिना तो हमारी आँखें कुछ देख नहीं सकतीं, अन्धी हो गयी हैं; हमारा दिल व्याकुल हो रहा है; लौट आओ! लौट आओ!!

तो प्रीतिकी यह रीति है कि जैसे साँपकी गति टेढ़ी होती है; वैसे ही प्रेमकी गति भी टेढ़ी होती है। और इसमें जब गोपियोंने वामता छोड़ दी, टेढ़ापन छोड़ दिया, और सीधे-सीधे कृष्णके पास आयीं तब कृष्णने वामता दिखायी। जब गोपियोंने पुरुषधर्मको स्वीकार कर लिया था, तब श्रीकृष्णने अपनेमें स्त्रीभाव प्रकट कर लिया कि लौट जाओ? बोलीं—'**यर्ह्यम्बुजाक्ष**' ऐसे कैसे जायँ? हे अम्बुजाक्ष! अम्बुजाक्ष माने कमलनयन, माने बड़ी रसीली हैं तुम्हारी आँखें। अब तुम कहते हो कि जाओ अपने परिवार और सम्बन्धियोंसे मिलो। जबसे हमने तुम्हारे चरणकमलका स्पर्श किया है तबसे धोखेसे भी हमने किसीका स्पर्श नहीं किया; किसीके सामने हमने आँख खोलकर देखा नहीं, दूसरेके प्रति हमारे हृदयमें प्रीतिका उदय हुआ नहीं, हम क्षणभरके लिए भी किसीके सामने खड़ी नहीं हो सकीं। कैसे हैं आपके चरणकमल?—'**रमायाः क्वचित् दत्तक्षणं**' लक्ष्मीको भी ये चरणकमल कभी-कभी मिलते हैं! यह सौभाग्यलक्ष्मीको कभी-कभी मिलता है कि तुम्हारे पादतलको अपनी जाँघपर रखकर उसको सहलावें। क्यों? क्योंकि हैं—**अरण्यजनप्रियस्य** तुमको तो जंगली लोग प्यारे हैं। अरण्यजन माने ऋषि, महर्षि, महात्मा, तपस्वी जो वनमें रहते हैं उनके बीचमें तो तुम नंगे पाँव बैठे रहते हो, नंगे पाँव, नंगे बदन दौड़ते हो परन्तु लक्ष्मी तो नागरी हैं ना! तुम्हें तो नागरी प्रिय नहीं है। तुम्हें तो वनमें रहने वाले जो ऋषि, महर्षि, महात्मा, तपस्वी, त्यागी, वैरागी हैं, वे प्यारे हैं।

लेकिन इसमें एक बात है—'**रमाया क्वचित् दत्तक्षणं अरण्यजनप्रियस्य तव**' हम भी अरण्यजन हैं (वृन्दावनकी हैं) अतः हम भी तुम्हारी प्यारी हैं, और तुम भी हमारे प्यारे हो। तो हमारे बीचमें रहना तुमको फबता है! तुमको अच्छा लगता है, तुमको आनन्द आता है लेकिन लक्ष्मीको कभी-कभी स्पर्शका मौका देते हो।

अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः।

जबसे तुमने अपने चरणतलके स्पर्शका हमको मौका दिया—अभिरमिता—यह नहीं कि केवल पाँव छू लेने दिया, तुमने हमें आनन्द दिया। अभिरमिताका अर्थ है कि रमाको जो सुख प्राप्त है वह तो एकाङ्गी है। हमको तो तुमने अभिरमा बना दिया; वह रमा है और हम अभिरमिता हैं। बड़ा ही प्रेम किया तुमने हमारे साथ, अब तो हम किसीकी ओर देख नहीं सकतीं। दूसरेके सामने खड़ी नहीं हो सकतीं।

इसके सम्बन्धमें ऐसा कहते हैं कि ये जो भगवान्‌की वृन्दावन-धामकी लीला है वह बड़ी विलक्षण है। वृन्दावन-धाम कोई पञ्चभौतिक नहीं है। तब कैसा है? किसी दार्शनिकसे पूछो तो बोलेगा कि भौतिक नहीं, ध्यानक है। यह भावनासिद्ध धाम है। भावनासिद्ध धाममें ऐसा होता है कि सब कुछ लीलाके अनुरूप होता है। पहले धाममें एक जगह जब भगवान्‌का मन हुआ कि जल-बिहार करें, तो उसी जगहमें गर्मी पड़ने लगी और बड़ा भारी सरोवर प्रकट हो गया और उसमें कमल खिल गये। और गोपियोंके साथ भगवान् उसमें उतर गये। अब महाराज एक-दूसरेपर पानी उलीच रहे हैं, कमलको पहले कौन छूता है, यह होड़ लग गयी! अब इसी जगह दूसरी बार भगवान्‌के मनमें आया कि वसन्त-विहार करें; तो वृन्दावनके एक हिस्सेमें वसन्त ऋतु पैदा हो गयी। वो नयी कोपलें निकल आयीं, आमकी बौरकी सुगन्ध चारों ओर फैल गयी, कोयल कुहू-कुहू करने लगी, और भगवान् गोपियोंके साथ वन-विहार करनेके लिए निकले। उसी समय उनके मनमें आया कि रासलीला करें तो बस तुरन्त दिन नहीं, रात हो गयी। एक जगह बेचारी दिन और एक जगह रात और उसमें चाँदनी छिटक गयी। बेला, चमेलीके सब फूल खिल गये, मन्द-मन्द सुगन्ध फैल गयी और भगवान् गोपियोंके साथ रास करने लगे। एक जगह महाराज भगवान्‌का मन हुआ कि गोपी आकर हमारे शरीरसे सट जाय, तो नारायण ठंड बढ़ी! गोपी ठंडसे व्याकुल होकर गयी और कृष्णके साथ चिपक गयी! भगवान्‌के मनमें आया कि वर्षा होवे तो वर्षा होने लगी, और भीगनेके डरसे गोपी आयी और भगवान्‌से कहा कि हमें अपने

कम्बलके नीचे ले लो कन्धेपर कम्बल फैला दिया और बोले कि आ जाओ इसके भीतर! तो जैसी-जैसी रुचि होती है भगवान्‌की, वैसा ही काल वृन्दावन-धाममें प्रकट होता है, वैसा ही स्थान प्रकट होता है, वैसी ही लीला प्रकट होती है। एकके घरमें जा रहे हैं तो दूसरेके घरमेंसे निकल रहे हैं। एकको मना रहे हैं तो एकको रुठा रहे हैं। एक जगह ग्वालोंके साथ-साथ भोजन कर रहे हैं तो एक जगह शयन कर रहे हैं, एक जगह नाच रहे हैं, एक जगह बाँसुरी बजा रहे हैं! वृन्दावनके कुञ्ज-कुञ्जमें, नवीन-नवीन लीला नित्य होती रहती है। यह वृन्दावन-धामका स्वभाव है। अन्तमें प्रकट लीला होती है। बाकी और समयमें अप्रकट लीला, गुप्त लीला होती है, होती रहती है। इसीको स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वतीने, श्रीहितहरिवंशजी महाराजने, श्रीहरिदासजी महाराजने, और भी अन्य रसिक भक्तोंने, इन लीलाओंका गान भजनमें किया है। वे बोलते हैं कि कोटि-कोटि कल्प बीत जाते हैं और गोपी और कृष्णका विहार जारी रहता है; कभी नहीं हो, ऐसा नहीं, कभी बन्द नहीं होता है—

अनादि-अनन्त विलास करैं दोउ, लाल प्रियामें भई न चिन्हारी।

नित्य-नूतन होकर गोपीसे मिलते रहते हैं और नित्यलीला दोनोंकी होती रहती है।

'त्वयाभिरमिता बत पारयामः' वेणुगीतमें आपने सुना होगा **'पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयिता स्तनमण्डितेन'**—श्रीराधारानीके हृदयपर लगा हुआ कुङ्कुम कदाचित् श्रीकृष्णके पाँवमें लग गया, और वह पाँवमेंसे तृणपर लग गया। वहाँ लकड़ी लेनेके लिए, पत्ता लेनेके लिए जो भीलनी आयी थीं उनको वह मिल गया। और उस कुङ्कुमको लेकर भीलनीने अपने मुखपर, और वक्षःस्थलपर लगाया और श्रीकृष्णके प्रेमसे जो उनके हृदयमें व्याधि पैदा हुई थी, उसको शान्त किया। ऐसा वर्णन वेणुगीतमें है। यहाँ भी ऐसा लगता है कि गोपियोंके साथ खुले आम जो श्रीकृष्णका विहार हुआ उसीका सङ्केत **'त्वयाभिरमिता बत पारयामः'**में किया है।

वृन्दावन धामके नित्य निकुञ्जमें कुञ्ज-कुञ्जमें नयी-नयी लीला होती रहती है। नया-नया समय, नया-नया स्थान, नयी-नयी ऋतु, नया-नया विलास, नयी-नयी गोपी, नये-नये कृष्ण अर्थात् उनका नया-नया वेश, नया-नया शृङ्गार—रसिक लोग इस प्रकारसे उस लीलाका ध्यान करते हैं।

आपके ध्यानमें यह बात होनी चाहिए कि यह जो श्रीमद्भागवतकी कृष्णलीलाका वर्णन है वह इसके लिए नहीं है कि इसको सुनकर कोई अनुकरण करें, अच्छा, पाँच हजार वर्ष पहले लीला हो गयी तो हम लोगोंका उससे क्या

सम्बन्ध? वह न तो इतिहासका वर्णन है, और न तो आगेके लिए वर्णनका निर्देश है। तब ये काहेके लिए है कि जिसका मन संसारी सुखमें आसक्त हो गया है, उसके मनको, एक ऐसा दिशा-निर्देश है ये कि तुम अपने मनमें देखो वृन्दावन, मनमें देखो नित्य निकुञ्ज, मनमें देखो गोपी, मनमें देखो नवीन-नवीन कृष्ण! इस प्रकार श्रीकृष्णका ध्यान करो तो तुम्हारी विषयासक्ति मिट जायेगी। अनजान लोग जब इन लीलाओंको पढ़ते हैं तो सोचते हैं कि हमको भी ऐसा करना चाहिए अथवा कहते हैं कि हम एक ऐतिहासिक, या साहित्यक अध्ययन कर रहे हैं कि प्राचीनकालमें ऐसी संस्कृति थी! यह साहित्यक अध्ययन नहीं है, कोई इतिहासका वर्णन नहीं है, यह वर्णन है उनका अथवा उनके लिए जो रसिकजन हैं, जो भावुकजन हैं, जो श्रद्धालु और विश्वासीजन हैं, जिससे वे अपनी चित्त-वृत्तिको बाह्य विषयोंसे हटाकर अन्तरङ्गमें विराजमान जो भगवान्‌की लीला है, उसका ध्यान करें और अपने हृदयमें अनन्तसुखका अनुभव करें! सुख और दुःख बाहर नहीं होते, लाल-पीले-नीले नहीं होते, उनकी लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती और न उनकी उम्र होती है और न इनके माँ-बाप होते हैं। तो आप अगर अपने मनको भगवान्‌की लीलामें उलझा दें, तो दुनियाकी जो आपत्ति-विपत्ति है, दुनियाका जो सुख-दुःख है, दुनियाकी जो चिन्ता है, उससे आप छूटकर सुखकी प्राप्ति करेंगे; और आपके हृदयमें परमानन्द रसका रसास्वादन होगा। इसके लिए ये लीलाएँ हैं।

२९

गोपियोंमें दास्यका उदय

(श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे . . . . .पुरुषभूषण देहि दास्यम्)

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्युजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥
तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥

श्रीमद्भागवत १०.२९.३७-३८

यह वेदान्त जो है वही भारतीच वैदिक सनातन धर्मकी पृष्ठभूमि है। वह धरातल है; इसमें बैठ जाओ तो सब बात समझमें आ जावेगी कि जगत्में ब्रह्म है, चित्त भी ब्रह्म है, जीव भी ब्रह्म है, ज्ञान भी ब्रह्म है, अज्ञान भी ब्रह्म, जड़ भी ब्रह्म, चेतन भी ब्रह्म। **अहमिदं सर्वं ब्रह्मैव**— मैं और यह, वह और तुम, सब परमात्मा हैं। इसमें व्यक्तिका जो जीवन है वह मर गया, और परमेश्वर जी उठा? व्यक्तिका जीवन क्यों मर गया जब सब परमात्मा है? इसलिए कि जब-सब परमात्मा है तो राग-द्वेषके लिए स्थान नहीं रहा, और जब राग और द्वेषके लिए स्थान नहीं रहा तो व्यक्तित्व तो मर ही गया! उसीका नाम जीवन्-मुक्ति है।

'व्यक्ति' शब्दका बड़ा विलक्षण अर्थ है। जैसे यह सफेद कोरा कागज है, और इस पर विशेष प्रकारका एक रंग, एक रेखा, एक मानचित्र, रेखा-चित्र बना दिया जाय; तो कागज है ब्रह्म, और जो मानचित्र रेखा-चित्र है, उसको बोलेंगे व्यक्ति। 'वि' माने विशेष, और 'अक्ति' माने रंग, एक विशेष प्रकारसे किसी चीजको रंग देना। जैसे अंजन भौंह पर लगावें कि छोटी आँख बड़ी दिखने लगे वैसे एक अंजन ब्रह्ममें ऐसा लगावें, कि ब्रह्म छोटा दिखने लगे; इस अंजनका नाम ही व्यक्ति है। तो ब्रह्मको व्यक्तिके रूपमें देखना है तो भी अंजन चाहिए और अपनेको व्यक्तिके रूपमें तो भी अंजन चाहिए। सबको 'हाँ' करना यह ब्रह्म जीवन है। सबको 'ना' बोल देना यह जिज्ञासु जीवन है और आधाको ब्रह्म और आधाको संसार मानना; यह दुःखी जीवन है।

तो यह जो श्रीकृष्णकी लीला है, यह जो वृन्दावन धाम है, आप क्या समझते हैं कि वह ब्रह्म नहीं है? नारायण! वह ब्रह्म है। यह जो, साँवरी सलोनी, मन्द-मंथर गतिशील, तरंगावनादिनी, कृष्णवाह, कोमल-बलुका-सेवित

यमुनाजी हैं जिन्होंने अपने हाथोंसे वहाँकी बालूको लहरदार, हवाके तरंगके कारण बालूको टेढ़ा-मेढ़ा करके अपने हाथों सजाया है; और वह लता, वह वृक्ष, वे पत्ते, वे पुष्प, जो हिल-हिलकर बुला रहे हैं कि आओ नारियो, आओ; वे फल जो श्रीकृष्णकी सेवाके लिए प्रकट हो रहे हैं, आप क्या समझते हैं कि वे सब ब्रह्म नहीं हैं? नारायण, सब ब्रह्म हैं इस पृष्ठभूमिमें, इस धरातलपर, इस (निर्विशेष) ज्ञानमें, गोपियोंने अपने दिलके रङ्गसे रँगकर ब्रह्मको कृष्ण बना दिया है। यह श्रीकृष्ण आँखके लिए साँवरा, रसनाके लिए सलोना, त्वचाके लिए सुकुमार, नाकके लिए सौरभ, कानके लिए मीठी-मीठी आवाजवाला और मनको प्रेमसे भर देनेवाला किशोराकृति परब्रह्म सामने खड़ा है; और संसारमें जितने प्रकारकी शिष्ट वृत्तियाँ हैं—शब्द चाहनेवाली, स्पर्श चाहनेवाली, रूप चाहनेवाली, रस चाहनेवाली, गन्ध चाहनेवाली, यानी जितने प्रकारकी चाह इस सृष्टिमें हो सकती है वे सब चाह मूर्तिमान् होकर मूर्तिमान् परमब्रह्म परमानन्दघनकी ओर दौड़ रही हैं।

अब देखो, मिलेगा किसको? गोपियोंको अपने त्यागका थोड़ा अभिमान आ गया था कि हम इतना प्यार करके आयीं, घर हमने छोड़ा, धर्म हमने छोड़ा, पिता, पुत्र, पति हमने छोड़ा, यह छोड़ा, वह छोड़ा; तो कृष्णने कहा—गोपियो! तुमने सब कुछ छोड़ा पर अभिमान नहीं छोड़ा, और हमारी प्राप्तिमें, हमारे पासतक आनेमें यदि कोई बाधा है तो यही अभिमान है।

चाखा चाहे प्रेमरस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खड़ग देखा सुना न कान॥

इसीलिए गोपियोंको भगवान्ने टक्कर दी कि लौट जाओ जैसे गङ्गाकी धारा है वह सोलह हजार फुट ऊँचे पर्वतसे निकलती है—अरे बाबा, विष्णुपदसे चलती है अथवा आकाशसे चलती है। विष्णुपदसे, ब्रह्मलोकसे, कैलाशसे चलती है और दौड़ती है बंगालकी खाड़ीकी ओर; तो जैसे गङ्गाजीकी धारा मूल प्रदेशकी ओर बहती है, ऐसे प्रेमरसकी धाराका स्वभाव है कि पहाड़ बीचमें पड़े तो टिक जाय, अड़ जाय, और धरातल थोड़ा निम्न होता जाय तो बहती जाय। यह प्रेमरसकी धारा अहङ्कारके पर्वतपर नहीं चढ़ती, वह तो निरभिमानताके निम्न धरातलपर बहती है और बहती जाती है। त्याग किया ठीक है पर त्यागका अभिमान कहाँ छूटा? तो कृष्णने कहा कि हमारी प्राप्तिमें तुम्हारे लिए जो प्रतिबन्धक है, जो रुकावट है, जो अड़चन है, उसको हम तोड़ेंगे। बोले—गोपियो! लौट जाओ।

गोपी बोली कि जिस दिनसे हमने तुम्हारे पैरोंका तलवा छुआ उस दिनसे तो हम किसीके सामने एक क्षणके लिए भी खड़ी नहीं हो सकीं; अब तुम्हारे

चरणकमलके सिवाय हमारे लिए कोई आश्रय नहीं है। इसका मतलब यह है कि हम मर जायँ, खाकमें मिल जायँ; तुम्हारे चरणोंकी धूल बनना हमको पसन्द है, लेकिन तुम्हारी ओरसे मुँह घुमाकर लौटना हमारे लिए शक्य नहीं है।

कृष्णने कहा—अरी गोपियों, तुम इतने ऊँचे वंशकी और घरमें तुम्हारा इतना आदर, तुम इतनी धर्मनिष्ठ और तुम्हारी इतनी प्रतिष्ठा, और तुम हमारे पाँवकी धूलमें मिल जाना चाहती हो! अपना सब गौरव महिमा तुमने मिटा दिया! राम-राम-राम, अब भी सम्हल जाओ, लौट जाओ!

अब गोपियोंमें जो यह दैन्य आया उसको मधुररसका दैन्य संचारी भाव क्या होता है? शृङ्गाररसमें जो दैन्य है, दीनता है, माने अपनेको छोटा बनाना है, उसमें अपने स्वभावका त्याग है, यह केवल प्रेमास्पदको मनानेके लिए आता है। इसलिए यह सञ्चारीभाव है। यह देरतक रहनेके लिए नहीं आता है। मधुररसमें तो अपनेको छातीपर भी चढ़ना होता है, उसके कन्धेपर भी चढ़ना होता है, उसके सिरपर भी चढ़ना होता है, उससे हँसना-बोलना भी होता है, डाँटना भी होता है; लेकिन पहले यह जो प्रतिबन्धक है, रुकावट है, यह छूट जानी चाहिए। इसीसे रसकी अनुभूतिमें दैन्यको सञ्चारीभाव माना जाता है। सञ्चारीभाव माने चलता-फिरता आ गया, और फिर चला जायेगा, रहेगा नहीं; गोपी हमेशा ऐसे हाथ-पाँव जोड़े रहेगी, सो नहीं!

तासां तद् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।

अरे, उनको फिर मान आवेगा, फिर मद आवेगा। अभी कृष्णमें मान है, गोपी मना रही है; फिर जब गोपीमें मान आवेगा तो कृष्ण मनावेंगे। फिर तो काम बराबरीका! लेकिन यह जो अभिमान है अपने त्यागका वह तो छूटना चाहिए। तो कृष्णने कहा—तुम इतनी बड़ी होकर मेरे पाँवकी धूल बनना चाहती हो, राम-राम-राम! गोपी बोली—महाराज, आपके पाँवकी धूल क्या कोई छोटी चीज है?—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

कहती है कि स्वयं लक्ष्मी आपके चरणकमलकी रजको चाहती हैं। रज माने धूलिकण; जैसे कमलमें पराग होता है—उसकी कर्णिकापर उसकी मञ्जरी पर छोटे-छोटे जो कण होते हैं उनको पराग बोलते हैं—वैसे भगवान्के चरणकमलकी पराग है उनमें लगी धूलि। '**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे**' लक्ष्मीजी जो हैं आपके चरणकमलोंका पराग चाहती हैं, माने आपके चरणकमलोंकी धूलि चाहती हैं, अतः आपकी चरणरज कोई मामूली चीज नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें ऐसा आता है कि ब्रह्माजी तो किसी भी व्रजवासीके चरणकी धूलि चाहते हैं, पशु हो, पक्षी हो, द्विपाद हो, चतुष्पाद हो, भेड़ हो, बकरी हो, चिड़िया हो; ब्रह्माजी चाहते हैं कि किसीके पाँवकी धूलि मिल जाय तो मेरा जीवन सफल हो जाय। अब देखो यह दैन्यातिदैन्य हो गया! महात्माने हमको सुनाया था कि ब्रह्माजीकी यह हिम्मत नहीं थी कि वह कहें कि हमको गोपीकी चरण-धूलि चाहिए। उनकी यह भी हिम्मत नहीं थी कि वह कहें कि श्रीकृष्ण! हमको आपके चरणोंकी धूलि चाहिए। उनकी यह हिम्मत भी नहीं थी कि हमको ग्वालोंके बछड़ोंके चरणोंकी धूलि चाहिए; स्वयं अपराधी थे, क्योंकि उनको चुरा लिया था। फिर गायोंके चरणकी धूलि चाहिए, इसकी हिम्मत तो हो ही कैसे सकती थी जिनके बेटोंको चुरा लिया था। इसलिए बोले **तद्भूरिभाग्यमिहजन्मकिमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कत माङ्घ्रिरजोभिषेकम्**- हमें तो ब्रजकी धूलि चाहिए बाबा, हम किसी व्रजवासीका नाम लेनेके हकदार नहीं हैं, हम तो सबके अपराधी हैं। ब्रह्माकी यह स्थिति है! रही कृष्णके चरणोंकी धूलि, वह तो अक्रूरमें मिल गयी! अक्रूरने देखा कि ये श्रीकृष्णके चरणचिह्न हैं। रथपरसे कूद पड़े और लोटने लगे! उद्धवजीको कृष्णको चरणोंकी धूलि तो मिलती थी, पर वह तो गोपियोंके चरणोंकी धूलि चाहते थे।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

देखो, जिसके चरणोंकी धूलि ली जाती है, उसको श्रेष्ठ समझते हैं; तब उसका भाव हमारे अन्दर आता है। तो उद्धवजी चाहते हैं गोपियोंका भाव, गोपियोंका जैसा प्रेम है कृष्णके प्रति, वैसा प्रेम हमारे हृदयमें आवे, इससे वह चाहते हैं गोपियोंके चरणोंकी धूलि! लेकिन गोपियोंने देखा कि हमारे अन्दर अभी कोई-न-कोई दोष जरूर है। जबतक संसारका संस्कार शेष रहता है तबतक भगवान्‌में प्रेम नहीं होता। ये संसारमें जो भोग हम लोगोंको मिले हैं बचपनसे अब तक, और पूर्वजन्ममें और पुस्तकोंमें जिनके बारेमें पढ़े हैं, और लोगोंको जो भोग भोगते देखा है, उन सबका संस्कार हृदयमें रह जाता है। और ये दम्भी लोग जो हैं, वे भोगोंको भोगकर ज्यादा आनन्द जाहिर करते हैं। मनमें पछताते भी हैं, तब भी लोगोंको यही दिखाते हैं कि हमको संसारके भोगसे बड़ा सुख हो रहा है। हम ऐसे लोगोंको जानते हैं जो शराब पीते हैं तो लोगोंमें दिखाते हैं कि शराब पीकर बड़ा मजा आया; और घरमें आते हैं तो अपनी माँके सामने, पिताके सामने सिर पीटते हैं कि हमसे बड़ी गलती हो गयी। तो वह जो उनका आनन्द दिखाना है, वह असलमें दम्भ है। ये संसारी लोग जब चोरीमें सफल हो जाते हैं तो कहते हैं कि

हमने बाजी मार ली, मगर भीतर तो उनके चोरीकी ग्लानि रहती है। व्यभिचारी लोग व्यभिचार करनेके बाद चाहे जितना सुखी बतावें, उनके मनमें ग्लानि तो रहती है। ये भोगके संस्कार जो चित्तमें हैं वे शुद्ध प्रेममें बाधक हैं। भोगका संस्कार-शेष वासना, और अपनेमें ग्रहणका अभिमान अथवा त्यागका अभिमान, ये दोनों हृदयमें भगवान्‌को बैठनेभरकी जगह भी नहीं देता। दिलमें भगवान्‌के बैठनेके लिए स्थान चाहिए। तो ग्रहणका अभिमान भी दिलको छोटा बना देता है और त्यागका अभिमान भी दिलको छोटा बना देता है; भगवान्‌के बैठने भरका आसन भी नहीं मिलता।

अब गोपियाँ क्या चाहती हैं? गोपियाँ चाहती हैं श्रीकृष्णके चरणोंकी धूलि! इसमें अब वे बताती हैं शिष्टाचार! कहती हैं कि हम श्रीकृष्णके चरणोंकी धूलि चाहनेसे छोटी नहीं हो गयीं, क्योंकि उसको तो लक्ष्मी भी चाहती हैं। भगवान्‌के चरणोंकी धूलि चाहना उनके चरणोंके चिह्न चाहना, उनके चरणोंकी सुगन्ध चाहना, उनके चरणोंका रस चाहना, उनके अँगूठेको चूसना, रस चाहना, उनका स्पर्श-सुख चाहना, इस चाहकी महिमा कहाँतक बतावें! उनके चरणोंमें त्रिवेणीका निवास है। भगवान्‌के चरणोंके तलवेमें गङ्गा, और पञ्जेके ऊपरी हिस्सेमें यमुनाका निवास है। ऊपर साँवरा, नीचे गोरा! और उनके चरणोंके नाखूनकी जो ज्योति है वह प्रकाश सरस्वती है। इस प्रकार भगवान्‌के चरणोंमें त्रिवेणीका निवास है, इसीसे जब ध्यानमें भगवान्‌के चरणोंके नीचे अपना सिर रखते हैं, तो आध्यात्मिक आधिदैविक त्रिवेणीमें स्नान हो जाता है। श्रीमद्‌भागवतमें एक स्थानपर आया है—

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामाः स्तपः समचरन्भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ताः॥

भगवान्‌के चरणारविन्दकी महिमा कहाँतक बतावें—ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता वर्षोंतक शरण लेते हैं भगवान्‌की कि हम भगवत्प्रपन्न हैं और चाहते क्या हैं कि लक्ष्मीजी जरा तिरछी आँखसे हमारी ओर देख लें। शरण लेते हैं भगवान्‌की, पर चाहते हैं कि लक्ष्मीजी हमारी ओर जरा एक बार तिरछी नजरसे तो देखें। लक्ष्मीजी अपनेको छिपाकर रखती हैं, वे नहीं चाहतीं कि हमारे ऊपर लोगोंकी निगाह पड़े। और भगवान् भी कहें कि हमारी घरवाली इनके ऊपर प्रसन्न हैं, तो हम भी इनको प्रसन्न रखें। नहीं तो लक्ष्मीजी रूठ जायेंगी, भला! भगवान्‌को भी लक्ष्मीजी के रूठनेका डर लगा रहता है! तो यदि एकबार लक्ष्मीजी हमारी ओर अपांग हो मुस्कुराकर, जरा टेढ़ी आँखसे भी हमारी ओर देख लें, तो हम धन्य-

धन्य हो जायें। तो ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र अपने निवास-स्थान कमलवनका परित्याग करके तपस्या करते हैं कि लक्ष्मीकी तिरछी नजर अपने ऊपर पड़ जाय और इसके लिए वे भगवान्‌के शरणागत होते हैं; वही लक्ष्मी उस कमलके जङ्गलको उन कमलोंसे भरे हुए क्षीरसागरको छोड़कर यहाँ व्रजमें आती हैं— **यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता:** और भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन करती है : '**सौभगं अलं भजते**' उनके सौन्दर्यकी जो छिटपुट बिखरी हुई किरणें हैं उनका दर्शन करती हैं और बड़े प्रेमसे चरणारविन्दकी सेवामें लगी रहती हैं।

अब जरा लक्ष्मीजीकी तकलीफ देखो! गोपी कृष्णकी चरणधूलिकी कामना करती हैं। तो चरणारविन्दकी रजकी कामनासे उनका जो अभिमान था बड़प्पनका, वह चला गया। किसीके चरणोंकी धूलि होनेकी इच्छा और बड़प्पनका अभिमान-ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। तो अभिमान गया। अब दूसरी बात देखो, अपनी सफाई देनेका तरीका! अपने दिलकी बात बतानेकी रीति भी बड़ी विलक्षण है। '**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे**' लक्ष्मीजी जिनके चरणरजकी कामना करती हैं; जब लक्ष्मीजी करती हैं तो हम चरणरजकी कामना करती हैं तो हमारी कामना तो उचित ही है। अब कहती हैं—'**तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्**' इसमें तीन बातें हैं। जब लक्ष्मीजी आयीं तब पहले पहल उनका यही ख्याल था कि हम भगवान्‌की छातीपर ही बैठेंगी। थोड़े दिनोंमें उनका ख्याल हुआ कि हम वक्षस्थलपर नहीं भगवान्‌के तलवेपर बैठेंगी। झट उतर गयीं छातीपरसे और सामने आकर खड़ी हो गयीं। तो भगवान्‌ने कहा अरे प्रिये, क्या कर रही हो? तुम्हारे लिए खाली स्थान वक्षस्थलपर है, बस, हम तो दो ही वस्तुका आदर करते हैं—एक तो ब्राह्मणके चरणचिह्नको हम अपने वक्षस्थलपर धारण करते हैं, और एक तुमको हम अपने वक्षस्थलपर धारण करते हैं। दोनोंसे डरते हैं; किसीको हर वक्त छातीपर चढ़ाये रखना यह बिना डरे कैसे होगा? अरे बाबा, प्रेम तो कभी धरतीपर बैठावे, कभी शिरपर बैठावे, कभी छातीमें बैठावे, कभी मुँहकी ओर रखे। कभी पीठकी ओर रखे, प्रेमका मतलब यह थोड़े है कि हर समय छातीपर चढ़ा रहे! तो लक्ष्मीने कहा—ना बाबा, अब हम छातीपर नहीं चढ़ेंगी। भगवान् बोले—तो कहाँ रहोगी देवी अब? जब बड़े-बड़े लोग तुमको चाहते थे तो तुमने उनका तिरस्कार कर दिया था। तुमने कह दिया था कि यह तो बुड्ढा है। इन्द्र चाहता था तो कह दिया कि यह तो पापी है। रुद्र जब चाहते थे तो कह दिया कि यह तो प्रलयका देवता है। दुर्वासा चाहते थे तो कह दिया था कि क्रोधी है। मारर्कण्डेय चाहते थे तो कह दिया कि इनके तो ज्ञान ही नहीं है। तो सारी

दुनियाँको छोड़कर तुमने न जाने कौनसा गुण देख करके मुझे माला पहनायी। तो हम तुम्हारे इस त्यागका, इस वरणका बड़ा आदर करते हैं। इसलिए तुम अब हमारी छातीपर बैठो। लक्ष्मीजी बोलीं—अब हम छातीपर नहीं बैठेंगी, हम तो पाँवमें बैठेंगी।

श्रीशब्दका अर्थ होता है *'श्रीयते जनैः ब्रह्मादिभिः इति श्रीः'* ब्रह्मा आदि जिसकी शरण ग्रहण करें उसका नाम होता है श्री। अथवा *'श्रयति परमेश्वरं इति श्रीः'* जो परमेश्वरका आश्रय लेकर रहे उसका नाम श्री है। श्री माने शोभा, श्री माने सम्पत्ति, श्री माने समृद्धि, ज्ञान। ज्ञान कहाँ रहता है? सम्पत्ति कहाँ रहती है? भगवान्‌के आश्रयमें रहती है। शोभा वहाँ रहती है जहाँ भगवान्‌का आश्रय होताहै।

भगवान्‌ने कहा—देवी, आप वक्षस्थलपर रहो; लक्ष्मीजीने कहा—हम तो चरणोंमें रहेंगी। अब महाराज मतभेद हो गया। बोले—देवी, एक बात कहनेमें सङ्कोच है; आप जानती हो कि मैं अकेला तो कभी रहता नहीं; तो वक्षस्थलपर तो तुम अकेली रहती हो और मैं बड़े आदरसे रखता हूँ। लेकिन यदि चरणोंमें जाकर रहोगी, तो तुलसी भी तो हैं हमारे चरणोंमें; लोग ला-लाकर तुलसी चढ़ावेंगे, तो तुलसीसे तुम्हारा सौतियाडाह हो जावेगा। साँसतमें हो जाओगी कि जिन चरणोंसे मैं प्रेम करती हूँ, उससे तुलसी क्यों प्रेम करे। यह तुलसी घास-पात और मैं लक्ष्मी, क्षीरसागरकी बेटी, कौस्तुभमणिकी बहन, चन्द्रमाकी बहन, शङ्खनिधिकी बहन, अमृतकी बहन, कल्पवृक्षकी बहिन; मैं भला इस घास-पात तुलसीके साथ रहूँ! चरणोंमें तो तुलसी रहती है, तो फिर तुमको मेरी याद नहीं आवेगी; बस तुलसी-तुलसीकी याद आवेगी, तब तो हम बड़े घाटेमें हो जायेंगे।

एक बिलकुल सच्ची घटना सुनाते हैं। वृन्दावनकी बात है। एक माता है, अभी है वहाँ, वह तीस-पैंतीस वर्षसे तो मौन रहती है, और फलाहार करती है, पर उस समय फलाहार नहीं करती थी, अन्न खाती थी। उसने हमको बुलाया एक दिन भोजन करनेके लिए। उसका ख्याल है कि ठाकुरजी आकर उसके घर भोजन करते हैं। कढ़ी-भात उसने बनाया था। जब हम भिक्षाके लिए घर गये, तो ठाकुरजी उसके घरमें अकेले थे। अकेले श्रीकृष्ण खड़े थे बाँसुरी बजाते हुए। मैंने कहा—अकेला क्यों रखा है, राधारानीको साथ क्यों नहीं रखा? वह बोली—अगर राधारानी इनके साथ रहेंगी तो मैं कहाँ रहूँगी—माने राधारानीसे भी सौतिया डाह, हे भगवान्! तो उसने कहा कि आज ठाकुरजी बहुत प्रसन्न हैं, हमारा कढ़ी-भात बहुत बढ़िया बना है। ठाकुरजीने प्रशंसा की है कि बहुत अच्छा बना है, आप जरूर खाइये। अब मैं खानेको बैठा तो कढ़ीमें नमक ही नहीं था, और भातके

चावल कच्चे थे। मैंने कहा—जरूर ठाकुरजी तुमको बनाते हैं, तुमको प्रेम नहीं करते, खाते-वाते नहीं हैं, क्योंकि तुम राधारानीसे सौतियाडाह करती हो।

तो जब लक्ष्मीजीसे भगवान्ने ऐसे कहा, कि हमारे चरणोंमें तो तुलसी है तुम कैसे रहोगी? तो लक्ष्मीजीने कहा कि एक नहीं बाबा, तुम दस सौत रख लो, हम बिल्कुल सौतकी ओर नहीं देखेंगे। हम तुम्हारी ओर देखनेके लिए तुमसे प्रेम करते हैं कि अगल-बगल झाँकनेके लिए तुमसे प्रेम करते हैं? प्रेम अपने प्रियतमपर नजर जमानेके लिए होता है, दृष्टि तदाकार करनेके लिए होता है, अपने मैंको मारनेके लिए होता है, दाहिने-बायें देखनेके लिए थोड़े ही होता है! भगवान्ने कहा—अच्छा, तुलसीके साथ रहना तुमको मन्जूर? लक्ष्मीने कहा—मन्जूर। बोले—देवीजी, एक और दिक्कत है; तुम छातीपर ही रहो, तुम चरणोंमें मत जाओ। *आठ पहर चौंसठ घड़ी, ठाकुर पर ठकुराइन चढ़ी,* अगर तुम वक्षस्थलपर रहोगी तो अकेली रहोगी, लेकिन चरणोंमें जाओगी तो **भृत्यजुष्टम्**—ये हजारों जो सेवक हैं उनमें कोई चरणामृत लेने आता है, कोई चन्दन लगाने आता है, कोई तुलसी चढ़ाने आता है, यहाँ तो भीड़ ही लगी रहेगी, धक्कमधक्का बना रहेगा, और फिर तुम चिढ़ोगी और हमारे सेवकोंसे बिगाड़ करोगी, फिर तुमको-हमको सुख कहाँ होगा? हमारे सेवकोंसे जब बिगाड़ पैदा हो जावेगा तो एक समस्या ही तो पैदा हो जावेगी न! आयी सेवा करनेके लिए, आयी सुख देनेके लिए, और वहाँ महाराज बिल्कुल लङ्काकाण्ड हो गया। इसलिए तुम वक्षस्थलपर ही आनन्दसे रहो, चरणोंमें जानेका नाम मत लो। लेकिन फिर भी लक्ष्मीने कहा—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं--भगवान् तो कहते थे कि तुम हमारे वक्षस्थलपर रहो, हमारे हृदयमें रहो, हमारे अन्तरङ्ग रहो, छिपी रहो दिनभर; वक्षस्थलका मतलब क्या है कि ये हीरा, ये मोंती, ये जवाहरात और वह फूलोंकी माला, वैजयन्ती और वनमाला और कमलमाला, इनके नीचे लक्ष्मीजी छिप जाती हैं; दूसरेको तो पता ही नहीं चलता है। भगवान्से तो चिपकी रहती हैं लक्ष्मी पर दूसरेको दिखाई भी नहीं पड़ता। बोले—भाई वाह! प्रेम हो तो ऐसा। लक्ष्मीजी बोलीं—ना-ना, भले हमको तुलसीके साथ रहना पड़े, हम लक्ष्मी होकर भी तुलसीके साथ ही आपके चरणोंमें ही रहेंगी। असलमें तुलसी धरतीका प्रतीक है, भू-देवीका प्रतीक है। माने भू-देवी जो हैं वे तुलसी बनकर आयीं और जो श्रीदेवी लक्ष्मी हैं वे कहती हैं कि हम भू-देवीके साथ ही आपके पाँवमें रहेंगी। ठीक है, आप भू-देवीसे बहुत प्रेम करते हैं। उसकी रक्षाके लिए तो आप

अवतार लेकर आये ही हैं; और मैं घर-घर घूमती हूँ। इससे तो अच्छा है कि मैं भू-देवीके साथ ही रहूँ। रही बात **भृत्यजुष्टम्** की, तो मैं आपके सेवकोंकी भीड़-भाड़में भी रहूँगी, लेकिन हमको मिलनी चाहिए चरण-रज!

कालिय-नागके प्रसङ्गमें नाग-पत्नियाँ बोलती हैं कि इस कालिय-नागने क्या तपस्या की है, यह हम नहीं जानती हैं, जिसके कारण इसको हे कृष्ण! तुम्हारे पदरेणुका स्पर्श प्राप्त हुआ।

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे, तवाङ्घ्रिरेणु-स्पर्शाधिकारः।
यद् वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता॥

जिन चरणोंकी धूलिकी कामनासे आपकी खास श्रीमती लक्ष्मीजी, ललनाललाम, ललनारत्न, लक्ष्मीजी भी तपस्या करती हैं तो गोपियाँ कहती हैं कि हमको चाहिए आपके चरणोंकी रेणु जिसकी चाह लक्ष्मीजी भी करती हैं। लक्ष्मीजी कोई ऐसी-वैसी थोड़े ही हैं—'**यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः**' बहुतसे देवता चाहते हैं, बहुतसे देवताओंका प्रयास है कि लक्ष्मी उनकी ओर देखें। और लक्ष्मी उनकी ओर न देख करके आपके चरणोंकी धूलि चाहती हैं,—**तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः**—जब श्रीशिरोमणि महिला-मूर्धन्य भगवती लक्ष्मी भी आपके चरणोंकी धूलि चाहती हैं तो हम गाँवकी गँवार गोपी यदि उसी चरणरेणुको चाहें तो इसमें क्या आश्चर्य है? हम भी आपके चरणोंके रजकी शरण ग्रहण करती हैं।

श्रीकृष्ण बोले-आखिर गोपियो, तुम चाहती क्या हो? अच्छा, तुम खड़ी रहो, हम बाँसुरी बजाकर सुनाते हैं। तुम कहो तो तुम्हारे सामने गायें, तुम कहो तो तुम्हारे सामने नाचें, तुमको जैसे खुशी हो गोपियो, तुम चुपचाप खड़ी रहो, हम वैसे करके बता देते हैं। देख लो, दर्शनका सुख ले लो! गोपियोंने कहा—नहीं, हमको दर्शनका सुख नहीं चाहिए। दर्शन तो हम रोज ही करती हैं, नाचते भी देखती हैं, बजाते भी देखती हैं, गाते भी देखती हैं, गाय चराते देखती हैं, आते देखती हैं, जाते देखती हैं। तुमने तो हमको बड़ा सुख दिया है, पर हम चाहती क्या हैं—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥

हम और कुछ नहीं चाहती हम आपकी सेवा चाहती हैं। माने हम आपको नचाकर, गवाकर बजवाकर अपनी इन्द्रियोंकी तृप्ति नहीं चाहतीं, हम तो आपकी सेवा करके आपकी प्रीति चाहती हैं।

देखो, काममें और प्रेममें क्या फर्क है? देवर्षि नारदने इसका विवरण दिया। जहाँ काम होता है वहाँ अपना स्वार्थ और अपना प्रिय चाहिए। और जहाँ

प्रेम होता है वहाँ प्रियतमका स्वार्थ चाहिए। बोले यह तो बिल्कुल एकाङ्गी बात हो गयी; यह क्या प्रेम है कि बस उन्हीं-उन्हींका चाहिए? हमको कुछ चाहिए नहीं? हमारा कुछ नहीं है? दुनियामें ऐसा प्रेम नहीं हो सकता! बोले—भाई सुनो, इस बातको समझो—*'तस्मिन् तत्सुखे सुखित्वम्'* प्रियतमके सुखमें अपना सुख होना। हम कब मुसकराते हैं? जब वे मुसकराते हैं। उनका दिल खिलता है तब हमारा दिल खिलता है; हमारी जीभको भोजन अच्छा लगा यह हमारी खुशीका कारण नहीं है, उनकी जीभको भोजन अच्छा लगा यह हमारी खुशीका कारण है। माने उनकी जीभ हमारी जीभ हो गयी। इसका मतलब यह हुआ कि इसमें अपना त्याग ही त्याग हो। वैराग्य ही वैराग्य हो, ऐसी बात नहीं है। अपना सुख भी है पर अपने सुखी होनेका साधन बनाया अपने प्रेमास्पदके सुखको। देखो, आपके बच्चेको कोई प्यार करता है, तो आपको सुख मिलता है कि नहीं? क्यों मिलता है? आपका बच्चा अपना है, उसको जब प्यार मिलता है, तब मालूम पड़ता है, मानो हमको ही प्यार मिल रहा है। तो आपका जो प्रियतम है उसको जब सुख मिले तब आप सुखी होवें, यह प्रेमका लक्षण है। प्रियतम आपका है ना? उसको सुख मिलता है तो आपको ही सुख मिलता है। ***'श्रीकृष्ण-इन्द्रियतर्पणं भक्तिः'*** श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंको प्रसन्न करनेके लिए गोपी ऐसे वेशमें जाती है कृष्णके सामने कि कृष्ण देखकर खुश हो जायें, ऐसी आवाजमें बोलती है कि उनके कान तर हो जायँ, ऐसे ढंगसे छूती है कि वे तृप्त हो जायें। अपने जीवनको श्रीकृष्णके सुखके लिए बनाना, यह गोपीके प्रेमका लक्षण है।

गोपी कहती है कि हम न आपको नचाना चाहती, न गवाना चाहती, न बजाना चाहती, लेकिन हमारे द्वारा हमारे शरीरसे, हमारे मनसे, हमारे प्राणसे, हमारे हृदयसे, हमारे जीवनसे तुम्हारी सेवा बने, बस यही चाहती हैं। जब तुम हमारी सेवा स्वीकार करोगे, तब हम समझेंगी कि तुम प्रसन्न हो।

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥

यह प्रसङ्ग बड़े सुन्दर प्रेमका प्रसङ्ग है। भगवान्‌को पुरुषभूषण कहा। पुरुषभूषण माने पुरुषोत्तम भी होता है और भूषणका अर्थ होता है कि तुमको ही हम अपना शृङ्गार बनावें। हमारी माँगका सिन्दूर कौन? कि तुम। हमारे माथेकी बिन्दी कौन? कि तुम। हमारे गलेका हार कौन? कि तुम। हमारे कानका कुण्डल कौन? कि तुम। यह है पुरुषभूषण! हमें और आभूषण नहीं चाहिए, हमें तो तुम चाहिए।

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥

अच्छा भाई, अपने मनके दृश्यको बदल दो जैसे रेडियोका स्विच बदल देते हैं। जिसके अन्दर यह सामर्थ्य है कि अपने मनको जब चाहे तब बाजार भावसे बाहर निकाल दे और भगवद्भावमें लगा दे। वह तो बड़ा शक्तिशाली है। जो अपने मनको जब चाहे तब बम्बईसे निकालकर वृन्दावन पहुँचा दे, वह तो बड़ा भारी सामर्थ्यवान् है। यह मैं-मैं, तू-तू करनेवालोंका काम नहीं है। काट दो ये दृश्य—भला वह संसारमें कितना आसक्त है, वासनाओंका कितना गुलाम है, जो अपने मनको एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह नहीं रख सकता। यह कोई साधारण काम नहीं है, यह तो जो आप सब भाग्यशाली पुण्यात्मा सत्सङ्गी हैं, वही ये सब कर सकते हैं।

चाँदनी रात, शरद् ऋतु, यमुनाजीका तट, विपिनवास—

रे मन वृन्दा विपिन निहारा।
यद्यपि मिलै कोटि चिन्तामनि तऊ ना हाथ पसार॥
विपिन राज सीमा के बाहर हरिहू को न निहार।
रे मन वृन्दा विपिन निहार॥

यह प्रेमकी सृष्टि है; ***जहाँ प्रेम ही प्रेमकी सृष्टि मिले, चलो नावको ले चलें खेके वहीं।*** अपना मन जहाँ फँसा हुआ है, वहाँसे उठा लेनेका सामर्थ्य होना चाहिए। मन अगर दुनियामें कहीं फँसता हो, तो वहाँसे मनको खींच लो। अब चलो वहाँ जहाँ अकेले श्रीकृष्ण हैं— मोरमुकुटवाले, बाँसुरीवाले, पीताम्बरधारी, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहसे पूर्ण भौंहें और मन्द-मन्द मुस्कान!

श्रीकृष्णने कहा—देखो गोपी, हम तो अपनेमें मगन हैं, हम तो अपने रूप-रसमें, अपनी गान-माधुरीमें, वंशी-माधुरीमें तृप्त हैं। हम अपने रसमें मगन होकर बाँसुरी बजा रहे हैं। यह खटपट करनेके लिए तुम कहाँसे आ गयीं? आप लौट जाओ! हम बेख्वाहिश, बेपरवाह! तुम्हारी ओर कभी आँख उठाकर ना देखें; बाल-ब्रह्मचारी, एकान्तजङ्गलमें बाँसुरी बजानेवाले और स्वर सङ्गीतके साधक, तुम बीचमें कहाँसे दाल-भातमें मूसरचन्द हो गयी?

गोपियोंने कहा—**वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः** श्रीकृष्ण! हम तो तुम्हारे चरणोंकी रजके शरणागत हैं। असलमें प्रेममें काम बनता है तब जब एक कड़ा हो

तो दूसरा नरम हो जाय; और दोनों कड़े पड़ जायँ तो प्रेम टूट जाता है, भला! यही प्रीतिकी रीति है, यही प्रेमका नियम है। बोलीं—हम तो तुम्हारे चरणोंकी रज हैं रज और रज नहीं है, रजकी शरण ग्रहण करती हैं। लो सीताराम! रज होनेमें भला क्या मजा है? एक तो यह जो रज है, इसमें अपनी इन्द्रियोंको तो कोई सुख मिलनेवाला नहीं है, इसलिए रज होनेका अर्थ यह हुआ कि अपनी भोग-वासना टूट गयी। दूसरे भगवान्‌के चरणोंकी रज बननेका अभिप्राय यह है कि प्रेमी लोग चाहते हैं, कि मरनेके बाद भी हमारे शरीरमें जो राख निकले-जलनेके बाद जो भस्म हो —वह उस रास्तेमें बिछ जाय, जिसपर हमारे प्रियतम चले हैं। तो रजकी शरणागति माने अपनी इन्द्रियोंके भोगकी जो वासना है उसका परित्याग करके अपने परम प्रियतम, श्रेष्ठतम श्यामसुन्दरके अधीन होना; और तीसरी बात है अभिमान छोड़ना। रजमें मिलना माने अभिमान टूटना। गोपियोंको त्यागका थोड़ा अभिमान था। सो वे पहुँच तो गयीं भगवान्‌के चरणोंमें, लेकिन त्यागाभिमानके कारण कि घर छोड़कर आयीं, धर्म छोड़कर आयीं, परिवार छोड़कर आयीं, हम अपने शरीरका शृङ्गार छोड़कर आयीं, सुख छोड़कर आयीं, जोर-जबरदस्ती करने लगीं कि आज तो कृष्ण! तुम्हें हमको अपनाना ही पड़ेगा। प्रेमका स्वभाव यह है कि वह किञ्चित् भी अहंका भार नहीं सहता; इतना कोमल है। एक महात्मासे मैंने सुना था कि लौकिक लोग समझते हैं कि कोई वृत्ति बुरी होती है या कोई क्रिया बुरी होती है; परन्तु यदि उसका उद्देश्य अच्छा हो तो सब ठीक हो जाता है। जैसे समझो मोह है; तो योगी कहता है कि मोहवृत्तिको मिटा दें, क्योंकि जब संसारमें स्त्री, पुत्र, धन आदिसे मोह होता है तो बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है; किसीके मोहमें फँस जाना, माने चित्तका विपरीत हो जाना है। परन्तु भक्त लोग कहते हैं कि मोहवृत्तिमें कोई दोष नहीं है: बस मोह ईश्वरसे कर लो! वेदान्ती कहते हैं कि मोहको धर्मसे अनिषिद्ध होना चाहिए। मोह यदि धर्मानुकूल है तो वह धर्मसे प्रतिकूल निर्मोहसे श्रेष्ठ है—

मोही दशरथलाल हैं निर्मोही नन्दलाल।
वे बन-बन ढूँढ़त फिरे इन्ह ढूँढ़हि ब्रजबाल॥

निर्मोह है तो, मोह है तो, परन्तु भगवान्‌से है। विषयका परिवर्तन, वृत्तिका परिवर्तन, भक्ति सिद्धान्तकी विलक्षण बात है। भक्ति-सिद्धान्तमें प्रेमको आरम्भिक मानते हैं, यह शुरू-शुरूकी चीज है। प्रेम उसको कहते हैं कि ऐसा भावका बन्धन आ जाय कि फिर छूटनेकी शङ्का न रहे। ऐसी स्थितिमें जो पहुँचा हुआ भाव-बन्धन है उसको प्रेम बोलते हैं। इसमें तृप्ति लेना भी है और तृप्ति देना भी है। प्रेमसे

ऊपर होता है स्नेह। स्नेहमें देना-लेना नहीं है; अपने हृदयके स्नेहसे प्रेमास्पदको तर कर देना यह स्नेह है। माता स्नेह करती है पुत्रसे, गाय स्नेह करती है बछड़ेसे; अपने हृदयमें जितनी चिकनाई है, स्निग्धता है उसको अपने पुत्रको देती है;परन्तु स्नेह अपने बच्चेसे करना दूसरी चीज है; और भगवान्से स्नेह हो जाना, यह दूसरी चीज है। संसारमें अपनेसे जो छोटे हैं उनसे स्नेह होता है। और योगदर्शनकी दृष्टिसे स्नेह एक क्लिष्ट वृत्ति है, रागवृत्तिके अन्तर्गत; और उसका निरोध करके समाधिमें स्थित होना पड़ता है। भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्को स्नेह करके उनको अपना बालक बना लेते हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे स्नेह वृत्ति किस दिशामें है—विषयानुकूल है कि धर्मानुकूल है कि विरोधानुकूल है—इससे मतलब नहीं, मतलब इससे है कि आत्मा और ब्रह्मकी एकता और ज्ञानसे वह बाधित हो गया कि नहीं।

भक्ति-सिद्धान्तमें स्नेहसे ऊपर भी मान है, क्योंकि स्नेह झटसे गल जाता है। स्नेह घृत है, मान मधु है। जैसे घी खुदमें मीठा नहीं होता, उसमें शक्कर मिलाओ तब मीठा होता है; और जैसे घी जरा-सा ताप लगनेपर ही गल जाता है; और इससे विपरीत जैसे मधु खुदमें मीठा होता है, परन्तु ताप लगनेसे वह गलता नहीं है; उसी प्रकार मधुरूप मान घृतरूप स्नेहसे अधिक मीठा और स्थायी है। इसीसे शास्त्रमें स्नेहसे भी बड़ा मानको मानते हैं।

भक्ति-सिद्धान्तमें, भगवान्से पहले प्रेम, फिर स्नेह, फिर प्रणय या मान, फिर राग, फिर अनुराग, और उसके बाद भाव और अन्तमें महाभाव—ये भूमिकाएँ हैं। जैसे जीवनमुक्तिकी सात भूमिका मानते हैं वैसे ही प्रेम-सिद्धान्तमें भी भूमिका मानी जाती हैं। महाभावमें भी फिर मोहन और मादन ये दो विभाग हैं। मोहनरूप महाभावमें मोहको मानते हैं। विचित्र बात है! श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी गोदमें अपना शिर रखके लेटी हुई थीं; उनको ख्याल हुआ कि कृष्ण चले गये। अब तो मोहन! हा मोहन! हा मोहन! पुकारने लगीं। राधारानीकी यह अवस्था देखके श्रीकृष्ण भी पुकारने लगे—हा राधे! राधे! राधे! और बेहोश होकर गिर पड़े। राधारानी जगीं—मैं गोदमें और प्रियतम बेहोश? तो वे पुकारने लगीं, मोहन! मोहन! मोहन! मैं यहीं हूँ। तो बोले—राधे-राधे-राधे! तबतक राधा बेहोश! यह मोहकी दशा है—

अंकस्थितेऽपि दयिते क्रियते प्रलापं।

गोदमें बालक, शहरमें ढिंढोरा! इसीको वेदान्ती लोग कहते हैं कि नित्य प्राप्तमें अप्राप्तका भ्रम! राधारानीको प्राप्त हैं, और मोह हो गया कि नहीं हैं; और श्रीकृष्णको राधारानी प्राप्त हैं और अप्राप्त हैं।

यह बात आपको सुनायी कि संसारमें मोह सबसे निकृष्ट है, इससे कुछ अच्छा है स्नेह, और उससे अच्छा है प्रेम; यह संसारकी स्थिति है। और भगवद्भावमें संसारके प्रेमसे अच्छा है भगवत्-प्रेम, भगवत्-प्रेमसे अच्छा भगवत्-स्नेह और भगवत्-स्नेहसे भी अच्छा भगवत्-मोह। आप कभी श्री सुबोधिनीजी का पाठ करें तो रासलीलाको उन्होंने तामस-तामस फल बोला है। इसका नाम ही रखा है तामसफल। बोले कि जहाँ जितनी तन्मयता होती है, जहाँ जितनी गाढ़ता होती है, वहाँ जीवको जगानेके लिए उतना ही अधिक अपना सौन्दर्य, माधुर्य प्रकट करना पड़ता है। सनकादिकोंके उद्धारके लिए भगवान्‌को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। और वसुदेवके लिए यज्ञ करवाना पड़ता है, और नारदसे उपदेश दिलवाना पड़ता है। और अब व्रजमें तो नन्दबाबाको गर्गाचार्यजी बता जाते हैं कि ये भगवान् हैं, लेकिन गोपियोंको बतानेके लिए श्रीकृष्णको स्वयं गोलोकसे उतरना पड़ता है, माखन चुराना पड़ता है, चीरहरण करना पड़ता है, उनके साथ मिलकर नाचना पड़ता है; ये जल्दी माननेवाली नहीं हैं कि भगवान् हैं। उनके सामने अपनी सारी सुन्दरता, सारी मधुरता, सारा सौरभ, सारा सौकुमार्य, सारा सौरस्य, अपनी पूर्ण भगवत्ता, भगवान् प्रकट करते हैं। गोपियोंके प्रेमकी यही विशेषता है। श्रीवल्लभाचार्यजीका मत है कि भगवान्‌का पूर्ण प्रकाश है; और चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायका मत है कि गोपियोंके हृदयमें प्रेमका पूर्ण प्रकाश है।

अब प्रसङ्ग आपको सुनाते हैं—**तन्नः प्रसीद**। तो त्यागका अभिमान छोड़कर और अपने सुखका ख्याल छोड़कर गोपी कहती है कि अब आप हमपर प्रसन्न हो जाओ! प्रेममें जहाँ अपने सुखका ख्याल है उसको पूरा प्रेम नहीं मानते हैं। प्रेममें तो प्रेमास्पदके सुखमें ही सुख है। तत्-पदार्थकी प्रधानता भक्ति में होती है। त्वम्-पदार्थकी प्रधानतासे योग होता है, और असि-पदार्थ अर्थात् ऐक्यकी प्रधानतासे वेदान्त होता है। वेदान्तमें जीव और जगत्का ब्रह्मके साथ सामानाधिकरण है, जीवकी उपाधिका बाध करके चैतन्यांशमें जीव और ब्रह्मका मुख्य सामानाधिकरण्य है। जगत्के नामरूपका बाध करके अस्ति, भाति, प्रिय अंशमें जगत्का ब्रह्मके साथ बाध सामानाधिकरण्य है। और नारायण! जब सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप है, तब यह गोपी-प्रेमका उदय होता है। इसमें वृक्ष भी ब्रह्म है, लता भी ब्रह्म है, धरती भी ब्रह्म है, मोर भी ब्रह्म, चकोर भी ब्रह्म, गाय भी ब्रह्म, बछड़ा भी ब्रह्म! इस ऐक्य- भूमिकामें जहाँ सब ब्रह्म ही है, वहाँ रस ही रस है, ज्ञान ही ज्ञान है, आनन्द ही आनन्द है। और वहाँ गोपी बोल रही है— **तन्नः प्रसीद**। अब

न तो यहाँ प्रतिबन्धक स्वसुखकी वासना है, न तो त्यागका अभिमान है। **तन्नः प्रसीद** इसलिए अब हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ!

प्रसीदका अर्थ है प्रसन्न हो जाओ, अर्थात् प्रसादकी अभिव्यक्ति। श्रीकृष्ण बोले—गोपी, कैसे समझोगी कि मैं प्रसन्न हूँ? तो एकने कहा—हमारे सिरपर बैठ जाओ! लो बैठ गया; दूसरीने कहा- हमारे सिरपर हाथ रख दो! लो रख दिया; तीसरीने कहा—जरा मुसकराकर देखो! लो मुसकरा दिया; एकने कहा—हमारी ओर देखो! लो देख लिया। लेकिन इसका नाम प्रसाद नहीं है, ऐसा तो मूर्ख लोग समझते हैं! मानकी प्रक्रिया बहुत विलक्षण है- एक बार श्रीराधारानी श्रीकृष्णसे रूठ गयीं। कृष्ण मनाने आये; बोले—प्रियाजी, उठो, रूठो मत! बोली—किसने कहा तुमसे कि मैं रूठ गयी हूँ? राम-राम-राम, किसी दूसरेसे सुनकर आये हो क्या? मुझसे भी तो कुछ पूछो! कृष्ण बोले—हम तब समझेंगे कि तुम रूठी नहीं हो जब तुम हमारे साथ बैठ जाओ! लो बैठ गयी; अच्छा मेरे साथ खा लो! बोली—खिला दो। अब जो-जो कृष्ण कहें वही-वही राधारानी करती जायँ, और कृष्ण समझें कि यह तो अभी रूठी हैं। बोले—बाबा, तुम क्या कोई आज्ञापालनके लिए दासी हो? कहा—प्रियतम, मैं तुम्हारी दासी ही हूँ, जो आज्ञा करें सो करूँ! मैं तुमसे रूठी नहीं, भला अपने मालिकसे कभी रूठूँगी ? अब महाराज वह कृष्ण सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, उनको कोई युक्ति ही न सूझे कि इनको कैसे मनावें!

इसी प्रकार गोपियोंने भी कहा कि हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ। तो प्रसादका अर्थ है हृदयमें किसी प्रकारकी मैल ना रहना। **प्रसन्नम्** सरः- कहते हैं ना कि आज सरोवर प्रसन्न है, तो प्रसन्न है माने उसके जलमें कोई गँदलापन या कोई चञ्चलता नहीं है। गँदलापन और चञ्चलता दोनोंका न होना, यह सरोवरका प्रसाद है। और चित्तमें चञ्चलता, गँदलापन और कपटकी छाया न हो, तब समझना कि प्रसन्न है। और जहाँ ढोंग है, कपट है, वहाँ प्रसन्नता कहाँ?

एक ठाकुर साहब थे मध्यप्रदेशके; उन्होंने हमको एक बहुत बढ़िया चिट्ठी लिखी। यह बात कोई बीस वर्ष पहलेकी है। वे वहाँकी विधानसभाके मेम्बर भी थे और राजा ही माने जाते थे। गवर्नर उनको नमस्कार करता था; उनके पास ताम्रपत्र था, तो उन्होंने बढ़िया चिट्ठी लिखी! अब हम तो समझो लेखक भी हैं ना! हम तो प्रेम-साहित्यपर भी लिखते हैं, दर्शन-साहित्यपर भी लिखते हैं। अब उनकी प्रेमभरी चिट्ठी देखकर हमको आश्चर्य हुआ कि ये ठाकुर साहब ऐसा बढ़िया लिखते हैं! लिखा था—***दिल तो ले गये अब जान भी ले जाओ। क्योंकि***

बेदिल अब रहा नहीं जाता॥ मैंने किसी जानकारको दिखाया कि देखो, इतना बढ़िया प्रेम-पत्र लिखा है इसने। उन्होंने कहा—स्वामीजी, आप भोले हो, प्रेम-पत्र लिखनेके लिए एक किताब छपी हुई है, और वह बाजारमें मिलती है, इसने तो यह उसीमेंसे लिखकर भेजा है। अब मैंने वह किताब मँगायी तो सचमुच वह चिट्ठी उसमें लिखी हुई थी! नारायण, जो लोग सिनेमा देख-देखकर आते हैं और उसमेंसे प्रेमके संवाद याद कर लेते हैं और फिर वैसा ही लिखते हैं।

तो प्रेम जो है, प्रसीद है। कपट न हो, 'क' माने सुख और 'पट' माने कपड़ा, परदा। हृदयमें जो सुखके फुहारे छूटते हैं उनके ऊपर कोई आवरण न हो, परदा न हो, कोई ढक्कन न हो; हृदयका निरावरण हो जाना प्रसाद है। तो गोपियाँ बोलीं—'**प्रसीद**' प्रसन्न हो जाओ! माने हमारे सामने निरावरण हो जाओ; यह नहीं कि मुसकराओ या सिरपर हाथ रखो। भगवान् बोले—देखो, हम तो तीनों कालमें और तीनों लोकपर ऐसे ही प्रसन्न, खुश रहते हैं; हम अपने-आपमें खुश हैं, तुम हमको खुशीका उपदेश करने चली हो? बोलीं—ना कृष्ण, हमको तीन लोकमें मत गिनो; हम गोपी हैं; **नः प्रसीद**—हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, हम तो अपने ऊपर प्रसन्नता चाहते हैं। बोले—नारायण, तुम्हारे ऊपर कैसी प्रसन्नता चाहिए? बोलीं—यह जो दुःख है—**वृजिनार्दन**—यह सम्बोधन है—वृजिन माने पाप, वृजिन माने दुःख; अपने मनमें कोई ऐसा पर्दा है, अपने मनमें ही कोई ऐसा सङ्कोच है, जिससे भगवद्भावका आदरभाव नहीं होता। दूसरेपर दोषका आरोप करना, यह हमारे हृदयका दोष है; अपने दोषको समझकरके उसको मिटाना, यह प्रीतिका लक्षण है। **वृजिनार्दन**—जब तक श्रीकृष्ण हमारे ऊपर प्रसन्न नहीं होते, तबतक हमारा कोई ऐसा पाप है, अपराध है कि उनके प्रसन्न होनेमें बाधा डाल रहा है।

कृष्णने कहा कि हाँ गोपियो, है तो सही! बोली—है तो मिटा दो, '**वृजिनार्दन**' उसको मिटाना भी तुम्हारा ही काम है। बोले—हम क्यों मिटावें, हमको क्या जरूरत है? देखो, गोपियोंका इसमें कोई पाप नहीं है, गोपियोंके जीवनमें पापका फल दुःख नहीं है। गोपियोंके जीवनमें जो दुःख है, वह श्रीकृष्णकी कृपाका फल है, आप इस बातको बिल्कुल निश्चित रूपसे समझना। क्योंकि जब कृष्णके वियोगका ज्यादा दुःख होता है, तब कृष्णके मिलनेसे ज्यादा सुख होता है। जैसे आदमी जितना प्यासा हो, जल मिलनेपर उतना ही मजा आवेगा, जितना धूपमें चल चुका हो, हवामें पहुँचनेपर उतना ही मजा आवेगा—इसी प्रकार श्रीकृष्णके विरहमें जिसको जितना दुःख हो चुका होता है, उसको बादमें उतना ही सुख होता है। तो गोपियोंके जीवनमें वृजिनार्दनका अर्थ यह है कि

यह जो तुम हमलोगोंसे रूठ गये हो और लौटनेके लिए कह रहे हो—बुलाकर, स्वीकार करके, अपनाकरके, प्रेम-निमन्त्रण दे करके और कहते हो कि चली जाओ—तो यह जो हमारा दुःख है, इसको तुम मिटा सकते हो! हम क्यों मिटावें? तो गोपियाँ अपनी विशेषता बताती हैं—

तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।

विशेषता यह है कि एक तो हम तुम्हारे चरणोंके तलवोंमें पहुँच गयी हैं। और आजतक सृष्टिमें ऐसा कोई कृष्ण नहीं हुआ जो अपने चरणोंमें आये हुएको लौटा दे। भगवान्के पास पहुँचकर कोई लौटता नहीं है। ऐसी कोई पोल-पट्टी है भगवान्के घरमें कि दूरसे बड़ा सुहावना लगता है कि ऐसा है, ऐसा है, ऐसा है, ऐसा आनन्द है, फलाना है, ढिकाना है, लेकिन वहाँ पहुँचते हैं तो सब ठन-ठन पाल ही है, भला! तो भगवान् कहते हैं कि यह भगत लौट जायेगा हमारे घरसे, तो कहने लगेगा कि भगवान् तो निर्गुण हैं, निर्विशेष हैं, निराकार हैं, यह जाकर ऐसी अफवाह फैलावेंगे कि दुनियामें जल्दी फिर हमारी तरफ कोई आना नहीं चाहेगा। क्योंकि हमारे घरमें पहुँचनेके बाद सब वेदान्ती हो जाते हैं, इसलिए भगवान्ने रोक लगा दी कि लौटकर जाने न पावें, लौटकर जाये ना—'**न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते**' श्रुति है। **अनावृत्तिः शब्दात्**—यह ब्रह्मसूत्र है कि वहाँसे लौटना होता नहीं। वहाँसे क्यों नहीं लौटने देते भगवान्? बोले—यहाँसे तो सुनकर गये कि सगुण है, साकार है, ऐसा आनन्द है, ऐसा प्रेम है, ऐसा रूप है, ऐसा माधुर्य है, और वहाँ गये तो नारायण कहो! इसलिए भगवान्ने लौटनेपर रोक लगा दी।

तो '**तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः**' एक तो तुम्हारे चरणोंमें आ चुकी हैं, और दूसरी बात और—'**वसतीः विसृज्य**' ये वासनाको पूर्ण करनेकी जो बस्ती है वह हमने छोड़ दी है; और तीसरे '**त्वदुपासनाशाः**' हम तुम्हारी उपासनाका फल नहीं चाहती हैं, एकमात्र तुम्हारी उपासनाकी ही आशा रखती हैं। देखो इसमें अन्तर! उपासनाका फल चाहना, और केवल उपासनाकी आशा रखना; बोले अब—

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्।

'**त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षण**' इसको कई तरहसे लगाते हैं—त्वत्को अलग कर दिया तो रह गया—'**सुन्दरस्मितनिरीक्षण त्वत् त्वतः तीव्रकामतप्तात्मनां**' इसका उल्टा अर्थ भी निकलता है। '**पुरुषभूषण देहि दास्यम्**' हम तो केवल तुम्हारी सेवा चाहती हैं, तुमसे हम सेवा करवाना नहीं चाहती हैं; तुम्हारी सेवा करना चाहती हैं; हम तुमसे सुख लेना नहीं चाहती हैं, तुमको सुखी देखकर सुखी होना चाहती हैं; केवल तुम्हारे सुखमें सुखी होना चाहती हैं। यह प्रेमका लक्षण है।

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥
(श्रीमद्भागवत, १०. २९, ३८)

गोपी माने श्रीकृष्णको रसदान करनेकी लालसाका मूर्तरूप। जितनी मूर्ति होती हैं वे भावकी अभिव्यक्ति होती हैं। एक मूलभाव होता है, वही मूर्तिमान होता है। जितने स्त्री हैं, पुरुष हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, उनके रूपोंमें उनके पूर्वजन्मोंका भाव ही मूर्तिमान् हो रहा है। इसीको पूर्वजन्मका कर्म बोलते हैं। पूर्व जन्ममें जैसा भाव हुआ वही भाव शरीरधारी होकरके प्रकट हुआ। गोपी प्रेमकी ध्वजा—गोपी क्या है कि प्रेमका झण्डा लहरा रहा है! श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए व्याकुलता, श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए त्याग, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिए अपने सर्वस्वको होमना, यही गोपीका स्वरूप है। यह इतना निःस्वार्थ है, इसमें इतना त्याग है कि इसमें अहंकी पूजा कहीं नहीं है। यह गोपीकी विशेषता है। इसके विपरीत सारी दुनिया अपनेको सुखी करनेके लिए धर्म करती है, अपनेको सुखी करनेको धन कमाती है, भोग करती है, आराम करती है, गोपीका प्रेम और सांसारिक प्रेम परस्पर विपरीत गतिवाले हैं।

भक्तिके सिद्धान्तको दुनियामें बहुत थोड़े लोग समझते हैं; इसमें बड़ा भारी विवेक है। देखो, वेदान्तशास्त्रमें वर्णन है कि अविद्याके कारण पहले् जीव अपनेको परिच्छिन्न मानता है, फिर राग-द्वेषके चक्करमें पड़ करके जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता है। क्यों? अविद्याके कारण, यह बात वेदान्तीको बहुत जल्दी समझमें आ जाती है, यह किसकी कथा हुई कि यह त्वं-पदार्थकी कथा हुई। अब भक्तिसिद्धान्तका जब वर्णन करेंगे तो ऐसे करेंगे कि भगवान् जो तत्पदार्थ हैं उनमें अचिन्त्य, अनन्त, कल्याणगुण हैं, उनमें करुणा है, स्नेह है, उनमें प्रेम है, अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा, मायाके द्वारा, वे करुणा-विवश होकर जन्म लेते हैं। और जीव जैसे अविद्याके वश होकर चोरी-जारी करता है, डरता-भागता है, झूठ बोलता है, नाचता-गाता है, बजाता है, वह सबका सब ईश्वर मायासे करता है, क्यों करता है? जीवोंको अपने साथ मिला लेनेके लिए। अगर वह इस रूपमें आकर जीवोंमें मिल न जाता, अपनी जातिको हमेशा अलग रखता, अपने व्यक्तित्वको अलग रखता, तो भला जीव ईश्वरको क्या कभी प्राप्त कर सकते? यदि कहो कि

जीवमें तो यह सब अविद्यासे है, तो हम कहते हैं कि ईश्वरमें ये सब मायासे है। जो-जो दोष-दुर्गुण जीवपर आरोपित किये जा सकते हैं वे सबके सब ईश्वरपर भी किये जा सकते हैं। यह भक्तिका सिद्धान्त है, भला! जीव बच्चा होता है, ईश्वर भी बच्चा होता है; जीव खेलता है, ईश्वर भी खेलता है; जीवके माँ-बाप होते हैं, ईश्वरके भी माँ-बाप होते हैं; जीवके सखा होते हैं, ईश्वरके भी सखा होते हैं, जीवके प्रेयसी और प्रियतमा, प्रेमिका होती हैं; ईश्वरके भी होते हैं। अरे जब दोनों एक हैं—यह बात घण्टाघोषसे स्वीकार करते हो कि दोनों एक हैं—तो एक बात भी ऐसी नहीं जो आत्माके बारेमें कही जा सके और परमात्माके बारेमें न कही जा सके या जो परमात्माके बारेमें कही जा सके, और आत्माके बारेमें न कही जा सके!

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जगत्से परे जगत्का अधिष्ठान है, यह तो ज्ञान है; और अधिष्ठानसहित यह जगत् परमात्मा है, यह विज्ञान है। अनेकमें एक है, यह ज्ञान है; और एकमें अनेक है, यह विज्ञान है। ये तो ज्ञान-विज्ञान हुए। अब परमात्माका रहस्य यह है कि वह अपना बनकर, और बिल्कुल अपनी तरह बनकर, हमारे साथ साकार होकर, नाचनेवाला होकर, गवैया होकर, बजवैया होकर, झूठा होकर, चोर होकर, भागकर हमारे साथ ऐसा मिल जाता है, ऐसा मिल जाता है कि न केवल परमार्थमें, बल्कि व्यवहारमें भी हमको अपनेसे भिन्न नहीं रखता है। श्रीमद्भागवतमें इसको ईश्वरका रहस्य बताया है—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥

चतु:श्लोकी भागवतमें प्रारम्भमें इसको ईश्वरका रहस्य बताया है। आत्माके बारेमें तो तुम कह देते हो कि अविद्यासे ऐसा हो गया, ऐसा हो गया, और हुआ कुछ नहीं; और तत्पदार्थके कहनेके बारेमें डर लगता है कि मायासे ऐसा हो गया, ऐसा हो गया, जबकि यहाँ भी कुछ हुआ नहीं! मतलब है कि तुम्हारे मतमें आत्मा परमात्मा दो हैं। इसका अर्थ होता है कि सचमुच भेदवादी तुम हो! जो ईश्वरके अवतारका निरूपण करता है, वह सनातनधर्मी, भेदवादी नहीं है, वह तो अभेदवादी है। जो अवतारको नहीं मानता वह भेदवादी है!

अब आगे यह बात है कि गोपी जो है वह रसकी लालसा और तृप्ति है; प्यास और तृप्ति—ये दोनों गोपीके स्वरूप हैं। श्रीकृष्णकी प्यास लेकर श्रीकृष्णके पास जाना और उनके लिए तृप्ति बन जाना—यह गोपीका स्वरूप है। गोपी कहती है कि यह तुम जो हमसे कहते हो कि लौट जाओ, तो कौन बोलेगा ऐसा! मिट्टी

कभी कहेगी घड़ेसे कि तुम हमको मत मिलो? सत्ता आकारसे बोलेगी कि तुम हमसे मत मिलो? चेतन स्फुरणासे कहेगा कि तुम हमसे मत मिलो? आनन्दका समुद्र तरङ्गसे कहेगा कि तुम हमसे अलग रहो! नारायण, तो कृष्ण, **प्रसीद**— प्रसन्न हो जाओ; प्रसन्न होनेका अर्थ संस्कृतभाषामें ऐसा होता है, हर्ष नहीं। हर्षमें राग होता है, प्रसादमें राग नहीं होता है। तो प्रसन्न होनेका अर्थ है निर्मल; देखो, जैसे हम निष्कपट भावसे तुम्हारे पास आयी हैं, कि तुम भी निष्कपट भावसे हमसे मिलो। **तन्नः प्रसीद।**

कृष्णकी लीला बड़ी अद्भुत है! वह प्रसादके पहले विषाद देते हैं, पहले विषाद होवे तब प्रसादका आनन्द आवे; पर गोपियोंको यह बात मालूम नहीं है कि विषाद होनेसे प्रसादका रस आता है। भगवान् कहते हैं कि लौट जाओ तो भला अधिष्ठानसे कोई अध्यस्त लौट जायगा? चेतनसे कोई वृत्ति लौट जायगी? कृष्णसे कोई गोपी लौट जायेगी? रसमेंसे कौन लौटकर जायगा? यहाँ लौटनेका तो सवाल ही नहीं है! परन्तु गोपी इसको समझती नहीं। इसलिए यह बोली- प्रसन्न हो जाओ। प्रसादमें तीन बातें होती हैं—विशिरण, गति और अवसादन। उपनिषद्में जो षद् धातु है, प्रसादमें भी वह षद् है। बिल्कुल एक ही धातु है जिसका अर्थ होता है—विशिरण, गति और अवसादन। तो प्रसादका मतलब यह है कि एक तो परदेको फाड़ दो (विशिरण माने फाड़ना), हमारे-तुम्हारे बीचमें जो पर्दा आ गया है कि हम किसी गोपकी बेटी हैं, हम किसी गोपकी पत्नी हैं, हम किसी गोपीकी माँ हैं; हम किसी गोप की बहन हैं, यह जो तुम हमको परायी समझकरके उनके पास लौट जानेके लिए कहते हो, और अपने पास रहनेमें रोकते हो, हमको परायी समझते हो, इस पर्देको फाड़ डालो। हमको परायी मत समझो, अपनी समझो, और दूसरी बात है गतिकी—जैसे हम चलकर तुम्हारे पास आयी हैं वैसे **प्रसीद,** माने तुम जहाँ खड़े हो त्रिभङ्गललितभावसे, वहाँ अब खड़े मत रहो और चलकर एक-एक गोपीके पास आओ, उनसे मिलो। अब तीसरी बात है हमारे अवसादनकी— माने हमारे मनमें जो दुःख है उसको भगा दो! इस प्रकार **तन्नः प्रसीद**- प्रसीदका अर्थ है कि परायापन छोड़ दो; और जैसे हम आयी हैं तुम्हारे पास वैसे तुम भी ललकके—जैसे मक्खन खानेके लिए मचलते हो वैसे मचलके, लालसायुक्त होकरके हमारी ओर आओ; और हमारे दुःखको मिटा दो; ये तीन काम करो तो हम समझेंगी कि तुम प्रसन्न हो गये।

सम्बोधन है, **वृजिनार्दन।** कृष्णने कहा—नहीं बाबा, अभी तुम्हारे अन्दर वृजिन है, तुम हमसे नहीं मिल सकती। जबतक लोहेमें जंग लगा होता है, मैल

लगा होता है, तबतक वह शुद्धभावसे चुम्बककी ओर नहीं खिंचता; जंग छुड़ाओ, मैल छुड़ाओ, कुछ संस्कार शेष है, कुछ वासना शेष है। तो बोली कि तुम तो वृजिनार्दन हो—वृजिन माने पाप, अपराध, दुःख, तो अगर हमारे अन्दर पाप है तो तुम छुड़ा दो, हमसे कोई अपराध हुआ है तो उसे मिटा दो। जैसे पत्नीसे कोई गलती हो जाय, तो पत्नीकी ओरसे पति लोग माफी माँग लेते हैं अथवा जैसे पत्नीसे वस्त्र पहननेमें या शृङ्गार करनेमें कोई गलती हो गयी हो, तो पति उसको सुधार लेता है; उसी प्रकार तुमसे मिलनेमें अगर हमारे अन्दर कोई योग्यताकी कमी है, तो उस योग्यताकी कमीको तुम खुद दूर कर लो, क्योंकि तुम वृजिनार्दन हो। असलमें गोपीके अन्दर कोई अयोग्यता नहीं है; और भगवान् परीक्षा भी नहीं ले रहे हैं। ईश्वर किसीकी परीक्षा नहीं लेता। यह जो लोगोंका ख्याल है कि ईश्वर जो हमको दुःख दे रहा है वह हमारी परीक्षा ले रहा है, ठीक नहीं है। क्या ईश्वरको यह पता नहीं है कि इसमें पास होंगे कि फेल होंगे! परीक्षा तो वह आदमी लेता है जिसको आगेका पता नहीं। ईश्वरको तो तुम्हारे पास-फेलका सब पता है; ***परदा कहाँ भर्तासौं जिन देखे सारे अंग***—ईश्वरसे क्या परदा है? तो बोले कि अगर ईश्वर परीक्षा नहीं लेता है तो दुःख काहेको देता है? तो दुःख देता है तुम्हारी सहनशक्ति बढ़ानेके लिए।

एक महात्मा हमको गाली देते थे। एक दिन बहुत खुश थे; पूछा कि आप गाली क्यों देते हैं? तो फिर नाराज हो गये, बिल्कुल आगबबूला हो गये और फिर खूब गाली दी। गाली देकर बोले—तुमको हमारी गाली बुरी लगती है? अभी सारी जिन्दगी पड़ी है और उसमें न जाने किस-किसकी गाली सहनी पड़ेगी, अभीसे सहनेकी आदत नहीं होगी बाबा तो कैसे सहोगे? जिन्दगीमें कभी भूखे रहना पड़ता है, कभी गाली सहनी पड़ती है, कभी बुखार आता है, वह भी सहना पड़ता है, कभी गर्मी, कभी सर्दी सब सहते हुए तो पार करना पड़ता है। मोटरमें चलते हैं तो कभी धूल उड़ती है, कभी पेट्रोलकी गन्ध आती है, कभी धक्केसे चिड़िया मर जाती है, कभी चूहा नीचे आकर मर जाता है। जीवनकी यात्रा भी ऐसी है; इसमें दुःख सहनेका अभ्यास चाहिए। दुःख सहनेसे सहिष्णुता बढ़ती है, आत्मशक्ति बढ़ती है। तो भगवान् परीक्षा लेनेके लिए नहीं, भला करनेके लिए दुःख देते हैं भगवान् परीक्षाके लिए दुःख नहीं देते, यह उनकी करुणा है। बोल—इसमें क्या करुणा है? तो देखो, एक उलटी कल्पना करके आपको सुनाते हैं।

एक बार किसी कल्पमें, किसी मन्वन्तरमें, किसी द्वापरमें, और किसी कृष्णावतारमें श्रीकृष्णने बजायी बाँसुरी और गोपियाँ घरसे निकलकर आ गयीं;

और आ गयीं तो श्रीकृष्ण झट उनके साथ मिले, और मिलकर रासलीला करना शुरू कर दिया। तो सब देवता, मुनि, ऋषि जो भी सुने वही कहते कि हमारे साथ भी रास करो। हमारे साथ क्यों नहीं करते रास जबकि ग्वालिनोंके साथ रास की? तब कृष्णके पास कोई जवाब ही नहीं, गलती कहाँ हुई कि गोपियोंका प्रेम जो था, उसको प्रकट होनेका अवसर ही नहीं दिया, उनके हृदयमें जो भाव था उसको प्रकट करनेका मौका ही नहीं दिया, ऐसे ही रास करने लग गये उनके साथ! इसलिए अबकी स्थितिमें कृष्णने ऐसा किया कि पहले जो गोपियोंके दिलमें है उसको पहले जाहिर करवा लें, जिससे लोग सीख लें कि गोपियोंके हृदयमें कितना प्रेम है, जिसके कारण भगवान्‌को उनके साथ रास करना पड़ा। तो यह जो मना किया वह मना करनेके लिए नहीं, इसलिए था कि जब मना करनेपर भी गोपीकी वाग्धारा प्रवाहित होगी तो अपने प्रेमके समुद्रमें सारी दुनियाको डुबो देंगी।

तो, '**तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन**' गोपियोंमें पाप नहीं है, अपराध नहीं है, उनकी परीक्षा लेनी नहीं है, इस दुःखसे धक्का खाकर उनका प्रेम प्रकाशित हो जाय इसलिए कृष्णने कहा कि लौट जाओ। देखो गोपियो, हम तो अपनी बाँसुरी बजानेमें मगन हैं। यह देखो क्या घनाक्षरी रही है, और क्या तिलककामोद बज रहा है, हमको तो कोई गोपी-वोपी नहीं दिखती है; बाबा, हम अपने राग-रागिनीमें मगन हैं। गोपियोंने कहा—देखो, राग-रागिनीमें मगन होना तो ठीक है, तुमको सामने भले न दिखे, लेकिन आदमी कितना भी मगन होकर चले, पाँवके नीचे देखकर तो पाँव रखना ही चाहिए। '**तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः**'—हम तो तुम्हारे पाँवके नीचे आ गयी हैं; हमारे ऊपर पाँव रखकर खड़े हो और कहते हो कि हमको कोई गोपी-वोपी नहीं दीखती! गोपियोंकी ऊँचाई जो थी, जो बड़प्पन था सारा, वह तो तुम्हारे चरणोंके नीचे धूलमें मिल गया। यदि कोई अपने पाँवके नीचे देखे बिना पाँव रखता है, तो उसको यही कहते हैं कि तुमको अपने पाँवके नीचेकी भी नहीं सूझती! हाँ, तो कृष्ण बड़ी बदनामी होगी कि हम तुम्हारे पाँवके नीचे गिर पड़ीं, और तुम हमारी ओर नहीं देख रहे '**तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ताः**' तुम्हारे चरणारविन्दकी रजमें हम विलीन हो गयी हैं।

अब देखो बताती हैं दो बातें अपने बारेमें। बोली—'**प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः**' हमारे घर भी था, परिवार भी था; जहाँ तुम लौट जानेको कहते हो वह भी था, लेकिन अब हम उसको छोड़ आयीं। एक बार जो चीज वमन कर दी जाती है, उसको फिर खाया नहीं जाता; यह तो कुत्तेका स्वभाव होता है कि

वह वमन किया हुआ खाता है। कोई भी भलामानुष एक बार त्याग कर देगा, वैराग्य कर देगा, वासनाओंको छोड़ देगा, फिर उसे ग्रहण नहीं करेगा। हमने भी घर-परिवारका त्याग कर दिया है अब पुनः उसको कैसे ग्रहण करें! हम वसती नहीं, हम वासना छोड़कर आयी हैं। क्यों आयी हो? तो कहा—**त्वदुपासनाशाः** इसका दो तरहसे आचार्योंने अर्थ किया है। एक तो तुम्हारी उपासनाकी आशा लेकर आयी हैं, हमारे मनमें फलकी आशा नहीं है। श्री उड़ियाबाबाजी महाराज जब थे, उन दिनों फूलमाला सस्ती थी। दो पैसेमें एक नन्ही-सी माला आ गयी, और उसको लेकर कोई आ गया और बाबाको माला पहना दी; और दूसरा कोई जो चन्दन लगा रहा था उसीमेंसे चन्दन लेकर माथेमें लगा दिया और आरती उतारने लगा। बाबा बहुत मज़ाक करते थे। वह हँसते रहते थे। गुरुपूर्णिमाके दिन तो हजारों लोग पूजा करते थे, और वह चुपचाप बैठे रहते। वह बात भी करते जाते थे, हँसते भी जाते थे। कहते—अरे-अरे ओ बृजमोहन! मैं पहचान गया—भाई, दो पैसेकी माला चढ़ाके दो रुपयेका लड्डू खाना चाहते हो। तो पूजा करनेवाले लोग भी बड़े विलक्षण होते है! लखनऊमें नीबू-निचोड़ होते थे; वे लोग नीबू और चाकू अपनी जेबमें रखते थे और भोजनके समय जब थाली नवाब साहबके सामने परसी जाती तो चाकूसे नीबू काटकर थालीमें निचोड़ देते थे। अब तो नवाब साहब कहते—आइये आप भी बैठ जाइये; लो हो गया, एक अधेलेका नीबू और नवाबके साथ भोजन! तो कई लोग समझते हैं कि ठाकुरजीको हम कुछ देवें, उनके पार्टनर हो जायँ! लेकिन नारायण! गोपी कहती है कि हमको उपासनाके फलस्वरूप कुछ नहीं चाहिए, हम केवल तुम्हारी उपासना करना चाहती हैं। हम तुमको सुख पहुँचाना चाहती हैं।

उपासनाका यह भी अर्थ है कि अगर तुम हमारे हाथसे नहीं खाते, तो कोई बात नहीं है, तुम्हारी जैसी खुशी, लेकिन हमें अपने पास बैठने तो दो! केवल तुम्हारे पास बैठनेके लिए हम आयी हैं।

अच्छा, अब दूसरी बात क्या हुई कि '**उपासनाशाः**' अपनी बस्ती छोड़कर आयी हैं क्योंकि अगर हम बस्तीमें रहें तो तुम्हारे पास बैठनेका नाश हो जाता है—**त्वदुपासनाशाः**। देखो, यह जो पास बैठना बोलते हैं, वह भी उपासना ही है। पासके लिए संस्कृतमें पार्श्व शब्द का भी अर्थ होता है 'पास'; उप + आसन = उपासन = उपास = पास; इसमें 'उ' का लोप हो गया तो पास रह गया। तो पास बैठना शब्द भी मानो उपासमेंसे ही निकला है।

श्रीकृष्णने गोपियोंसे कहा—अच्छा, तुमने त्याग किया, वैराग्य किया,

हमारे चरणोंमें पहुँच गयीं; सब मैं मानता हूँ, तुम्हारे प्रेम, त्याग, सेवा सब हमारे सिरमाथे, हम उसके लिए तुम्हारे कृतज्ञ हैं, और हम क्या कर सकते हैं ? ऋग्वेदमें ज्ञान-सूक्तमें मन्त्र आता है—**यस्तित्याजसचिविदं सखायं न तस्य वाच्यापि भागो अस्ति** (ऋग्वेद १०.६.७१.६)

'**सचिविदं सखायं**' ईश्वर सखा है, परन्तु कैसा सखा है कि जो सख्यको समझे ऐसा सखा है। सचिविदंमें जो 'सचि' है उसका अर्थ होता है सख्य। 'सचिवालय' और 'सचिदेव' में भी यही सचि है। तो '**सचिविदं सखायं**' का अर्थ हुआ कि यह जो ज्ञानस्वरूप ईश्वर है वह सखा है और वह सख्यको जाननेवाला है। अर्थात् प्रेमको जाननेवाला प्रेमी है ईश्वर। दुनियामें तुम जिससे प्रेम करते हो क्या वह तुम्हारे प्रेमको समझता है ? अरे, वह तुम्हारी आँखको समझ सकता है कि तुम्हारी आँखें बड़ी-बड़ी हैं, वह तुम्हारे होंठको समझ सकता है कि उसपर मुसकान है; वह तुम्हारी शरीरकी चमड़ीके रङ्गको समझ सकता है कि बहुत बढ़िया है; वह तुम्हारी आवाजकी मिठासको समझ सकता है; लेकिन तुम्हारे दिलमें कितना प्रेम है दुनियामें ऐसा कोई नहीं है जो समझ सके! तो ईश्वर कौन ? बोले कि '**सचिविदं सखायं**' तुम्हारे हृदयमें जो ईश्वरके प्रति प्रेम है, उस हृदयमें रहकर वह उस प्रेमको जानता है और तुमसे प्रेम करता है। तुम्हारे प्रेमको समझे और तुमसे प्रेम करे, ऐसा प्रेमी है ईश्वर! और दुनियामें प्रेम हो तो तुम्हारा प्रेमी बस तुम्हारे सिनेमाके या किसी प्रेम-पुस्तिकाके रटे-रटाये 'डायलाग' (संवाद) ही समझेगा या फिर कि तुम्हारी आवाज कितनी मीठी है, तुम्हारे हृदयमें कितना प्रेम है, इसको तो वही समझेगा, जो तुम्हारे हृदयमें रहता है। ईश्वर उसीको बोलते हैं, और उसको जिसने छोड़ दिया, अपने प्रेमीके प्रेमको पहचाननेवाले सच्चे प्रेमी परमेश्वरको जिसने छोड़ दिया, नारायण! उसकेपास रहा क्या ? ठन-ठन पाल, कुछ नहीं।

अच्छाजी आओ; श्रीकृष्णने कहा—गोपियो, सब ठीक है, पर हमसे तो सीधी-सीधी बात करो कि तुम चाहती क्या हो ? और मैं क्या दूँ ? क्या करूँ कि तुमको सन्तोष होगा ? बात जो ठीक हो वही करना चाहिए। गोपी बोली—देखो, तुम समझते नहीं हो क्या ? बोले—हम समझते तो हैं लेकिन तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहते हैं। बोली—यह दिलकी बात, प्रेमकी बात, मुँहमें लाकर, कहलाकर मुँहसे जूठी करवाना चाहते हो ? बोले—यह दुनिया तो तुम्हारी जूठी खाने लायक है, तुम्हारा प्रसाद ही पाने लायक है क्योंकि गोपियो, यदि तुम प्रेमकी कोई बात अपने मुँहसे बोलोगी तो यह सारी सृष्टि उसका प्रसाद लेगी; हम यही तो चाहते हैं कि

तुम्हारे हृदयमें जो प्रेम है उसका प्रसाद सबको मिल जाय। पर प्रसाद मिलेगा कैसे? जब बोलोगी तब न! बोली—नहीं, यह दिलकी बात कहने लायक नहीं; प्रेम कहनेसे हल्का पड़ जाता है, प्रेमकी बात जबानपर नहीं आती है। प्रेमकी बात जूठी नहीं करनी चाहिए! बोले—कुछ भी बोलो! सारा जगत् हमारा स्वरूप है, और हम सारे जगत्‌के रूपमें तुम्हारे मुखसे निकले हुए इस उच्छिष्ट प्रेम-प्रसादको अपने कानोंके द्वारा पीयेंगे और सारी सृष्टि पीयेगी। तुम्हारे दिलमें जो प्रेम भरा हुआ है वह आज बोलकर तुम बताओ! गोपियाँ बोलती हैं—

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्।

हे पुरुषभूषण! तुम हो पुरुषोत्तम, पुरुषरत्न, पुरुषभूषण, पुरुषालङ्कार! पुरुषभूषण माने—'*पुरुषेषु भूषु हृदयम् तस्मिन् पोषते पीडाम् जनयति*' दुनियामें सबका दिल तुमने दुखा रखा है; अब कहे बिना रहा नहीं जायेगा; दुनियामें जितने लोग दुःखी हो रहे हैं तुम्हारी वजहसे, तुमने सबके दिलमें बैठ-बैठकर रोग फैलाया है, पीड़ाका रोग! पुरुषभूषण, क्यों फैलाया है, जानते हैं? डाक्टरने गाँवमें रोग फैलाया जिससे कि दवाके लिए हमारे पास आवे। इसी प्रकार तुम ईश्वरने संसारमें जो दुःख फैलाया है, वह भी इसीलिए कि लोग जब दुःखी होंगे तो तुम्हारा भजन करेंगे, तुम्हारे पास आवेंगे।

पुरुषभूषणका यह भी अर्थ है कि तुम पुरुष-रत्न हो, तो हम भी नारी-रत्न हैं; तुम पुरुषोत्तम हो, तो हम भी पुरुषोत्तमा हैं। (सम-सम्बन्ध खूब जामेगा।)

'**त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण**'—तुम्हारी ये सुन्दर मुसकान सुन्दर रत्न है। भागवतमें स्मितका सार्थक वर्णन है। शुचिरत्न देवकी मुसकराती हैं तो उसकी मुसकानको शुचिस्मिता बोलते हैं। और कृष्ण जब मुसकराते हैं तो उनको शुचिस्मित नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि कृष्णकी मुस्कान पवित्र नहीं है। देवकीकी मुसकान तो कृष्णको दूध पिलानेवाली है, पवित्र मुस्कान है, लेकिन कृष्णकी जो मुसकान है वह तो महाराज लोगोंका दिल-दिमाग खींच लेनेके लिए है। इसलिए गोपी उन्हें सुन्दरस्मित कहती हैं। कहीं-कहीं तो गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण कपट-रुचिर-स्मित हैं भला! देखनेमें तो बहुत बढ़िया मुसकान है लेकिन इसमें कपट है तो गोपी कहती हैं कि तुम्हारी सुन्दर मुसकान है और सुन्दर चितवन है। भगवान् जिसको देखकर मुसकराते हैं, उसको मोह लेते हैं; और जिसकी ओर देखते हैं उसके ऊपर छा जाते हैं। उनकी दृष्टि ऊपर छा जानेके लिए है, और मुसकान मोह लेनेके लिए है। हाँ, उनकी मुसकानमें शराब रहती है, और चितवनमें रोशनी रहती है। कभी आप पड़ने दो अपने ऊपर

भगवान्‌की दृष्टि; उनकी आँखसे आँख मिलाओ; और उनके मुखारविन्दपर मुसकान देखो। गोपी कहती हैं कि इसीसे हमारे हृदयमें तीव्र कामका उदय हुआ है।

देखो, परपुरुषके प्रति जो काम है वह अधर्म है, और अपने पतिके प्रति जो काम है वह अधर्म नहीं है, धर्म है; और भगवान्‌के प्रति जो काम है वह परमधर्म है। काम-वृत्ति एक ही है चित्तमें, परन्तु परपुरुषके प्रति काम-वृत्ति हुई तो अधर्म, अपने पतिके प्रति हुई तो धर्म और भगवान्‌के प्रति हुई तो परमधर्म। संसारकी वासना गड्ढेकी ओर ले जाती है, और भगवत् प्राप्तिकी वासना संसारसे ऊपर उठाती है।

तो गोपियाँ कहती हैं कि हमारे मनमें तो कामकी आग जल रही है, इससे हमारा रोम-रोम तप्त हो रहा है। कृष्णने पूछा—यह तुम्हारी आग कैसे बुझेगी? बोलीं—**'पुरुषभूषण देहि दास्यम्'** तुम बड़े उदार हो, अपनी सेवा दो, तब यह आग बुझेगी। हमारी आग कुछ खानेसे, कुछ पीनेसे, कुछ मिलनेसे, कुछ भोगनेसे नहीं मिटनेवाली है; जब हमें ईश्वरकी सेवा मिलेगी, श्रीकृष्णकी सेवा मिलेगी, अपने परम प्रियतमकी सेवा मिलेगी, तब यह आग बुझेगी। तो श्यामसुन्दर! हम चाहती हैं, तुम्हारी सेवा। तो कृष्णने कहा—गोपियो, सेवा देनेसे नहीं मिलती, हम देंगे तब तुम सेवा लोगी, तो अभी इन्तजार करो, प्रतीक्षा करो। जब समय आवेगा तब हम सेवा दे देंगे। अरे, माँगनेसे कहीं दास्य मिलता है? माँगनेसे कहीं सेवा मिलती है? जिसको सेवा करनी होती है वह तो करता ही है, वह सेवा किये बिना मर जायेगा। गोपी कहती हैं—नहीं-नहीं, तुम्हारे देनेकी जरूरत नहीं है, हम तो तुम्हारी दासी हैं और तुम्हारी सेवा करेंगी। इसमें तुम्हारी स्वीकृति-सापेक्ष सेवा हमको नहीं चाहिए, तुम मानो चाहे मत मानो, स्वीकार करो चाहे न करो, हमको अपनी दासी मानो चाहे मत मानो, लेकिन हम तो तुम्हारी सेवा करेंगी ही। एक जन्म करेंगी, जन्म-जन्म करेंगी। हम तो तुम्हारी दासी हैं ही, हमको दासी बनाओ मत। हमसे सेवा लो—ऐसा नहीं, हम तो तुम्हारी दासी हैं और सेवा करेंगी। इसको तुम भी नहीं रोक सकते।

गोपीमें दास्यका हेतु-१

(वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री........च भवाम दास्य:)

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.३९)

(१)

ऐसा है कि भगवान्‌को जो नमस्कार करे, उसको देनेके लिए भगवान् अपनी मुट्ठीमें हर समय मुक्ति लिए रहते हैं।—*'हस्तन्यस्तनतापवर्ग'।* इसीको गोस्वामीजीने लिखा-*'सकृत प्रणाम किये ते' 'सकृत प्रणाम किये अपनाये'*—एक बार जिस किसीने शिर झुकाया और प्रणाम किया, और बस भगवान्‌ने अपना लिया कि यह तो हमारा है। प्रेमीका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जरा मीठी नजरसे उसकी ओर देखो तो वह समझेगा कि यह हमारा हो गया। *'हस्तन्यस्तनतापवर्गमखिलोदारं'* अरे, अपने-आपको ही लुटानेके लिए उदार लोग, अपना दिल ही अपनी मुट्ठीमें लिए-लिए फिरते हैं कि लो भक्तो, लो भक्तो, हमारा स्वरूप लो! वे उदारचूड़ामणि हैं और अकारणकरुण हैं।

जीवका प्रतिपादन तीन विभागमें किया गया है, न्याय, वैशेषिक, और पूर्वमीमांसा। ये कर्ता-कर्मके रूपमें परमात्माका प्रतिपादन करते हैं। न्यायदर्शन कहता है कि जगत्‌का मुख्यकर्ता है ईश्वर और जगत् ईश्वरका कर्म है। इस प्रकार कर्ता और कर्मके रूपमें तत्पदार्थका प्रतिपादन होता है। पूर्वमीमांसाका कहना है कि जीवात्मा कर्ता है और कर्म धर्माधर्मका भागीदार है; इनके यहाँ त्वम्-पदार्थके रूपमें कर्ता-कर्मका निरूपण है। पूर्वमीमांसामें त्वं-पदार्थ और न्यायमें तत्पदार्थके रूपमें कर्ता और कर्मका निरूपण किया गया है। भक्ति-दर्शनवाले ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, और 'सर्व' ईश्वरका ज्ञेय है; ईश्वर जीव और जगत्‌के कण-कणको जानता है, क्षण-क्षणको जानता है, मन-मनको जानता है, इसलिए उसकी शरण हो जाओ। यह द्रष्टा और तत्पदार्थके रूपमें सर्वज्ञ ईश्वरका वर्णन करता है। द्रष्टा दृश्यके रूपमें त्वं-पदार्थका निरूपण करता है साङ्ख्य। भक्तिमें ऐसा है कि विषय विषयी विभाग करके वही आनन्दघन प्रभु भोक्ता है, और सब उसका ही भोग्य है। भक्तिमें भी, जो तदीयता है कि हम उसके हैं, उसको

मदीयता बनानेके लिए कि भगवान् हमारे हैं, वह वृन्दावनकी भक्ति है, श्रीकृष्णकी मधुररसकी लीलाओंका वर्णन है। इसलिए भोक्ता भोग्यके रूपमें तत्पदार्थका वर्णन करना वृन्दावनके रसिकोंका काम है। त्वम् पदार्थका भोक्ता भोग्यके रूपमें वर्णन प्रत्यभिज्ञावादी काश्मीरी शैव करते हैं। विशिष्ट और सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्‌के रूपमें परमेश्वरका निरूपण शरणागतिवादी विशिष्टाद्वैतवादी, श्रीरामानुजाचार्य और द्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य करते हैं।

इस प्रकार द्रष्टा-दृश्यके रूपमें त्वं-पदार्थ आत्माका निरूपण साङ्ख्यवादी और योगवादी करते हैं; जगत्‌का कर्ता ईश्वर और जगत् उसका कर्म यह निरूपण न्याय करता है और आत्मा कर्ता है और उसके धर्माधर्मके उपभोगके लिए जगत् है, ऐसा निरूपण पूर्वमीमांसा करता है। ऐसे यह विभाग होता है। यह जो अद्वैत वेदान्ती हैं, ये इनमेंसे किसीके अन्तर्गत नहीं हैं। उनका मार्ग निराला ही है। विडम्बना यह है कि यद्यपि अद्वैतके आधारपर ही सब टिके हैं पर उसीका खण्डन करनेके लिए अन्य सब दर्शन जोर लगाते हैं।

अच्छा, तो आओ, अब यह हमारा वृन्दावनी जो ईश्वर है यह हमारा प्राइवेट है, यह सार्वजनिक ईश्वर नहीं है; यह कभी ज्ञान-विज्ञानकी कसौटीपर चढ़ाया जानेवाला नहीं है। यह तो साँवरा-सलोना, व्रजराजकुमारके रूपमें व्यक्ति- प्राय है, व्यक्ति नहीं है। कई लोगोंका यह कहना है कि कृष्ण हमारा आत्मा है, परन्तु देखो, वृन्दावनके रसिक क्या कहते हैं—

ध्यानातीतं किमतिपरमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषामास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्रमात्मा।
अस्मांक तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दः
मेघश्यामः कनकपरिधिः पङ्कजाक्षायमात्मा।

कोई-कोई ऐसे हैं जो कहते हैं कि जो ध्यानसे परे कोई अनिर्वचनीय वस्तु है वह तत्त्व है, और वह शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व उनके हृदयकी गुहामें आत्माके रूपमें प्रकट हो रहा है; परन्तु हमारा आत्मा तो यह है जो प्रकृति मधुर श्रीकृष्ण हैं अर्थात् जो निसर्गमधुर हैं, माने जो स्वाभाविकमधुर हैं; कई चीजें ऐसी हैं जो शक्कर मिलानेसे मीठी हुई हैं। लेकिन ये श्रीकृष्ण जो हैं ये शक्कर मिलानेसे मीठे नहीं हुए हैं, स्वभावसे ही मधुर हैं; *'मधुरेव मधुरं'* मधुर ही मधुर हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में मधु ब्राह्मणमें तेरह विभाग करके मधु-ब्रह्मका वर्णन किया गया है—

सर्वेषां भूतानां इयं पृथिवी मधुः।

यह पृथिवी सम्पूर्ण प्राणियोंका मधु है; जल सम्पूर्ण प्राणियोंका मधु है; तो

यह मधु-मधु कौन है ? वही है प्रकृतिमधुर श्रीकृष्ण। ये मीठे भी हैं और नमकीन भी; इनमें थोड़ी खटास भी है। ये पूर्ण रसीले हैं। जैसे इमली देखकर, नीबू देखकर जीभपर पानी आता है, वैसे साँवरे-सलोने, चटपटे, मसालेदार, मन्द-मन्द मुसकान और प्रेमभरी चितवन वाले श्रीकृष्णको देखकर जीभपर नहीं, दिलमें पानी आता है, हृदय द्रवित हो जाता है। *'प्रकृतिमधुंर स्मेरवक्त्रारविन्दः'* इनका मुखारविन्द हमेशा उत्फुल्ल रहता है, खिला रहता है। *मेघश्यामः*—रसवर्षी मेघके समान साँवरा इनका वर्ण है और पीताम्बरधारी हैं, कमलनयन हैं; यह हमारा आत्मा है। यह पुरुष हुआ, भला!

कोई कहते हैं कि पुरुष तो वह है जो अन्तर्यामी है, सबका नियन्त्रण करनेवाला है *यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्*—जो पृथिवीमें रह करके पृथिवीके भीतर है, पृथिवी जिसका शरीर है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, वह अन्तर्यामी है, कोई उसको पुरुष कहते हैं। कोई कहते हैं—

दिव्योह्यमूर्तः पुरुष मध्ये आत्मनि तिष्ठति—ब्रह्म ही पुरुष है।

गोपियोंने कहा कि बाबा, ये पुरुष तुम लोगोंको मिलें—एक आत्मापुरुष है, एक अन्तर्यामी पुरुष है, एक ब्रह्मपुरुष है, ऐसा पुरुष-पुरुषोंको मिले। हमको तो स्त्रियों-सरीखा पुरुष चाहिए। स्त्रियों-सरीखा पुरुष कौन है ? वह है **पुरुषभूषण।** पुरुषभूषण कौन? स्त्रियोंको भूषण बहुत प्यारा होता है न, तो बोलीं—हमको ऐसा पुरुष चाहिए जिसको हम हारकी तरह छातीपर पहन सकें। है तुम्हारा कोई आत्मा अन्तर्यामी इस लायक? अरे, हम सौभाग्यके रूपमें जिसको धारण कर सकें, वैसा पुरुषभूषण चाहिए हमको; जिसको हम कानमें कुण्डलकी तरह पहन सकें, ऐसा पुरुषभूषण चाहिए; जिसको हम हाथमें कङ्गनकी तरह पहन सकें, जो हमारे अङ्ग-अङ्गका भूषण हो सके,—'ऐसा पुरुषभूषण हमको चाहिए। पुरुषभूषण, पुरुषरत्न, पुरुषोत्तम हमको चाहिए। हमको क्षरपुरुष नहीं चाहिए, मरनेवाला पुरुष नहीं चाहिए। बोले—अच्छा तो अमर, अक्षरपुरुष ले लो। बोलीं—अक्षरपुरुष भी हमको नहीं चाहिए। कूटस्थब्रह्म हमको नहीं चाहिए। तब कौन चाहिए?

यस्मात्क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

पुरुषोत्तम चाहिए; माने पुरुषभूषण चाहिए जिसकी बराबरीका कोई नहीं है। अरे, चाहने लगे तो छोटे-मोटेको क्या चाहना, सर्वोपरिको चाहो, क्योंकि

सर्वोपरिकी जो चाह है वह छोटी-छोटी चीजोंके विषयकी जो चाह है, उनको मिटा देती है। जब पुरुषभूषणकी इच्छा होती है कि हमको पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्राप्त हों जो परमेश्वरोंके भी परमेश्वर हैं, तो सांसारिक और दिव्य भोगोंकी इच्छा समाप्त हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन आता है कि एक ब्राह्मणका लड़का मर गया था तो अर्जुनको साथ लेकर श्रीकृष्ण भूमापुरुषके पास गये। इसपर हमारे भक्तोंने यह प्रश्न उठाया कि भूमापुरुष बड़े थे जिनका दर्शन करनेके लिए अर्जुन और कृष्ण गये या कि कृष्ण बड़े थे? बोले कि भूमापुरुष आठ बाहुवाले थे, यह बात सच्ची थी, क्योंकि अष्टधा प्रकृति उनकी बाहु हैं। बाहु माने कर्म करनेकी शक्ति। और श्रीकृष्णके तो दो या विष्णुरूपमें चार ही बाहु हैं। फिर भी श्रीकृष्ण ही, बड़े थे। श्रीकृष्ण जो अर्जुनके साथ भूमापुरुषके पास दर्शनको गये उसका एक रहस्य है। एक दिन नारदजी भूमापुरुषके पास गये और उनके कानमें इन्होंने सुनाया कि व्रजमें एक बालक पैदा हुआ है, नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी और फिर वही द्वारकामें आकर ऐसे-ऐसे खेल कर रहा है। परन्तु उसके समान सुन्दर तो सृष्टिमें कोई है ही नहीं। तो भूमापुरुषने कहा—अच्छा तो समय आ गया। जिस श्वेतवाराहकल्पके वैवस्वत मन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीके द्वापरमें हमसे बड़ा जो पुरुषभूषण है, परमपुरुष, परमसुन्दर, परममधुर, उसका अवतार हो गया, प्राकट्य हो गया! अरे भाई, तो उसके दर्शनके बिना तो हमारी आँख व्यर्थ है, जाना पड़ेगा; परन्तु यदि हम जायेंगे तो हमारी अनेक बाहु और नेत्र देखकर बेचारे गाँवके लोग डर जायेंगे, और कृष्ण तो वहाँ छिपकर मधुरातिमधुर बनकर क्रीड़ा कर रहे हैं। इसलिए उनको यहीं बुलावें। कैसे आवेंगे? तो अपने भक्तको बचानेके लिए आ सकते हैं; इसलिए आओ, अर्जुनको ऐसी विपत्तिमें डालें कि अर्जुनकी रक्षाके लिए श्रीकृष्ण हमारे पास आ जायँ, और हमारी आँखें तृप्त हो जायँ। तो श्यामसुन्दरका दर्शन करनेके लिए भूमापुरुषने यह षड्यन्त्र रचा, कि ब्राह्मणके लड़के मर जायँ, अर्जुन प्रतिज्ञा कर बैठें, और अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें दर्शन देनेके लिए जायँ। गौड़ेश्वर सम्प्रदायके रसिकोंने इसका ऐसा वर्णन किया है।

तो पुरुषभूषण—एक तो हीरा, और वह भी ऐसे सोनेमें मढ़ा गया हो जो बिल्कुल 'कुन्दन' हो; और हीरा भी कैसा कि ऐसा सुडौल काटा गया हो और उसमें ऐसी चिलक निकले; वैसी महाराज श्यामसुन्दरकी मुसकान है। **त्वत्सुन्दरस्मिता निरीक्षण**। उसीकी मारी ये गोपी हैं—**तीव्रकामतप्तात्मनाम्**। तो

गोपीको आत्मा-पुरुष नहीं चाहिए, अन्तर्यामी पुरुष नहीं चाहिए, ब्रह्मपुरुष नहीं चाहिए, उनको तो चाहिए पुरुषभूषण—

श्रवसो कुबलयं अक्ष्णो अञ्जनं उरसो महेन्द्रमणिदानं,
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति।

गोपियोंका आभूषण कौन है? उनकी आँखका अञ्जन कौन है? उनके हृदयपर नीलमणि कौन है? उनके कानपर कुण्डल कौन है? अरे, उसके लिए ही वे व्याकुल हैं— **तीव्रकामतप्तात्मनां।** जब श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी इच्छा हुई, तो यह इच्छा काम नहीं है, यह तो कामका परदादा है, भला! काम तो वह होता है जो दुनियाकी छोटी-छोटी चीजोंमें फँसा दे। देखो, मनमें मोह हो तो मोहनसे करो, संसारसे क्यों करते हो? मोहनसे मोहका नाम भक्ति है, भला!

एक बार हम किसी महात्माके पास थे, तो व्याख्या कर रहे थे कि धनके लिए तुम्हारे मनमें लोभ है तो लोभको रहने दो, परन्तु धनको निकाल दो, लोभ भगवान्‌का करो। तुम्हारे मनमें काम है तो काम भगवान्‌के साथ करो। ये काम, लोभ आदि विकार नहीं रहेंगे, भक्ति हो जायेंगे। ज्यादा ढोंग नहीं करना चाहिए कि हम तो निष्काम, निर्लोभ हैं। एक दिन मैंने एक हँसीकी बात पढ़ी, किसी अखबारमें। दो बच्चे आपसमें लड़ रहे थे कि उनके बीच जो एक कुत्ता (खिलौना) था उसे कौन ले—बड़ा भाई ले कि छोटा भाई ले। इतनेमें उनका बाप आ गया। उसने पूछा कि क्यों लड़ रहे हो? बच्चोंने कहा कि हमलोगोंमें शर्त लगी है कि जो ज्यादा झूठ बोले वही इस कुत्तेको ले ले, इसलिए ये एक-दूसरेसे बढ़-चढ़कर झूठ बोल रहे हैं। बाप बोला—तुम लोग बड़े दुष्ट हो, तुम लोग इतनी छोटी उम्रमें इतनी छोटी बातके लिए झगड़ रहे हो; मैं जब तुम्हारी उम्रका था तब यह जानता ही नहीं था कि झूठ क्या है? इसपर दोनों लड़के ताली पीटकर हँसने लगे। बोले—पिताजी, इस कुत्तेको आप ही ले जाओ, क्योंकि इतना बड़ा झूठ कोई नहीं होगा कि मैं झूठ नहीं बोलता। तो यह जो ख्याल है कि मैं कभी झूठ नहीं बोलता, ऐसा समझनेवाला ना-समझ है या तो ढोंग करता है, क्योंकि बोलेगा तो कुछ-न-कुछ झूठ भी निकलेगा ही! जो लोग थोड़ी दाढ़ी रख लेते हैं, गेरुआ कपड़ा पहन लेते हैं, कोई वेशभूषा धारण कर लेते हैं और कहते हैं कि हम निष्काम हो गये, तो दो ही बात उनके बारेमें सोची जा सकती है—या तो वे समझते नहीं कि 'काम' किस चीजको कहते हैं, और या तो वे सकाम होनेपर भी अपने निष्काम होनेका ढोंग करते हैं, दम्भी हैं। अरे, ईश्वरकी कामनासे तो सृष्टि बनी, और माता-पिताके कामसे यह सन्तान-परम्परा चली आ रही है, नारायण! तो अपना अन्तःकरण रखते

हुए यदि कोई कहे कि हमारे अन्तःकरणमें कामना नहीं है तो या तो वह ना-समझ है या ढोंगी है। अच्छा, जब अन्तःकरणमें कामना है तो उसको किसी ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरेके साथ मत जोड़ो; किसी उद्धू-बुद्धूके साथ काहेको अपनी कामनाको जोड़ते हो? अपनी कामनाको जोड़ो परमेश्वरके साथ; हम उसीके साथ हँसेंगे, बोलेंगे, उसीके साथ खेलेंगे, मिलेंगे—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।

भगवान्‌ने कहा कि तुम अपने कामको मेरे साथ जोड़ दो, अपने लोभको मेरे साथ जोड़ दो, अपने मोहको, क्रोधको मेरे साथ जोड़ दो। ढोंग नहीं चलता, ईश्वरके रास्तेमें दम्भकी गति नहीं है। जैसे कोई स्त्री चाहती तो हो कि हमारा पति खूब मना-मनाकर, हमारा पाँव छूकर हमको खिलावे, और कहे कि हमको बिलकुल भूख ही नहीं है; तो उसका यह कहना ढोंग है। उसी प्रकार महाराज, जबतक अन्तःकरण है तबतक इसको पूर्ण चाहिए; पूर्णका आश्रय लिए बिना ही हम पूर्ण हो गये, ऐसा ढोंग नहीं करना चाहिए। भगवान्‌ने देखा कि संसारके जीव छोटी-छोटी कामनामें फँस जाते हैं; इनको तो संसारका भोग चाहिए, और वह भी पाँचों इन्द्रियोंका नहीं, एक-एक इन्द्रियके भोगमें ही वे गिरते दिखाई देते हैं। इसलिए भगवान्‌ने अपनेको सर्वाङ्ग-सुन्दररूपमें प्रस्तुत किया। इनके साथ अपनेको जोड़ लो, भक्ति हो जायेगी, तुम्हारे विकार भी चिन्मय हो जायेंगे—इसीमें जीवनकी सफलता है।

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनाम् को देखकर हमारी गोपी कहती है—श्यामसुन्दर, तुम्हारी सुन्दर मुसकानको देखकर हमारी सारी मर्यादाएँ टूट गयीं। 'कान' माने मर्यादा और 'मूस' माने चुरा लेना। इसलिए जो मर्यादाको चुरा ले, उसका नाम मुसकान; जिस मुसकानको देखकर, अपने कुलकी, परिवारकी, जातिकी, सम्प्रदायकी, परम्पराकी मर्यादाका बन्धन टूट जाय उसका नाम है मुसकान! और चितवन क्या है? यह भीतर जो चित्त है वह आकर जिस झरोखेमेंसे झाँकता है, उसको चितवन बोलते हैं। चितवन क्या है—तो आँख है। ये आँख खिड़की हैं जिसमेंसे आत्मा झाँकता है। जिसकी ओर देखते हैं और मुसकरा देते हैं, उसके हृदयको अपनी ओर खींच लेते हैं। तो कामना हो तो हो, परन्तु संसारकी नहीं, श्रीकृष्णकी हो—यह भक्ति है।

तीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्।

रासलीलाके बादकी बात है: एक दिन एक गोपी और कृष्ण मिले, बड़े

प्रेमसे हँसी-मजाक हो रहा था। गोपीने कहा—हमलोगोंको क्या समझते हो? हम कोई ऐसी-वैसी थोड़े ही हैं। श्रीकृष्णने कहा कि आज तुम ऐसे-वैसे बता रही हो, वह दिन भूल गया जब कहा था कि—

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां।

अर्थात् हमारी अन्तरात्मा तुम्हारे प्रति तीव्रकामसे जल रही है और हमको अपनी सेवा दो, सेवा दो, सेवा दो; उस दिन तुम लोगोंने भीख नहीं माँगी थी हमसे? आज अपना बड़प्पन बघार रही हो? गोपीने कहा कि तुमको समझनेमें गलती हो गयी; हमने यह नहीं कहा था। फिर क्या कहा था? यह कहा था कि—'**त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां**' **अन्नशां, केषाञ्चित्, गोपीजनानां देहि दास्यम्**—अरे बाबा, जो तुम्हारे लिए मर रही हो, उनको तुम अपनी सेवा दो। हमको तुम्हारी सेवाके बिना कोई तकलीफ नहीं है, माफ करो। कृष्णने कहा—तुमने कहा था कि हमारे ऊपर खुश हो जाओ! बोली—हमने कहा था कि हमें खुश होकर छोड़ दो, हमें घर जाने दो। बोले—तुमने कहा नहीं था कि नाचो। बोली—हमने कहा था—**वृजिनार्दन** माने हमसे अपराध मत करवाओ, तुम तो अपराधसे छुड़ानेवाले हो। तुम अपनी शर्तें उनसे मनवाओ जो तुम्हारे चरणोंमें आयी हों, जिन्होंने तुम्हारे लिए त्याग किया हो, जो तुमसे प्रेम करती हों। जिनके हृदयमें तुम्हारे लिए पीड़ा हो, उनको तुम अपना दास्य दो! बाबा, हमें तो माफ करो; मैं तो इधर आ गयी थी और तुम्हारे फन्देमें फँस गयी!

एक निष्काम कर्मयोगी सज्जन थे। एक बार वह व्रजमें आये। तो व्रजवाले लोग तो समझते हैं कि वृन्दावनमें जैसा ऊँचा वाङ्मय है भक्तिका, प्रेमका है वैसा तो कहीं है नहीं; तो उनसे बहुत आग्रह किया कि चलो रासलीला देखें। अब वह गये रासलीला देखने, तो महाराज श्रीकृष्ण साँवरी सखी बनकर आये। राधारानीने पूछा कि तुम कौन हो? बोले—हम सखी हैं, साँवरी सखी हैं, हम यहीं वनमें रहती हैं, हम ऐसी हैं, हम वैसी हैं, हमारा गोपदेवी नाम है। फलाना है, ढिकाना है, ऐसे सब बताया और प्रेमकी चर्चा की। वह लीला इसीलिए करायी गयी थी कि वे सज्जन प्रेमका भाव समझें। वह तो बहुत बढ़िया लीला है। विश्वनाथ चक्रवर्तीने लिखी है संस्कृतमें, प्रेम-सम्पुट उसका नाम है, डेढ़ सौ श्लोकोंका ग्रन्थ है। उसमें दोनों ओरसे सम्वाद होता है। साँवरी सखी कहती है कि श्यामसुन्दर तुमसे (राधारानीसे) प्रेम नहीं करते हैं, और राधारानी कहती हैं कि श्यामसुन्दर हमसे बहुत प्रेम करते हैं। साँवरी सखी कहती है कि कृष्णमें प्रेम नहीं है, और राधारानी

कहती हैं कि कृष्णमें बहुत प्रेम है। यह दोनोंका सम्वाद है और प्रेमका रहस्य उसमें खोला है।

प्रेमाद्द्वयो रसिकयोरतिदीप एव हृद्वेश्म भासयति निश्चल एष भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु विनिर्गतश्चेद् निर्याति शान्तिमथवा तनुतापैति॥

प्रेयसी और प्रियतम दोनोंके हृदयमन्दिरमें विराजमान जो प्रेम है वह दीपक है, जो हृदयमन्दिरको प्रकाशित करता है और अचल होकर रहता है—यदि ये मुखके दरवाज़ेसे बाहर गया कि मैं प्रेमी हूँ—मैं प्रेमी हूँ, यह घोषणा की गयी, तो या तो दीपक बुझ जायेगा या कम-से-कम लड़खड़ा तो जायेगा ही। यह प्रेमदीपक जबतक हृदयमन्दिरमें छिपा रहता है, तभीतक सुरक्षित है।

अब महाराज बड़ा बढ़िया सम्वाद हुआ; डेढ़-दो घण्टेकी लीला हुई। लीला हो जानेके बाद उन्होंने कहा कि लीला तो बहुत ही खराब थी क्योंकि इसमें श्रीकृष्ण ग्वालिनी बनकर झूठ बोलते हैं। वृन्दावनके लोगोंने कहा—भाई, तुम प्रेमको नहीं जानते हो, तुम झूठ-सचकी बात तो समझते हो, लेकिन प्रेमकी बात नहीं समझते हो। प्रेममें तो जो गूढ़ तत्त्व है वह बात की जाती है; प्रेममें गुदगुदानेवाली बात की जाती है। धर्म-अधर्मकी जहाँ समस्या होती है वहाँ झूठ-सच होता है। और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ तो कभी गर्मीसे, कभी ठंडकसे प्रेमको स्वादु बनाया जाता है। कहीं गर्मीसे, कहीं सर्दीसे, कहीं झूठसे, कहीं सचसे, कहीं सोके, कहीं जागके, कहीं जानकर, कहीं अनजान बनके प्रेमको सुस्वादु बनाया जाता है। ज्ञानका आदर करनेके लिए प्रेम नहीं है। प्रेमकी जो लीला है, वह बहुत विलक्षण है।

कृष्णने कहा—अरी गोपियो! न तो कभी मैंने तुम लोगोंकी कोई सेवा की; न तो कभी कोई दान-दक्षिणा दी; न तो कभी तुम लोगोंको खिलाया-पिलाया, कोई पार्टी नहीं दी, और न तुम्हारी तारीफ की कि तुम्हारी नाक ऐसी ऊँची है, तुम्हारी आँख ऐसी बड़ी है और तुम्हारे बाल ऐसे सुन्दर हैं—तारीफ कर-करकर तुमको कभी रिझाया नहीं; और डण्डा लेकर कभी भेड़की तरह जङ्गलमें लाया नहीं। यह तुम क्यों चाहती हो कि हमको दासी बनाओ? अरे, जाकर अपने घरकी महारानी बनो, हमारी दासी बनकर क्या होगा? क्यों आयी हो दासी बननेके लिए, अपने घरमें तुम महारानीकी तरह रहो। हमारे पास ऐसा क्या रखा है जिससे तुम घर-द्वार छोड़कर हमारे पास आयी हो?

नारायण! गोपियाँ वर्णन करती हैं कि बाबा, तुम्हें कुछ देनेकी जरूरत थोड़े ही है, हम तो तुम्हें देख-देखके ही बेदाम की गुलाम हो गयी हैं! आप लोगोंने गोपीगीतमें पढ़ा होगा—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकाः त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥
शरदुदाशये साधुजातसत् सरसिजोदर श्रीमुषा दृषा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरदनिघ्नतो नेह किं वधः॥

जहाँ ले-देके प्रेम होता है वह तो सौदा हुआ, प्रेम काहेका? गोपियोंने कहा नहीं—बाबा, यह बात नहीं है, तुमने तो हमको दे-दे करके फँसाया है, क्या दिया?

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥

हम तो देख-देखके बिना दामकी गुलाम हो गयीं—'**अशुल्कदासिका। वीक्ष्यालकावृतमुखं**' पहले तो तुम्हारे अलकोंसे ढके मुखको देखा। भगवान्ने बालोंको इसीलिए बनाया है क्योंकि ये असुन्दरको भी सुन्दर बनाते हैं। हमने देखा एक श्रीमतीजी थीं; उनके मुँहका रङ्ग इतना काला था कि पाउडर लगाकर भी सुन्दर नहीं लगता था। उसके लिए बचपनमें एक दोहा पढ़ा था; हमारे एक मित्र थे, उनके चाचा बड़े कवि थे। उन्होंने कई कुण्डलियाँ लिखी थीं। उसमें एक कुण्डली आयी थी। पहली बार जब मैं उसके घर गया था तब-हमारी उम्र कोई बारह-तेरह वर्षकी रही होगी। तब उन कुण्डलियोंको पढ़के हँसी बहुत आती थी पर याद सभी हो गयी थी। उनमें एक थी—

करिया मुँहपर पाउडरकी शोभा कंस सरसाय।
मनहुँ धुवानी भीतपर कलई दीन्ह कराय॥

तो जब बालोंको दोनों तरफ लटका लेते हैं तो मुँह कितना भी काला हो—बालसे ज्यादा काला तो होता नहीं—इसलिए गोरा दिखने लगता है। बाल होते हैं खुद तो काले लेकिन जिसके मुँहपर लटकते हैं उसको अपनेसे गोरा सिद्ध करते हैं; यह बालोंकी महिमा है। यह तो सन्तका स्वभाव है कि अपनेको काला दिखा करके भी दूसरेको गोरा सिद्ध करना।

तो—**वीक्ष्य अलकावृतमुखं**—बालोंको जब उठाते हैं, तो कंघीसे भी उठाते हैं, और हाथसे भी उठाते हैं। कभी उनको बारम्बार मुकुटके नीचे करना

पड़ता है, कभी कानके पीछे करना पड़ता है, कभी वे आँखपर लटक जाते हैं, कभी कपोलोंपर आकर स्पर्श करते हैं। जो बाल घुँघराले होते हैं, वे पूरे नहीं लटकते हैं, टेढ़े-टेढ़े होकरके लटकते हैं, छल्लेदार बन जाते हैं। आप श्रीकृष्णका ध्यान करें—**'वीक्ष्यालकावृतमुखं'** श्रीकृष्णका मुख उनकी घुँघराली अलकोंसे आवृत-सा हो रहा है। गोपीका व्यङ्ग्य यह है कि श्रीकृष्ण! तुम घूँघटतो कर नहीं सकते क्योंकि तुम पुरुष जो हुए, लेकिन यह अलकोंका घूँघट करके चलते हो तो हमको तुम्हारा मुख बार-बार देखनेका मन होता है कि इनके भीतर मुँहकी कैसी छवि है। ये तुम्हारे काले-काले घुँघराले बाल, महीन, घने और चिकने-स्निग्ध, तुम्हारे मुखारविन्दपर लटककर स्वयं भी शोभित हो रहे हैं। ये तुम्हारे बाल भी जड़ नहीं हैं, चिन्मय हैं, **हिरण्यकेशः**—ऐसी श्रुति है। असलमें भगवान्‌के ये चिन्मय बाल संसारी जीवोंके मनकी चिड़ियाको फँसानेके लिए जाल हैं और मनकी चञ्चलताके लिए ये काल हैं। देखो, केशोंको भगवान्‌की सारूप्यमुक्ति प्राप्त है, क्योंकि जैसा भगवान्‌के शरीरका रङ्ग है, श्याम, वैसा ही श्याम रङ्ग बालोंका है—रूपका सादृश्य हो गया। परन्तु वे शिरपर रहना पसन्द नहीं करते, वे लटकके मुखारविन्दका दर्शन करना पसन्द करते हैं। सारूप्यमुक्तिका तिरस्कार करके भी भगवान्‌के मुखारविन्दका स्पर्श चाहते हैं। माने भगवान्‌की सेवामें जो सुख है वह सारूप्यमुक्तिमें नहीं है। यह बात श्रीसुबोधिनीजी में श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कही है।

अब गोपी कहती हैं कि आपके अलकोंसे ढके मुखपर कुण्डलोंकी शोभाने भी हमको आपकी दासी बना दिया है। गोपियोंको कुण्डलोंसे भी सौतियाडाह होता था कि ये हर समय श्रीकृष्णके कान ही भरते रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें बताया है कि साङ्ख्य और योग भगवान्‌के मकराकृत कुण्डल हैं; तो मानो ये साङ्ख्य और योग कृष्णके कानमें सिफारिश करते रहते हैं कि अमुक भक्त स्वीकार करने योग्य है या नहीं। अर्थात् कोई विवेकी है या योगी है तो स्वीकार करो, वरना नहीं। भगवान्‌को भी यह बात अच्छी नहीं लगी। सो महाराज, भगवान्‌ने दोनोंको, साङ्ख्य और योगको, ऐसा मरोड़ा कि उनको मकराकृति कर दिया। मकराकृति माने मत्स्याकृति—मछली जैसी शक्लकी। यह मछली क्या है, आप जानते हैं? बंगालीलोग तो इसे बहुत प्यार करते हैं! यह कामकी ध्वजा है। जो नारायणके कुण्डल हैं, जो ईश्वर या भूमापुरुषके कुण्डल हैं, वे तो साङ्ख्य और योगकी सिफारिश करते हैं, परन्तु श्रीकृष्णभगवान्‌के कानमें जो कुण्डल हैं वे मकराकृति हैं इसलिए वे तो कामके सिफारिशी हैं। माने कृष्णके प्रति जिसके

हृदयमें काम है, उसकी सिफारिश ये श्रीकृष्णसे करते हैं कि यह तुमको चाहनेवाला प्रेमी है, तुम्हारे प्रति कामवाला है, इसको तुम स्वीकार करो।

बिहारीका एक दोहा है—

मकराकृति गोपालके कुंडल सोहत कान।
मनहुँ समर घर करि धँसौ त्यों ही लसत निसान॥

गोपालके कुण्डल जो हैं मकराकृति हैं और कानमें शोभायमान हैं। मानो सारी दुनियाको जीतकर काम आया और आकर कृष्णमें प्रविष्ट हो गया, और उसकी विजय-वैजयन्ती जो मकराकृति है वह श्रीकृष्णके कानोंके पास फहरा रही है।

जैसे बालोंको सारूप्य मुक्ति मिली है वैसे कानोंके कुण्डलोंको सामीप्य मुक्ति मिली है, परन्तु वे सामीप्यमुक्ति नहीं चाहते हैं। क्या चाहते हैं?— **कुण्डलश्रीगण्डस्थलं**—कुण्डलोंकी जो गण्डस्थली है, कुण्डलोंकी जो शोभा है, वह आकर भगवान्‌के कपोलोंपर चमकती रहती है, नाचती रहती है। भगवान्‌का जो मुखारविन्द है, कपोल हैं, वह एक सरोवरके समान हैं और उनको नीला रङ्ग मानो उस सरोवरमें नीला जल है। उस नील-सरोवरमें उनकी आँखोंकी दो मछली तो ऊपर नाचती रहती हैं और ये मकराकृति कुण्डलकी जो दो मछली हैं कपोलोंपर आकर उनकी जो परछाईं पड़ती है, वह नाचती रहती है। कुण्डल नाचते हैं तो उनकी कपोलों पर पड़ रही परछाईं भी नाचती दीखती है। क्यों न हो कृष्ण स्वयं भी तो नृत्यकलाप्रवीण हैं।

इस प्रकार दोनों कुण्डलोंकी जो श्री है, शोभा है, वह दोनों गण्डस्थलोंपर पड़ती है— ऐसा मुखारविन्द है। और श्रीकृष्ण! तुम्हारे अधरोंकी सुधा लोभजनक है—**अधरसुधम् वीक्ष्य**। देखो, यह अधरसुधा सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होकर भी भीतर नहीं रहना चाहती, छलकती है। अब महाराज, 'अधर' शब्दका ऐसा-ऐसा अर्थ किया है कि अगर वृन्दावन होता तो एक-दो अर्थ और सुना देते।

'**कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं**' उनके अधरोंमें ऐसी सुधा है जो छलककर कपोलोंमें चली जाती है। इसमें ऐसा है नारायण! कि गण्डस्थलपर अधरसुधाका वर्णन-यह स्वाभाविक नहीं है। यह तो कहींसे आयी हुई मालूम पड़ती है। तो कुण्डलमें लक्ष्मीजी हैं— '**मण्डितं कनककुण्डललक्ष्म्या**' लक्ष्मीजीने देखा कि हृदयपर तो मैं स्वर्णिम रेखा बनकर बैठी हूँ और चरणोंमें रज बनकर बैठी हूँ लेकिन इतनेसे ही श्रीमती पत्नीका धर्म पूरा नहीं हुआ। पत्नीका धर्म पाँवकी धूल बननेसे पूरा नहीं होता, वक्षस्थलकी शोभा बननेसे भी पूरा नहीं होता;

तब? —'**कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं**' तब लक्ष्मीजी कुण्डलोंमें आकर बैठ गयीं और बारम्बार उसके प्रतिबिम्बके द्वारा भगवान्‌के कपोलोंका स्पर्श करने लगीं।

अधरसुधाका अर्थ होता है कि अमृत जिसके सामने फीका पड़ जाता है। गोपी कहती हैं कि इस अधरसुधाको हमने देखा भर ही है—इसमें लिया-दिया कुछ नहीं—बस देख-देखके ही हम तुम्हारी दासी हो गयी हैं। हम दासी होवेंगी। यह नहीं, हमको दासी बनाओ यह बात भी नहीं, वे कहती हैं कि अब दासी बनाना तुम्हारे हाथमें नहीं है, वह तो हमारे हाथमें आ गया। पहले चाल तुम्हारे हाथमें थी कि तुम स्वीकार करो या न करो; लेकिन बाबा, अब तुम चाहे स्वीकार करो, मत करो—हम तुमसे त्रिवाचा भरवाने नहीं आयी हैं कि तुम हमसे यह कहो कि 'तुम हमारी दासी हो, दासी हो, दासी हो, और हम तुमको अब कभी नहीं छोड़ेंगे, नहीं छोड़ेंगे, नहीं छोडेंगे; हम तुमसे यह नहीं कहेंगी कि इसके लिए तुम अग्निकी सौगन्ध करो या गणेशजीको मनाओ और उनके सामने वायदा करो कि हम अब तुमको कभी नहीं छोड़ेंगे—हम तो अपनी ओरसे यह बोलती हैं कि '**भवाम दास्यः**' हम तो तुम्हारी दासी हैं ही चाहे तुम हमको स्वीकार करो या हमको तुम इसी क्षणमें छोड़ दो। हम सापेक्ष प्रेम करनेवाली नहीं हैं। यह बात आगे चलकर बहुत अच्छा रासपञ्चाध्यायीमें है। वहाँ आया है कि जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं वे तो ऐसे हैं जैसे पशु-पक्षी आपसमें प्रेम करते हैं। और जो—'

भजतोऽपि न वै केचित् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥

प्रेम न करनेवालेसे प्रेम करना, यह तो वात्सल्यमें होता है जैसे माता-पिता प्रेम करते हैं, जैसे सन्त प्रेम करते हैं, जैसे चातक प्रेम करता है, जैसे कुमुदिनी प्रेम करती है—यह एकाङ्गी प्रेम है। यह ऊँची बात है। और दोनों ओरसे प्रेम करना यह मामूली बात है, इसमें दोनोंका स्वार्थ है। गोपियोंका प्रेम कोई संसारियोंका, कोई भोगियोंका, (कोई रोगियोंका, काम-रोगियोंका प्रेम) नहीं है; गोपियोंका प्रेम तो गोपियोंका प्रेम है; उसमें और क्या बात है, यह प्रसङ्ग फिर सुनावेंगे।

३३

गोपीमें दास्यका हेतु-२

(वीक्ष्मालकावृतमुखं . . . . पुलकान्यविभ्रन्)

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्य सौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

(श्रीमद्भागवत १०. २९, ३९-४०)

'भवाम दास्यः' हम तुम्हारी दासी हो रही हैं, पहले श्लोकमें कहा था **'देहि दास्यम्'** हमें सेवाका अवसर दो, हमें दास्य दो; अब यह नहीं कहती हैं कि हमको दास्य दो; गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं कि हम तुम्हारी दासी हैं— जैसे मीरा बोलती हैं: ***मीरा दासी जनम-जनम की।*** हम तो दासी हैं ही हैं। दासी होना रसकी उत्पत्तिके लिए आवश्यक है, क्योंकि रसकी गति छोटेकी ओर होती है। जो बड़ा बनता है या बराबरी करता है या नीचे दबाता है, या डण्डा दिखाके प्रेम लेना चाहता है, उसके प्रति रसका प्रवाह नहीं होता। दास्य सब रसोंका मूल है; दास्यमें शृङ्गार भी है; और दास्यमें जो दास्यजनित सुखमें स्थिति है वह शान्त-रस भी है। तो असलमें जीवनमें जो रसका उदय होता है वह निरहम् होनेसे होता है; अहंका जितना परित्याग होगा, रसका उतना ही उदय होगा; वेदान्तकी छाया समझो इसको। यदि अन्तःकरण निरहम् हो जाय तो उसमें ब्रह्मका आविर्भाव हो जाय, और यदि अन्तःकरण निरहम् हो जाय तो उसमें रसका आविर्भाव हो जाय ***रसो वै सः*** ब्रह्म रसस्वरूप है।

दास्य शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ है— अपनेको उपक्षीण कर देना; किसीके पास ले जाकर अपने-आपको गला देना। तो दास्य माने किसीके स्वामित्वमें अपने अहंको गला देना। और इसी अहंके गलनेसे शान्ति भी आवे, सख्य भी आवे, वात्सल्य भी आवे, शृङ्गार भी आवे; और फिर रस-बिन्दुसे बनी अनेक रेखाएँ आकृतियाँ आवें। यदि दास्य नहीं आया—माँ, माँ तो बनती है पर बच्चेके प्रति स्नेह-सेवा नहीं बरतती, मित्र मित्र तो बनता है परन्तु अपने सखाके प्रति मैत्री और सेवा नहीं देता, कोई पत्नी पतिसे प्रेम तो करती है परन्तु उसको अपना प्रेम और सेवा नहीं देती है—तो रसका उदय नहीं होगा। प्रेमकी जड़

विश्वास है, और प्रेमकी अभिव्यक्ति सेवा है। प्रेम सेवाके रूपमें प्रकट होता है और विश्वासमेंसे निकलता है। प्रेमका बाप विश्वास और प्रेमकी उपलब्धि, प्रेमका फल; प्रेमका रसीला फल, सेवा है; जिससे प्रेम होता है उसकी सेवा होती है। तो यह दास्य जो है, वह सर्व रसोंके प्रकट होनेका मूलस्थान है। गोपियोंने कहा कि यदि हम मूलको, जड़को पकड़ लेंगे तो शाखा-पल्लव अपने-आपही पकड़में आ जायेंगे। बोले—भाई, प्रत्येक वस्तुकी अभिव्यक्तिका एक नियम होता है, तो तुम्हारे हृदयमें दास्य रसकी जो अभिव्यक्ति हुई, दास्य रस जाहिर हुआ, वह किस निमित्तसे हुआ? तो बताती हैं—

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥

इसमें पहले एक शब्दपर ध्यान देने लायक है—**वीक्ष्य** और **विलोक्य**-**विलोक्य वक्षः** और **वीक्ष्यालकावृतमुखं**। साधारण रूपसे दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है वीक्ष्य माने देखकर और विलोक्य माने देखकर। तो कहा कि भाई, गोपी प्रेममें बोल रही हैं, और प्रेमके मार्गमें नेत्रों का स्थान मुख्य है, ऐसा मानते हैं; ***चक्षुरागस्य प्रथमम्***— राग पहले आँखमेंसे निकलता है, माने आँखसे आँख पहले मिलती है। पहले दिल-दिलकी प्रीति नहीं होती, पहले हाथ-हाथकी प्रीति नहीं होती, पहले आँख-आँखकी प्रीति होती है। जबतक ज्ञान समान नहीं होगा, तबतक प्रेम कहाँसे आवेगा? नयनप्रीति प्रथमम्; नयन-प्रीतिका अर्थ है, ज्ञानमें समानता। इसीसे देखो श्रीकृष्ण भगवान् राधारानीसे कहते हैं :

प्यारी जू, जैसे हौं तुम्हारी आँखिन में अपनपव देखत,
तैसी तुम देखत हौं किधौ नाहिं॥

तुम्हारी आँखोंमें जैसा अपनपव मैं देखता हूँ, वैसा तुम मेरी आँखमें देखती हो कि नहीं देखती हो? आँखमें अपनपव देखनेसे समझो कि श्यामसुन्दर राधारानीके इतने निकट हैं कि उनकी आँखमें अपनी परछाई दिख रही है; अब वे कहते हैं कि तुम भी हमारी आँखमें अपनी परछाईं देखती हो कि नहीं? आँखमें परछाईं देख लेना, यह कितना पास होना है!

प्रेमके मार्गमें पहला कदम चक्षुराग-नैन प्रीति है। आप कभी भगवान्का ध्यान करें, तो यदि केवल आँखका ध्यान करें, आँखसे आँख मिला दें, भगवान्की आँखमें आप अपनी परछाईं देखें और भगवान् आपकी आँखमें अपनी परछाईं देखें, तो आपका ध्यान टूटनेका नाम नहीं लेगा। यह वीक्षण है। इसकेबाद मनमें

सङ्कल्प उठता है, सङ्कल्पके बाद लालसा आती है, फिर व्याकुलता होती है, फिर मिलनेका प्रयत्न होता है—इसमें अनेक भूमिका आती हैं।

तो वीक्ष्य और विलोक्य, इन दोनों असमास क्रियापदोंका प्रयोग एक ही श्लोकमें दो बार होवे तो इनका मतलब 'देख लिया' ऐसा नहीं है। 'वीक्षाँश्चक्रे' नहीं है भला, 'विलोकयामास' नहीं है; तब क्या है? कि वीक्ष्य, विलोक्य—अर्थात् देख-देखकर, देखनेसे कभी तृप्ति नहीं होती।

जनम-अवधि हम रूप निहरिन नैन ना तृपित भयेल। यह विद्यापतिका पद है जिसको प्रेममें तृप्ति हो जाती है उसको कहते हैं कि यह योगी हो गया, यह ज्ञानी हो गया! प्रेममें तो प्यास और रस, रस और प्यास—इन्हींके पुनः-पुनः उत्थानका नाम प्रेम है, प्यास जगे तृप्ति हो, और तृप्तिके बाद फिर प्यास जगे, और फिर तृप्ति हो, और फिर प्यास जगे, और फिर तृप्ति हो। यह प्रेम जो है वह तृप्ति और प्यासकी जोड़ी है। तो वीक्ष्य-वीक्ष्य, विलोक्य-विलोक्य—ऐसा यहाँ भाव है।

अब देखो दोनोंको अलग-अलग करना हो तो एकको सम्बोधन कर लो—

हे वीक्ष्य वीक्षितुं योग्यः वीक्ष्यः तत् सम्बोधने हे वीक्ष्य।

अरे, देखने लायक दुनियामें कोई है तो श्रीकृष्ण ही हैं। इसलिए उसको सम्बोधित करती हुई गोपी कहती है—हे वीक्ष्य!

एक दिन व्रजमें एक ग्वालिनी आँख बन्द करके ध्यान कर रही थी। बोले—अरे ग्वालिनी, निकल जा व्रजसे। तू व्रजमें रहने लायक नहीं है। व्रजमें कहीं आँख बन्द करके प्यारेको देखा जाता है? यहाँ खुली आँखसे देखनेका है; यहाँ तो प्यारा सूक्ष्म नहीं है; स्थूल है। वृन्दावनमें अपना प्यारा है, ब्रह्म नहीं है, अन्तर्यामी नहीं है, गोलोकाधिपति नहीं है, किसी सूक्ष्मलोकका कोई देवता नहीं है; वह तो इसी मूलभौतिक लोकमें रहता है। प्रेमकी यह महिमा है, यह ब्रह्मका साधारणीकरण है। यह वृन्दावन जो है, वह ब्रह्मको सातवें आसमानसे धरतीपर उतारता है। यह अचिन्त्य, अनन्त, अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य ब्रह्मको व्यवहारकी भूमिमें लाता है। इसलिए वीक्ष्य माने वीक्षणीय, जिनके सिवाय और कुछ देखने लायक नहीं है—

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ, जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो,

श्यामसुन्दर हों सामने, और आँख बन्द हो गयीं—बोले क्यों समाधि लग गयी? चपत मारके समाधि तुड़वाओ! श्रीकृष्ण सम्मुख और समाधि लग जाय? बोले—भाई, जाके गोलोकमें उनको प्राप्त करेंगे, नासमझ हो! यहाँ तो वीक्ष्य है, वीक्षणीय है।

वीक्ष्य शब्दका एक तीसरा अर्थ भी है: संस्कृत भाषामें 'वि' पक्षीको कहते हैं। **पक्षिभिः शकुनी वीनामपि ईक्षणीयः, वीक्ष्य वीनामपि ईक्ष्य वीक्ष्यः।**

जिनको देखकर पशु-पक्षी भी आनन्दमें मग्न हो जाते हैं, वह है वीक्ष्य!

सरसि सारस हंस बिहंगा, चारु मीत हित चेतक हेरय।
हरि उपासत तेयक चिन्ता, हंस वीलित वृषोघृत मूणाः॥

सरोवरमें सारस हंस और वृक्षपर विहंग बैठे हैं, श्रीकृष्णको एकटक देख रहे हैं, मानो उनकी आराधना कर रहे हैं। मोर नाच रहा है, कोयल कुहुक-कुहुक कर रही है। गोपी कहती है—जिसको पशु-पक्षी भी इतने प्रेमसे देख रहे हैं, उसको हम मानवीय न देखें, यह कैसे सम्भव है! अरे, हम तो मानती नहीं—मानवीय तो चीन-जापानमें भी होंगे; मानवीय तो यूरोप-अमेरिकामें भी होंगे, हम मानवीय नहीं भारतीय है और बाबा, भारतीय नहीं व्रजवासी, और व्रजवासिनी नहीं, वृन्दावनकी ग्वालिनी—हम कृष्णको न देखें यह कैसे सम्भव है! तो हमने तुमको देखा और क्या देखा? **अलकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं**—

'अलकावृतमुखं' काले-काले घुँघराले बाल मुखारविन्दपर लटक जाते हैं, इसलिए मुखका जो साँवरापन है वह कम हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णका जो रङ्ग है, वह नीलोज्ज्वल है—ऊपरसे देखनेमें नीला है, परन्तु भीतरसे उज्ज्वल कान्ति निकलती है, जैसे हीरेमें चिलक निकलती है वैसी। इसलिए श्रीकृष्णका एक नाम है, नीलोज्ज्वल-मणि। उनके काले-काले घुँघराले बाल हैं और उनके शरीरमें ऐसी दिव्यगन्ध है कि भौंरे उनके पीछे-पीछे दौड़ते हैं; सारूप्यको प्राप्त भ्रमर और सारूप्यको प्राप्त बाल, ऊपर नहीं रहना चाहते। वारम्वार श्रीकृष्ण उनको ऊपर करते हैं कि चलो-चलो, तुम सिरपर रहो पर वे कहते हैं कि नहीं-नहीं; हम तो तुम्हारा कपोल छुएँगे इसलिए नीचे गिर पड़ते हैं! मानो बालोंको भी यह लोभ है कि हम श्रीकृष्णके कपोलका स्पर्श करें, उन्हें सालोक्य नहीं चाहिए सेवा चाहिए।

'तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलं' कैसा है तुम्हारा मुखारविन्द? बोले—कुण्डलमें आकर 'श्री' अर्थात् लक्ष्मी बैठ गयीं। साङ्ख्य और योग दोनोंका बहिष्कार कर दिया। जब समुद्र-मन्थन हुआ तो उसमेंसे लक्ष्मीजी निकलीं, तो उन्होंने कहा कि हमको एक वाहन भी चाहिए। आपको मालूम होगा कि लक्ष्मीजी कई तरहसे चलती हैं—लक्ष्मीजी जब भगवान्‌के साथ चलती हैं तब गरुड़पर उनके साथ बैठकर चलती हैं, लेकिन जब अकेले जाती हैं तब गरुड़पर नहीं, उल्लू पर बैठकर चलती हैं। जिसको दिनमें बिल्कुल नहीं सूझता, जिसको रोशनी नहीं

दिखती। लेकिन महाराज! भगवान्‌के पास जाना है तो उन्होंने कहा-कि भगवान् तो समुद्रमें रहते हैं तो वहाँ चिड़ियापर चढ़कर जाना कैसे बनेगा? इसलिए, अपने प्रियतमके पास जानेके लिए जो वाहन उन्होंने चुना वह थी एक बड़ी सुन्दर मछली। अब वह मत्स्यवाहना हो गयीं। लेकिन भगवान्‌के कानमें पहलेसे योग और साङ्ख्य लगे हुए थे। आप जितने बड़े लोग होते हैं उनका कान भरनेवाले कुछ लोग जरूर होते हैं; भगवान् भी बड़े हैं, तो उनके कानमें लगे एक ओर साङ्ख्य और एक ओर योग। साङ्ख्य माने विवेक और योग माने एकाग्र मन। विवेक और एकाग्रता भगवान्‌से सिफारिश करते हैं कि इस आदमीकी ओर जरा आँख उठाके देखो तो, यह विवेकी है, यह एकाग्रचित्तवाला है; ये दोनों लगे। अब लक्ष्मीजीने क्या किया कि एकाग्रता और विवेक दोनोंको वहाँसे हटा दिया, और स्वयं कामकी जो ध्वजा है मछली, उसका सहारा लिया, और आकर कानके पास लग गयीं और वारम्वार अपने प्रतिबिम्बसे श्रीकृष्णके कपोलका स्पर्श करती हैं। दूसरी जगह भी भागवतमें आया है—'**मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्मया**' कनककुण्डलमें जो लक्ष्मी है, शोभा है, वह भगवान्‌के कपोलको वारम्वार स्पर्श करती है। अब भगवान्‌के कान कौन भरेगा? तो बोले कि यह कामकी सूचक जो मछली है, वह भरेगी। जिसके हृदयमें भगवान्‌के प्रति कामना होगी, मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षा होगी, उसकी ओर भगवान् देखेंगे। भक्तिमें विवेक और एकाग्रताकी जरूरत नहीं है। भक्तिमें भगवत्-प्राप्तिकी लालसा आवश्यक है। नारायण, जीवमें चिकीर्षा और लिप्सा दोनों होती हैं, माने जीव करना भी चाहता है और पाना भी चाहता है और भगवान् जो हैं उनमें चिकीर्षा तो होती है, लेकिन लिप्सा नहीं होती, वे करते हैं परन्तु पाना नहीं चाहते। और ब्रह्म जो होता है उसमें न चिकीर्षा होती है और न लिप्सा होती है; ब्रह्म न करता है, न करना चाहता है, वह न तो पाता है और न पाना चाहता है। तो भगवान्‌ने कहा कि जीव इतना नीचे चला गया है कि चिकीर्षा और लिप्सा है और वे उसके दोनों कान पकड़कर संसारमें लगाये हुए हैं, इसलिए अब हम भी वहीं चलेंगे तभी इसको उठा पावेंगे। कैसे कि जैसे एक आदमी कुएँमें गिर जाय, तो उसको बाहर निकालनेके लिए निकालनेवालेको कुएँमें घुसना पड़ता है। तो नाम-रूपके जंजालमें जीव फँस गया है, उसके लिए भगवान्‌को नामरूप ग्रहण करना पड़ता है; भगवान्‌को भी चिकीर्षु और लिप्सु बनकर आना पड़ता है। चोरके साथ चोर बनकर जाते हैं चोरी करनेके लिए। '**अधर सुधं**'—पहले सुधा स्वर्गमें रहती थी और निकली कहाँसे? समुद्र मन्थनसे। तो एक बार इसको दैत्योंने छीन लिया, एक बार देवताओंने छीन लिया;

सुधाके लिए तो बड़ी छीनाझपटी हुई। फिर भगवान् आये, मोहिनीरूप धारण करके; तब उन्होंने इसको सम्हाला। सुधाने कहा—मैं दैत्यके हाथमें भी नहीं रही, देवताके हाथमें भी नहीं रही। और ऋषि और मनुष्यके हाथमें भी नहीं रही; मैं तुम्हारे हाथ में रही। हमारा पाणिग्रहण-संस्कार तो केवल तुम्हारे साथ हुआ है, हम तुम्हें छोड़कर और कहीं रहेंगी नहीं। इसलिए सुधा आकर श्रीकृष्णके मुखमें, अधरमें बस गयी। सामीप्य मिला कुण्डलको और सारूप्य मिला केशको और सालोक्य मिला सुधाको। भगवान्‌के होठोंमें अमृतका निवास है **'अधरसुधं'** उसीको बाँसुरीसे फूँक-फूँककर सबके कानोंमें पहुँचाते हैं, और सबको अपनी ओर खींचते हैं।

एक बात और विचित्र है; भगवान्‌के कानमें जो कुण्डल हैं वो चंचल होकर चपल होकर वारम्वार विवेकशून्य होकर भगवान्‌के कपोलोंका स्पर्श करते हैं। और बाल अपनी उच्चता छोड़कर वारम्वार नीचे उतर आते हैं कि हमको उच्चता नहीं चाहिए। यह बड़प्पन प्रेममें बहुत बाधक है, बाल सिरपर नहीं रहना चाहते, नीचे आते हैं। प्रेममें स्थिरता, धीरता, गम्भीरता, काम नहीं देती हैं, अपनी धीरता-गम्भीरता छोड़कर कुण्डल चञ्चल हो रहे हैं। और सुधा जो है वह अपने बापका घर क्षीरसागर छोड़कर, उसके कलशको छोड़कर जिसमें लेकर धन्वन्तरि निकले थे, और जिन देवता, दैत्योंने बहुत चाहा, उनको छोड़कर और बाँटनेवाली मोहिनीरूपको भी छोड़कर, वह श्रीकृष्णके अधरमें आकर बस गयी। उसने कहा कि बस, हमारे रहनेकी जगह तो यही है।

हसितावलोकम् —हसितावलोकका सायुज्य है भगवान्‌के साथ। संसारमें बड़े-बड़े सुख हैं पर मुक्तिसे बढ़कर और कोई सुख नहीं है, भला; लेकिन प्रेममें इससे उलटा है। वेदान्ती लोग कहते हैं कि मुक्ति सुख है, और प्रेमी कहता है कि अपने प्रियतमके साथ बन्धनसुख है। कोई प्रेम भी चाहे और मुक्ति भी चाहे तो बोलेगा कि हम प्रेम तो तुमसे करते हैं पर तुम्हारे परतन्त्र रहना नहीं चाहते; तो वह प्रेमी है कि बेवकूफ है? प्रेमीको तो बद्ध होकर रहना पड़ता है, बँधकर रहना पड़ता है, प्रेमी मुक्त होकर कैसे रहेगा? प्रेम तो सम्बन्ध होता है, प्रेममें तो बन्धन होता है, प्रेममें मुक्ति कैसी? प्रेममें मुक्ति यदि है भी तो सबसे मुक्ति है, परन्तु अपने प्रियतमसे मुक्ति नहीं है।

हसितावलोकम्— इसमें भी एक बन्धनका वर्णन है; हसित है ओठोंमें और अवलोकन है नेत्रोंमें; आँखमें है चितवन और होंठोंमें है मुसकान और दोनों आपसमें बँध गयी हैं। यह उलझन है दोनोंकी। दोनों भगवान्‌की सेवा करती हैं।

चितवन प्रेमको फैलाती है और हँसी मोहमें डालती है, स्नेहमें; बन्धनमें डालती है। ***हासो जनोन्मादकरी च माया।*** भगवान्‌की मुसकान लोगोंको पागल बना देती है। यह देखो—ज्ञान और अज्ञान दोनोंका मेल है, भगवान्‌के मुखारविन्दपर। यह जो अधरसुधा है, हसित है, मुसकान है, यह मुसकान तो लोगोंको पागल बनानेके लिए है और चितवन जो है वह रास्ता बतानेके लिए है। हँसकर पागल बनाया और आँखके इशारेसे अपने पास बुला लिया—सम्मोहित करनेके लिए है हँसी और आकृष्ट करनेके लिए चितवन! भगवान्‌की जो मुसकान है वह बेहोश करनेकी जड़ी है, भला! बेहोश करनेका जादू कहाँ है? मुस्कानमें। और खींचनेकी रस्सी कहाँ है? चितवनमें। नेत्रकी रश्मियोंसे अपनी ओर खींच लेते हैं और मुसकराकर पागल बना देते हैं—**हसितावलोकम्।**

बोले—भाई! यह सब तो ठीक है। ये चारों प्रकारकी मुक्ति तो मुक्त हो गयीं—सारूप्य हुआ तो शिरपर आ गये न सामीप्य हुआ तो कानमें आ गये, सालोक्य हुआ तो अधरसुधा और सायुज्य हुआ तो हसितावलोक। नारायण! हसितावलोकमें सायुज्य है। क्योंकि यह तो भगवान्‌के स्वरूपभूत ही है। बोले—नहीं, यह तो उपासकोंकी मुक्ति है, हमको तो नितान्त आत्यन्तिक मुक्ति चाहिए। लेकिन भक्त लोग मुक्ति नहीं चाहते; सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य, सार्ष्टि, एकत्व—कोई मुक्ति नहीं चाहते।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

भगवान् तो कहते हैं कि लो मुक्ति, लो मुक्ति, हम तुमको छोड़ते हैं—पेन्शन देंगे तुमको, अपने घरमें रहो, अपने आत्मामें, स्वरूपमें, स्थित हो जाओ; ब्रह्मनिष्ठ हो जाओ, आत्मनिष्ठ हो जाओ। प्रेमीने कहा कि पहले हमें कृष्णनिष्ठ होने दो, बादमें हम स्वनिष्ठ होंगे। स्वनिष्ठामें और प्रेमनिष्ठामें विरोध है। प्रेमी कहता है कि कैवल्य हमको भी चाहिए, परन्तु हमारा कैवल्य यही है कि तुम्हारी दोनों बाँहोंके भीतर हम अकेले रहें। कैवल्य माने अकेला; केवलमें जो बीचमें 'व' है उसे यदि पहले रख दिया और 'वके'को 'अके' बोलने लगे तो 'अकेल' हो गया। 'अकेल' ही हिन्दीमें अकेला हो गया है। तो कैवल्य माने अकेलापन। प्रेम कहता है कि हमको अकेलापन तो अच्छा लगता है, परन्तु तुम्हारी बाहोंके भीतर अकेलापन अच्छा लगता है, उसके बाहर नहीं। इसके लिए ही शब्द प्रयुक्त किया है—

दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य।

यह वीर-रसके द्वारा शृङ्गार-रसको पुष्ट करनेके लिए है; जहाँ वीर-रस होता है, वहाँ शृङ्गारका भाव परिपुष्ट होता है। शृङ्गार-रसका मित्र है, वीर-रस।

रसोंमें भी आपसमें मैत्री होती है। जैसे आप समझो कि शृङ्गार-रसका हो प्रसङ्ग और आँख गुस्सेसे लाल-लाल हो जायँ तो रौद्र-रस आ गया। शृङ्गारमें रौद्र-रस शृङ्गार-रसका शत्रु है। और शृङ्गार-रसका प्रसङ्ग होने, और छाती पीट-पीटकर 'हाय, हमारी नानी मर गयी', रोने लग गये, तो यह करुण-रस जो है वह भी शृङ्गार-रसका शत्रु है। शृङ्गारमें रौद्र, भयानक, बीभत्स, करुण, शान्त, सभी शत्रु हैं। शान्त-रस भी शृङ्गार-रसमें बाधक है। शृङ्गार-रसका प्रसङ्ग होय और समाधि लगाकर बैठ गये, तो वह तो शत्रु हो गया! वीर-रस शृङ्गार-रस का मित्र है।

तो, कैवल्य कैसा चाहिए, देखो—'**दत्ताभयं च**' पहले तो भगवान्‌ने डराया था, भय दिखाया था कि—अरे, तुम्हारे पति, पुत्र, पिता, माता, सबके सब भयभीत हो रहे हैं; तुमको डर नहीं लगता हमसे? तुमको धर्मका डर भी नहीं लगता? गोपीने कहा—

दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य—ब्रह्मा आये थे व्रजवासियोंको डराने, वे तो धर्म-विधानके मूर्तरूप थे, ब्रह्मा सबको शरीर देते हैं . तो वें कर्मके अनुसार देते हैं और स्वयं आये व्रजमें और चोर बन गये। स्वयं विधिके विरुद्ध कर्म किया उन्होंने और ब्रह्मा किसीका बाल बाँका न कर सके! इन्द्र, जो लोगोंको हाथमें बैठकर कर्मकी प्रेरणा देता है, व्रजमें आया था और उसने व्रजका नाश करनेकी पूरी कोशिश की थी पर वह भी व्रजवासियोंका बाल बाँका न कर सका। जो इन्द्रसे बचाता है, वह पापसे भी बचावेगा, अधर्मसे भी बचावेगा, सास-ससुर, पति-पुत्रसे भी बचावेगा, वह कंससे भी बचावेगा, नारायण!—**दत्ताभयं च**। हम मानती हैं कि कैवल्य अभय-पद है: **अति दुर्लभ कैवल्य परम पद**। और इसलिए हम उसे चाहती भी हैं। परन्तु उसके लिए घनश्याम, जो साधन हमने स्वीकार किया वह अलीक है। श्रीकृष्णने कहा—नहीं गोपी, लीकसे ही चलो। जाओ भाई, थोड़ा शम, दम, उपरति, श्रद्धा, तितिक्षा, समाधान ग्रहण करो, बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग साधन करो, अन्तःकरण शुद्ध करो, मल-विक्षेप- आवरण भङ्ग करो, तुम्हें कैवल्य मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। गोपियोंने कहा—हम कैवल्य चाहती तो जरूर हैं लेकिन यह बात है कि कहाँ रहकर साधन करें? हिमालयमें हम नहीं जायेंगी, और अपने बन्द कमरेमें भी अकेली नहीं रहेंगी। तो फिर—

'**दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य**' ये जो हृष्ट-पुष्ट-बलिष्ठ, तुम्हारे युगल भुजदण्ड हैं, इनको देख करके हमको न तो घरका डर है, न परिवारका डर है, न समाजका डर है और न धर्मका डर है, न ब्रह्मा-इन्द्रका डर है, क्योंकि जब इतने बड़े-बड़े दैत्य और दानव आकर व्रजका कुछ नहीं बिगाड़ सके और ब्रह्मा-

इन्द्र कुछ नहीं बिगाड़ सके, तो जब ये भुजदण्ड हमारे रक्षक हैं तो हम तो अभय-पदको प्राप्त ही हैं। हम रहना तो चाहती हैं अकेली लेकिन तुम्हारी इन्हीं दोनों बाँहोंके बीचमें सुरक्षित होकर ।

श्रीकृष्णने कहा—अरी गोपियो! मनोरथ भी ऐसा करना चाहिए, जो पूरा हो सके! मैं ठहरा ब्रह्म, कैसे छुएँगे, किसीको? तुमको मालूम है हमने प्रकृतिका भी आलिङ्गन नहीं किया? माया आयी और भाग गयी—**माया परैत्य अधि मुखेत विलज्जमाना** ब्रह्मके सामने माया कहीं टिकती है? माया माने जहाँ थोड़ा भी छल होय, कपट होय, वह कैसे टिकेगा ब्रह्मके सामने? माया भाग गयी, प्रकृति भाग गयी, अविद्या भाग गयी, कोई तो मेरे सामने नहीं टिकता! मैं निष्कलङ्क ब्रह्म, जब माया-प्रकृतिका स्पर्श नहीं करता हूँ तो तुम गँवार ग्वालिनियोंका कैसे स्पर्श करूँगा? तुम क्यों यह दुर्लभ मनोरथ करती हो कि तुम हमारे युगल भुजदण्डका, हमारे वक्षः-स्थलका स्पर्श प्राप्त करोगी? भागो यहाँसे। यह ज्यादा लल्लो-चप्पो भी कभी-कभी दुःख देता है। बोले—देखो, इस समय जो बात कहनी हो उसे युक्तिपूर्वक कहो।

अब महाराज, गोपी तो ढीठ है, वे श्रीकृष्णकी डाँटमें थोड़े ही आती हैं। एक गोपीने अंगुली उठायी और श्रीकृष्णकी छातीपर रख दी। बोली—जरा वनमाला हटाइये तो! अरे! महाशय, आपकी मालाके नीचे पीली-पीली रेखा क्या है? यह कोई चोरीका माल तो नहीं है? अरे, मालूम होता है कि किसीकी बेटी, किसीकी बहू, कहींसे चुराकर लाये हो, और उसे वनमालाके नीचे छातीपर छिपाकर रखे हो! बोले—यह तो नारायणकी पत्नी लक्ष्मी हैं। बोलीं—लक्ष्मी है तो समुद्रकी बेटी ही तो। जब तुम स्त्रीका स्पर्श नहीं करते, मायाको नहीं छूते, श्रुतिको नहीं छूते, तो यह जो स्वर्णिम रेखा है तुम्हारे वक्षःस्थलपर, उस लक्ष्मीको यहाँ क्यों छिपाया? **वक्षःश्रियैकरमणं च।** क्या उभरी हुई, विशाल छाती है! इस वक्षःस्थलपर मोतीकी माला कैसी सुशोभित हो रही है, जैसे नीले आकाशमें दो आकाश-गङ्गा प्रवाहित हो रही हों! यह तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल और उसमें विद्युत् रेखाके समान यह पीतिमा, यह स्वर्णरेखाके रूपमें लक्ष्मीको लाकर छुपाये हो। और बनते हो अस्पर्श-योगी।

श्रीकृष्णके पास कोई जवाब नहीं। बोले—अरी सौभाग्यवती गोपियो, तुमको जो करना हो सो करोबाबा, इन नारायणकी पत्नीलक्ष्मीको भाग्यवानो, क्यों दोष लगा रही हो? उस सतीशिरोमणि, उस सौभाग्यवती, उस नारायणी, भगवतीको तुम क्यों दोष लगा रही हो? यह हमारी स्वाभाविक प्रीति-रेखा है

वक्षःस्थलपर, और उसपर भी तुम प्रेमावेशमें अन्धी होकर हमको तो दोष लगाती ही हो, उनको भी दोष लगाती हो? गोपियोंने कहा—श्रीकृष्ण, हमारा अभिप्राय लक्ष्मीपर दोष लगानेका नहीं है, हमारा अभिप्राय तो तुम्हारे सौन्दर्यपर दोष लगानेका है। लक्ष्मी बेचारी तो सतीशिरोमणि है, सतीसाध्वी है, उससे बढ़िया और पृथ्वीमें कौन स्त्री होगी, वह तो आदर्श है, लेकिन यह तुम्हारा जो सौन्दर्य है, यह जो तुम्हारा माधुर्य है, सौरभ है, यह जो तुम्हारा सौरस्य है, सौकुमार्य है, सौरूप्य है, सौस्वर्य है, सौहार्द है, इसको हम दोष लगाती हैं। यह महाराज, दृष्टिमें किसीको छोड़नेवाला नहीं; लक्ष्मी तो लक्ष्मी हम तो कहती हैं कि कौन ऐसी सतीसाध्वी, सृष्टिमें है, हम चुनौती देती हैं, जो श्रीकृष्णको देखकर मुग्ध न हो जाय!

स्कन्दपुराण आदिमें वर्णन आता है, उपनिषद्‌में भी वर्णन आता है कि बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, निरन्तर समाधि लगानेवाले, निराकार-निर्विकारमें स्थित, उन्होंने जब रामचन्द्रके सौन्दर्यको देखा तो बोले—*भक्तो ऐक्ष्य सुविग्रहम्* ये होते वर और हम होती दुलहिन। रामचन्द्रसे कहा तो जानकीजी नाराज हुईं; बोलीं—देखो, ये बूढ़े-बूढ़े, जिनके मुँहमें दाँत नहीं और दाढ़ी सफेद और झुर्रियाँ पड़ी हुईं, ये कहते हैं कि ये दुलहिन बनना चाहते हैं और रामचन्द्रको दूल्हा बनाना चाहते हैं। तो रामचन्द्रने इशारेसे उनको शान्त किया; बोले—अच्छा, हाँ-हाँ, जब हम कृष्णावतारमें चलेंगे तब आना। बोले—महात्माओंकी तो यह दशा हुई, नारद नारदी हो गये, अर्जुन अर्जुनी हो गये, शङ्कर शङ्करी हो गये! नारायण!

गोपियाँ बोलती हैं—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

(श्रीमद्भागवत, १०.२९, ४०)

अरे बाबा, वह स्त्री कौन है जो तुमसे सम्मोहित न होवे। उसका नाम स्त्रीलिङ्गमात्र होना चाहिए जैसे कि श्रुति, ऋचा, नाड़ी, नदी, देवी—सभी तो तुमपर मोहित हैं। फिर हम तो साक्षात् स्त्री ही हैं।

स्त्रीराधा पुरुषैककृष्णः विजिज्ञेयो व्रजमध्यगाः व्रजमें तो एक पुरुष है श्रीकृष्ण, बाकी सब स्त्री हैं। ये दाढ़ी-मूँछ कपटभर हैं, यह केवल नाटक है। नाटकमें जैसे स्त्री पुरुष बन जाय तो जल्दी पहचानमें नहीं आती, तो यह भी अभीसारकी एक प्रक्रिया है; मिलनेके लिए जानेको वेश बदलना जैसे एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार यहाँ स्त्रियाँ ही अभिसारका रूप लेकरके पुरुष बनी हुई हैं।

समग्र सृष्टिके जीव उसी एक परमेश्वरसे मिलनेके लिए अनेक वेश बदलकर मिलने जा रहे हैं।

कहहु सखी असको तनधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥

उसीको देखनेके लिए सब व्याकुल हैं और मिलनेके लिए तरह-तरहका वेश बनाकर, कैसे उसको हँसावें, कैसे उसको रिझावें, उसीकी तरफ जा रहे हैं—

का स्त्र्यङ्ग ते। अङ्ग, अङ्ग माने प्यारे **कलपदायतवेणुगीत सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्॥**

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

'त्रैलोक्यसौभगमिदं रूपं' त्रैलोक्यमें जितनी सुन्दरता है—गुलाबमें सुन्दरता कहाँसे आयी? कमलमें सौन्दर्य कहाँसे आया? बेला-चमेलीमें सुगन्ध कहाँसे आयी? चन्द्रमामें आह्लाद कहाँसे आया? वायुमें शीतलता कहाँसे आयी? त्रिलोकीमें जितनी सुन्दरता है यह सब भगवान्‌की झरी-परी सुन्दरता है, यह उसका एक बिन्दु है। **'त्रैलोक्यसौभगं-यस्मात्'**—त्रिलोकीमें जहाँसे सुन्दरता आयी है, वह प्रकट हुआ व्रजमें, वह वृन्दावन-बिहारी, वह राधारमण, वह गोपीजनवल्लभ, वह बाँके-बिहारी होकरके आया! अब कौन है दुनियामें ऐसा जो उसको देखकरके अपने बनठनमें फँसा रह जाय?

गोपीमें दास्यका हेतु-३

(का स्त्र्यङ्ग ते------पुलकान्यबिभ्रन्)

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

यह गोपी और कृष्णका सम्वाद है। रासलीलामें कृष्णने कहा कि तुम लोग अपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों पुरुषार्थके अनुरूप आचरण करो, चारों को प्राप्त करो, लोक-परलोक और परमार्थ बढ़ाओ। अर्थ और काम इस लोकके लिए आवश्यक हैं। धन भी चाहिए और भोग भी चाहिए; परन्तु वे होने चाहिए धर्मसे नियन्त्रित; और जब अर्थ और भोग-दोनों धर्मके लिए लगा दिये जाते हैं तब ये परलोकके साधन बन जाते हैं; और यदि निष्काम होवें तो धर्म अन्त:करणको शुद्ध करके मोक्षके योग्य बना देता है। मोक्ष परमपुरुषार्थ हैं।

एक सज्जन कहते थे कि जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ हैं, वैसे शक्ति भी एक पुरुषार्थ है, हम शक्तिशाली बनें। हमारे पास शरीरमें बल हो, सेनाका बल हो, आत्म-बल हो। ***यः आत्मदा बलदा***—ये शब्द वेदमें आते हैं; भगवान् बल भी देते हैं। परन्तु शक्ति या बल स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि बल तो किसी पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए चाहिए ही, बल नहीं होगा तो मनुष्य न तो धर्मपर दृढ़ रह सकेगा, न धन कमा सकेगा, न भोग कर सकेगा और न मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। बल तो चारों पुरुषार्थोंमें साधारण साधन है। सिद्धि भी अर्थ, धर्म, काम, मोक्षके ही काम आती है, अत: सिद्धि कोई स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं है। पर गोपियाँ कहती हैं कि न तो हमें धर्म चाहिए, न अर्थ चाहिए, न भोग चाहिए, न मोक्ष चाहिए; हमको तो पाँचवाँ पुरुषार्थ प्रेम चाहिए। गौड़ेश्वर-सम्प्रदायमें भक्त लोग पुरुषार्थ पाँच मानते हैं; पाँचवाँ पुरुषार्थ है, भगवत्-प्रेम। भगवान्‌का प्रेम धर्मसे, अर्थसे, भोगसे, मोक्षसे सबसे ऊपर है। संसारका प्रेम तो भोगके लिए होता है, कमाईके लिए होता है या धर्मके लिए होता है। संसारमें लोग अपने सम्प्रदायके लिए भी संघटित हो जाते हैं तो वह धर्मके लिए प्रेम है। मोक्षसे भी प्रेम करते हैं लेकिन प्रेम किसके लिए है यह विचार संसारमें नहीं है। इन सबमें प्रेम आत्मगामी होता है, परन्तु प्रेम हृदयमें उदय हो और भगवान्‌से जुड़े अर्थात् प्रेमका आश्रय हो आत्मा और प्रेमका विषय हो भगवान्। तब वह भगवत्प्रेम

कहलाता है। भगवत्प्रेम आत्मगामी न होकर भगवदोन्मुख होता है। अपना समस्त सुख और प्रयत्न जब भगवद्योग्य बन जाता है तब प्रमका पूणता होती है। प्रेममें जब आगे और पीछे भगवान् हो जाते हैं तब स्वयं प्रेम भी भगवन्मय हो जाता है। आगे श्याम, पीछे श्याम—

जित देख्यौं तित श्याममयी है।

अब गोपीने कहा कि तुम्हारे वक्ष:स्थलपर लक्ष्मी विराजमान है, तो यह क्या चोरीसे तुमने नारायणकी पत्नी लक्ष्मीको अपने वक्ष:स्थलपर बसा रखा है? श्रीकृष्णने कहा—अरी भोली गोपियो, ये तो हमारे सुनहले बाल हैं, जिनसे वक्ष:स्थलपर एक पीली-पीली रेखा बन गयी है, और तुम्हारा दिमाग ऐसा बिगड़ गया है कि स्वाभाविक रूपसे जो हमारे वक्ष:स्थलपर पीतिमा है, स्वर्णमयी पीत-रेखा है, उममें लक्ष्मीपनेका आरोप करके तुम लक्ष्मीको भी दोष लगा रही हो। बाबा! हमको जो कुछ कहना हो सो कह लो पर जगद्वन्दनीया जो लक्ष्मी हैं, पूज्या हैं, उनको अण्ट-सण्ट क्यों कहती हो? असलमें जिसके दिलमें जैसा होता है दूसरेके बारेमें वैसा ही सोचता है—*'पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते'* जिसके मनमें पाप होता है वह सबको पापी ही समझता है—*'सर्वं धनमयं लुब्धाः'* लोभीको सब जगह धन दिखता है, कामीको सब जगह कामिनी ही दिखती है; और भक्तको सब जगह नारायण दिखते हैं—*''नारायणमयं धीराः पश्यन्ति परमार्थतः'* तो जब किसी दूसरेमें बुराई दिखे तब यह सोचना चाहिए कि हमारे हृदयमें तो ज्ञानस्वरूप नारायण, ज्ञान स्वरूप ब्रह्म बैठा है और वही दूसरेमें बैठा है तो यह वहाँ बुराई क्यों दिखा रहा है? सोचना चाहिए कि बुराई हमारे दिलमें है, यह रङ्ग हमारे चश्मेमें है वहाँ नहीं है, जो इस ढङ्गसे सोचते हैं वे साधक हैं। जो दूसरेको भी बुरा देखें और अपनेको भी बुरा देखें (माने दुनियामें सब बुरे) वे पामर हैं। जो दूसरेको बुरा देखे और अपनेको अच्छा देखे वह विषयी है। जो अपनेको बुरा देखे और दूसरेको अच्छा देखे वह साधक है। और जिसको अपनेमें भी नारायण और सामनेवालेमें भी नारायण दिखें वह सिद्ध है। पामर, विषयी, साधक और सिद्ध ये चार—कक्षाएँ होती हैं।

तो श्रीकृष्णने कहा—गोपियो, तुमको जो हमारे वक्ष:स्थलपर पीली रेखाके बारेमें भ्रम हो गया है कि ये लक्ष्मी हैं और यह भी अपने घरद्वारको छोड़कर हमारे वक्षःस्थलपर आकर बैठी हैं, तो यह तुम्हारे दिलका कलुष है मलिनता है जो लक्ष्मीपर आरोपित करती हो। पतिव्रताशिरोमणि, पतिव्रतामूर्धन्य लक्ष्मीको क्यों दोष लगाती हो? गोपियोंने कहा—श्रीकृष्ण, हम लक्ष्मीको दोष नहीं लगाती हैं,

लक्ष्मी तो पतिव्रताशिरोमणि हैं, पतिव्रतामूर्धन्य हैं, नारी मूर्धन्य, महिला-मूर्धन्य हैं, प्रमदारत्न, ललनाललाम हैं। हम उनको दोष नहीं लगाती हैं; हम दोष लगाती हैं तुमको, तुमको; और तुम्हारी बाँसकी मुँहजली छेदवाली बाँसुरीको! इस बाँसुरीका एक तो खानदान अच्छा नहीं है, वृक्षोंमें चाण्डाल बाँस है, और फिर उसमें भी यह गाँठवाली, और दिल बिल्कुल पोला, और सूखी-सूखी, और सात छेद, और आगमें इसका मुँह जला हुआ! छिद्रवती, शुष्क-नीरसा, छिद्रवती, ग्रन्थिला और कुजन्मा, अकुलीना, बेहया, बेशरम-निर्लज्ज, सबके सामने तुम्हारे अधरामृतका पान करती है! हम लक्ष्मीको दोष नहीं लगाती हैं, हम दोष लगाती हैं तुमको और तुम्हारी बँसुरियाको। कौन ऐसी स्त्री है, इस सृष्टिमें जो तुमपर मोहित न हो जाय! अरे! जब पुरुष मोहित हो जाते हैं तो स्त्रीकी चर्चा क्या करना है? और पुरुष भी कौन—

शक्रसर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कवय आनतकन्धरचित्ताः।

कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः।

शक्रसर्वपरमेष्ठिपुरोगाः—

शक्र माने शतक्रतु इन्द्र। शत का 'श' और क्रतु का 'क्र' सौ क्रतु जिसने किया उसका नाम शतक्रतु हुआ। उसीको। संक्षिप्त कर। 'शक्र' लिखते हैं। पुराने जमानेमें शब्दोंके निर्माणकी एक यह भी परिपाटी थी। शक्र, रुद्र, परमेष्ठी, ब्रह्मा, ये सब बड़े बूढ़े देवता, समाधि लगानेवाला प्रलयका देवता, सबका दादा-परदादा ब्रह्मा— ये जब तुम्हारी वंशी सुनकर मोहित हो जाते हैं; बड़े-बड़े ऋषि, बड़े-बड़े महात्मा, सनकादि सिद्ध जब तुम्हारी वंशी सुनकर मोहित हो गये, तब हमारी क्या बात?

समाधिभङ्गाय कदानु मे भवेत- एक दिन सनकादि बैठे बैठे ध्यान कर रहे थे तो बीच-बीचमें आँख खोलकर देख लें और फिर ध्यान करने बैठ जायँ! नारदजी बहुत देरसे यह देख रहे थे, तो आये, और बोले कि क्यों महात्माओ! आज समाधि आपकी कुछ विचित्र ही लग रही है। वारम्वार आँख खोलकर देखते हो, फिर आँख बन्द करते हो, आज आपकी समाधि कैसी लग रही है? तो बोले—बाबा, हमको आज प्रतीक्षा है, किसीसे मिलनेकी इच्छा है। श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि हमको बरबस अपनी ओर खींच रही है। जिसके मनमें कहीं जानेकी इच्छा होगी, किसीसे मिलनेकी इच्छा होगी, वह आसन बाँधकर नहीं बैठ सकता: प्रयत्न शैथिल्यके बिना आसन जमता ही नहीं। यह योगशास्त्रका नियम है कि जब आदमी यह सोचेगा कि अब हमको कहीं नहीं जाना है, चित्तकी समाधि लगाना

है, चाहे दिन भर लग जाय, तो आसन स्थिर हो जायेगा वरना यदि वह सोचेगा कि घण्टेभर बाद बाजारमें जाना है, तो आसन जमेगा नहीं।

तो यह वंशी-ध्वनि जिसमें इन्द्र मोहे, ब्रह्म मोहे, शङ्कर मोहे, सनकादि मोहे और नारद मोहे, सब जिसमें मोहित हो गये, बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि, महात्मा पुरुष मोहित हो गये अब उससे कोई स्त्री मोहित हो जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है!

देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा, भ्रश्यत् प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः।

तो पुरुषोंकी तो यह हालत! अब महाराज, देवियोंकी सुनो— '**विमानगतयः**' का दो अर्थ है। एक तो विमानपर चढ़कर आना; और दूसरा अर्थ है कि घरमें तो देवियाँ रूठी हुई थीं, और देवताजी मना रहे थे; इन्द्र, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु, इनकी घरवालियाँ जो हैं वे एक ही दिन सलाह करके सबकी सब रूठ गयीं। 'देव्याः' बहुवचन है ना! बोलीं—सामूहिक आन्दोलन करो कि ये देवतालोग स्वर्गमें अप्सराओंको क्यों रखते हैं? निकाल दें यहाँसे, हमारे स्वर्गमें अप्सरा न रहने पावें, केवल देवी-देवी रहेंगी। अब देवता लोगोंकी सिट्टी-पिट्टी गुम, किसीकी कुछ चले ही नहीं कि क्या करें, कैसे मनावें इनको? इसी बीच वृन्दावनमें श्यामसुन्दरकी बाँसुरी बजी। अब तो उसे सुनकर देवी लोग तन्मय हो गयीं; और फिर जब देवता आये तो देवताने कहा कि अब तो मालूम पड़ता है कि कुछ मूड ठीक-ठिकाने है तो बोले कि अरे चलो, वृन्दावन चलें; श्यामसुन्दरका रास होनेवाला है, देखने चलोगी? बाँसुरी बजा रहे हैं। तुम भी चलोगी? बोलीं—हाँ-हाँ, चलेंगे। '**विमानगतयः**' तुरन्त मान छोड़कर वे बिना शृङ्गार किये और देवताओंके साथ जो चलीं तो वर्णन किया है- **भ्रश्यत् प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः।**

इनके शिरके जो पुष्प, आभूषण, थे वे गिर गये, और यहाँतक कि उनके कपड़े भी उनके वशमें नहीं रहे—**स्रस्तस्रस्तनिबद्धनीवि विलसद् गोपी** नीवी उनकी छूट गयी, माने कमरमें कपड़ा बाँधनेकी उनकी जो रस्सी होती है वह खुल गयी! यह अतिशय कामका लक्षण है। तो देवियोंकी यह दशा हुई!

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विज द्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

नारायण! गोपियाँ कहती हैं कि आप लक्ष्मीकी बात सुनकर नाराज हो गये, तो लक्ष्मीके साथ और दो-चार नाम जोड़ देते हैं। सरस्वती, पार्वती, उमा, हेमावती भी मोहित हो गयीं। पुराणमें एक ऐसी कथा आती है जिसमें पार्वतीको भी वंशी सुनकर मोह हो गया। सरस्वतीको भी वंशी सुनकरके मोह हो गया, सरस्वती जी

मोहित होकर अन्तमें बाँसुरी बन गयीं। जड़भावपन्न हो गयी, सरस्वतीका ज्ञान, ध्यान, लुप्त हो गया, और वह स्वयं बाँसुरी बननेके लिए तत्पर हो गयीं। तो बाबा, लक्ष्मीजी, पार्वतीजी, सरस्वतीजी, सतीजी, इन्द्राणीसब और मृत्युलोक के देवता, ब्राह्मणोंकी मेहरारू, वे यज्ञपत्नी, यज्ञशालामें अपने पतियोंको यज्ञ करते छोड़करके भोजन लेकर तुमको खिलाने चली आयीं। और महाराज नागदेशमें देखा कि कालिय नागकी जो पत्नी हैं वे तुम्हारी बाँसुरी सुनकर मोहित हो रही हैं। **'त्रिलोक्यां'**— तीनों लोकोंमें, देवलोक, मृत्युलोक, नागलोक, पाताललोकमें कौन ऐसी स्त्री है जो तुम्हारी वंशीध्वनि सुनकर सम्मोहित होकर मूर्च्छित न हो जाय— **का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्** ।

यह जो गीता-प्रेससे पुस्तक छपनेवाली थी तो श्रीमद्भागवतका मूल पाठ ठीक करनेके लिए बड़ा प्रयास किया गया। तब बारहवीं शताब्दीकी हस्तलिखित पुस्तक मिली। स्वामीदयानन्दने जो कहा कि बोपदेवने भागवत बनाया है तो बोपदेवके पहलेकी हाथसे लिखी हुई यह पुस्तक मिलती है। वह काशीमें सरस्वती भवनमें सुरक्षित है। बोपदेव तेरहवीं शताब्दीमें हुए हैं, हेमाद्रिके समयमें। तो यह बड़ी पुरानी श्रीमद्भागवतकी प्रति है। सौ पुस्तक कमसे कम हमलोगोंने हाथमें छाँट-छाँटकर ली थीं और उनसे यह पाठ मिलाया गया तो उसमें इस श्लोकके तीन पाठ मिले-**कलपदायतवेणुगीत सम्मोहिता, कलपदामृतवेणुगीत सम्मोहिता, कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिता।**

श्यामसुन्दरकी वंशीध्वनि क्या है? यह कल है। क्लं माने क्या? जैसे छोटा बालक बोलता है—मम-मम; तो उसके मम-ममका मतलब खीर भी होता है, खिचड़ी भी होता है, नमक भी होता है, पानी भी होता है, परन्तु उसको समझता कौन है? उसकी माँ समझती है। उसकी माँ समझती है कि अबकी 'मम' कहा तो पानी चाहिए और अबकी मम कहा तो खिचड़ी या सोना चाहिए। उसके मम-ममका मतलब उसकी माँ निकाल लेती है। इसी प्रकार प्रेमी अपने प्रियतमके अस्फुट मधुर ध्वनिको जानता है और उसका अर्थ निकाल लेता है। तो कल कहते हैं—**'कलं तु मधुरास्फुटे'** मधुर और अस्फुट वाणी को, बोलते हैं कल। श्रीकृष्ण जब बाँसुरी बजाते हैं तो गोपीको यह नहीं मालूम पड़ता कि हमारी सौतका नाम ले रहे हैं; ललिताको मालूम पड़ता है कि ललिता-ललिता गा रहे हैं, और चन्द्रावलीको मालूम पड़ता है कि चन्द्रावाली चन्द्रावली गा रहे हैं, राधाको मालूम पड़ता है कि राधा-राधा गा रहे हैं, विशाखाको मालूम पड़ता है कि विशाखा-

विशाखा गा रहे हैं। क्योंकि वंशीकी ध्वनि तो वंशीकी ध्वनि है और श्रीकृष्ण अपने मनमें मग्न होकर गाते हैं, लेकिन उसमें इतनी मधुरता है और श्रीकृष्णके प्रेमपर इतना विश्वास है कि उस अस्फुट ध्वनिमें सबको अपना-अपना नाम मालूम पड़ता है! और वह स्वरका आलाप महाराज! **आयत-कलपदायतमूर्च्छितेन, कलपदामृतमूर्च्छितेन** 'कलपद' क्या है? अमृत है। भगवान् जब बाँसुरी बजाते हैं तो उनके हृदयमें जो अमृत भरा हुआ है, वह मुखारविन्दमें आ जाता है, होंठोंसे ऐसा अमृत नहीं आ सकता। खाने-पीनेमें हम समझते हैं कि सिन्धी लोगोंको पकौड़ोंमें जो स्वाद मालूम पड़ता है, वह अमृत है, जो प्याज-लहसुन खाते हैं महाराज, उनको उनमें अमृत मालूम होता है; गुजराती, काठियावाड़ीको लाल मिर्च और तेलकी बनी हुई सब्जीमें अमृत है बिल्कुल अमृत है; अच्छा, देवतालोग जो स्वर्गमें पीते होंगे आँख बन्द करके वह कैसा अमृत होगा, बेहोश हो जाओ तब भी उनका असली स्वाद नहीं मालूम पड़ेगा सोचते सोचते पागलहो जाओ तब भी नहीं मालूम पड़ेगा; पर यह बाँसुरीमें जो अमृत है वह न प्राणियोंके द्वारा भोग्य अमृत है, न देवताओंवाला अमृत है; यह भगवद्भोग्य अमृत है। श्री वल्लभाचार्यजी महाराजने यह प्रश्न उठाया कि भगवान् गोपियोंका जो रस लेते हैं तो गोपियोंमें इतना रस आया कहाँसे? क्या मनुष्यका रस भगवान् लेता है? क्या मनुष्यमें ऐसा रस है, जो भगवान्‌को आनन्दित करे? बोले—नहीं, भगवान् अपने रसको, अपने आनन्दको, हृदयसे अधरोंमें ले आकर, अधरोंसे बाँसुरीमें भरकर, और बाँसुरीसे गोपियोंके कानमें डालकरके भगवदीय अमृतको, भगवद्-भोग्य अमृतको, गोपियोंके भीतर डाल देते हैं।

तो यह वंशीवादन क्या है? यह सामनेवालेके हृदयमें अमृत भर देनेकी प्रक्रिया है, अमृत भरनेकी शैली है, अमृत भरनेकी धारा है। इससे क्या हुआ? तो बोले—**सम्मोहिता।** बोले—बाबा, कृष्णके साथ तो यह जादू है, बड़ा जादू है; न होता, तो शिवजी मोहित होते! जादू न होता तो ब्रह्माजी मोहित होते! इन्द्र मोहित होते! इसीको बोलते हैं, माया। सम्मोहन जादू माने हिप्नोटिज्म। ये श्रीकृष्ण भी सम्मोहन-क्रिया करते हैं। जैसे जादूगर हाथ किसीकी तरफ घुमा देता है, ऐसे श्रीकृष्णके पास बाँसुरी है, बाँसुरीका जादू है। वह दीर्घकालतक आलाप! वह सम्मोहिनी मुरली! बोले—बाबा, ऐसी कौनसी स्त्री है, त्रिलोकीमें नाम तो लो उसका जो आपसे सम्मोहित न हो जाय! हमने एक लक्ष्मीका नाम ले लिया तो नाराज होने लगे। कौनसी ऐसी स्त्री है, त्रिलोकीमें जो आपकी वंशीध्वनिको सुनकर आर्यपथसे विचलित न हो जाये—**आर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।** धर्म,

अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिके लिए सुव्यवस्थित जीवनके लिए, आर्यचरित्र बहुत श्रेष्ठ वस्तु हैं, क्योंकि आर्यचरित्रसे धर्म, अर्थ, भोग मिलें और अन्ततोगत्वा मोक्ष मिले। सालोक्य, सायुज्य, आदि भगवद्धामकी प्राप्ति होवे, ऐसा है आर्यचरित्र! लेकिन यह बाँसुरी इस आर्य-सत्यको गिरा देती है, विचलित कर देती है—

'त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं—' त्रैलोक्यसौभगं यस्मात्— संसारमें जितनी सुन्दरता देखनेमें आती है, शब्दमें, स्पर्शमें, रूपमें, रसमें, गन्धमें, जो भी सौन्दर्य मालूम होता है, वह कहाँसे आया? यह सब भगवान्‌मेंसे आया है; यदि मूल उपादानमें सौन्दर्य नहीं होगा तो कार्यमें सौन्दर्य कहाँसे आवेगा? यह ईश्वरका ही सौन्दर्य है जो कहीं कोयलकी आवाजमें प्रकट होता हैं, तो कहीं मोरके गलेमें प्रकट होता है। वही ईश्वर आपमें स्वाद होकर आया है तो कमल, गुलाब, बेला, चमेलीमें सुगन्ध होकर आया है! जैसे चुम्बकको देखकर लोहा खिंचता है, वैसे नीबूके रसको देखकर जीभ खिंचती है। तो जैसे जीभको खींचनेवाला चुम्बक नीबूमें है, वैसे ही कानको खींचनेवाला एक चुम्बक होता है, और त्वचाको खींचनेवाला एक चुम्बक होता है। चुम्बक तो तरह-तरहका होता है। तो श्यामसुन्दरका रूप त्रिलोकके प्राणियोंके लिए चुम्बक है। **'त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं'** वे श्रीकृष्ण तो हमारी आँखके सामने हैं। जबतक भगवान् सामने नहीं आवेंगे, तबतक प्रेम कैसे होगा? जिन्दगीभर भगवान्‌को सातवें आसमानमें रखोगे तो प्रेम नहीं होगा। जब साधारणीकरण हो, सातवें आसमानसे भगवान् धरतीपर आवें, हमारे ध्यानका विषय बनें, हमारे नेत्रका विषय बनें, तब वह हमारे प्रेमका विषय बने।

यद्गोद्विजद्रुममृगाः— गोपियाँ कहती हैं—अरे! ब्रह्मा आदिकी तो बात छोड़ो। तुम्हारे रूपको गायें देखती हैं तो ठगी-सी देखती रह जाती हैं। गायके मुँहमें ग्रास और कानमें वंशीध्वनि और आँखमें श्यामसुन्दरका रूप और शरीरमें रोमाञ्च! अब मुँहका ग्रास न भीतर जाता है, न बाहर जाता है। बछड़ेके मुँहमें दूध, कानमें वंशीध्वनि और आँखमें श्यामसुन्दरका रूप और शरीरमें रोमाञ्च; अब वह न दूधको उगलता है और न निगलता है। और ये वृक्ष? महाराज, जब श्यामसुन्दर इनके पाससे निकलते हैं या वृक्षकी छायामें बैठते हैं तो ये वृक्ष, फूल और फलकी टोकरी अपने शिरपर लिये हुए खड़े रहते हैं। जब श्यामसुन्दर आते हैं—तो डालियाँ झुक जाती हैं—भगवान्‌के चरणोंमें फूल और फल चढ़ाते हैं और **मधुधाराः प्रेमहृततरवः तस्त्यजिस्म**—वृक्षोंको रोमाञ्च होता है और उनसे मधुधारा क्षरण होती है। **गोद्विजद्रुममृगाः** मोर नाचने लगता है कृष्णको देखकर, कोयल

कुहू-कुहू करने लगती है, सारस-हंस-विहङ्ग शान्तिसे बैठ जाते हैं और वृक्षपर **प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्**- जैमिनिजी महाराज, कणादजी महाराज, बड़े बड़े दार्शनिक पक्षी, द्वैतवादी, अद्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, विशुद्धाद्वैतवादी, ये सबके सब महाराज पक्षी बन-बनकर बोलते हैं। पक्षी क्यों बने? अरे। तुम्हारे बारेमें ही तो चर्चा करते हैं, एक-एक पक्ष लेकर ये चर्चा करते हैं। भगवान्‌में यह सब द्वैतअद्वैत कुछ नहीं होता है, भला! न द्वैत और न अद्वैत, न द्वैताद्वैत न विशुद्धाद्वैत न अचिन्त्याद्वैत। बोले—'किसी बहाने परमेश्वरकी चर्चा करते हैं सब। जैसे— किसीके चार भगत हैं— और कोई पाँवका वर्णन करने लगे, कोई हाथका वर्णन करने लगे, कोई मुखारविन्दका वर्णन करने लगे, तो उसमें क्या कोई लड़ाई है, द्वेष है? अरे! एक हीके सौन्दर्यका वर्णन कर रहे हैं। एकने कहा दाहिनी आँख बड़ी सुन्दर, एकने कहा बायीं आँख बड़ी सुन्दर! हो गयी लड़ाई, लेकिन दोनोंने लड़करके भी यही सिद्ध किया कि दोनों आँखें बड़ी सुन्दर हैं। पक्षी हैं माने एक दक्षिणपक्षी है, एक वामपक्षी है; लेकिन ये दोनों पक्षी हैं। वेदरूपी वृक्षकी जो भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं उनके ऊपर बैठ करके—ग्यारह सौ इक्कीस शाखाएँ हैं और उनके ऊपर एक-एक शाखाके ऋषि जो हैं वे पक्षी बन-बनकर बैठे हैं और श्यामसुन्दरके सौन्दर्यको देख रहे हैं! **शृण्वन्ति अमीलितदृशो विगतान्यवाचः** आँख खुली है (अमीलितंदृशः), वंशीध्वनि सुन रहे हैं और श्यामरूप देख रहे हैं; ये पक्षी हैं- द्विज हैं द्विज और हरिण महाराज?

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥

अपने कृष्णसार पतियोंके साथ आ-आ करके अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंसे, प्रेमभरी चितवनसे श्यामसुन्दरका दर्शन करती हैं, डरती नहीं हैं, और श्यामसुन्दर बड़े गौरसे उनके आँखकी ओर देखते हैं। गोपियाँ कहती हैं—विधाताने इनके पलक नहीं बनायी, कितनी बड़ी-बड़ी आँखें बनायी हैं, और इनके पति कितने अनुकूल निकले कि इनके साथ जाते हैं, ये धन्य हैं, ये धन्य हैं।

अब देखो इसमें व्यंग्य क्या हुआ कि वृक्षको तो रोमाञ्चित कर दिया। वृक्षका धर्म क्या रोमाञ्चित होना है? गायका धर्म क्या मनुष्यके सौन्दर्यपर मोहित होना है? हरिणीका क्या धर्म है कि मनुष्यके सौन्दर्यपर मोहित हो जाय? वृक्षका क्या धर्म है कि वह मधुक्षरण करे? तो तुम जब गायका धर्म बिगाड़ देते हो, पेड़का धर्म बिगाड़ देते हो, हरिणीका धर्म बिगाड़ देते हो, सबको धर्मभ्रष्ट कर दिया तुमने, स्वभावभ्रष्ट हो गये सब। विधाताने तुमको बनाया ही इसलिए है कि

हरिणी भी अपना धर्मपालन न करे, लतावृक्ष भी अपना धर्मपालन न करें, पक्षी-पक्षिणी भी अपना धर्म पालन न करें, और गाय-बछड़ा भी अपना धर्म पालन न करें, यह तुम्हारा सौन्दर्य प्रकट ही इसलिए हुआ है कि संसारके लोग संसारका भोग छोड़करके, अर्थ छोड़करके यहाँके कर्तव्यधर्म-का बन्धन छोड़ करके और मोक्षकी आकांक्षा छोड़करके, तुम्हारी वंशीध्वनिपर लुभा जायँ, और अपने लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक धर्मसे भ्रष्ट होकरके और तुम्हारे फन्देमें फँस जायँ! फिर हमारे लिए उलाहना क्यों?

श्रीकृष्णने कहा—बाबा! हार मान ली तुमलोगोंसे। गोपियों, बोलनेमें तो तुम्हारा सानी, तुम्हारे बराबरीका कोई नहीं। लासानी हो तुम। हार गया तुम्हारी मुखरताके सामने! जो कहो सो करें। गोपियोंने कहा—नहीं-नहीं श्रीकृष्ण, हम बदसलूक नहीं हैं। हमारे प्राणोंमें पीड़ा है। हमारा मन तुम्हारे लिए विह्वल है, आर्त है। हमें भय है कि कहीं तुम छोड़ न दो, हमारे हृदयमें पीड़ा है, आर्ति है, कि तुम हमारे प्यारे होकर ऐसा क्यों बोल रहे हो? यह तो रोगी जैसे बर्राता है वैसे हम बर्रा रही हैं। हम तो चाहती हैं कि तुम हमारा रोग दूर कर दो! रोगी होकर हम आयी हैं। बोले—अच्छा गोपियो! क्या करें? बोलीं—पहली बात है कि अपना हाथ हमारे सिरपर रखो तो हम यह समझ जायँ कि तुम हमें अपनी समझते हो। दूसरी बात यह कि अपना हाथ हमारे हृदयपर रखो। इससे क्या होगा?

३५ ३६

गोपियोंकी चाहत

(का स्त्र्यङ्ग ते. . . .शिरस्सु च किंकरीणाम्)

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो, देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ताः।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥
(श्रीमद्भागवत १०.२९.४०-४१)

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।

तीनों लोकोंमें तमोगुण रजोगुण सत्त्वगुणमें पड़ी हुई ऐसी कौनसी स्त्री है जो तुम्हारी कलपद अमृतमय वेणुनादसे सम्मोहित होकर आर्यचरित्रसे विचलित न हो जाय। गोपियाँ मानो सम्पूर्ण स्त्रीजातिका प्रतिनिधित्व कर रही हों, सबकी ओरसे बोल रही हैं। जो तामसिक प्रकृतिके होते हैं वे मूढ़तावश कहीं-न-कहीं फँसे होते हैं। न उनको धर्मका ज्ञान है, न भगवान्‌का ज्ञान है, न भक्तिका ज्ञान है। तो ऐसे लोग अधिकांश न धर्म समझें, न अधर्म समझें, जहाँ फँस गये, 'पोंगा-पंथी' हो गये। इसके लिए—शब्द चलते हैं—पोंगापंथी, दकियानूसी। ये सब धर्मकी भाषामें गाली दी जाती है। वे भी जब बाँसुरीकी ध्वनि वेणुनाद सुनते हैं तो उनकी मूढ़ता छूट जाती है क्योंकि वह स्वरलहरी उनके सुषुप्त मनको जाग्रत कर देती है। दूसरे जो राजसिक लोग हैं उनको भी धर्म-अधर्मका पता नहीं है। जहाँ उनको मजा आवे वही काम करते हैं; वे तो राग-द्वेषमें फँसे हुए हैं। जो गुणी लोग जो हैं वे रागमूलक धर्ममें ही फँसे हुए हैं। तो यह भगवान्‌की बाँसुरी उनको कहती है कि यहाँसे ज्यादा मजा इधर है, आओ। उनको वेणुनाद अमृतध्वनिसे अपनी ओर खींच लेता है। और नारायण, सात्त्विक लोग जो हैं वे अभिमानमें फँसे हुए हैं कि हम बड़े धर्मात्मा, उनकी तो महाराज, यह तारीफ है कि हम कितनी बार मिट्टीसे हाथ धोते हैं, इसीमें वे अपनी तारीफ समझते हैं। इन्द्रिय- शुद्धिकी कि नहीं, मन शुद्ध किया कि नहीं, भगवान्‌का भजन होता है कि नहीं, इस पर उनकी दृष्टि नहीं है; कपड़ा हम सूती पहनते हैं कि रेशमी, इसीपर दृष्टि है।तो यह धर्माभिमान भी भगवान्‌से विमुख करनेवाला है। इसको भगवान् कलपद, अमृत और वेणुनादसे आकर्षित

करते हैं। इस प्रकार तामसको वेणुध्वनिसे, राजसको अमृतसे और सात्त्विकको कलपदसे आकर्षित करते हैं। और गुणातीतको यह वंशीध्वनि ब्रह्मानन्दकी अभिव्यक्तिके द्वारा खींचती है। तो भगवान्‌की वंशीध्वनि तमोगुणीको, रजोगुणीको, सतोगुणीको, वृत्तिमात्रको चाहे जीवनमुक्तकी वृत्ति ही क्यों न हो, सबको बुलाती है। इसलिए—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्मारामाः—जो आत्माराम हैं, अर्थात् जो अपने स्वरूपकी समाधिमें मग्न हैं; **मुनयः** अर्थात् जो **सल्लीनमानसाः** हैं, समाधि लग रही है; और **निर्ग्रन्थाः**—जो पोथी-पत्रा फेंककर, चोटीकी गाँठ खोलकर, जनेऊकी गाँठ तोड़कर, कपड़ेकी गाँठ तोड़कर, कामग्रन्थि, क्रोधग्रन्थि, लोभग्रन्थि, मोहग्रन्थि तोड़कर, अविद्या-ग्रन्थिका निरसन करके अवधूत संन्यासी हैं, उनको भी यह कलपद, अव्यक्त अस्फुट ध्वनि अपनी ओर खींच लेती है। फिर कौन-सी ऐसी स्त्री है? जो आपकी ओर न खिंच आवे!

गर्भाधानका शक्तिसामर्थ्य जिसमें हो उसको संस्कृतभाषामें स्त्री बोलते हैं—'*स्त्यायति गर्भः अस्यां इति स्त्रीः स्यायति विषयः अस्यां इति स्त्रीवृत्तिः*' विषयरूप बालकको जो अपने पेटमें हमेशा रखे उसे वृत्ति कहते हैं, जैसे स्त्री अपने गर्भमें बच्चेको रखती है, वैसे यह घट है, पट है, मठ है, कोई-न-कोई विषय, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, कुछ-न-कुछ भीतर जो रखे उसका नाम वृत्ति है। उसीको स्त्री कहते हैं। महाराज! यह श्यामसुन्दरकी बाँसुरी भला किसको मोहित नहीं करती? **आर्यचरितात्-न चलेत् त्रिलोक्याम्** अयि मूढ़ो, तमो-गुणियो! कहाँ फँसे हो, चलो, उठो, जागो। ओ रजोगुणियों! क्या बात करते हो दुनियामें, बात करनेके योग्य श्रीकृष्ण ही हैं। ओ सत्त्वगुणियो! काहेका अभिमान है तुमको। अरे ओ जीवनमुक्तो! जब तुमने अपना मन छोड़ ही दिया तो उसको आने दो हमारी ओर, रोकते काहे हो? क्यों निषेध करते हो? जब तुम्हारे लिए विधि नहीं है तो तुम निषेध क्यों करते हो? आने दो—**का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीतं** यह वंशीध्वनि तो गुरुमन्त्र है। यह बाँसुरी ब्रह्मविद्या है। उसमें जो ध्वनि है वह तत्त्वमस्यादि—'महावाक्यके समान है। ध्वनि है महावाक्य, कलपद, और बाँसुरी है ब्रह्मविद्या और गुरु हैं स्वयं श्रीकृष्ण—**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**।' यह ऐसी ध्वनि है! तो बोलीं—यह ध्वनि नहीं, यह तुम्हारा रूप भी तो सर्व संहारक है। भगवान्‌का रूप विचित्र है। कल बताया था—यह जड़ पदार्थके धर्मको नहीं रहने देता और पशुके

धर्मको भी नहीं रहने देता। वृक्ष झुक जाते हैं फल-फूल लेकरके श्रीकृष्णके चरणोंमें; पत्ते हवा करते हैं और वृक्षोंके शरीरसे मधुक्षरण होता है।

वृन्दावनमें एक वृक्ष था। अभी थोड़े दिन पहलेतक वह मधु-क्षरण करता था। नन्दगाँव और बरसानेके बीच एक द्विमिलवन पड़ता है; जहाँ दोनों मिलें उसका नाम द्विमिल। उस वनमें एक वृक्ष था; वृक्ष तो था काला-काला, उसका नाम किसीको मालूम नहीं था; उसमें एक सफेद-सफेद लता लिपटी हुई थी; वृक्ष भी बड़ा प्रबल था और लता भी मोटी थी। उसके जड़में एक जगहसे रस टपकता था; तो पहले महात्मा लोग अपना कमण्डल उसमें लगा देते थे और रस लेते और पी लेते थे। जबतक महात्मालोग पीते रहे तबतक तो वह रस देता रहा, पर जब पण्डे-पुजारियोंने उसे घेर लिया और उसपर दक्षिणा आदि चढ़ने लगी तब उसने मधुदान करना बन्द कर दिया। अभी वह वृक्ष है, भला!

वंशीध्वनि सुनकर वृक्षोंसे मधुक्षरण होता था, गायके थनसे दूध गिरने लगता था, बछड़ेकी आँखसे आँसू-गिरने लगते थे, मोर नाचने लगते थे, विचित्र है सब! बोले—यह क्या? तो देखो, हम कोई शास्त्रपुराण नहीं जानते हैं, कोई दर्शनशास्त्रका अनुसन्धान नहीं करते। श्रीकृष्णके प्रेममें प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं है।

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्यरूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।

वंशी-ध्वनि सुनकर इन्द्रियाँ मोहित हो गयीं और अमृतपान करके प्राण तृप्त हो गये और कलपद सुनकरके अन्तःकरण तन्मय हो गया और अव्यक्तने जीवको परमात्मासे एक कर दिया। गोपी और श्रीकृष्ण एकमें मिल गये!

सारे प्रमाण किसलिए हैं, आप जानते हैं?—धर्म किसके लिए है? श्रीमद्भागवतमें तो इसका बड़ा विचार है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्कोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥ १.५.१७

एक आदमीने अपना धर्म तो छोड़ दिया और वृन्दावनमें रहता है। तो बाह्यधर्मका तो लोप हो गया लेकिन वह भगवच्चरणारविन्दका भजन कर रहा है— **त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्।** अभी भजन परिपक्व नहीं हुआ और मर गया तो क्या होगा उसका? देखो—धर्म छोड़ दिया इसलिए क्या वह नरकमें जायेगा? और भजन पूरा नहीं हुआ इसलिए भगवान् उसे मिलने नहीं चाहिए। तो उसकी क्या गति होगी? नारायण!! वह नरकमें नहीं जायेगा क्योंकि उसने भगवान्‌के चरणारविन्दका भजन किया है—

नहि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

जो भगवद्भजन करता है, उसका अकल्याण अमङ्गल कभी नहीं हो सकता; इस लोकमें, परलोकमें, जीवनमें, मरणमें, कहीं उसका अमङ्गल नहीं है। अब समझो, एक आदमी है, वह भक्ति तो करता है लेकिन बाह्य आचार-विचार पर उसकी आस्था नहीं है तो क्या उसका अमङ्गल हो जायेगा? बोले—नहीं। और बहुत आचार-विचार किया लेकिन भगवान्‌की भक्ति नहीं की, तो क्या पाया? अगर मालिक तुमसे खुश नहीं हुआ तो तुमने दिनभर पाँव पीटकर, शिर पीटकर किया क्या? जितना धर्म-कर्म है सब परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए है क्योंकि परमेश्वरकी प्रसन्नताके बिना धर्म-कर्म अपना फल देनेमें समर्थ नहीं हैं, यह वेदान्तका सिद्धान्त है : *'फलमत उपपतेः'।* कर्म जड़ है, वह स्वयं फल नहीं दे सकता; ईश्वर देखता है कि इसने हमारे सम्मुख होकरके कर्म किया है कि विमुख होकर कर्म किया? जो सम्मुख होकर कर्म करता है उसको ईश्वर अपने पास बुला लेता है और जो विमुख होकर कर्म करता है उसको ईश्वर संसारमें भेज देता है, और विमुखतामें भी अच्छा कर्म करें तो स्वर्ग भेज देता है और बुरा कर्म करे तो नरकमें भेज देता है। और जो सम्मुख करके कर्म करे तो उससे ईश्वर प्रसन्न होता है। ईश्वरको रिझानेके लिए करता है न! भगवान्‌के सामने चाहे नाचें, चाहे गावें, चाहे तान तोड़ें, जैसे मौज हो वैसे रहें, पर भगवान्‌के सामने रहें। सब धर्मोंका फल यह है कि भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति हो, भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति बढ़े।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वसेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ १.२.८

एक आदमीने धर्म तो खूब किया—खूब दान किया, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि बड़े-बड़े व्रत किये और खूब होम किये, यज्ञ किये, लेकिन भगवान्‌की कथा नहीं सुनी और भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति नहीं हुई, तो वह धर्म क्या है? कि *'श्रम एव हि केवलम्'* वह केवल श्रम ही है। उसने केवल मेहनत-मजदूरी की, क्योंकि जो रस जीवनमें आना चाहिए था वह रस तो जीवनमें आया नहीं। इसीसे श्रीमद्भागवतमें बताया कि सब धर्मोंसे बड़ा धर्म क्या है कि—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥ ६.३.२२

इस मनुष्य-जीवनमें, इस लोकमें इतना ही धर्म है कि यह जीव भगवान्‌के सामने आरतीकी लौकी तरह भगवान्‌के चरणोंमें निछावर हो जाय! बड़प्पन बढ़नेमें

जीवनकी सफलता नहीं; अभिमानपर तो कभी-न-कभी चोट लगेगी ही, चाहे मूढ़तावश अभिमान हो, चाहे रागका अभिमान हो, चाहे धर्मका अभिमान हो, चाहे योगका या ज्ञानका अभिमान हो। संसारकी प्रकृतिको बदल देनेका सामर्थ्य भगवान्‌के रूपमें, भगवान्‌की वंशीध्वनिमें—

त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्।

ऐसा वर्णन मिलता है और हमने देखा भी है कि जो लोग भगवान्‌का ध्यान करते हैं और यदि उनका ठीक-ठीक ध्यान लग जाता है, तो उनका शरीर बदल जाता है। शास्त्रमें लिखा है—*जातिपरिवृत्तिः प्रकृत्यापूरात्*—हमने ध्यान करते-करते पुरुषको स्त्री-सरीखा देखा है, ध्यान करते-करते बुड्ढ़ेको जवान होते देखा है। भीतरका जो मन है, वह जब सूक्ष्म शरीर बदल गया और रसीला हो गया, वह आनन्दसे, ज्ञानसे, सत्तासे तृप्त हो गया, वह श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि और उनके रूप-सौन्दर्य और उनकी रूप-माधुरीसे परिपूर्ण हो गया, वह सूक्ष्म शरीर जब तृप्त हो गया, तब स्थूल शरीर तृप्त हो जाय इसमें आश्चर्य क्या है? गाय बदल जाय, पेड़ बदल जाय, चिड़िया बदल जाय, हरिणी पशु बदल जाय; दूसरे शब्दोंमें जो प्रमेयके धर्ममें परिवर्तन कर सकता है, वह यदि प्रमाणमें परिवर्तन कर दे, तो आश्चर्य ही क्या है!

तो आओ, गोपियोंने कहा कि न हम लक्ष्मीको दोष लगाते हैं बाबा! न दुनियामें किसी सती-सावित्रीको दोष लगाते हैं; परन्तु हमने तो तुम्हारी वंशीध्वनि सुनी है। क्या कभी किसी सती-सावित्रीने, जिनकी बड़ी महिमा है सृष्टिमें, वंशी-ध्वनि सुनी थी? दोष तो है सारा तुम्हारी वंशीध्वनिका। तुमने अपनी वंशीके द्वारा प्रणय-निमन्त्रण देकर हमको अपने पास बुला लिया और अब कहते हो कि लौट जाओ। जो तुम्हारे पास आकर लौट जाती होंगी वे स्त्री कोई दूसरी होंगी। ये गोपी हैं गोपी, ये लौटना नहीं जानती हैं।

अब इसका नतीजा क्या होगा—मालूम है? गोपियोंके अन्दर दैन्य आ गया, शरणागतिका भाव आ गया। उनके मनमें आया कि हमारे प्रयत्नसे कुछ नहीं होगा, हमारे साधनसे कुछ नहीं होगा, इनकी कृपासे ही सब कुछ होगा। अब मर्यादा नहीं, पुष्टि चाहिए। मर्यादा तो इन्होंने तोड़ दी। दो ही तो मार्ग हैं—एक मर्यादा और एक पुष्टि। श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें बोलते हैं—एक क्रियायोग और एक प्रपत्ति। क्रियायोग माने दिनभर पूजा करते हैं, न्यास आदि करते हैं, चन्दन लगाते हैं, माला पहनाते हैं, आरती करते हैं, वारम्वार स्नान करते हैं—यह सब क्रियायोग है। मूर्तिमें भी न्यास करते हैं, अपने शरीरमें भी न्यास करते हैं। और भगवान् मिलते हैं कब?

कि प्रपत्तिके द्वारा। इसमें भी शरणागति और प्रपत्ति—ये दो शब्द हैं उनके; चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें बोलते हैं—साधनभक्ति और प्रेमलक्षणा भक्ति या वैधीभक्ति और प्रेमलक्षणा भक्ति। श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें बोलते हैं—मर्यादा और पुष्टि। तो बोलीं कि हम मर्यादामें तो तुम्हारी ओर चल रही थीं लेकिन बाँसुरी बजाकर मर्यादाको तो तुमने भङ्ग कर दिया। अब पुष्टि देना तुम्हारे हाथमें है। लड़ाई-झगड़ेसे तो कोई काम बननेवाला नहीं है। लेकिन तुम्हारे अवतारका प्रयोजन ही व्यर्थ जाता है यदि तुम हमको स्वीकार नहीं करते—

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥

यह प्रेम जो है न, वह आचारको छोड़ देता है। प्रेमका ऐसा निरूपण आता है कि प्रेमका एक समुद्र है। राधा और कृष्ण इसमें दो तरङ्गें हैं, प्रेम ही राधाको राधा बनाता है और कृष्णको कृष्ण बनाता है, और फिर दोनोंको लाकर मिलाता है; फिर कृष्ण साँवरेपनको छोड़कर गोरे हो जाते हैं और राधा अपने गोरेपनको छोड़कर साँवरी हो जाती हैं। फिर कृष्ण जब राधासे मिलनेके लिए चलते हैं तो मिलनके वेगमें देखो—मिलन नहीं होता-कृष्णके मनमें जब मिलनका वेग उदित होता है तो वे राधा हो जाते हैं और जब राधाके मनमें मिलनका वेग हो जाता है तो वे कृष्ण हो जाती हैं। ये दोनों कौन हैं? कि प्रेम हैं। राधाकृष्ण दोनोंका कोई मालिक है? बोलें—हाँ, है। कौन? कि प्रेम। सबके मालिक हैं राधाकृष्ण और राधाकृष्णका मालिक है प्रेम। वह राधाकृष्णकी सृष्टि करता है, उनको नया-नया रूप देता है, उनको पुष्ट करता है, उनको अपने अन्दर मिला लेता है और वे अपने आपको भूलकर प्रेमरूप हो जाते हैं। प्रेम है अखण्ड सच्चिदानन्दरस, रसघन, आनन्दघन और उसमें दो आकृति हैं—एक राधा और एक कृष्ण और उसमें भी नियत आकृति नहीं है—राधा कृष्ण और कृष्ण राधा।

न आदि न अन्त विलास करैं दोउ, लाल प्रियामें भयी न चिन्हारी।
सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप॥

राधा और कृष्ण—ये आदिदम्पति हैं, अनादियुगल, अनादिदम्पति हैं; उपादान दोनोंका एक है प्रेम और उसमें कभी स्त्री-आकृति पुं-आकृति हो जाती है और कभी पुरुष-आकृति स्त्री-आकृति हो जाती है। प्रेममें अहं नहीं होता; अहं कठोर है और प्रेम कोमल है। ज्ञान जो है वह तो कठोर है, वह कठोपनिषद् है; और प्रेम जो है यह तो कोमल है, यह कमलोपनिषद् है। तो यह जो अहं है—मैं-मैं, वही

कठोर है, ब्रह्म कठोर नहीं है, यह अहं नहीं छूटता, पकड़कर बैठ जाता है। तो—

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्॥

देखो कृष्ण! इतनी बात तो स्पष्ट है, इसमें कोई तर्क-वितर्क-युक्तिकी जरूरत नहीं है। **भवान् व्रज भयार्तिहरोऽभिजातः**—आप व्रजके भय और आर्ति इन दोनोंका नाश करनेके लिए पैदा हुए हो, क्योंकि व्रजमें कंस आदिका जो भय है और इन्द्रकी वर्षा आदिकी जो पीड़ा है, आर्ति है इन दोनोंको तुमने मिटा दिया; फिर हमें जो तुम्हारे विरहका भय हो गया है कि कहीं तुम हमें छोड़ न दो और इस समय तुम्हारी उपेक्षासे जो हमको पीड़ा हो रही है—विरहका भय और उपेक्षासे पीड़ा, आर्ति—उसको तुम दूर क्यों नहीं करोगे! अर्थात्-करोगे ही, करना तुम्हारा दायित्व है! यहाँ गोपीने अपना नाम नहीं लिया है—व्रजका नाम लिया है—**व्रजभयार्तिहरः**। जैसे राय अपनी होती है और बोलते हैं सबकी यही राय है। आप लोग नेताओंका भाषण सुनते होंगे; वे कहते हैं—यह आप लोगोंकी माँग है, आप लोगोंकी आवाज है. मैं अपनी बात थोड़े ही कह रहा हूँ। इसी प्रकार गोपियाँ कहती हैं— 'व्रजभयार्तिहरोऽभिजातः' व्रजमें जब-जब भय आया, जब-जब कोई आर्ति आयी, पीड़ा आयी, उस भय—और पीड़ाको तुमने दूर किया। गोपी बोल रही हैं व्रजकी बात लेकिन उसे अपने लिए बोल रही हैं। कहती हैं—इस समय जो तुम उपेक्षा कर रहे हो उससे इस समय हमारे प्राण पीड़ित हो रहे हैं और आगे कहीं छोड़ न दो! उससे भय हो रहा है। यदि तुम हमारे भय और पीड़ाको दूर नहीं करते तो तुम्हारी बड़ी बदनामी होगी, क्योंकि सारा व्रज जानता है कि तुम व्रजवासियोंके भय और आर्तिको मिटानेके लिए आये हो और यदि तुम हमारी उपेक्षा कर ही दोगे या हमको विरह दे दोगे तो हम सब मर जायेंगी। और मर जायेंगी तो कल सबेरे क्या होगा जानते हो? हमारे भाई-बन्धु, माँ-बाप, सास-ससुर, रिश्तेदार-नातेदार सब इकट्ठे होकर हमारे विरहमें छाती पीटेंगे और कहेंगे कि जो कृष्ण भय और आर्तिको मिटानेके लिए आया था उसने सारे व्रजको ही भय और आर्तिमें डाल दिया। तो तुम हमारी यदि पुष्टि नहीं करोगे, हम जो लालसा-अभिलाषा लेकर आयी हैं उसको पूरी नहीं करोगे तो तुम्हारी तो अपकीर्ति होगी और व्रजका सत्यानाश हो जायेगा; इसपर भी तुम हमें धर्मका उपदेश करते हो और हमसे कहते हो कि शान्तचित्तसे दिमाग ठीक करके हमारा उपदेश सुनो। तो आप जानते हो कि दूसरेके घरमें आग लगे तो सबलोग उपदेश करनेके लिए

पहुँच जाते हैं। तुम्हारी दाढ़ीमें आग लगे और हमारी दाढ़ीमें आग लगे तो तुम पहले किसको बुझाओगे ? अपनी तो बुझाओगे न! ठीक ही कहा है कि *परोपदेशे पाण्डित्यम्।* गोपियोंने कहा—कृष्ण! लेकिन तुम्हारा उदाहरण इसके विपरीत है। क्यों ?

देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता जब दैत्य बढ़ते हैं और देवताओंका ह्रास होता है, देवतालोग जब पीड़ित होते हैं-तब आपकी शरणमें आते हैं; वे ही तो आप हैं! आपके पास जब इन्द्र-वरुणादि देवता आये और बताया कि दैत्योंने उनका स्वर्गलोक आदि छीन लिया है और आपसे रक्षाकी प्रार्थना की तो आपको उस समय क्या चाहिए था ? क्या उस समय आपको यह चाहिए था कि उनको तत्त्वाज्ञानका उपदेश करते कि बैठो-बैठो देवताओ! सुनो, यह स्वर्गलोक मिथ्या है, यह अग्नि-वरुणलोक आदि मिथ्या हैं और ये सबके सब अधिष्ठानमें कल्पित हैं और तुम तो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हो; इसलिए अब यह स्वर्गकी इच्छा तुम लोग छोड़ दो, देवलोक-आधिपत्यकी वासना छोड़ो, बहुत बुरी है, और हार और जीतमें सम हो जाओ, अब देवताओंकी दैत्योंसे लड़ाई करनेकी आवश्यकता नहीं है! ऐसा उपदेश देवताओंको तुमने क्यों नहीं दिया ? तब तो देवताओंकी इच्छा पूरी करनेके लिए-'देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता' जैसे आदिपुरुषदेव उस समय ज्ञानोपदेश नहीं करता, बल्कि उनके दुःखको दूर करनेका उपाय करता है; उसी प्रकार इस समय जब हम एक इच्छा लेकर तुम्हारे पास आयी हैं तुम्हें हमें उपदेश करना उचित नहीं है, उचित यह है कि हमारी इच्छा पूरी करके हमारी रक्षा करो।

देखो, जिस समय किसीका फोड़ा दुख रहा हो, उस समय उसको वेदान्तका उपदेश मत करना। उस समय तो उसकी दवा-दारू करनी चाहिए, उसको सुख पहुँचाना चाहिए। वह तो जब अपनेको फोड़ा हो तब सोचना चाहिए कि शरीर अधिष्ठानमें कल्पित है और इसमें फोड़ा हुए बिना प्रतीत हो रहा है और उसमें दर्द नहीं है। अपनेको हो, तब सोचना चाहिए, दूसरेको हो तो उपदेश नहीं करना, नहीं तो तुम्हारे वेदान्तकी इज्जत गिर जायेगी, भला!

तो भगवान् भी देवताओंको समताका उपदेश नहीं करते, उल्टे इन्द्रके छोटे भाई बन जाते हैं! इन्द्र बड़े और वामन छोटे! छोटे बनकर उपेन्द्र बन गये! और देखो इतने छोटे बने कि ब्राह्मण बनकर बलिके दरबारमें गये और वहाँ भीख माँगी और भीख माँगकरके अपने भाइयोंको स्वर्गलोक दे दिया। तो बोलीं—वहाँ उपदेश क्यों नहीं करते हो कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म ?' वहाँ तो उनको वाञ्छित वस्तु देते हो। और अब हम जब एक इच्छा लेकर आयी हैं तो हमें उपदेश करते हो ? हमारी

इच्छा भी पूरी क्यों नहीं करते ? यदि कहो कि तुम्हारी यह इच्छा धर्मके विपरीत है, इसलिए घरमें लौट जाओ–तो तुम्हारा ही यह श्रुति–वचन है कि '*यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्*'; श्रुति कहती है जिस दिन मनमें ठीक–ठीक वैराग्य आ जाय, उसी दिन घर छोड़ देना चाहिए क्योंकि वैराग्यका यह क्षण जीवमें कभी ही आता है। ऐसा वैराग्य आज आया है, कल आयेगा इसका कोई ठीक नहीं है। इसलिए बाबा मेरे, क्या करना कि '**व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवोयथाऽऽदिपुरूषः**'–जैसे आदिपुरुष नारायण देवलोककी रक्षाके लिए स्वयं अपनेको छोटा बना देते हैं, झुक करके भी देवताओंकी रक्षा करते हैं, वैसे ही— '**तन्नो निधेहि**'। श्रीकृष्णने कहा—गोपियो! क्या करें, बोलो! बोलीं—कि हम तुम्हारे अवतारको सफल करना चाहती हैं—'**व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातः**'। बोले—हम तो पृथिवीका भार दूर करनेके लिए आये हैं, उससे हमारा अवतार सफल होगा। बोलीं—यदि तुम न आते, केवल बलरामजी आते, सङ्कर्षण आते, तो भी पृथिवीका भार दूर हो जाता, क्योंकि सारी पृथिवीको तो शिरपर सङ्कर्षण लिए रहते हैं, पृथिवीका भार दूर करनेके लिए वही काफी हैं। बोले—फिर वसुदेव-देवकी आदिको सन्तोष नहीं होता, इसके लिए मैं आया हूँ। बोलीं—ये तो प्रद्युम्न कर देते, क्योंकि वे कामरूप हैं, उनको देख करके सबका मिजाज तर रहता है। बोले—धर्मरक्षाका काम कौन करता, यदि हम न आते ? बोलीं—यह काम अनिरुद्ध कर देते क्योंकि अनिरुद्ध तो सप्तद्विपाधिपति हैं, वे धर्मकी रक्षा कर देते। फिर हम तुम क्यों आये गोपियो, तुम्हीं बताओ। बोलीं—सुनो तुम तो आये हो हमलोगोंके लिए—

कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः।

तुम हमलोगोंके लिए आये हो; यदि हमलोगोंको अपने विरहमें और उपेक्षासे दुःखी कर डालोगे तो तुम्हारे अवतारका प्रयोजन पूरा नहीं होगा। तुम भगवद्भक्ति, प्रकट करनेके लिए आये हो न, तो जब लोग सुनेंगे कि गोपियोंने सबकुछ छोड़कर—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, सब छोड़कर—श्रीकृष्णसे प्रेम किया और अन्तमें बेचारी उपेक्षित होकर तड़फड़ाकर उनके चरणोंमें बिना पानीकी मछलीकी तरह मर गयीं तो यही मर्यादा तो स्थापित होगी कि जो श्रीकृष्णसे प्रेम करे सो मर जाय। तो कोई प्रेम करेगा दुनियामें ? भक्तिका मार्ग चलेगा ? भक्तिके मार्गका लोप हो जायेगा यदि तुम पुष्टि नहीं करोगे। यह तो जैसे बिरवाको, कोमल पौधेको, सिंचाईकी जरूरत होती है, इसीका नाम पुष्टि है; सूखते हुए पौधोंको सींचना, इसका नाम पुष्टि है। सींचे हुए पौधेमें खाद डाल देना, इसका नाम पुष्टि है।

साधन रहित, निस्साधन जो जीव है, उस जीवको साधनका फल दे देना इसका नाम पुष्टि है।

भगवान् बोले—अच्छा गोपियो! तुम बोलो हम करें क्या? बोलीं—

तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्।

गोपियाँ जो बड़ी समझदार थीं, उन्होंने कहा कि देखो सखि! क्या श्रीकृष्ण सचमुच हमलोगोंकी उपेक्षा करते हैं कि बाहरसे बनावट करते हैं? बोलीं—सखि, पता कैसे चले? तो कहा— पता ऐसे चले कि तुम अपने शरीरपर उनका हाथ रखनेको कहो और ऐसी जगह हाथ रखनेको कहो कि इनको लालच आ जाय; तब पता चल जायेगा कि इनके मनमें बनावट है कि असलियत है। बोलीं कि देखेंगी कि इनके शरीरमें रोमाञ्च होता है कि नहीं, इनके होंठोंमें मुसकराहट आती है कि नहीं, पकड़े जायेंगे। दूसरी गोपी जो नहीं समझती है, वह कहती हैं—पहले तो नारायण! हमको निर्भय करो; हमें दो चीज चाहिए; एक तो चाहिए निर्भयता और एक चाहिए रसदान। पहले तो जो गरम हवा लगती है उससे बचाव और उसके बाद पीनेके लिए शर्बत, दोनों चाहिए। तो गोपियाँ जो हैं वे अपने हृदयका भाव प्रकट करती हैं, बिल्कुल खुले।

(२)

शोकस्थानि सहस्राणि, भयस्थानि शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढं आविशन्ति न पण्डितम्॥

पण्डितका लक्षण है कि जो बीते हुए शोक और आगे आनेवाले भयके कारण अपने वर्तमानको न बिगड़ने दे। क्योंकि बीता हुआ तो बीत गया,वह फिर आवेगा नहीं; और जो आने- वाला है वह वर्तमानके रास्तेसे आवेगा, इसलिए जो अपने वर्तमानको बिलकुल ठीक रखता है उसका भविष्य भी ठीक हो जाता है।

दुःख तीन तरहके हैं—(१) एक बीता हुआ दुःख, जिसको हम शोक बोलते हैं, (२) वर्तमानमें आर्ति, अर्थात् पीड़ा, दुःख और (३) एक आनेवाला दुःख जिसको भय बोलते हैं। जब भगवान्‌की भक्ति हृदयमें आती है तब हमारी वृत्ति भगवदाकार हो जाती है, वह भूताकार अथवा भविष्याकार नहीं होती, इसलिए शोकाकार और भयाकार नहीं होती। भक्तिका दृष्टफल यही है कि वर्तमानमें हमारी वृत्ति भगवदाकार हो जाय, मन संसारके प्रपञ्चके बाहरी रूपको छोड़ दे और भगवान्‌के साथ एक हो जाय!

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

दो चीजें भगवान् माँगते हैं। एक कहते हैं अपना मन मुझमें रख दो और एक अपनी बुद्धि मुझमें रख दो। माने मनके पीछे रहकर और बुद्धिके पीछे रहकर जो मन और बुद्धि दोनोंको रोशनी दे रहा है वह भगवान् है। जो भगवान्‌का आविर्भाव है, अवतार है, वह हमारी आर्ति और भय दूर करनेके लिए है। जिसका मन भगवान्‌में लग गया है उसको भय किसका? उसको पीड़ा और उसके मनमें शोक किसका? इसीके लिए भगवान्‌का अवतार है। अवतार है माने हमारी बुद्धिमें अवतरण है, हमारे मनमें अवतरण है, हमारी इन्द्रियोंमें अवतरण है; हमारे कार्यमें, दीखनेवाले प्रपञ्चमें, अवतरण है। भगवान्‌का अवतरण आसमानमें-से आकर नीचे नहीं होता, वह हमारे भीतरसे पहले दिलमें आते हैं, फिर प्राणोंसे एक होते हैं, फिर हमारी आँखोंमें आते हैं और अन्तमें हमारे सामने दीखने लग जाते हैं। तब सम्पूर्ण प्रपञ्च, सारा जगत्, भगवन्मय हो जाता है; फलतः हमारा दिल, दिमाग, मन, इन्द्रियाँ और सारी दुनिया भगवान्‌से भर जाती है। अब दुःखका क्या पता है?

गोपी कहती है कि कृष्ण! इसीके लिए तुम पृथिवीपर आये हो, नहीं तो आनेका कोई प्रयोजन नहीं

कृष्णने कहा—हम न आते तो पृथिवीका भार कौन दूर करता? कहा—बलरामजी कर देते, उन्हींको भेज देते। बोले—देवकी-वसुदेवको आनन्द कैसे आता? कहा—अपने बदले परमसुन्दर, परममधुर, कामावतार प्रद्युम्नको भेज देते, देवकी-वसुदेव प्रसन्न हो जाते। बोले— धर्मकी रक्षा कौन करता? कहा—अनिरुद्धजीको भेज देते, वे धर्मकी रक्षा कर देते। शक्त्योपाधिक परमात्माका नाम है संकर्षण; संस्कारोपाधिक परमात्माका नाम है प्रद्युम्न और चंचल मनोवृत्योपाधिक परमात्माका नाम है अनिरुद्ध 'अनिरुद्ध तो मन ही है, जो जल्दीसे निरुद्ध न हो, उसका नाम अनिरुद्ध है; गोपियाँ कहती हैं—ये सब काम तो अन्य लोग कर देते, तुम क्यों आये? बोली— दुनिया चाहे जाने या न जाने, पर हम जानती हैं। देखो, यह प्रेमीका दृष्टिकोण है। वे कहती हैं कि यहाँ आनेका तुमने बहाना चाहे जो बनाया हो—धर्मकी रक्षा, वसुदेव-देवकीकी प्रसन्नता या पृथिवीका भार उतारना—परन्तु हम पहचानती हैं कि तुम आये हो केवल हमारे लिए! प्रेमी वही होगा जिसका दृष्टिकोण ऐसा होगा। शिष्य वही होगा जो कहेगा गुरुजी हमारे लिए आये हैं और सब अनुभव यही करेंगे कि हमारे लिए आये हैं, हमारे लिए आये हैं। गोपियाँ कहती हैं—कृष्ण, तुम और किसी कामके लिए नहीं आये हो, तुम तो आये हो सिर्फ हमारे लिए। तुम स्वयं आये हमारे लिए। विष्णुसे वामन बन गये ईश्वरसे जीव बन गये, बड़ेसे छोटे बन गये, द्रष्टासे दृश्य हो गये! हमारे लिए इतना प्रेम करके, इतनी करुणा करके इतनी कृपा करके तुम पधारे व्रजमें और हमारी यह दशा है। तुम्हारे लिए? तो हमारी आर्ति हरो, हमारा भय हरो।

अरी गोपियो? तुमको क्या पीड़ा है? देखो—कालियनागसे मैंने बचा दिया, इन्द्रसे हमने बचा दिया, पूतनासे बचा दिया, तृणावर्तसे बचा दिया, शकटासुरसे बचा दिया, बकासुरसे बचा दिया, अघासुरसे बचा दिया, बृषभासुरसे बचा दिया, ये सब असुर हैं। सब प्रेममें बाधक हैं। पूतना माया है, भगवत्प्रेममें बाधक है। शकटासुर जड़ता है, भगवत्प्रेममें बाधक है, तृणावर्त रजोगुणतमोगुणकी अधिकता है, वह भी भगवत्प्राप्तिमें बाधक है। अघासुर पाप है, बकासुर दम्भ है—ये सब भगवत्प्रेममें बाधक हैं। देवता भी बाधक हैं और दैत्य भी बाधक हैं। यहाँतक कि बृषभासुर भी बाधक है—वृषभ तो धर्मका रूप है, पर वहाँ भी अहं होनेपर बाधा है। व्योमासुर भी बाधक है; व्योमासुर कौन है? वह समाधि है। चिदाकाश, चित्ताकाश, ये सब बाधक हैं भगवत्प्रेममें। भगवान्‌ने कहा-हमने सबको हटा

दिया। बोले-सबको तो हटा दिया हमको कोई देवता या असुरोंका डर नहीं है। हमको तो तकलीफ सिर्फ तुमसे हो रही है। प्रेमीको कोई दूसरा कष्ट नहीं दे सकता, प्रेमी न किसीके वियोगसे दुःखी होता, न किसीके संयोगसे सुखी होता है। उसे तो एक ही चाहिए। दूसरेकी दी हुई पीड़ा उसके पास थोड़े ही पहुँचेगी, प्रेमीको अगर कोई पीड़ा दे सकता है तो उसका प्रियतम और कोई नहीं और प्रेमीको अगर कोई सुखी कर सकता है तो उसकी प्रियतमा। कृष्णने कहा—बाबा! हम किसीको दुःख नहीं देते। बोलीं—क्यों नहीं। जब धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चतुर्वर्गका परित्याग करके तुम्हारेलिए आयी हुई हम गोपियोंकी उपेक्षा करते हो तो क्या यह दुःख नहीं है? हमारे दिलमें जलन हो रही है, हमारा सिर झन्ना रहा है। दिमागमें चक्कर आ रहा है, भेजा जल रहा है। बोले—गोपियो! देखो, अभी उपचार करते हैं, ठीक हो जायेगा। बोलीं—हमको कोई छोटे-मोटे उपायसे काम नहीं चलेगा। आगे भी वियोग न हो, वियोग-भय सता रहा है। और इस समय तुम्हारी उपेक्षा है सो सता रही है। इन दोनोंको निवृत्त करो। बोले—अच्छा गोपियो, मान गया—

तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम्।
आर्तबन्धो—यह सम्बोधन है—हे दुःखी लोगोंके बन्धु! देखो, भगवान्के सिवाय और जो कुछ है वह सब आर्त है, दुःख है।

सब आचार्य इसमें एकमत हैं कि प्रपंच भगवान्से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। बस, उनकी प्रतिपादन-शैलीमें भिन्नता है। श्रीनिम्बार्काचार्य कारणावस्थामें अद्वैत मानते हैं। श्रीमध्वाचार्य ब्रह्ममें ही जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्य जी मानते हैं कि यह जगतमें ब्रह्ममें ऐसा है, जैसे कमलमें नीलिमा। **नीलम् कमलम्**—इसमें नीलता कमलका विशेषण है। इसी प्रकार ये जीव जगतमें परमेश्वरके विशेषण हैं। इन्हीं चिद्-अचित्से विशिष्ट होकरके ब्रह्म प्रकट हो रहा है, और चिद्-अचित् दोनों उसमें जब सायुज्यको प्राप्त हो जाते हैं, लीन हो जाते हैं, उसके सिवाय और कोई नहीं है। वही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है। श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि जैसे सोनेकी दो मूर्ति बनायी जायँ—अहम् और इदम्—तो दोनों जैसे सोना है, उसी प्रकार भगवत्-संकल्पमें भगवत्-संकल्पानुसार जो प्रपञ्च दिख रहा है वह भगवत्-स्वरूपसे पृथक् नहीं है। श्रीशंकराचार्यकी तो बात ही छोड़ देते हैं, क्योंकि उनके मतमें तो......**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**- मूल सिद्धान्त यही है कि परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है। तब यह दूसरा क्या है?

बोले—**अतोन्यद् आर्तम्।** उपनिषद्में कहा—कि देखो, है तो सब परमात्मा, लेकिन तुम्हें यदि परमात्माके सिवाय और कुछ मालूम पड़ता है तो वह दुःख है।

गोपियोंने कहा—महाराज! यह जो तुमने कह दिया कि लौट जाओ तो हम तुमको छोड़करके कहीं और लौट जायँ इसीका नाम आर्ति है। अगर तुम ऊपर-ऊपरसे बोल रहे हो तो कोई बात नहीं, लेकिन अगर सचमुच भीतरसे बोलते हो तो बड़ा डर लगता है। तो हमारा तो सिर झन्ना रहा है। अब हम बेहोश होकर गिरनेवाली हैं, हमारा दिल फटनेवाला है, हमारा हृदय गरम हो रहा है, '**तप्तस्तनेषु च**' यहाँ स्तन जो है वह हृदयका उपलक्षण है। **तन्नो निधेहि कर-पंकज मार्तबन्धो**—आप अपना करकमल हमारे हृदयपर रख दीजिये।

भगवान्ने कहा—अरे बाबा! तुम्हारा जलता हुआ दिल और हमारा यह कमलके समान कोमल ठण्डा-ठण्डा हाथ मैं रखूँगा तो जल जायेगा। क्या तुम हमारा हाथ जलाना चाहती हो? गोपीने कहा—नहीं-नहीं, हमारे हृदयमें जो ताप है वह अग्निका ताप नहीं है। यह सूर्यका ताप है विरहको सूर्य बताते हैं; जैसे-सूर्यमें दो गुण होते हैं-एक तापक और एक प्रकाशक, वैसे ही विरहमें भी दो गुण हैं। विरहमें एक तो होता है ताप जलन, दुःख और दूसरे प्रकाश होता है। प्रकाश कैसा होता है? आप देखना जबतक आदमी अपने पास रहता है तबतक उसके गुण नहीं मालूम पड़ते; जब वह दूर चला जाता है या बिछुड़ जाता है तब लगता है कि वह बहुत अच्छा था भाई, उसमें गुण सूझने लगता है। तो विरह एक ओर तापक है, दाहक है तो दूसरी ओर प्रकाशक भी है। जब श्रीकृष्ण गोपियोंके बीचमें नृत्य कर रहे हैं, तब तो गोपियाँ कहती थीं 'हम बड़ी सुन्दरी हैं, हमारे ऊपर कृष्ण मोहित हैं', क्या पूछना है! अभिमान हो गया। और जब चले गये तो हा कृष्ण! हा कृष्ण! हा कृष्ण! तुम्हारे बिना तो हम कुछ हैं ही नहीं! **न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।** यह कब सूझा? कि विरहमें। तो विरह-सूर्य जिसका विरह होता है उसके माहात्म्यको सूचित (प्रकाशित) करता है और जिसको विरह होता है उसके दिलको जलाता है। तो गोपियोंने कहा—आप अपने करकमल हमारे हृदयपर रख दो, वह जलेगा नहीं। सूर्यके तापमें भी कमल खिलता है; यदि तुम हमारे हृदयमें स्थित विरह-सूर्यके तापकी ओर अपना करकमल करोगे तो हमारा हृदय होगा ठण्डा। पहले वैद्य लोग जब किसीको खूब ताप हो तो चिकित्सामें हृदयपर कमल रखते थे। गर्मीसे वह कुम्हला जाता था तो दूसरा रखाते दूसरा हटाया, तीसरा रखाते। केलेके पत्तेपर सुलाते थे, कमलकी पुरइनपर सुलाते थे। ढक देते थे लोगोंको। क्यों? जैसे—आजकल

बर्फका प्रयोग करते हैं न? वैसे पहले कमलके फूल और कमलके पत्तोंका प्रयोग करते थे। बोलीं–हमारे हृदयमें जो ज्वाला है उसको शान्त करेगा तुम्हारा करकमल और तुम्हारे करकमलको ताप लगेगा नहीं क्योंकि विरह-सूर्यके प्रकाशमें वह और खिल जायेगा, उसमें रोमांच हो जायेगा, उसमें प्रेम और आनन्द आ जायेगा, तुम हमारे हृदयपर अपना हाथ रखकर देखो तो! बोले- अच्छा गोपियों! हम रख देते हैं हृदयपर हाथ। बोलीं—नहीं, शिरपर भी रखो। बोले—शिरपर क्यों रखें? तो कहा—तुमने हमको अपना लिया—यह मालूम तो पड़े।

देखो, प्रेममें वासना और बुद्धिमें अहंकार होनेका डर रहता है। दोनोंमें दो विघ्न लगे हुए हैं। प्रेममें वासना और बुद्धिमें अहंकार। इसलिए गोपियोंने कहा—हृदयपर हाथ रख दो कि यह हमारा प्रेम शुद्ध रहे, वासना न हो; और हमारे शिरपर अपना हाथ रख दो, जिससे हमारी बुद्धि तुम्हारे चरणोंमें लगे, लेकिन अभिमान न हो!

कृष्णने कहा—क्यों रखें, गोपियो! क्या हम तुम्हारे कोई आज्ञाकारी हैं? बोलीं बाबा! तुम आज्ञाकारी नहीं हो, आज्ञाकारी तो हम हैं—**किंकरीणाम्**-हम किंकरी हैं। **किं करोमि किं करोमि**—मैं क्या करूँ, मैं क्या करूँ? क्या आज्ञा है? हम तो तुम्हारा आज्ञापालन करनेके लिए हाथ जोड़कर खड़ी हैं, तुम्हारी किंकरी है!

देखो, यहाँ जो 'तन्नो' 'नो' है न, वह 'नः' के अर्थमें है। 'नः' माने हमारा। लेकिन 'नो' माने 'नहीं' भी होता है।

महाराज, कभी बादमें जाकरके गोपी और कृष्णकी बात हुई। कृष्णने कहा—उस दिन तुम्हारी क्या दशा हो गयी थी, आज शान बताती हो, मान जताती हो? उस दिन तुमने अपने मुँहसे क्या कहा था—**तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो**—अपने मुँहसे तुमने कहा था कि नहीं? गोपीने कहा—हमने षष्ठी बहुवचनके अर्थमें 'नो' शब्दका प्रयोग नहीं किया था, हमने तो 'नहीं' के अर्थमें किया था।

तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो।
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम्॥

अर्थात् हमारे हृदयपर हाथ मत रखो—हमने तो यह कहा था, गोपियाँ बिलकुल निकल गयीं।

देखो—असलमें दुःखके अन्तमें सुख है, यह बात बिलकुल निश्चित है। दुःख देखकर घबराना नहीं, जब दुःख अपनी सीमापर पहुँचता है, चढ़ते-चढ़ते पारा जब अपनी सीमापर पहुँचता है तब एकाएक गिर जाता है। वहाँ भगवान्

प्रकट हो जाते हैं। देखो- भगवान्‌के प्रकट होनेकी रात! वर्षाऋतु, कृष्णपक्ष, अष्टमीतिथि, अँधेरी रात; उस घोर अन्धकारमें भगवान्‌का प्रकाश! और यहाँ गोपियोंके घोर दुःखमें परमानन्दका प्रकाश, यहाँ मृत्युमें जीवनका प्रकाश, यहाँ निरहम्‌में सच्चे अहंका प्रकाश, यहाँ जगत्‌में भगवान्‌का प्रकाश, यहाँ जीवमें ब्रह्मका प्रकाश! **इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।** भगवान्‌ने गोपियोंके मुँहसे गोपियोंके हृदयमें जो प्रेमकी पराकाष्ठा है वह सुन ली, **श्रुत्वा।** बोले-इतनी गोपियोंको कैसे मनावेंगे? **योगेश्वरेश्वरः प्रहस्य'** हँस गये! हँसकर बोले- गोपियो! हम जरा माखन लेने तुम्हारे पास आवें, हजार बहाने बनावें कि गोपी जरा सुन ले, हमारी ओर देख ले, तो क्या मान, क्या शान, क्या धर्मात्मा बनती थीं! रोज-रोज तो तुम अपार वामतासे, उलटी चालसे, हमारे साथ चलती थी; और आज मैंने जरा दो मिनटके लिए उलटी चाल चल दी तो तुम्हारी यह दशा हो गयी। बस-बस, अब आगेसे कभी उलटी बात मत बोलना, तुम्हारे दिलमें जो बात छिपी थी, आज जाहिर हो गयी। सुन लो देवताओ! वृन्दावनके वृक्षो सुनो, लताओ सुनो, पशुपक्षियो सुनो, देखो—तुम गवाह रहना, आज दो मिनटमें ही गोपियोंकी सिट्टी-पिट्टी स्वयं गुम हो गयी और ये हाथ जोड़कर कैङ्कर्यकी प्रार्थना करने लग गयी हैं। ओ ललिता, ओ चन्द्रावलि, ओ विशाखा, अब देखो कोई मुँहसे नाम मत निकालना, हम कहें तो नाचना, हम कहें तो गाना, हम कहें तो खड़ी होना, हम कहें तो बैठ जाना; हम जैसे कहें वैसे करना, अब आजके बाद हमारे सामने उलटी चाल कभी मत चलना क्योंकि तुम लोगोंकी सब पोलपट्टी खुल गयी। तुम्हारे अन्दर न धैर्य है, न तुम्हारे अन्दर विवेक है। बोलीं—हाँ महाराज हम तो आप ही की हैं!

३७

प्रथम रासक्रीड़ाका उपक्रम

(इति विक्लवितं तासां...........इवोडुभिर्वृतः)

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणांक इवोडुभिर्वृतः॥

(श्रीमद्भागवत १०.२९.४२-४३)

भगवान्‌से रागका उदय होना—इसका अर्थ है संसारसे रागका छूट जाना, क्योंकि रागकी प्रकृति है एकसे होना। जब भगवान्‌से राग होता है तो संसारसे वैराग्य हो जाता है; नहीं तो जिन्दगीभर लोग घटाकाश-मठाकाश करते रह जाते हैं, अधिष्ठान और अध्यस्तकी चर्चा करते-करते जिन्दगी बीत जाती है लेकिन संसारसे वैराग्य नहीं होता। वैराग्य हुए बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता, तत्त्वज्ञान हुए बिना अविद्यानिवृत्ति नहीं होती, अविद्यानिवृत्ति हुए बिना अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपमें अवस्थिति नहीं होती। वैराग्य तो साधन है, होना चाहिए। तो पहली बात है भगवान्‌से राग होकर संसारसे वैराग्य होना। अब जिससे राग होता है, उससे मिलनेके लिए प्रयत्न भी होता है। तो जब गोपियोंके मनमें श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए राग हुआ- तब उन्होंने 'कात्यायनी' व्रत किया। यह धर्म हुआ। भगवान्‌ने स्वीकार किया। तो रोज-रोज सायंकालीन भगवान्‌का जो दर्शन है न—**गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हं** और जो वंशीध्वनिका श्रवण है वह पूर्वरागका प्रसङ्ग है और कात्यायनी-पूजन आदि जो है वह भगवत्प्राप्तिके प्रयासका प्रसङ्ग है। वरदान मिला। वंशी सुनकर मोहित होना, रूप देखकर मोहित होना और कृष्णके लिए प्रयत्न करना-इतना तो गोपियोंका पौरुष था; और जब भगवान्‌की स्वीकृति मिल गयी, उन्होंने बाँसुरी बजायी तो सबकी सब गोपियाँ आयीं, घेरकर खड़ी हो गयीं और श्रीकृष्ण स्वयं उदासीन, तटस्थ, निरपेक्ष असङ्ग आत्मा! अब गोपियोंके हृदयसे जो उद्‌गार निकला उससे यह प्रतीत होता है कि गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कितना प्रेम है और भगवान्‌से कोई प्रेम करे तो कैसा प्रेम करे। गोपियोंने कह दिया कि अब हम एक कदम इससे पीछे नहीं हट सकतीं और

कृष्ण यदि स्वीकार नहीं करेंगे तो हम विरहाग्निसे शरीरको प्रज्वलित करके और ध्यानाग्निमें अपने सूक्ष्म शरीरको तपाकर तुम्हारी पदवीको प्राप्त करेंगी। इतनी दृढ़ता, इतनी निष्ठा, इतनी प्रीति! असलमें न तो इस सम्वादसे कोई गोपियोंका हित था और न तो कोई श्रीकृष्णका हित था। श्रीकृष्ण तो मजा ही ले रहे थे क्योंकि गोपियोंके दिलकी बात तो उनको मालूम थी और गोपियोंको अपने प्रेमको जाहिर करना कोई जरूरी नहीं था। बहुत प्रेम दिखाना, प्रेमको बहुत जाहिर करना, वह प्रेमका विकार ही है। वह तो अपने प्रियतमपर एहसान लादना है। यह तो अधूरेपनका ही लक्षण है। तब फिर गोपियोंने यह संवाद क्यों किया? गोपियोंने यह संवाद अपनी इच्छासे नहीं किया, कृष्णकी इच्छासे यह बात चली, क्योंकि कृष्णका अवतार तो भक्तिमार्गकी, प्रेममार्गकी स्थापनाके लिए हुआ है। भगवान्‌के प्रति लोगोंका प्रेम बढ़े तो कैसे प्रेम बढ़े यह जाहिर करना जरूरी था। लोगोंके हृदयमें श्रीकृष्णका प्रेम, रागभक्ति कैसी होनी चाहिए इसका एक नमूना गोपियोंके द्वारा दिखाया। कृष्णको तो पहलेसे ही मालूम था—कि गोपियोंका कितना प्रेम है और गोपियोंको अपना प्रेम जाहिर करनेसे डर ही लगता था कि प्रेम जाहिर करेंगे तो हमें भी अभिमान होगा, प्रियतमके ऊपर भार होगा, और प्रेम झूठा हो जायेगा पर श्रीकृष्णकी इच्छा थी कि जरूर बोलें, क्योंकि इनके बोलनेसे इनके हृदयका भाव संसारमें प्रकट हो जायेगा और सब लोग ऐसी ही भक्ति करेंगे। तो—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।

इतनी गोपियाँ और उनकी इतनी विकलताको सुनकर—'**विक्लवितं**' शब्दका अर्थ है-विकलता। गोपियोंने प्रेमकी विकलतासे ये बातें कही थीं, होश-हवाशमें यह बात नहीं कही थी। **विक्लवितं** शब्दका अर्थ श्रीधरस्वामीने किया है- '**प्रेमपारवश्यम् प्रलपितम्**' प्रेमके पराधीन होकर बेहोशीमें जैसे कोई बोले-ऐसे गोपियाँ प्रेम-परतन्त्र होकरके, प्रेमसे परवश होकरके, प्रेमाधीन हो करके, विवश होकरके अन्जानमें ही ये सब बोल गयीं और योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्णने उसको सुना- '**श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।**'

एकदिन एक गोपीसे भगवान् श्रीकृष्णने पूछा—क्यों भूल गयीं उस दिन कैसी विकलता थी। बोली—विकलता नहीं थी, तुम्हारे ऊपर गुस्सा था, तुम हमारे साथ छेड़छाड़ कर रहे थे तो क्या हम गुस्सा नहीं करती? '**विक्लवितं**'का अर्थ है—गुस्सा है, हमने क्रोध किया तुम्हारे ऊपर। गोपियोंके अन्दर दीनता भी आगयी थी, दैन्य भी आगया था, और प्रेमकी परवशता भी आगयी थी। लिखा है कि कमसे कम तीन करोड़ गोपियोंकी संख्या थी! यह तीन करोड़ भी मैं बहुत थोड़ा

करके कह रहा हूँ। वहाँ संख्या बहुत विलक्षण है **वनिता शतकोटिभिराकुलितः** शतकोटि हो गयी न! हमारे एक मित्र पूछने लगे कि श्रीकृष्णने इतने ब्याह क्यों कर लिये? इतनी गोपी क्यों रखा? कहा-अरे भोले भाई! यह तो बहुत कम लिखा है, थीं तो इससे बहुत ज्यादा-यह जो गिनती है न, सौ करोड़ या तीन करोड़ नहीं, **शतकोटिभिः**का अर्थ है—**शतकोटिश्च शतकोटिश्च शतकोटिश्च ताभिः शतकोटिभिः** अब लो, इसका मतलब है कि संसारमें जितने भी पदार्थ हैं और उन पदार्थोंमें जितनी भी अधिष्ठातृ देवी-देवता हैं—एक-एक गुलाबके फूलमें एक-एक देवी, एक-एक मकानमें एक वास्तुदेवी, एक-एक पत्तेमें, एक-एक फलमें, एक-एक वृक्षमें, एक-एक लतामें, एक-एक पशुमें, पक्षीमें, मनुष्यमें, एक-एक इन्द्रियोंमें जितने देवी-देवता हैं इनका ईश्वर कौन है? वही महाभोक्ता है इन सबका वही भोग कर रहा है। यह आत्मदेवका जो वर्णन आता है- महाकर्त्ता, महाभोक्ता, महात्यागी, उसको लोग भूल जाते हैं। असंग करते-करते, विभु करते-करते, नित्य, शुद्ध-मुक्त करते-करते, ये भूल ही जाते हैं कि वही महाकर्त्ता, महाभोक्ता, महात्यागी भी हैं। संसारमें जितनी भी वृत्ति-पशुमें, पक्षीमें, मनुष्यमें, देवतामें, दैत्यमें, जड़में हुई हैं और होंगी वे सब परमेश्वरकी भोग्या हैं, परमेश्वरकी पत्नी हैं, परमेश्वरके अधीन है। उनको सोलह हजार लिखनेका तो एक खास कारण होता है भला-**शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः** उनकी गिनती तो ऐसे समझो कि—सोलह हजार उपासनाके मन्त्र हैं श्रुतिमें। उन सोलह हजार श्रुतियोंको ही, सोलह हजार पत्नी या सोलह हजार गोपी बता देते हैं क्योंकि वे परमात्माका प्रतिपादन करती हैं और उनका परमतात्पर्य परमात्मामें है। असलमें, गिनती नहीं है, जितनी स्त्री हैं, सब परमेश्वरकी हैं। पुरुष तो कोई है ही नहीं। उपासनामें पुरुष भी स्त्री ही हैं।

तो बोले कि इतने लोगोंकी बात श्रीकृष्णने कैसे सुनी? अरे महाराज! दस स्त्री आपसमें बात करने लगें तो उनकी बात सुनना मुश्किल हो जायेगा फिर अनगिनत गोपियोंकी इतनी बातें श्रीकृष्णने कैसे सुनीं, कैसे समझीं? श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण **योगेश्वरेश्वर** हैं। वे तो सबकी जीभपर बैठकर, सबके दिलमें बैठकर, बोलनेके पहले ही समझ जाते हैं। फिर बोलनेपर समझ गये इसमें क्या आश्चर्य? बोले—भाई! इतने लोगोंके साथ कैसे रासलीला करेंगे? तो कहा—**योगेश्वरेश्वरः**। एक योगी भी जब अपनेको हजार बना लेता है तो ये तो योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं; ये अपनेको इतने बना लें तो क्या आश्चर्य? इनकी अचिन्त्य-सामर्थ्य है। योगेश्वरेश्वरमें देखो-इतनी बात है। सौभरि ऋषि योगी थे। उन्होंने अपनेको

पचास रूपोंमें बना लिया था और मान्धाताकी पचास कन्याओंके साथ विवाह किया था। शंकर भगवान् योगेश्वर हैं और श्रीकृष्ण योगेश्वरेश्वर हैं। एक योगेश्वर सत्तासे एकत्व प्राप्त करके सम्पूर्ण विश्वसे अपने तादाम्यका अनुभव करता है, तो श्रीकृष्ण यदि इतनी गोपियोंसे तादात्म्यका अनुभव करें तो क्या आश्चर्य? 'योगेश्वरेश्वरः हैं'-निरुद्ध वृत्तियाँ जो हैं वे एकीभूत हो गयीं और उनके असंग द्रष्टा कृष्ण हैं। नारायण! एक आनन्द स्वरूप श्रीकृष्ण और ये सब आनन्दकी वृत्तियाँ—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

एक गोपी एक कृष्ण, एक गोपी एक कृष्ण, बीचमें राधा कृष्ण-नीलाम्बरधारिणी श्रीराधा, पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण, अधरोंमें बाँसुरी, सिरपर मुकुट और ये पाँवकी पटकन, वह मुकुटकी लटकन, वह कुण्डलकी चटकन; तो ये कृष्णके लिए क्या आश्चर्य हैं—

योगेश्वरेश्वरः प्रहस्य सदयं गोपीः आत्मारामोऽप्यरीरमत्॥

प्रहस्यका भाव कल सुनाया था कि उन्होंने कहा कि रोज तो तुम लोग उलटी चाल चलती थीं। शृंगारशास्त्रमें बताया है कि कामदेवके पाँच बाणोंमें-से तीन स्त्रीके पास रहते हैं—

दुर्लभत्वं च दैन्यं च स्त्रीणां जातिनिवारणा।
तदेव पञ्चबाणश्च मन्ये परममायुधम्॥

ये कामदेवके तीन हथियार हैं जो स्त्रीके हाथमें उन्होंने पहलेसे ही सौंप दिया है— दुर्लभ होना, वामपक्षमें होना, (माने उल्टी चाल चलना जैसे कि कहो कि हमारे साथ चलो तो मना कर दें और कहो कि मत चलो, तो चलनेके लिए तैयार हैं) और निवारणा (माने रोकना)।

तो श्रीकृष्ण बोले—गोपियो तुम तो अपने अस्त्र-शस्त्रका प्रयोग रोज-रोज करती थीं, हमने जरा-सा तुमसे सीखकर आज कह दिया कि लौट जाओ गोपी तो विकल हो गयीं! तुम उस्ताद, हम शागिर्द। तुम गुरु, हम चेले! शृंगारशास्त्रमें स्त्रियोंका गुरुपदमें ही अभिषेक किया हुआ है, कितनी विद्या ऐसी होती हैं जो यही सिखा सकती हैं- दूसरा कोई नहीं सिखा सकता।

आप लोग करोगे तो आश्चर्य लेकिन हमको तो शौक था शास्त्रके स्वाध्यायका। तो हमने अपनी जानमें अपने आर्ष-ऋषि-महर्षियोंके जो शास्त्र हैं उनको करीब-करीब बाँच लिया, सब। ऐसा तो नहीं कि सब गुरुसे स्वाध्याय किया—पर बाँच लिया सब। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद किसीका सायणभाष्य, किसीका

अन्य भाष्य। तो मैंने कामशास्त्र भी बाँच लिया क्योंकि वे भी तो ऋषि विरचित हैं न? हमारे चार पुरुषार्थोंमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष- चार पुरुषार्थोंमें एक पुरुषार्थ काम भी है। ये तो जबसे हमारा शास्त्र केवल बाबाजीओंके हाथमें पड़ गया है तबसे उसमें वैराग्यकी पुट लग गयी। ये वैरागी वैष्णव, श्रीवैष्णव, निम्बार्की वैष्णव, संन्यासी-उदासी-ये शास्त्रको पढ़ें तो यही बतावें कि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है और उसके लिए वैराग्य करना, और भोग छोड़ना और यह करना और वह करना—तो वह शास्त्र एक पक्षमें पड़ गया। आपको मैं बिलकुल ईमानदारीके साथ बताता हूँ, शास्त्रमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका वर्णन है। मनुष्यका जीवन धर्म, अर्थ, कामके समन्वयसे चलता है। अगर धर्ममें अति कर देगा तो अर्थ और कामसे वंचित होगा। अगर अर्थकी अति कर दी तो भोग छूट गया और उधर दान, व्रत, तप सब छूट गया और भोगकी अति की तो उधर अर्थ भी गया और धर्म भी छूटा। तो यह जीवन जो है वह धर्म, अर्थ, काम इन तीनोंका समन्वय करके चलता है। अब गृहस्थोंके गुरु बहुत करके बाबाजी लोग हैं और बाबाजिओंके संस्कार ज्यादा करके वैराग्यका, त्यागका होता है, तो वे तो यहीं बतायेंगे कि ये भोग छोड़ो, यह धन छोड़ो, ये-फलाना करो, ये सुख हैं, ये सुख नहीं हैं। शास्त्रका जो परम तात्पर्य है वह मनुष्यके जीवनको एकांगी बनानेमें नहीं है। धन भी कमाना चाहिए, भोग भी करना चाहिए, धर्म भी करना चाहिए, पर चित्त जब वैराग्यवान् हो, जब चित्त शुद्ध होवे, जब परब्रह्म परमात्माकी जिज्ञासा होवे तो वेदान्तका स्वाध्याय भी करना चाहिए। जब परमेश्वरसे प्रीति जुड़े तो भक्ति भी करनी चाहिए। अपने घर-द्वारका, परिवारका, धर्म, संस्कृतिका सत्यानाश करनेका कहीं उल्लेख नहीं हैं। अब हम समूचे शास्त्रको ध्यानमें रखकर यह बात बोल रहे हैं। धर्म पुरुषार्थ दो तरहका है : एक तो भौतिक सुखके लिए और एक आधिदैविक सुखके लिए। मरनेके बाद स्वर्ग मिले इसके लिए और जीवनमें हम सुखी रहें इसके लिए है। जीवनमें सुखी रहें इसके दो विभाग हैं—(१) वासना पूरी करके सुखी होवें। (२) निर्वासन होकर सुखी होवें। धर्म दोनोंमें मदद करता है। तो यह जो वासना-निवारण करनेका मार्ग है उसको अन्तःकरणकी शुद्धि कहते हैं। जब वासनाकी निवृत्ति होती है तो मोक्ष-मार्गमें गति होती है। अब देखो—यह जो काम पुरुषार्थ है यह जब संसारमें होता है तब इसे काम कहते हैं। और बिलकुल वही वृत्ति जो पत्नीकी अपने पतिके प्रति होती है, वही वृत्ति जब ईश्वरके प्रति होती है तो उसका नाम प्रेम हो जाता है। इस प्रकार काम पुरुषार्थके दो भेद हैं—एक अशुद्ध काम और एक शुद्ध काम। अशुद्ध विषयमें, हड्डी-चाम आदिमें

जो संलग्न है, उसको अशुद्ध काम कहते हैं और परमेश्वरमें जो संलग्न है उसको शुद्ध काम कहते हैं। शुद्ध काम पुरुषार्थका नाम ही प्रीति है और अशुद्ध कामका नाम काम है। लोकमें अशुद्ध काम भी होता है और शुद्ध काम भी होता है। अब यह जो भक्ति है वह कहाँ है? मोक्ष पुरुषार्थमें है कि धर्म पुरुषार्थमें है, कि काम पुरुषार्थमें है? कहते हैं कि भक्तिकी गति बहुत विलक्षण है! भक्ति जहाँतक क्रियामें है वहाँतक धर्म है; भावमें जहाँ धर्म आया, माने धर्म अन्तरंग होते ही भक्ति हो गया। और धर्म जहाँ चाँदी, सोना नोटके लिए है अर्थके लिए है, वहाँ लौकिक है। जहाँ भगवान् अर्थ हो गये वहाँ धर्म परमार्थ हो गया। इसी प्रकार काम स्त्री-पुरुष आदिके सम्बन्धसे जहाँतक है वहाँतक काम है, जहाँ काम भगवान्से जुड़ा वहाँ प्रेम हो गया। तो नारायण!! इनकी गति जो है वह बड़ी विलक्षण है! यह भी बात है कि सामान्य रूपसे ग्रन्थोंको कोई बाँच जाय, तो उसके ध्यानमें ये बातें आती भी नहीं हैं।

तो देखो—भगवान् गोपियोंकी प्रीतिको अपनी ओर खींच रहे हैं। ये काम पुरुषार्थमें भी बड़े निपुण हैं, युद्धनीतिके ज्ञाता हैं, गणतन्त्रके—यदुवंशियोंके गणतन्त्रके और कौरवोंके गणतन्त्रके नेता हैं। लोकतन्त्र नहीं, गणतन्त्र के। लोकतन्त्रमें तो सार्वजनिक वोट पड़ता है और गणतन्त्रमें वर्ग-विशेषका ही वोट पड़ता है। तो राजनीति, कामनीति, अर्थनीति, धर्मनीति और मोक्षनीतिमें निपुण हैं भगवान् श्रीकृष्ण। तो उनकी निपुणता देखो-'**प्रहस्य**'। पहले गोपियोंके दिलमें जो बात छिपी हुई थी वह सबकी सब उन्होंने उगलवा ली और उगलवानेके बाद हँसने लग गये कि रोज-रोज तो गोपियो तुम करती थीं '**वामता**'(उलटी चाल)! हमने कहा—अरी गोपी! सुन-सुन, हमसे बात कर! बोलती—जाओ-जाओ-हम भला तुम्हारे सामने खड़ी हो सकती हैं? तुम पर-पुरुष हो, हटो। तो बोले—गोपियो! हट जाओ, परपुरुषके सामने आकर क्यों खड़ी हुई हो? उन्हींकी बात दुहरायी, तो रोने लग गयी। अब बोले कि आजके बाद वामता नहीं करना।

अच्छा, दूसरी हँसीकी बात क्या है—**प्रहस्य**। यह हाथ जो भगवान्ने दिया है इसे संस्कृतमें 'हस्त' बोलते हैं। और हस्त माने जो दूसरोंको हँसा दे उसका नाम हस्त है। '**हस्यते अनेन**'। हाथसे ऐसा इशारा कर दें, ऐसा काम कर दें आदमी हँस जाय। यह हाथ भगवान्ने हँसानेके लिए दिया है, रुलानेके लिए नहीं दिया है। हाथसे हमेशा ऐसा काम करना चाहिए जिससे लोगोंको सुख मिले और हँसी आवे। तो भगवान्ने कहा—हाय-हाय! गोपियो, आज तो बड़ा अनर्थ हो गया। क्या अनर्थ हुआ भाई? कहा- अनर्थ यह हुआ कि हम तो बालब्रह्मचारी, असंग,

विभु और तटस्थ पर तुम लोगोंने रो-रोकर सब नष्ट कर दिया; लो, हमारी असङ्गता भी तुम्हारे लिए आज छूटी, अब परस्त्रीका स्पर्श करना पड़ेगा, नाचना पड़ेगा तुम्हारे साथ, गाना पड़ेगा तुम्हारे साथ, बजाना पड़ेगा, हमारी तो सब विशेषता आज तुम लोगोंने चौपट कर दी। यह हँसीकी एक बहुत बड़ी विशेषता है; उसको सब लोग नहीं समझते हैं। यह क्या है कि हँसीका जो आलम्बन होता है वह हमेशा मूर्ख बनाया जाता है। किसीको मूर्ख बनाये बिना हँसी कैसे करोगे? हास्यरसमें बड़ा दोष है कि उसमें एक आदमी बेवकूफ सिद्ध हो जाता है। तो सबसे बड़ी बुद्धिमत्ताकी बात हास्यरसमें क्या है कि सामनेवालेको यह अनुभव न होने पावे कि हमको ये बेवकूफ बना रहे हैं। फिर हास्यरसकी सृष्टि कैसे होगी? तो यह काव्यकी बात है, साहित्यकी रीति है कि हास्यरसका आलम्बन जब बनाओ तो अपनेको ही बनाओ। ऐसे मत कहो कि तुम बड़े मोटे हो- यह देखो—क्या हाथी आ रहा है—ऐसे मत बोलो। यह बोलो कि हम कैसे- हाथीसरीखे हैं। ऐसे हँसाओ। माने हास्यरसका आलम्बन स्वयं अपनेको बनाकर जब हँसाओगे तब वह निर्दोष हास्यरस होगा और जहाँ दूसरेकी हँसी उड़ाओगे, वहाँ वह हास्यरस आगे चलकर झगड़ेका कारण भी बन जायेगा। हँसी उड़ाओ तो सबसे पहले अपनी उड़ाओ, हजार बातें अपनेमें ही हँसनेकी हैं और दूसरेकी हँसी उड़ानेमें झगड़ा होनेका डर रहता है। झगड़ेकी जड़ हाँसी, ज्वरकी जड़ खाँसी। तो भगवान्‌ने गोपियोंकी हँसी नहीं उड़ायी अपनी हँसी उड़ायी कहा-देखो, मैं तुम लोगोंके चक्करमें पड़ गया बाबा! हमारी असंङ्गता गयी, हमारा ब्रह्मचर्य, हमारा वैराग्य गया, कलाकी साधना, जो बाँसुरी बजा रहा था एकान्तमें खड़े होकर, वह अलग गयी, तुम लोग तो बाबा छा गयी हमारे ऊपर, बस, अब तुम्हीं तुम हो गोपियो!

प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्।

बोले-भला भगवान्‌ने ऐसा क्यों किया? अपनेको ही उपहासका पात्र बना दिया? स्वयं भगवान्, सारी सृष्टिका निर्माता और स्थापयिता, संहर्ता, कर्ता, हर्ता, धर्त्ता, भगवान्। तो कहते हैं—'**सदयं**'! गोपियोंकी दशा देखकर उनके हृदयमें दया आ गयी इसलिए उन्होंने ऐसा किया।

संस्कृतके जो पण्डित लोग हैं वे 'सदयं' शब्दको एक दूसरी तरहसे भी बनाते हैं— **सदयं=सद्+अयम्; अयः स्वभावगो विधिः यत्र**' माने अब रासलीलाका प्रारम्भ करनेके लिए उन्होंने हँसीसे मङ्गलाचरण किया—अब रास-रसके वर्णनका प्रथम चरण प्रारम्भ हुआ।

अब आपको सुनाते हैं—**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**। भगवान् कैसे? बोले—

आत्माराम! *आत्मनि रमते इति अथवा आत्मनि आरमते इति*—अपने आत्मामें जो रमण करे अथवा पूर्णरूपसे रमण करे, उसका नाम आत्माराम। तो अब देखो-आदमी कहाँ रमता है? अपने भीतर रमता है कि अपनेसे बाहर रमता है? तुम्हारा आराम कहाँ? किसी-किसीका आराम होता है, साथमें लेकर बाजार घूमनेमें! बाजार शब्द भी संस्कृतका है, यह बहुत अश्लील शब्द है। ***'वर्तते जारो यत्र तद् बजारम्।'*** जहाँ 'जार'के साथ वर्तन हो वह बजार। ***'ब' बुद्धिं जारयति***-जो बुद्धिको जीर्ण कर दे वह बजार। ***बुद्धेर्जारणं यत्र***-जहाँ बुद्धि जल जाती है वह बजार। किसी-किसीका तो सारा आराम बजारमें ही होता है। अपने घरमें तकलीफ होती है तब दूसरेके घरमें बैठता है, नहीं तो अपने घरमें क्यों न बैठे? किसीका मजा मिठाईमें है, गुलाब-जामुन खा रहे हैं, भाई, बड़ा मजा आया; नमकीनमें है, भाई, बड़ा मजा आया। यह देखो कि तुम्हारा मजा कहाँ है? खानेमें है कि पीनेमें है कि पहननेमें है कि सोसाइटीमें है कि दुकानमें है? तुम्हारा मजा है कहाँ?

महात्मा लोगोंको '**आत्माराम**' बोलते हैं अपनेमें आरमण है—जिसका; ***आत्मनि आरामो आरमणं यस्य।*** किसमें रमता है? बोले—अपने-आपमें—

यस्त्वात्मगतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।
मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

अब श्रीकृष्ण कैसे हैं? बोले—आत्माराम अपने आपमें रमते हैं।

सबसे मिलिये सबसे जुलिए सबका लीजिये नाम।
हाँजी-हाँजी करते रहिये बैठिये अपने ठाम॥

तो कृष्ण असङ्गपुरुष हैं, आत्माराम हैं। तो अब दूसरा अभिप्राय फिर आपको सुनाते हैं। **आत्माराम** का अभिप्राय देखो-**आत्मारामोऽपि अरीरमत्** श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, फिर भी गोपियोंको रमण कराते हैं-गोपियोंसे रमण करते हैं यह इसका अर्थ नहीं है। **आत्मारामो गोपीषु रमते**-ऐसा नहीं है, **आत्मारामोऽपि अरीरमत्—अरीरमत् माने रमयामास;** गोपियोंको आनन्द दिया, गोपियोंको रमण कराया, उनके सुखके लिए रमण करते हैं। और रमते भी हों तो रहने दो। अब यहाँ भाव क्या है? भाव यह है कि पहले यह वर्णन आया है कि—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थम्भूतगुणो हरिः॥

आत्माराम महात्मा है, मननशील, ध्यानी, निर्ग्रन्थ-पोथी-पन्ना फेंककर, ग्रन्थिरहित, चोटीकी गाँठ नहीं, जनेऊकी गाँठ नहीं, नीबिकी गाँठ नहीं, काम,

क्रोध, लोभकी गाँठ नहीं, अहंकी गाँठ नहीं, अविद्याकी गाँठ नहीं; अठारह अर्थ चैतन्य महाप्रभुने निर्ग्रन्थ पदके किये हैं। निर्ग्रन्थका अर्थ जैनोंने भी किया हुआ है। निर्ग्रन्थ माने जो ग्रन्थको मुख्य प्रमाण न माने, महात्माको मुख्य प्रमाण माने, सिख तो ग्रन्थको ही मुख्य प्रमाण मानते हैं, ग्रन्थसाहबको गुरु मानते हैं और जैनमतमें ग्रन्थको मुख्य प्रमाण नहीं माना जाता, महात्माको मुख्य प्रमाण माना जाता है। तो '**निर्ग्रन्थाऽपि**' माने वेदरूप ग्रन्थको न माननेके कारण वे निर्ग्रन्थ हैं और मुनयः माने मननशील हैं और आत्माराम हैं फिर भी कृष्णसे प्रेम करते हैं। क्यों करते हैं? **बोले- इत्थम्भूतगुणो हरिः**' उसकी आँखें कुछ ऐसी हैं, उसकी नाक कुछ ऐसी है, उसके होंठ कुछ ऐसे हैं, उसकी चाल कुछ ऐसी है, बोल न कुछ ऐसी है, मुसकान कुछ ऐसी है, हसन कुछ ऐसी है कि उसको देखकर वे बोलते हैं कि अरे! आँख बन्द कर आत्माराम रहनेसे अच्छा तो यही है कि इस नन्दके छोकरेके पीछे-पीछे घूमें—

देखो री यह नन्दका छोरा बरछी मारे जाता है।
बरछी-सी तिरछी चितवनसे पैनी छुरी चलाता है॥
हमको घायल देख बेदरदी मन्द-मन्द मुसकाता है।
ललित किशोरी जखम जिगरपर नौन पुड़ी छिड़काता है॥
देखो री यह नन्दका छोरा बरछी मारे जाता है।

ये आत्माराम लोग कहते हैं कि आओ तौलें कि ज्यादा मजा आत्माराम रहनेमें है कि ज्यादा मजा इस गायके चरवाहेके साथ-साथ घूमनेमें है। तो उन्होंने यह निश्चित किया—'इत्थम्भूतगुणो हरिः'—कि ऐसे-ऐसे इसमें गुण हैं, ऐसी उदारता, ऐसी शूरता, ऐसी कोमलता, ऐसी भक्तवत्सलता, ऐसी प्रेमपरवशता और उधर ऐसी निर्गुणता, ऐसी असङ्गता, ऐसी महात्मता, ऐसी जीवन-मुक्ति इसमें है कि हमारा मन तो यही होता है कि ध्यान-समाधि छोड़कर इसके पीछे-पीछे घूमें। उनको अपनी आत्माकी अपेक्षा भी ज्यादा आनन्द, ज्यादा सुख, ज्यादा रस; बाहर-भीतरके भेदसे रहित श्रीकृष्णमें आता है। आँख बन्द करनेपर समाधिका मजा आता है और आँख खोलनेपर विषयका मजा आता है। परन्तु कृष्णका मजा तो खुली आँखसे भी वही और बन्द आँखसे भी वही। तो महात्माओंने कहा—यही बढ़िया है और महात्मा लोग श्रीकृष्णके पीछे पड़ गये।

अब देखो, यहाँ कृष्णको ही आत्माराम बना दिया।'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'। अब उन्होंने विचार किया कि ज्यादा मजा आँख बन्द करनेमें हैं कि ज्यादा मजा इन गोपियोंके साथ रास करनेमें है? श्रीकृष्णको ऐसा लगा कि जो आनन्द हमारे

अन्दर है, हममें है, उससे कुछ ज्यादा आनन्द गोपियोंमें है। कैसे? देखो—इसकी बात बताते हैं। असलमें भगवान् भक्तिके अधीन हैं। भगवान् कहते उसको हैं जो प्रेमके वशमें हो, भक्तिके वशमें हो! यह प्रश्न विशेष करके प्रीति-सन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामीजी महाराजने उठाया है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायका बड़ा भारी प्रामाणिक ग्रन्थ है। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि भगवान् तो सम्पूर्ण जगत्को अपने वशमें रखनेवाला है, वह भला भक्तिके वशमें क्यों हो जाता है? भक्तिमें ऐसी क्या विशेषता है? तो बोले—पहले यह देखो कि सांख्यवादी कहते हैं कि भक्ति जो है वह सत्त्वगुणकी वृत्ति है तो क्या सत्त्वगुणकी वृत्ति भगवान्को अपने वशमें कर सकती है? नहीं कर सकती, बिलकुल झूठी बात। योगियोंने कहा कि भक्ति अक्लिष्टवृत्ति है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष; अभिनिवेश रूप तो नहीं है, समाधिकी ओर ले जानेवाली वृत्ति है; परन्तु निरोध तो उसका भी होता है; तो क्या योगाभ्यासके द्वारा निरुद्ध होनेवाली अक्लिष्टवृत्ति भगवान्को वशमें कर सकती है? वेदान्तियों ने कहा—भक्ति मायाकी वृत्ति है। तो भला! मायाकी वृत्ति मायापति भगवान्को वशमें कैसे करेगी?

भक्तिरेवेनं गमयति भक्तिरेवेनं वर्द्धयति भक्तिरेवेनं नयति।

भक्ति ही भगवान्का दर्शन कराती है, भक्ति ही अनुभव कराती है, भगवान् भक्तिके वशमें हैं। भक्तिमें यह सामर्थ्य कहाँसे आया? बोले—अच्छा, सच्चिदानन्दघन भगवान् जो हैं उनकी आनन्दमयी वृत्ति है भक्ति। तो नारायण, भगवान्की शक्ति कहीं शक्तिमान्को वशमें करती है? तब यह भक्ति क्या है? तो बोले—देखो, भगवान्में तीन शक्ति हैं—आह्लादिनी, संधिनी और संवित्। उनमें जो आह्लादिनी शक्ति है उसके भी तीन रूप हैं—अन्तरंगा, तटस्था और बहिरंगा। संसारमें जो विषय-सुख मिलता है वह बहिरंगाका सुख हो जो समाधि-सुख है।वह तटस्थाका सुख है, वहाँ साक्षी द्रष्टा होकर सुख लेते हैं। और एक अन्तरंगा है जो भगवान्की स्वरूपभूत आवाज है। तो बोले—क्या भगवान् अपने स्वरूपके वशमें हो जाते हैं? आदमी अपने वशमें स्वयं कैसे हो जाय? बोले—नहीं-नहीं, भगवान्की स्वरूपभूता आह्लादिनी है, उस आह्लादिनीका भी जो सारसर्वस्व है उसको बोलते हैं राधा, उसीके वशमें भगवान् हैं; भक्ति शब्दका मुख्य अर्थ है राधा; इसी भक्तिके वशमें हैं भगवान्—माने राधाके वशमें हैं भगवान्! उन्हीं राधाको जब भगवान् गोपियोंमें स्थापित कर देते हैं तो गोपियोंमें वह चीज आ जाती है जो योगकी अक्लिष्टवृत्तिमें नहीं है, सांख्यकी सात्त्विकवृत्तिमें नहीं है, वेदान्तकी मायिकवृत्तिमें नहीं है, जो आह्लादिनी शक्तिमें नहीं है, जो आह्लादिनी स्वरूपभूतामें नहीं है, बल्कि आह्लादिनी

सारसर्वस्व भगवान्‌को भी वशीभूत करनेवाली, श्रीराधारानी हैं वही भक्ति उनमें आ जाती है। भक्तिका, प्रेमका मुख्य रूप माने श्रीराधारानी! तो '**आत्मारामोऽपि अरीरमत्**'का अर्थ यह हुआ कि वही राधारानी जब हजार-हजार गोपियोंका रूप धारण कर लेती हैं (जितनी गोपियाँ हैं सब राधारानीका अंश हैं) तब भगवान् श्रीकृष्ण उनके वशीभूत हो जाते हैं और **आत्मारामोऽपि** आत्माराम होने पर भी '**आत्मारामं अपि परित्यज्य**' आत्मारामताका परित्याग करके राधारमण बन जाते हैं! आत्माराम गोपी-रमण बन गये। क्यों बन गये? बोले—आत्मीय शक्तिके वशमें होकरके नहीं, आत्मशक्तिके वशमें होकर आत्मस्वरूपके वशमें होकर नहीं, बल्कि उनके आत्माका भी जो आत्मा श्रीराधा हैं उसके वशमें होकर! ***आत्मा तु राधिका तस्य.........।***

श्रीकृष्णकी आत्माका नाम ब्रह्म नहीं है, राधा है— **आत्मा तु राधिका तस्य।** शब्द जितने होते हैं व्यावर्तक होते हैं। व्यावर्तक होते हैं माने एकसे दूसरेको अलग बतानेके लिए होते हैं। जैसे यह घड़ा है, यह कपड़ा है, तो कपड़ेको घड़ेसे अलग बतानेके लिए घड़ा शब्द है और घड़ेसे कपड़ेको अलग बतानेके लिए कपड़ा शब्द है। शब्द व्यावर्तक होते हैं। यह ब्रह्म शब्द काहेके लिए है? ब्रह्म शब्दका प्रयोग जब वेदान्तमें करते हैं तो बोलते समय यह तो मालूम होता है कि इससे बढ़कर और कोई चीज है ही नहीं। लेकिन देखो, आत्माको ब्रह्म क्यों कहते हैं? आत्माको ब्रह्म इसलिए कहते हैं कि परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति है। अगर परिच्छिन्नताको व्यावृत्त करना ना होता, परिच्छिन्नताको काटना न होता तो आत्माको ब्रह्म कहनेकी कोई जरूरत न होती। वह तो कल्पित परिच्छिन्नताको काटनेके लिए कल्पित ब्रह्म शब्दका प्रयोग करके परिच्छिन्नत्वकी व्यावृत्ति करते हैं। कल्पित परिच्छिन्नताकी व्यावृत्तिके लिए परमार्थ तत्त्वमें कल्पित वृत्तिसे ब्रह्म शब्दका प्रयोग किया जाता है। यदि श्रीकृष्णका आत्मा ब्रह्म है, तो क्या कृष्णमें परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्ति है? कृष्णमें भ्रान्ति तो क्या भ्रान्तिका प्रागभाव भी नहीं है। जीवन-मुक्त पुरुषमें भ्रान्ति तो नहीं होती, लेकिन भ्रान्ति प्रागभाव तो रहता है माने पहले भ्रान्ति थी और मिट गयी परन्तु कृष्णमें तो पहले भी भ्रान्ति नहीं थी कि मैं जीव हूँ, परिच्छिन्न हूँ, फिर वह कटेगी कहाँ? उसको काटनेके लिए कृष्णको ब्रह्म कहनेकी जरूरत नहीं है। लेकिन महाराज श्रीकृष्णने '**आत्मारामोऽपि अरीरमत्**' गोपियोंका इतना प्रेमोद्गार श्रवण करनेके बाद अपनी तटस्थताका आग्रह नहीं रखा, असंगताका आग्रह नहीं रखा, आत्मारामताका आग्रह नहीं रखा। उनको ऐसा नहीं लगा कि हम अपने आत्मारामतासे च्युत हो जायेंगे, अगर गोपियोंके साथ नृत्य करेंगे तो। ऐसा

नहीं लगा तो '**आत्मारामोऽपि अरीरमत्**' उन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ विहार किया।

श्रीसनातन गोस्वामीजी एक प्रसंगमें यह बात कहते हैं कि जितनी गोपियाँ थीं, जो घर-द्वार छोड़कर दौड़ी थीं, **अन्योन्यमलक्षतोद्यमाः**—एक-दूसरेसे छिपाकर दौड़ी थीं। तो राधारानी समझ गयीं कि ये जब इकट्ठी होंगी, तो आपसमें इनमें सद्भाव नहीं होगा, सौतियाडाह हो जायेगा, वैमनस्य हो जावेगा। तो वे आयी नहीं, चुपचाप एक नित्यनिकुंजमें बैठी रहीं। उन्होंने सोचा कि देखें, कृष्ण हमको तो बड़ी जल्दी मना लेते हैं, उन सौतियाडाहसे ग्रस्त गोपियोंको कैसे मनाते हैं! इसलिए वह नित्यनिकुंजमें बैठकर तमाशा देख रही थीं कि कृष्ण इतनी गोपियोंको एक साथ कैसे प्रसन्न करते हैं। और ये महाराज नटनागर तो बड़े चतुर हैं—क्या किया कि लौट जाओ कहकर सबकी उपेक्षा कर दी; उसका परिणाम यह हुआ कि सब एकराय हो गयीं, रोनेमें सबका सद्भाव बन गया और कृष्ण फँस गये। तब राधारानीने देखा कि अब सबका मन ठीक है तो अब हम भी चलकर मिल जायँ! आकर झट श्रीकृष्णके बगलमें खड़ी हो गयीं। **आत्मारामोऽपि**—अब तक तो कृष्ण अकेले थे और अब जब श्री राधारानी आकर उनके बगलमें खड़ी हो गयीं तो बोलीं— प्यारे, ये सब गोपियाँ बहुत दुःखी थीं, और तुमसे सचमुच सच्चा प्रेम करती हैं; पहले तो मैं नहीं जानती थी कि इतना प्रेम करती हैं, लेकिन आज देख लिया कि इनका तुमसे बहुत प्रेम है; तो जब इतना प्रेम है तो आओ, हम सब मिलकर रासविलास करें; इनको भी आनन्द आवे, हमको भी आनन्द आवे, इसके लिए, **आत्मारामोऽपि अरीरमत्** कहा है।

जैसे गीतामें है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

वैसे ही—

आत्मारामोऽपि—राधया आलिङ्गितोऽपि—आकरके यद्यपि श्री राधारानीने उनका आलिङ्गन कर लिया तथापि दोनोंने एकमन होकर कहा कि आनन्द मिलना चाहिए, उन्हें उनके प्रेमका रस प्राप्त होना चाहिए।

जैसे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र ये अलग-अलग शास्त्र हैं वैसे एक प्रेम शास्त्र भी है। जैसे योगी लोग मानते हैं कि अपना मन क्षणमात्रके लिए योगमें स्थित हो जाय तो सत्स्वरूप परमात्मासे तादात्म्य हो जाय। सांख्यवादी मानते हैं कि क्षणमात्र आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय विवेकख्यातिके द्वारा, तो बस यही परमात्माकी प्राप्ति है। प्रेमीलोग मानते हैं कि अपने भीतर जो आनन्दस्वरूप परमात्मा बैठा है, जहाँ उसके साथ एक हुए, बस आनन्द ही आनन्द है। किसीको भी कोई दूसरा आनन्द नहीं दे सकता; और देता भी नहीं है, बस हमको ख्याल ही होता है। आनन्दका स्वभाव है कि वह अपने हृदयमें होता है। अपने हृदयमें होवे तब तो अनुभव होवे और हम दूसरेको दे भी दें; और अपने हृदयमें न हो, तो किसीसे उधार लेनेकी कितनी भी कोशिश करें वह उधार लिया हुआ आनन्द काम करते समय चला जायगा, दूसरी तरफ मन जाने पर चला जायगा। नींदमें चला जायगा, दूसरी वस्तुकी इच्छा होनेपर चला जायगा। आनन्दका निवास अपने-आपमें है, बाहर नहीं है।

जब हृदयमें प्रेमका अंकुर उदय होता है, तब आनन्दका प्रकाश, आनन्दका विकास, अपने भीतरसे ही होता है और वृत्तियोंमें आनन्दका रास होता है। परन्तु अपनी इच्छाओंको संसारमें विकीर्ण कर देनेसे, बिखेर देनेसे यह आनन्दका रास समाप्त हो जाता है। जब हृदयमें प्रेमका अंकुर उदय होता है तब मनुष्यके जीवनमें कुछ लक्षण प्रकट होते हैं। (१) क्षमा— अगर कोई अपराध करता होवे, तो क्षमा कर देना; उसके अपराधकी परम्पराको आगे नहीं बढ़ाना, नहीं तो प्रियतमके स्मरणकी जगह अपराधीका स्मरण होने लग जायेगा। (२) शान्ति और समयका सदुपयोग—अपने समयको व्यर्थ नहीं गँवाना; सारा समय अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेकी क्रियामें व्यतीत होवे, चाहे उसके लिए चन्दन घिसो, माला फेरो, चाहे रोटी बनाओ, चाहे उससे मिलनेके लिए थोड़ी देर विश्राम कर लो, लेकिन समय सारा-का-सारा उसके लिए होना चाहिए। (३) रागाभाव— किसीसे राग नहीं करना, माने किसीका रंग अपने दिलपर चढ़ने न पाये। आँख बन्द करते हैं तो मनमें किसकी मूरत दिखती है? भाईकी, दुश्मनकी, मित्रकी, स्त्रीकी, पुत्रकी, जिसकी याद आती है या जो मनमें दिखता है, बस समझो कि उसीका राग दिलमें चढ़ा हुआ है। आँख बन्द करके मनमें किसी दूसरेकी तस्वीर नहीं आनी चाहिए, अपने

प्रियतमकी आनी चाहिए, परमात्माकी होनी चाहिए, भगवान्‌की होनी चाहिए, मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरकी होनी चाहिए। (४)अभिमानाभाव—हृदयमें मान-वृत्ति माने अभिमान नहीं होना चाहिए। सब दुःखोंकी जड़, उनका बीज अभिमानमें ही रहता है। अपने मनके मुताबिक नहीं हुआ, अपनी वासना पूरी नहीं हुई, मालूम हो गया कि अपमान हो गया, तो दुःख आयेगा। अपमान न तो आत्माका होता है न प्रेमीका; अभिमानका अपमान होता है। अपनी इच्छाके विपरीत कुछ हो गया तो अभिमानपर चोट लगी; और अपनी इच्छाके अनुकूल हुआ तो अभिमानका वजन थोड़ा और बढ़ गया! इच्छाकी प्रतिकूलतामें भी दुःख, और इच्छाकी अनुकूलतामें भी दुःख; हर्ष और विषाद दोनों दुःखके मूल हैं। तो हँसना हो तो प्यारेकी याद करके और रोना हो तो प्यारेके लिए। यह जो दुनियाकी चोट बैठती है अपने मनपर, वह नहीं बैठनी चाहिए। अपने अभिमानकी रक्षामें जब आदमी लग जाता है, तो स्वनिष्ठ हो जाता है और तब भगवत्-प्रेम नहीं होता। यह बात गोपियोंके जीवनमें आगे आयी है जब उन्होंने अपनेको परमसुन्दरी माना और यह ख्याल हुआ कि हमारा सौभाग्य इतना बड़ा! कृष्णने कहा कि अब शीशा ले लो और उसमें अपना मुँह देखो! अब हम तुम्हारे सामने रहनेवाले नहीं हैं, क्योंकि जब तुम ही इतनी बड़ी हो, तो शीशेमें अपना मुँह देखो, हमें देखनेकी क्या जरूरत है?

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥

(५) आशाबन्ध—इसी जीवनमें हमको हमारे प्रियतम मिलेंगे-मिलेंगे राम, मिलेंगे राम, यह आशा दृढ़ बँध जानी चाहिए। निराशा होनेसे प्रेम शिथिल हो जाता है। जहाँ तक मिलनकी आशा है वहाँतक श्रृंगाररस है; और जहाँ मिलनकी आशा टूट जाती है वहाँ करुणरस हो जाता है। तो मनमें आशा रहे, मिलनकी प्रतीक्षा रहे और व्याकुलता, समुत्कण्ठा हो। मिलनेके लिए प्राण जैसे कण्ठमें लगे हों! भगवान्‌का नाम मुखमें आता रहे और उनके गुणगान और ध्यानमें रुचि बनी रहे!

आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामध्याने सदा रुचिः।
आसक्तिस्तद्‌गुणाख्याने प्रीतिस्तद्‌व्यथितिस्थले॥

तो, हृदयमें जब प्रेमका अंकुर उगता है तब ये लक्षण आते हैं। पहले प्रेमका अंकुर उदय हो, फिर वह तना बने, फिर उसमें पत्ते-फूल-फल-रस आवे! जब रस आता है तो रस जबतक एकांगी रहता है तबतक प्रेमास्पदकी ओरसे भी प्रेम

नहीं आता। तबतक उस रसमें उल्लास नहीं आता। जड़ पदार्थोंके प्रति प्रेम एकांगी है। सोना तुमसे थोड़े ही प्रेम करेगा? वह तो एक दुकानसे दूसरी दुकान जायेगा। चाँदी तुमसे थोड़े ही प्रेम करेगी? नोटका बण्डल तुमसे थोड़े ही प्रेम करेगा? यह प्रेम व्यर्थ गया। और जहाँ कोई देवता, कोई मनुष्य, कोई दैत्य, कोई प्राणीसे प्रेम हुआ—कुत्तेसे हुआ, चिड़ियासे हुआ—तो वह भी तुमसे प्रेम तो करेगा लेकिन वह पूर्ण नहीं हो सकता। प्रेम जबतक पूर्णसे नहीं जुड़ता, तबतक पूर्ण नहीं होगा। जब परमेश्वरसे प्रेम जुड़ता है, तब प्रेम पूर्ण होता है; प्रेमके विषयकी पूर्णतासे प्रेम पूर्ण होता है।

असलमें प्रेम कहते हैं उल्लासात्मक ज्ञानको; जैसे मन्द-मन्द वायु चल रही हो, चाँदनी रात हो, और गंगाजीकी धारा थिरकती हुई बह रही हो, ऐसे ज्ञानगंगाकी जो धारा है तरंगायमान होती हुई, उल्लसित होती हुई, नृत्य करती हुई—अपने प्रियतमको रिझाती हुई-ज्ञानधाराकी उस उल्लासात्मक अवस्थाको प्रेम बोलते हैं। समाधिमें शान्तज्ञान है और प्रेममें उल्लसितज्ञान है। ज्ञानकी शान्त अवस्थाका नाम है समाधि और ज्ञानकी उल्लसित अवस्थाका नाम है प्रेम। ज्ञानका क्रियाके साथ तादात्म्य है धर्म; ज्ञानका भावके साथ तादात्म्य है प्रेम है, और ज्ञानका स्थितिके साथ तादात्म्य है समाधि; और ज्ञानका जहाँ किसीसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता, वह ज्ञानका शुद्ध स्वरूप है। क्रमका बोधक ज्ञान है काल; लम्बाई-चौड़ाईका बोधक ज्ञान है देश और द्रव्यका बोधक ज्ञान है वस्तु। ज्ञान ही वस्तु है, ज्ञान ही काल है, ज्ञान ही देश है, असलमें है सब ज्ञान ही; इसीसे कोई दूसरा किसीको आनन्द देना चाहता है तो नहीं दे सकता, आनन्दकी वृत्ति यह है कि वह स्वयंमें होनी चाहिए।

अब देखो, प्रसंग आपको सुनाते हैं।

प्रहस्य सदयं गोपीः आत्मारामोऽप्यरीरमत्।

'आत्मारामोप्यरीरमत्'का भाव आपको कल सुनाया था। आत्माराम महापुरुष भगवान्से प्रेम क्यों करते हैं? बोले—भगवान्में गुण ही ऐसे हैं! फिर बोले—आत्माराम भगवान् गोपियोंसे विहार क्यों करते हैं? तो कहा कि गोपियोंमें वे गुण हैं। गोपियोंके गुणपर मुग्ध होकर भगवान् अपनी भगवत्ताको एक तरफ रखकर भी अपने कैशोर्यको सफल करते हैं। दूसरी बात यह हुई कि आत्मारामोऽपि यद्यपि ये आत्माराम हैं, उन्हें किसीके साथ विहार करनेकी कोई अपेक्षा नहीं है, फिर भी **'सदयं गोपीप्यरीरमत्'** करुणाके वश हो करके कि गोपियोंका दुःख किसी तरह घट जाय, इनकी पीड़ा मिट जाय, इनकी आर्ति उड़ जाय, इसके लिए उनके साथ

विहार किया। कल विस्तारसे सुनाया था, अब आज इसका एक दूसरा पक्ष जो है उसको सुनाता हूँ।

बात यह है कि आनन्द जिसको भी होगा अपने हृदयमें होगा, आत्म होगा; आनन्द अनात्म तो कभी होता ही नहीं। तो श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ रास किया, रमण किया, विहार किया, तो श्रीकृष्णको गोपियोंमें-से आनन्द मिला कि गोपियोंको कृष्णमें-से आनन्द मिला? तो वहाँ यह बताते हैं कि **आत्मारामोऽपि**—श्रीकृष्णने पहले गोपीमें आत्मत्वका स्थापन किया। जो आत्मा कृष्णशरीरावच्छिन्न है, वही आत्मा गोप्याकार गोपीशरीरावच्छिन्न है। शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-आत्मा श्रीकृष्णमें और वही गोपीमें, अनात्मा नामकी कोई वस्तु नहीं। जो आनन्द कृष्णशरीराधार है वही आनन्द गोपीशरीराधार है; अर्थात् आत्मा ही आत्मा है। एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही परमात्मा है—इस दृष्टिका परित्याग किये बिना, श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ विहार किया, रासलीला की, और गोपियोंको आनन्द दिया।

रासलीलामें जो नृत्य हुआ उसे हल्लीसक नृत्य बोलते हैं। नाट्यशास्त्रमें इसका वर्णन आता है; नाचनेवाली नटी अनेक और नट एक। जैसे हमारे हृदयमें वृत्तियाँ अनेक, श्यामाकार वृत्ति, गौराकार वृत्ति, प्रेमाकार वृत्ति, शृंगाराकार वृत्ति, ललित वृत्ति, छविकी वृत्ति, नीलिका वृत्ति,रसिका वृत्ति, धृता वृत्ति, चलिका वृत्ति, ये सब हमारे अन्तःकरणमें हैं और आत्मा एक है। तो जैसे एक आत्मा अनेक वृत्तियोंके साथ तत्तद्वृत्तिके उदयकालमें और वृत्तिकालमें, तथा तत्तद् वृत्तिकी शान्तिमें, तत्तद् वृत्तिकी सन्धिमें और तत्तद् वृत्तिके सागत्यमें(जब एकमें मिल जाती है) इनमें जैसे एक ही आत्मा क्रीड़ाकर रहा है ऐसे एक ही श्रीकृष्ण; एक ही नट जब अनेक गोपियोंके साथ क्रीड़ा करता है तो उस नृत्यको हल्लीसक नृत्य बोलते हैं, रास बोलते हैं; उस नृत्यका नाम रास है। इसमें ऐसा विभाग किया है कि पहले तो एक-एक यूथमें एक-एक कृष्ण हुए। '**वनिता शतयूथपः** ' एक मन मिलाकर चलनेवाली जो गोपियाँ उनका एक झुण्ड, एक यूथ **वनिताशतकोटिभिराकुलिताः**। और उस एक मनोवृत्तिवाली गोपियोंमें एक कृष्ण। फिर क्या किया? दो गोपियोंके बीचमें एक कृष्ण और फिर जितनी गोपियाँ उतने कृष्ण। इन तीनों कक्षाओंका वर्णन रासमें है। यह विरहसे पूर्वका प्रथम रास है— '**बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु**'। इसमें कृष्ण एक हैं और गोपियोंके यूथ हैं। अनेक सौमनस्यके अनुसार इनके विभाग हैं।

सौमनस्य हुए बिना रसका उदय नहीं होता। रसके उदयके पूर्व रति चाहिए। रति माने स्थायीभाव। जहाँ स्थायी भाव नहीं होगा, वहाँ रसका उदय नहीं होगा।

माने हमारे आनन्दमें बाधा क्या है? हमारे जीवनमें रस, आनन्द क्यों नहीं आता? इसका कारण यह है कि हमारे भावमें स्थायित्व नहीं है। आलम्बन, उद्दीपन, दोनों विभाव, अनुभाव,सात्त्विक संचारीभाव, इनके द्वारा जो स्थायी भाव निष्पन्न होता है, वही स्थायीभाव रसत्वको प्राप्त होता है। यदि हमारे हृदयमें स्थायीभावका उदय नहीं हुआ तो रस कहाँसे आवेगा? आप एक गिलास शर्बत लेकर पीने लगें और एक इधर डाँटा और एक उधर डाँटा—बच्चोंको डाँटने लगे—इतने बीचमें श्रीमान्से लड़ाई हो गयी, सासजी आ गयीं, उधर सौत आयी सामने, तो गिलासमें जो रस है उसको पीनेका मजा नहीं आवेगा। क्योंकि भावमें स्थायित्व हुए बिना रसकी उत्पत्ति नहीं होती; वह तो सर्वथा हृदयकी वस्तु है।

तो भगवान्ने गोपियोंका रसदान कैसे किया वह प्रक्रिया बताते हैं—**प्रहस्य सदयं गोपी**। बोले—बावरी हैं ये, भोली हैं, इनको स्वयं अपने सुखका ही भान नहीं है, सुख कैसे लेना चाहिए, रस कैसे मिलना चाहिए, जीवनको आनन्दसे कैसे बिताना चाहिए, इनको मालूम नहीं है। लोग समझते हैं कि हम बढ़िया कपड़ा पहनेंगे तो आनन्दमें रहेंगे। हमारे पास बढ़िया कपड़ा पहनकर ऐसे-ऐसे लोग आते हैं जिनके दिलमें आग लगी होती है। कपड़ा बढ़िया, बाल बढ़िया, शक्ल-सूरत बढ़िया और दिलमें आग लगी है। मतलब यह है कि तुमको सुखकी कला, जीवनकी कला, आनन्दकी कला नहीं मालूम है, तुमको नकल मालूम है—***'नास्ति कला यस्मिन्!'*** तो अब देखो—**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**-यह रास जो भगवान्ने किया वह पुष्टि है, मर्यादा नहीं है। वल्लभ-सम्प्रदायमें जो दो शब्द चलते हैं—मर्यादा और पुष्टि। मर्यादाका अर्थ होता है सामाजिक समाजकी परम्परा।वैदिक शब्द है मर्यादा इसलिए इसका वैदिक अर्थ है—***मर्यैः मृत्युग्रस्तैः मनुष्यैः आदीयते इति मर्यादा।*** मनुष्य जिसको परम्पराके रूपमें ग्रहण करता है उसका नाम है मर्यादा; और पुष्टि माने, सिंचन और पोषण जैसे ऊपरसे खाद पड़ जाय। मर्यादा है कि बीजको गीली मिट्टीमें डाल दो तो उसमेंसे अंकुर निकल आवे, लेकिन अंकुरमात्र तो निकलना पर्याप्त नहीं है, सिंचाई चाहिए उसको, उसके लिए पौष्टिक खाद चाहिए। तो मर्यादा यह है कि मनुष्य पैदा हो गया है, अब इसके जीवनमें आनन्द आवे, रस आवे इसके लिए पुष्टि चाहिए।

आपको गोपी और आत्माराम: दोनों शब्दोंपर ध्यान देना चाहिए। गोपी कौन है? ***गोपनाद् गोपी***— एक गोपी ऐसी है व्रजमें, गोप ऐसा है व्रजमें जो कृष्णके मनका काम करता है, वह मन क्या है? श्रीकृष्ण अपनेको छिपानेके लिए कि

ईश्वरावतार हो गया है, मथुरासे भगवान्‌की जगह बालक बनकर वसुदेवजीकी गोदमें बैठकर रातोंरात गोकुल आये। गोकुलवाले चाहते तो इस रहस्यको एक मिनटमें उघाड़ सकते थे, लेकिन उन्होंने कहा कि जब श्रीकृष्ण इसको छिपाना चाहते हैं, अगर वह बच्चा बनकर अपने ईश्वरत्वको छिपाना चाहते हैं, तो हम चोर बनाकर उनके ईश्वरत्वको छिपायेंगे! जब चोर-चोर प्रसिद्धि होगी तो कंस कैसे कहेगा कि ईश्वर है। एक महात्मा किसी चीजको छिपाना चाहते थे तो उन्होंने एक मुट्ठी धूल उस पर डाल दी। चेलेने देखा तो उसपर एक टोकरी धूल और डाल दी। यह तो ठीक चेला हुआ। और अगर वह गुरुजीकी अनुपस्थितिमें कुरेदकर देखना शुरू कर देता तो वह गुरु-प्रेमी नहीं है, वह तो खुफिया है! तो देखो, वह चोरकी प्रसिद्धि करना एक मुट्ठी धूलपर एक टोकरी धूल डालना हुआ कि नहीं? इसका नाम प्रेम है। खुफियागीरीका नाम प्रेम नहीं होता। एक घरमें बहू और उसके पति दोनों बहुत दु:खी थे। क्या दु:खी थे कि अब दोनों रातको कमरेमें सोते तो बुड्ढे ससुर उठकर आते और खिड़कीनें-से झाँकते कि हमारे बहू और बेटे क्या कर रहे हैं। बड़ी लड़ाई हुई घरमें! प्रेमका मतलब सीआयीडीपना नहीं है, वहाँ तो एक बार अगर मनमें कोई बात खटक गयी, तो हमेशाके लिए खटक जाती है। तो कृष्णने कहा—कि हम ईश्वर नहीं हैं, हम गोप-बालक हैं। गोपियोंने हल्ला किया गाँवमें कि चोर-चोर! किसने चोरी की? कि नन्दनन्दनने। कंसने कहा— यदि वह हमारा दुश्मन होता तो चोरी थोड़े ही करता? गोपीने कहा—उसने तो हमारे साथ छेड़-छाड़ की है, वह तो माखन चुराता है, अरे गगरी फोड़ता है! तो ***गोपनाद् गोपी***—माने श्रीकृष्णके रहस्यको गुप्त रखनेवाली होनेके कारण गोपीका नाम गोपी है, गोपका नाम गोप है। उन्होंने जब कृष्णके ईश्वरत्वको दबा दिया तो वह कृष्णकी प्रेमिका हो गयीं।

अच्छा, अब देखो दूसरी बात है—***गोभिः पिबन्ति 'गाः पान्ति इति गोपाः वृति—गोपा अदाभ्यः'।***

ऋग्वेदमें श्रुति है कि विष्णुका एक नाम गोप भी है। ***गाः पान्ति*** भगवान् किससे मिलते हैं कि जो अपनी इन्द्रियोंको सुरक्षित रखता है, ***गाः इन्द्रियाणि पान्ति*** संयमी पुरुषसे भगवान् मिलते हैं, घड़ेमें रस भरा हो और घड़ेमें छेद हो, तो जो अपने रसको बहा देगा, वह भगवान्‌के सामने क्या जायेगा? हमने बचपनमें पढ़ा था कि एक सज्जन मरनेके बाद वैकुण्ठमें गये। जब वैकुण्ठमें पहुँचे तो वहाँ फाटक बन्द। अब वह रोयें—हे भगवान्, हमारे लिए फाटक खुले! प्रार्थना करें, नाम लेकर पुकारें, पर फाटक न खुले। जब बहुत व्याकुल हुए तब आकाशवाणी

हुई कि भक्तराज, तुम मृत्युलोकसे वैकुण्ठमें आये हो तो मेरे लिए कोई गुप्त चीज लाये हो कि सब जूठी चीज लाये हो? जो वस्तु दुनियामें जाहिर कर दी जाती है, वह जूठी हो जाती है। बोले कि महाराज, यह तो सब जाहिर हो गया है और तब वैकुण्ठका फाटक नहीं खुला। प्रेम जाहिर करनेपर जूठा हो जाता है। प्रेममें ईर्ष्या आनेपर नरक हो जाता है, प्रेम जबानपर लानेप जूठा हो ज़ाता है, प्रेममें दूसरेका चिन्तन होनेसे व्यभिचार हो जाता है, प्रेम जब क्रियामें उतरता है, तब शोला बन जाता है और प्रेम जब शास्त्रोक्त विधानमें आता है तब परमधर्म बन जाता है। प्रेमकी विद्या निराली है। यह जो दुनियादारीमें सजग हैं उन्होंने कभी सच्चा प्रेम देखा नहीं है, स्वार्थका प्रेम देखा है। तो **'गाःपान्ति'** अपनी इन्द्रियोंके छिद्र बन्द करके, संयममें रहकर, हृदय-कलशमें प्रेमामृत भरकर उसको भगवान्‌के सामने जिसने उपस्थित किया वह गोपी है। इस प्रेमको बहने नहीं दिया, प्रेममें ईर्ष्या नहीं आने दी, प्रेमको नरक नहीं बनाया, प्रेम उच्छिष्ट नहीं किया, प्रेमको अधर्म नहीं होने दिया। **गोभिः पिबन्ति**—ये आँखसे कृष्णको पीती हैं, कानसे कृष्णको सुनती हैं, नाकसे कृष्णको सूँघती हैं, जीभसे कृष्णको चाटती हैं, त्वचासे कृष्णके साथ लिपटती हैं, इन्होंने अपनी सब इन्द्रियोंको श्रीकृष्णके प्रति दे दिया। **'पिबन्ति इव चक्षुर्भ्याम् लिह्यन्ति इव जिह्वया'** आँखोंसे मानो कृष्णको पी जाती हैं; जीभसे मानो चाट लेती हैं; **'रमन्ति इव बाहुभ्याम्'** बाँहोंसे मानो आलिङ्गन कर लेती हैं ऐसा भागवतमें वर्णन है।

तो कृष्णने कहा कि इनके भीतर वह रस स्थापित करें जो हमारा है, **आत्मप्रेमः आत्मारामोऽपि**। इसको बोलते हैं कि गोपीके परकीयापनको स्वकीया बना दिया। बोले—यहाँ परकीयापन काहेका है? तो कहते हैं कि भगवान् भला कच्चा रस क्यों पियेंगे? माने रस भी तो भोग्य रस होना चाहिए। हमको गाँवकी बात याद है घरमें दूध भी रहता और शक्कर भी रहती थी। यह उस जमानेकी बात है जब शक्करकी इतनी मिलें नहीं थीं। घरमें शक्कर भी रहती और गुड़ भी रहता था। कोई थोड़ा गरीब आदमी आता तो उसको गुड़का शर्बत पिलाया जाता और कोई रईस आदमी आया होता तो उसके लिए शक्करका शर्बत बनता। तो भोक्ताके हिसाबसे भोग रस होता है। इसलिए आत्माराम श्रीकृष्णने गोपियोंमें अपना स्वरूप-रस डालकर पहले उनको स्वकीया बनाया और फिर उनके साथ रास-विहार किया। **'गोपिषु आत्मारामोऽपि'** श्रीकृष्णने कहा—अपने आत्माको मैंने गोपीसे मिला दिया है, माने जो गोपी सो मैं, जो मैं सो गोपी; परकीयापन बिलकुल निवृत्त हो गया। **आत्मारामः**—श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ विहार करते हुए भी अनात्मदर्शी

नहीं हैं, जड़दर्शी नहीं हैं, विश्वदर्शी नहीं हैं, आत्मदर्शी हैं; और **अरीरमत्**— गोपियोंको रसका दान कर रहे हैं, और स्वयं रस ले रहे हैं।

भगवान् किससे रस लें? जब इनसे कोई ज्यादा रसीला हो, तब ये इनसे रस लें। अब भगवान्से ज्यादा रसीला तो कोई और है नहीं; अखिलरसामृतमूर्ति' स्वयं भगवान् हैं!

इसलिए **आत्मारामोऽप्यरीरमत्**' का अर्थ है कि जैसे चन्द्रमा अपने अमृतको ओषधि- वनस्पतियोंमें स्थापित करता है, जैसे देवतालोग अपने अमृतको स्वर्गमें स्थापित करते हैं, वैसे भगवान् अपने अमृतको अपने भक्तमें स्थापित करते हैं। बाँसुरी बजाकर अपने अधरामृतको गोपियोंमें स्थापित करते हैं, अपने संकल्पसे अपने आनन्दको गोपियोंमें संचारित करते हैं, और फिर उसीको अपना भोग्य बनाते हैं। भक्ति तो बड़ी विलक्षण वस्तु है! कल आपको सुनाया था कि भक्ति कोई सत्त्वगुणकी वृत्ति नहीं है, मायाकी वृत्ति नहीं है, योगदर्शनकी अक्लिष्ट वृत्ति नहीं है। क्योंकि अक्लिष्ट वृत्तिका भी निरोध होता है, सात्त्विकवृत्तिसे आत्माका विवेक होता है, मायिक वृत्ति बाधित होती है, भक्ति न तो बाधित होती है, न भक्तिका निरोध होता है और न भक्तिसे आत्माको विविक्त किया जाता है। यह तो रसरूपा है, आत्मरूपा है। यह वृत्ति नहीं है, भगवान्की आह्लादिनी है, आह्लादिनी शक्ति नहीं है। आह्लादी आनन्दस्वरूप है, आनन्दस्वरूप नहीं है क्योंकि स्वरूपसे कोई मोहित नहीं होता। यह आनन्दस्वरूपका भी सार-सार है। अपने स्वरूपके सारको जिसमें 'सर्व' पृथक् नहीं, जिससे सर्व पृथक् नहीं, जहाँ सत्-चित्- आनन्द पृथक्-पृथक् भाव नहीं है, वही जो अखण्ड सच्चिदानन्दघन, विज्ञानानन्दघन है वही कृष्ण है, वही गोपी है। इसलिए—

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥

(भाग० १०.२९.४३)

प्यासका नाम प्रेम नहीं है, तृप्तिका नाम प्रेम है, पर ऐसी तृप्ति नहीं जिसमें इति श्रीस्कन्दपुराणे रेवाखण्डे हो जाय—ऐसी तृप्तिका नाम प्रीति नहीं है। ऐसी तृप्ति जो क्षण-क्षण बढ़ती है।

प्रतिक्षणवर्धमानं गुणरहितं कामनारहितं।
गुन धन यौवन रूप तन बिन स्वारथ हित जान।
शुद्ध कामनासे रहित प्रेम वहै रसखान॥

ताभिःसमेताभिरुदारचेष्टितः—अबतक जो भगवान्‌की चेष्टा थी, वह अनुदार थी, लेकिन अब उनकी चेष्टामें उदारता आ गयी। उदारता क्या? *उत् ऊर्ध्वं-आ पूर्णतः राति ददाति उत् आ राति = उदारता। ऊर्ध्वं सत्त्वेन* —अपनी शक्तिसे भी अधिक और पूरा-का-पूरा दे देना, अपने पास कुछ बचाकर नहीं रखना, यह उदारका लक्षण है। भगवान् उदार हैं, यह बात यहाँ नहीं कही जा रही; उनकी चेष्टा उदार है यह बात कही जा रही है। भगवान्‌की लीला उदार है, भगवान्‌का नाम उदार है, गुण उदार है, चेष्टा उदार है। तो कर्ममें और चेष्टामें फर्क होता है, भला! क्रिया जो होती है वह अन्य द्रष्टाके संयोगसे कर्म होती है, अपनी स्वीकृतिसे भी होती है और अन्यसे भी होती है। परन्तु लीला जो होती है वह केवल आनन्दके लिए होती है पर उसमें औरकी अपेक्षा होती है। और चेष्टा होती है जैसे अपनी आँख हिलाना, आँखकी कोर हिलाना या ऐसे हाथसे नृत्यकी मुद्रा करना, चिबुक हिलाना, शिर हिलाना; नृत्यमें, अपने नेत्रकी चेष्टा-ललितनेत्र, छलितनेत्र, वलितनेत्र, पलितनेत्र, दुष्टनेत्र, आर्तनेत्र, एक सौ छब्बीस प्रकारसे नेत्रोंकी चेष्टाओंका वर्णन आता है। नाट्यशास्त्रका विषय है कि कैसे आँख बनावें तो उसमें-से क्या निकले? आँख ही आँखसे माँग लेना, आँखसे ही दुःख प्रकट करना, आँखसे हँस देना, आँखसे मोल कर लेना, आँखसे अभिमान प्रकट कर देना, आँखसे डाँट देना, यह सब आँख ही आँखसे होता है। तो चेष्टामें न तो कोई द्रष्टा है और न तो कोई क्रिया है, सिर्फ अपने शरीरमें ही चेष्टा होती है।

तो यहाँ उदारता क्या है? जैसे—एक नौकर मालिकका दान कर दे तो आप क्या सोचेंगे? और मालिक सचमुच नौकरके दान करनेपर दिया हुआ हो जाय तो क्या बोलेंगे! मालिकने कहा— हमारे नौकरने हमको दान कर दिया तो सचमुच हमारा दान हो गया। भगवान्‌का नाम उदार है। नाम क्यों उदार है? कि यह है तो भगवान्‌का नौकर और दान मालिकका, भगवान्‌का करता है। भगवान्‌का नाम नामीका दान कर देता है, भगवान्‌का गुण गुणीका दान कर देता है, भगवान्‌की लीला, लीलाधारीका दान कर देती है। यह जो भगवान्‌की चेष्टा है न; जैसे आँखोंका चलाना, तिरछी चितवन, यह है तो आँखकी चेष्टा लेकिन दान आँखवालेको कर देती है। भगवान्‌की मन्द मुसकान है तो चेष्टापर दान कर देती है मुखारविन्दवालेको। माने पूरे भगवान् ही आपके मनमें आ जायेंगे। शरीरकी जरा-सी चेष्टा—आँखमें रहनेवाली, होंठमें रहनेवाली, उँगलीमें रहनेवाली—यह दान किसका करती है कि पूरे शरीरका। तो **उदारचेष्टितः**का अर्थ है—भगवान्‌के एक-

एक अंगमें ऐसी चेष्टा होने लगी जैसे—एक-एक गोपीको अपनी आँखोंका दान कर रहे हों—**उदारचेष्टितः**।

ताभिस्समेताभिः अब गोपियाँ हिल-मिल गयीं कृष्णसे और कृष्ण हिल-मिल गये गोपियोंसे। गोपियोंकी क्या स्थिति हुई?

प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः—प्रियस्य यत् ईक्षणं, प्रियकर्तृकईक्षणं प्रियकर्मकं च ईक्षणं, प्यारेका देखना और प्यारेको देखना ये **प्रियस्य ईक्षणं**में दोनों आवेगा। माने श्यामसुन्दर देख रहे हैं गोपियोंकी ओर, और गोपियाँ देख रही हैं प्यारेकी ओर! यह जो दोनों ओरसे आँख मिली, तो **उत्फुल्लमुखीभिः**—उनका मुखकमल खिल गया कि प्यारे हमारी ओर देख रहे हैं और हम प्यारेको देख रहे हैं। आँख मिली—**नयनप्रीति प्रथमं**, आँखें रँग गयीं एक दूसरेके रंगमें और मुखकमल खिल गया।

चन्द्र हैं श्रीकृष्णचन्द्र और उनके चारों ओर जो गोपियाँ हैं वे तारा हैं। आकाशमें थोड़ा-सा अँधेरा और धरतीपर यह काला-चाँद नृत्य कर रहा है! बंगलामें एक बड़ी दिव्य पुस्तक है। उसका नाम है काला चाँद, पुस्तकका नाम ही है बंगला भाषामें काला चाँद। ये श्यामसुन्दर, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, भक्तजनोंके हृदयमें ध्यानका विषय देनेवाले, आज धरतीपर गोपियोंके साथ मिल गये।

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥

(भाग० १०.२९.४३)

तारे न हों तो चन्द्रमाकी शोभा उतनी नहीं होती। तारोंसे परिवेष्टित होकर ही पूर्णचन्द्रकी शोभा बढ़ जाती है। तारेके बिना चन्द्रमाकी क्या स्थिति? प्रजाके बिना राजाकी क्या स्थिति? और चपरासीके बिना मिनिस्टरकी क्या स्थिति? छोटेसे बड़ेकी शोभा होती है। तो, श्रीकृष्ण भगवान् बीचमें और चारों ओर गोपियाँ! मैंने बचपनमें एक लेख पढ़ा था। उसका अच्छा संस्कार पड़ा था, अभीतक भूलता नहीं है। लेखक थे आनन्दशङ्कर बापूभाई सेठ। वे काशी विश्वविद्यालयके वाइस चान्सलर थे। उन्होंने लेखमें लिखा था—प्रकृति तमोमयी है, अज्ञानमयी है, अविद्यारूप है, मायारूप है; और इसमें ये जो जीव हैं वे तारे हैं; और परमेश्वर चन्द्रमा है। यह प्रकृतिकी अन्धकारमयी रात्रि बिना परमेश्वरके प्रकाशित नहीं होती। और जैसे चन्द्रमाके बिना रात्रिका अन्धकार दूर नहीं होता, वैसे परमेश्वरके बिना प्रकृतिका जो घोर अन्धकार है वह दूर भी नहीं होता। बादमें बताया कि यह हमारा जो हृदय है, यहाँ न सूर्यकी ज्योति पहुँचती है, न चन्द्रमाकी। नहीं तो टार्च जला-जलाकर देखते कि हमारे या उनके हृदयमें क्या है? टार्चकी रोशनी तो वहाँ पहुँचती नहीं, आँखसे भी नहीं दिखता है क्योंकि आँखमें तो सूर्यकी रोशनी काम करती है, मनमें चन्द्रमाकी रोशनी काम करती है, वाणीमें अग्निकी रोशनी काम करती है; अब हृदयमें दिखे तो कैसे दिखे? तो हमारे हृदयमें एक घोर अन्धकार अमावास्याका छाया हुआ है और ये जो मनोवृत्तियोंकी रोशनी है उनकी टिमटिमाहट ऐसी है जैसे एक दीया इधर जला एक उधर जला, खद्योत (जुगनू)की तरह। जबतक श्रीकृष्णचन्द्र हमारे हृदयमें प्रकट नहीं होंगे तबतक हृदयका अन्धकार दूर नहीं होगा। तो कहा—भाई! आओ अकेले चन्द्रमा प्रकट हो जायँ! बोले—नहीं, हृदयमें ऐसे

चन्द्रमा प्रकट नहीं होते, उनके लिए प्रेम चाहिए! और प्रेम, बात बनानेसे नहीं होता। वाणीका देवता अग्नि है, यह आपको मालूम होगा। यह जो जीभ है, इसके पीछे आग जल रही है, तब आवाज निकलती है। यह तो कोशिश करके मीठा मिलाना पड़ता है। तो खाली बात बनानेका नाम प्रेम नहीं है। हृदयमें होता है प्रेम। प्रेम-चन्द्रका जब उदय होता है तो उसका अनुभाव शरीरमें शीतलता और आह्लादके रूपमें और कर्ममें सेवाके रूपमें प्रकट होता है। आह्लाद, शीतलता, और सेवा— प्रेम इन रूपोंमें प्रकट होता—

आकृष्टो रक्षयिष्णुं हृदयविधुमणिद्रावणं वक्रमाणं
पूर्णत्वेऽप्युद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तम्।
तन्वानं सम्प्रदोषे नवनवचिता सम्पदं मादकत्वात्,
अद्वैतं नैव रागादनुजविजयिनः अद्भुतं भावचन्द्रम्॥

श्रीराधाकृष्णका जो प्रेम है वह चन्द्रमा है। आप जानते हैं वृन्दावनमें तो चन्द्रमाकी उपमा देना अपराध मानते हैं भला!! एक दिन श्रीकृष्णने राधारानीसे कह दिया कि तुम्हारा मुख तो चन्द्रमाके समान है, और वह रूठ गयीं। क्यों रूठ गयीं! क्यों रूठ गयीं? तो बोलीं—चन्द्रमा तो क्षयी है, चन्द्रमा तो कलङ्की है, घटने-बढ़नेवाला है, वक्र है, पापी है! तुमने क्या समझकर चन्द्रमाके समान हमारे मुखको कह दिया? रूठ गयीं प्रियाजी। हे नारायण। तो वहाँ चन्द्रमाको कोई बढ़िया चीज नहीं माना जाता, फिर भी कृष्णको वृन्दावन-चन्द्र बोलते हैं, वृन्दावन-विहारी। तो यह प्रेम चन्द्रमा है पर चन्द्रमा कैसा? आकाशका चन्द्रमा पन्द्रह दिन घटता है और पन्द्रह दिन बढ़ता है—

घटइ बढ़इ बिरहिन दुःखदाई। ग्रसई राहु निज सन्धिन पाई॥

पर यह प्रेम-चन्द्रमा कैसा है? कि यह न घटता है, न बढ़ता है—**आकृष्टो रक्षयिष्णुं** यह अक्षय चन्द्रमा है, दुनिया उलट जाय, पलट जाय, सृष्टि हो, प्रलय हो, पर सच्चा प्रेम कभी उलटा नहीं होता—***आकृष्टो रक्षयिष्णुं।*** और *हृदयविधुमणिद्रावण*— जैसे चन्द्रमा चन्द्रकान्तमणिको पिघलाता है वैसे यह प्रेम-चन्द्रमा हृदयरूप चन्द्रकान्तमणिको द्रवित करता है। अन्तरङ्ग जो हृदय है वह स्नेहसे भर जाता है। बोले—एक विचित्रता इसमें यह है कि वह अधूरा होता है तब टेढ़ा होता है और पूरा होता है तो गोल हो जाता है और यह प्रेम-चन्द्र, महाराज! पूरा होनेपर भी टेढ़ा ही रहता है— ***पूर्णत्वेऽपि वक्रमाणं उद्वहन्तम्***—पूर्ण प्रेम होनेपर भी इसमें मानकी वक्रिमा, मानका टेढ़ापन बना रहता है। *वक्रमाणं पूर्णत्वेऽपि उद्वहन्तं निजरुचिघटया साध्वसं ध्वंसयन्तं*— इसमें इतनी रुचि है कि आग कभी

बुझती ही नहीं है, भूख कभी मिटती नहीं और प्रेमी पुरुष निर्भय हो जाता है, प्रेम सारे भयको मिटा देता है—**तन्वानं सम्प्रदोषे**-सायङ्काल-प्रदोषकालमें चन्द्रमाका उदय होता है; और यह प्रेम-चन्द्र कब बढ़ता है? कि जब अपने प्रियतममें कोई दोष दिखता है। क्योंकि प्रेमी सोचता है कि बस-बस, अब हमारी जरूरत है, अब हम इनको एक क्षणके लिए नहीं छोड़ेंगे। दोष देखकर जो प्रेम घटता है, वह फायदा उठानेके लिए होता है, भला! देखा कि बड़े दयालु हैं तो जाकर लल्लो-चप्पो करने लगे, तारीफ करने लगे, और देखा कि कृपण हैं तो छोड़ दिया। उनकी स्वार्थ-सिद्धिमें कोई बाधा पड़े तो छोड़ देंगे। मगर प्रेम तो दोष देख-देखकर बढ़ता है। सच बात तो यह है कि जिसके हृदयमें दोषका लेश होता है उसको ही दोष दिखता है। सच्चे प्रेममें दोष-दृष्टि होती ही नहीं है। एक दोष बताओ तो प्रेमी उसकी हजार सफाई दे देंगे। कहेंगे—तुम उनकी परिस्थितिको तो देखो, उनकी दयाको तो देखो, उनको कितने सङ्कटमें पड़कर यह काम करना पड़ा होगा, यह तो देखो! गलती करे दूसरा, सफाई दे दूसरा—क्योंकि प्रेम है। प्रेमीको दोष नहीं मालूम पड़ता। ***तन्वानं सम्प्रदोषे।*** और नवनव **रुचिता सम्पदम्**—नवीन-नवीन रोचकता उसमें आती जाती है। यह भाव चन्द्रमा, यह प्रेम-चन्द्रमा अद्भुत है! ऐसा नशा है इस प्रेमके चन्द्रमाका कि इस गुणदोषमय सृष्टिका दीखना बन्द हो जाता है। बाहरसे गुण-दोष भाग जाते हैं और भीतरसे राग-द्वेष भाग जाते हैं। सुख हो तो प्रीतमसे, दुःख हो तो प्रीतमसे, गाली दे तो प्रीतम, तारीफ करे तो प्रीतम, मारे तो प्रियतम, जिलावे तो प्रियतम—***अद्भुतं भावचन्द्रम्***— यह भावका जो चन्द्रमा है यह प्रेमका जो चन्द्रमा है, अद्भुत है!

आकाशमें तारोंसे घिरे हुए चन्द्रमा और दूसरी तरफ धरतीमें गोपियोंसे घिरे हुए श्रीकृष्ण! वर्णन करते हैं—**व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः**। जैसे तारोंकी वजहसे चन्द्रमाकी शोभा बढ़ जाती है वैसे गोपियोंकी वजहसे श्रीकृष्णकी शोभा बढ़ी, घटी नहीं। अब एक बात समझो—वेदान्ती कहेगा कि एक कृष्ण और अनेक वृत्ति! यहाँ तो द्वैत हो गया! और योगी कहेगा कि वृत्तियोंका निरोध ही नहीं हुआ! और ये महाराज जो नये साधक लोग हैं वे कहेंगे—यहाँ तो बड़ी भीड़-भाड़ है। अरे बाबा! अभी तुमको मजा नहीं आया—जिसका आनन्द निरावरण हो गया, उसको एकान्तमें भी आनन्द है और भीड़में भी आनन्द है; और जिसका आनन्द निरावरण नहीं हुआ वह भीड़में रहे तब भी सिर पीटेगा और एकान्तमें रहे तो भी बोर हो जायेगा, भला! क्योंकि आनन्द जब निरावरण नहीं हुआ तो एकान्तमें भी आनन्द कहाँसे मिलेगा? विक्षेपमें दुःख नहीं है और एकान्तमें सुख नहीं है।

जिसको अपनी अन्तरात्माका सुख प्रकट हो गया उसको एकान्तमें भी सुख है और उसको विक्षेपमें भी सुख है।

ये तीन बातें वेदान्तियोंके समझने लायक हैं—(१) आकृतियोंके भेदसे सत्तामें भेद नहीं होता। (२) आकृतियोंके भेदसे चेतनमें भेद नहीं होता। और (३) हजार भोक्ता और हजार भोग्य होनेसे भी आनन्दमें भेद नहीं होता। भोगकी विलक्षण-विलक्षण प्रक्रियासे भी आनन्दमें भेद नहीं होता। अरे! ऐसे समझो कि भोग चाहे दुःखात्मक मालूम पड़ें और चाहे सुखात्मक मालूम पड़े, आनन्दमें भेद नहीं। चाहे वृत्ति रागात्मक मालूम पड़े, चाहे द्वेषात्मक, चेतनमें भेद नहीं और चाहे क्रिया पापात्मक मालूम पड़े चाहे पुण्यात्मक, सत्तामें भेद नहीं। क्रियाके भेदसे सत्तामें भेद नहीं, और राग-द्वेषके भेदसे चेतनमें भेद नहीं, और सुख-दुःखके भेदसे आनन्दमें भेद नहीं। यह बात महात्माके पास बैठकर सीखनी पड़ती है, यह किताबमें पढ़नेसे मालूम नहीं पड़ती, भला! जो जिज्ञासु होते हैं, जो सत्पुरुषोंकी सेवा करते हैं, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हैं उनको यह बात मालूम मड़ती है। जो लोग उपनिषद् पढ़ते हैं और केवल '**तन्नैजति**'को ही ईश्वरका रूप मानते हैं, '**तदेजति**'को ईश्वरका स्वरूप नहीं मानते उन्होंने क्या उपनिषद्का अर्थ समझा?

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

यह उपनिषद् ही नहीं, मन्त्रसंहिता है—शुक्लयजुर्वेद संहिताका चालीसवाँ अध्याय है। इसको आर्यसमाजी भी मानते हैं जो उपनिषदोंपर ज्यादा श्रद्धा नहीं रखते। मन्त्रमें कहा गया है- *'तद् एजति'* तद् माने *'श्यामं ब्रह्म', 'गोपीजनसहितं ब्रह्म'*—वह साँवरा-सलोना ब्रह्म, गोपीजनोंसे घिरा हुआ ब्रह्म। ***एजति कम्पते नृत्यति हस्तभेदेन चिबुकगतिभेदेन पादगतिभेदेन एजति***—वह चिबुककी गति, हाथकी गति, पाँवकी गति, कमरकी गतिसे 'एजति' नाचता है। *'तद एजति'* और कभी-कभी *'तत् न एजति'*—वह नहीं नाचता, चुपचाप खड़ा है। *'तद् दूरे'*—गोपियोंमें-से नाचता हुआ कभी वह अकेला उनसे दूर निकल गया, और कभी *'तद्वन्तिके'* नाचता हुआ झट गोपियोंके पास आ गया। ***तदन्तरस्य सर्वस्य 'व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः तदन्तरस्य अस्य सर्वस्य गोपिजनस्य अन्तः सत्'*** कभी इन सब गोपियोंके बीचमें वह ताता-थेई ताता-थेई करता नाच रहा है; और ***तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः*** कभी वह अकेला पीछे हटता है, गोपियाँ नाचती हुई उसकी ओर बढ़ती हैं और कभी गोपियाँ गान करती हुई, नृत्य करती हुई पीछे हटती हैं और वह अकेला इनकी ओर बढ़ता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽऽप्नुवन्पूर्वमर्षत्।

जो देवता गोपी बने हैं माने **गोप्याकारेण आविर्भूताः देवाः** गोपियोंकी आकृतिमें जो प्रकट देवता हैं—***नैनद्देवा आप्नुवन्***-वे देवता जब कृष्ण गुप्त हो जाते हैं, छिप जाते हैं तब ढूँढ़ते-ढूँढ़ते इसको नहीं प्राप्त करते हैं। क्यों? बोले—'**मनसो जवीयो**' अरे! इसकी गति तो मनसे भी ज्यादा तेज है।

ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥

व्यरोचत्—विशेषेण रोचत् व्यरोचत्—आज श्रीकृष्णकी शोभा बढ़ गयी। गोपीके बिना गोपीजनवल्लभकी शोभा कहाँ? गोपीजनवल्लभकी शोभा तो गोपीजनसे है—**श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय**। ये **गोपीजनवल्लभ गोविन्द,** आज उनकी शोभा बढ़ गयी, आज उनका अवतार लेना सफल हो गया, आज उनकी किशोरावस्था सफल हो गयी! पहले सुनाया था—पृथिवीका भार दूर कौन करेगा? सङ्कर्षण, वसुदेवको प्रसन्न कौन करेंगे? प्रद्युम्न। धर्मकी स्थापना कौन करेगा? अनिरुद्ध। श्रीकृष्णने अवतार क्यों लिया? बोले—केवल गोपीजनोंके प्रेमको पूर्ण करनेके लिए, केवल प्रेमीजनोंके लिए श्रीकृष्णने अवतार लिया! ये प्यारे-प्यारे कृष्ण, नारायण!!

'**ताभिः समेताभिः**'—अब बताते हैं कि गोपियोंमें सौमनस्य हो गया है—'**समेताभिः**' सबका मत एक, अब मत-भेद नहीं रहा। यह भक्तिसिद्धान्तकी एक बड़ी विलक्षणता है—क्या जैसे यज्ञ करते हैं तो उसमें क्रिया अलग-अलग होती है—होमके मन्त्र अलग-अलग, आहुति अलग-अलग, हविष्य अलग-अलग, कुशकण्डिका अलग-अलग, देवता अलग-अलग और यजमान और यजमान-पत्नीके साथ सोलह ऋत्विक् अलग-अलग! लेकिन सब कर्मोंका उद्देश्य होता है एक यज्ञका सम्पादन। जैसे सम्पूर्ण कर्मोंके द्वारा एक धर्म-यज्ञ सम्पूर्ण होता है वैसे सम्पूर्ण वृत्तियोंके द्वारा अपने एक प्रियतमकी सेवा सम्पन्न होने लगे यह भक्तिसिद्धान्त है। और वृत्ति एक हो जाय—निरोधाकार, और हम उसके द्रष्टा रहें, यह योग हो गया और वृत्ति चाहे एक रहे चाहे अनेक रहें, हम अखण्ड द्रष्टा ब्रह्म हैं, यह वेदान्त हो गया।

अब देखो, गोपी जो हैं **ताभिः समेताभिः**—सब सौमनस्ययुक्त होकरके एक कृष्णको देख रही हैं, सारी वृत्तियाँ कृष्णको देख रही हैं। गोपीने घरमें उबटन लगाया, किसके लिए? कृष्णके लिए। बाल सम्हाले, किसके लिए? कृष्णके लिए। वस्त्र पहना, किसके लिए? कृष्णके लिए। अञ्जन लगाया, किसके लिए?

कृष्णके लिए। गाय दुहकर दूध जमाया, किसके लिए? कृष्णके लिए, माखन बनाया, किसके लिए? रोटी बेली, पकायी, किसके लिए? कृष्णके लिए। जब सम्पूर्ण कर्मोंका उद्देश्य, सम्पूर्ण वृत्तियोंका उद्देश्य अपना प्रियतम हो जाता है तब प्रेम आता है, प्रीति माने फिफ्टी-फिफ्टी नहीं। इसका नाम प्रेम नहीं है कि एक-चौथाई तुम्हारा, तीनं चौथाई हमारा! या आधा तुम्हारा, आधा हमारा! यह तो—

मैं बौरी ढूँढ़न चली रही किनारे बैठ।

'प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ताभिः'—ये गोपियाँ जिन्हें श्रीकृष्णने स्वीकृति दी, माने जिनके हृदयमें पूर्वराग उत्पन्न हुआ, जिन्होंने वंशी-ध्वनि सुनी, जिन्होंने कात्यायनी-व्रत किया, जिन्होंने चीरहरण करनेपर भी श्रीकृष्णमें दोषदृष्टि नहीं की—भागवतमें यह बात बिलकुल स्पष्ट है- **तानाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः**-चीरहरण करनेपर भी श्रीकृष्णके प्रति दोषवृत्ति किसी गोपीकी नहीं हुई—जिसके लिए गोपियोंने धर्मका, अर्थका, कामका, मोक्षका परित्याग किया; और तो और, श्रीकृष्णके कहनेपर भी कि तुम घर लौट जाओ और अपने धर्मका पालन करो, घर नहीं लौटीं और गुरुजीका उपदेश नहीं सुना, जिनके गुरु भी श्रीकृष्ण और गति भी श्रीकृष्ण!

कृष्णके लिए, गोपियोंके गुरु इस अर्थमें भागवतमें प्रयोग है—

अध्यात्मशिक्षया गोप्यः एवं कृष्णेन शिक्षिताः।

अपना सर्वस्व लेकर जो श्रीकृष्णके सम्मुख उपस्थित हैं लेकिन श्रीकृष्णने जिनकी तरफ देखा ही नहीं; उन गोपियोंने अब देखा कृष्णकी उदार चेष्टाको तो उनका मुखकमल खिल गया।

प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः 'प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिः'—प्रेमीका प्रसाद कहाँ है? प्रेमीकी प्रसन्नता कहाँ है? प्रेमीका प्रसाद वस्त्रमें, आभूषणमें, भोजनमें,भज कलदारम्-भजकलदारम्में नहीं होता। वह तो प्यारेकी आँखोंमें है। **प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिः।**

प्यारी जी, तिहारी आँखिन में माधव जैसे अपनपव देखत।
तैसे तुम देखति हौ, किधौ नाँही?
मोको तो भावती ठौर प्यारे प्यारी जू के नैनन में।
प्यारे के नयनन में प्यारे भये चाहें मेरे नयनन के तारे॥

राधारानीसे पूछा—प्यारी जू! तुमको अपनेको कहाँ देखकर खुशी होती है? क्या शीशेमें देखकर कि हमारी बिन्दी बहुत अच्छी लगी या बाल बहुत अच्छे सँवरे

हैं या साड़ी बहुत अच्छी लगती है? या बड़ा सुन्दर शृङ्गार है? क्या शीशेमें देखते हैं तब खुशी होती है? राधिकारानी कहती हैं—नहीं—

मोको तो भावती ठौर प्यारे के नैनन में।

मैं शीशेमें अपनेको देखकर खुशी नहीं होती हूँ, अपने प्यारेकी आँखोंके शीशेमें जब अपनेको देखती हूँ, माने जब इतना निकट होती हूँ कि उनके नेत्रमें मैं अपनी परछाईं देख सकूँ, तब प्रसन्न होती हूँ। मुझको तो बस यही भाता है, मुझको तो बस वहीं रहना अच्छा लगता है—मैं प्यारेकी आँखोंमें रहूँ, और

प्यारो भयो चाहे मेरे नयनन के तारे।

ये महाराज, व्रजके जो रसिक हैं, उनका भाव बड़ा विलक्षण है। कृष्ण चाहते हैं कि प्रियाजीकी आँखमें जो काला तिल है वह मैं बनकर रहूँ, और प्रियाजी चाहती हैं कि प्यारेकी आँखमें तिल बनकर मैं रहूँ!

प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखी—'प्रियेक्षण'का दो अर्थ होगा। **प्रियस्य ईक्षणम् प्रियेक्षणम्**। इसमें '**प्रियस्य**' में जो षष्ठी है वह कर्ममें भी और कर्तामें भी, दोनोंमें चलती है। इसलिए प्रियका देखना और प्रियको देखना—दोनों अर्थ प्रियेक्षणका है। '**प्रियकर्तृकं यत्र ईक्षणं**' अथवा **प्रियकर्मकं यत्र ईक्षणं** हम देखें प्यारेको, और प्यारे देखें हमको। प्रिय शब्दका संस्कृतमें अर्थ होता है—तृप्ति, **प्रिय तर्पणे**से। जिसके दर्शनसे तृप्ति हो वह है प्रिय। गोपियोंका मुख है कमल और प्रियके दर्शनमात्रसे ही वह मुख-कमल उत्फुल्ल हो गया। जबतक श्रीकृष्णने गोपियोंकी ओर नहीं देखा था, तबतक उदास, अनुत्फुल्ल, कुम्हलायी हुई थीं और जहाँ श्रीकृष्णने देखा वहीं उत्फुल्ल। कहते हैं कि—

उनको देखकर जो चेहरेपर आ जाती है रौनक।
वे समझते हैं कि बीमारका हाल अच्छा है॥

हँसते तो हैं उनको देखकर, पर वे समझते हैं कि पहलेसे ही वह हँस रहा है। माने हमारी बीमारी तो कभी उनकी समझमें आती नहीं, यह प्रेमियोंका हमेशासे ही उलाहना है।

धर्मकी दृष्टिसे, मीमांसाकी दृष्टिसे, दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे, ब्रह्म और धर्मके निर्णयकी दृष्टिसे, संस्कृतभाषा हमेशासे परिपूर्ण रही है। लेकिन संस्कृतभाषामें प्रेमकी बहुत-सी बातें मुसलमानी जमानेके बाद आयी हैं। जैसे सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी श्रीचैतन्य महाप्रभुके पास आनेसे पहले नवाबोंके यहाँ दीवान थे तो वे उर्दू-फारसीके बड़े भारी जानकार थे जिसमें प्रेम-साहित्यका विपुल भण्डार था। उससे प्रेरित होकर भी उन्होंने संस्कृतभाषामें प्रेमका इतना साहित्य लिखा है

कि देखकर आश्चर्य हो जाता है। हमारा यह मतलब नहीं है कि उनका सारा प्रेम-साहित्य उर्दू-फारसीसे आया है। हमारा अभिप्राय यह है कि सब साहित्यपर समयका प्रभाव अवश्य पड़ता है, समयकी एक माँग होती है जो साहित्यमें परिलक्षित होती है। जैसे मध्यकालीन हमारे कितने सन्त हुए—तुलसीदास, सूरदास और सभी वृन्दावनी सन्त हैं उन सबके साहित्यमें तात्कालिक परिस्थितियोंका प्रभाव दिखायी देता है।

तेरी याद ने जो दिलमें दर्द दिया। कुछ ऐसा मजा मैंने उसका लिया॥
न करूँ न करूँ न करूँ मैं दवा। मैंने खाई है अब तो दवाकी कसम॥

प्रेममें जो दर्द होता है वह भी मीठा लगता है इसलिए अब इसकी भी दवा नहीं करेंगे। लेकिन लौकिक प्रेमका वर्णन करना दूसरी बात है और यह जो आत्मप्रीति है, ईश्वरका प्रेम है, वह दूसरी चीज है। और महाराज, यह दुनियादारीका जो प्रेम है, यह तो बहुत मामूली चीज है। एक दिन मैंने दुनियाका प्रेम देखा नारायण! वृन्दावनमें थे तो हमारे ये प्रेमीलोग जो हमारे साथ रहते हैं, इन लोगोंने रसगुल्ला खाया और रसगुल्ला खाकर उसके रसका दोना नीचे फेंक दिया। अब छोटे-छोटे पिल्ले थे, उन्होंने आकरके दोना चाटा। चाटनेके बाद उनके मुँहमें भी रस लग गया। तब उन्होंने क्या किया कि एक-दूसरेका मुँह चाटना शुरू किया। अपनी जीभ तो अपने मुँहपर वहाँतक पहुँचे नहीं जहाँतक रस लगा था, इसलिए वे अपना-अपना मुँह एक दूसरेसे चटावें। तो नारायण! इसको बोलते हैं संसारी प्रेम कि तुम अपना मुँह हमको चटाओ और हम अपना मुँह तुमको चटावें! इसीको समझते हैं कि बड़ा भारी प्रेम है। अरे! यह प्रेम तो पशुओंमें भी होता है, इसका नाम प्रेम नहीं है। प्रेम मुँहके बाहर रहनेवाली चीज नहीं है, प्रेम दिलके भीतर रहनेवाली चीज है, हृदयमें रहनेवाली चीज है, वह हार्दिक वस्तु है। यदि प्रेमको वस्तुसे नापोगे-तौलोगे कि आज उनके यहाँसे कितनी भेंट आयी, कि आज कितनी देर उन्होंने पाँव दबाया, तो प्रेम वस्तुसे, क्रियासे तौला नहीं जाता। और जबानी जमाखर्चसे भी प्रेम तौला नहीं जाता। प्रेम है हृदयकी वस्तु और वह जहाँ आता है वहाँ भला अपने प्यारेको देखकर आँखमें उदासी रह सकती है? अपने प्यारेको देखकर रोम-रोम खिल उठता है, कण-कण फुदकने लगते हैं, एक-एक संकल्प, एक-एक वृत्ति, नृत्य करने लगती है, नृत्य करना नहीं पड़ता है, प्रेमकी चालका नाम नृत्य है। नृत्य कहाँसे निकला है? प्रेमीके पाँवमें-से नृत्यकी उत्पत्ति हुई है। यह संगीत, यह कविता कहाँसे निकली है? प्रेमीकी जीभमें-से संगीत और कविताकी उत्पत्ति हुई है। प्रेम हृदयकी वस्तु है, हाथको यही चलाता

है, पाँवको यही चलाता है। आँखको यही चलाता है। प्रेम हो और प्रियतमको देखकर चेहरेपर उत्फुल्लता न आवे, मनहूसी छायी रह जाय, उदासी छायी रह जाय, सम्भव नहीं। प्रियतमके सामने जाकर तुम उदास होगे तो वह भी उदास हो जायेगा।

नारायण! **प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिः**—बोले—भाई! गोपियाँ खुश हो गयीं क्योंकि-श्रीकृष्ण भी तो कुछ '**उदारचेष्टितः**' हो गये न! उनकी चेष्टामें उदारता आयी। उदारता तो आ गयी, लेकिन वे अच्युत हैं इसलिए कामके वशमें नहीं हैं। अच्युत शब्दका यहाँ अर्थ है—कामके वशमें न होना। अज्ञानी स्वरूपसे च्युत हो जाता है और परमात्मा स्वरूपसे च्युत नहीं होता। आम जब पकता है तो पेड़में-से टपक पड़ता है, उसको बोलते हैं—च्युत हो गया। और श्रीकृष्ण कैसे हैं कि ये अपने स्थानपर रहते हुए सम्पूर्ण भोगक्रियामें इनका आनन्द अच्युत है। सम्पूर्ण वृत्तियोंके उत्थान और समाधिमें इनका चेतन अच्युत है। समस्त आकृतियों, प्रकृतियों और विकृतियों—क्रिया-विक्रियामें इनकी सत्ता अच्युत है। यह मत कहो कि अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपको छोड़कर श्रीकृष्ण संसारी हो गये। अरे भाई! उनको संसारी बनानेका सामर्थ्य किसी माया-छायामें नहीं है—

उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतिः।

उदारहास—उनके हासमें उदारता है। उदारताका अर्थ क्या है? एक बारकी बात है—वृन्दावनमें एक माता आती थीं, बाहरसे, वृद्ध थीं। वे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके पास आती थीं, श्रद्धा करती थीं, प्रेम करती थीं, एक दिन उनके पास कोई साधु आये और एकान्तमें उनका और माताजीका कुछ संवाद हुआ। यह बादमें पता चला कि अमुक व्यक्तिके साथ ऐसा उनका संवाद हुआ। तो महाराज! एक ईश्वर वह है जो स्त्रीको देखते ही आँख बन्द कर ले—कि हाय-हाय, इसका कोई असर हमारे चित्तपर न पड़ जाय! माया आयी, माया आयी! इसका नाम हो गया भीत-ब्रह्म।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज सुनाते थे कि एक बार वे रामघाटमें आकर रहने लगे, कुटिया तो थी नहीं, ऐसे गंगा किनारे बालूपर बैठते थे। उस समय उनका यह नियम था कि स्त्री सामने न आवे। तो जहाँ वे ध्यान करने बैठते—आसन उनका बड़ा पक्का था, जिन लोगोंने उनको देखा होगा उनका गला नीचेको झुकता नहीं था, हमेशा सीधे ही रहते थे; चलते हुए, बैठते हुए खाते हुए हमेशा, गला झुकता ही नहीं था। तो वे गंगाजीके पुलिनपर जाकर बालूमें आसन लगाकर बैठ जाते और वे एक फर्लांग, दो-दो फर्लांग पर चारों तरफ दो-चार लोग बैठते कि कोई स्त्री

उधर बाबाके सामने नहीं जाने पाये; वे कहते थे कि महाराज स्त्रीका दर्शन नहीं करते हैं। तो एक माताजी थीं वह परमहंस रामकृष्णकी पत्नी शारदामाईजीकी शिष्या थीं। हमारा उनका बचपनमें बहुत सम्बन्ध रहा, उम्र तो उनकी बहुत बड़ी थी, हमको सत्तर वर्षकी उमरमें मिली थीं और नब्बे वर्षतक उनका जीवन रहा। संन्यासी होनेके बाद भी हम उनके पास जाते थे और उनको माँ ही मानते थे। बंगाली थीं और तेरह वर्षकी थीं जब उन्होंने परमहंसदेवका दर्शन किया था। वे आयीं तो लोगोंने कहा—उधर मत जाना माताजी, उधर उड़िया महाराज भजन कर रहे हैं, वे स्त्रीका दर्शन नहीं करते। बोलीं—अच्छा, स्त्रीका दर्शन नहीं करते? तो जाकर उनसे पूछो कि स्त्रीके पेटमें-से निकले हैं कि आसमानमें-से टपककर आये हैं? क्यों नहीं दर्शन करते स्त्रीका? कमजोरी स्त्रीमें है कि उनके मनमें है? किसीने जाकर उड़ियाबाबाजी महाराजसे कहा; तो बाबा बोले—कि बाबा! बुलाकर ले आओ—वह तो हमारी माता है। वह सचमुच बाबाके सिरपर हाथ रख देती थीं, अपने हाथसे खिला देती थीं। बहुत दिनोंतक रामघाटमें रहीं और बादमें काशीमें रहीं; हमलोग उनके पास जा-जाकर उनका दर्शन करते थे, उनसे मिलते-जुलते थे।

तो नारायण! ये बाबाजी लोग, वैरागी लोग, चाहते हैं कि जैसे हम रहते हैं, वैसे ही श्रीकृष्णको भी रहना चाहिए और जैसे हमारे कमजोर मनपर स्त्रीका प्रभाव पड़ता है वैसे ही श्रीकृष्णके मनपर पड़ता होगा। बात तो जरा गन्दी है लेकिन कह देना जरा ठीक रहता है, फकीरके लिए क्या गन्दी? नाम ही लेकर सुनाता हूँ। एक बार वृन्दावनमें सेठ जयदयालजी आये तो वे पहले रास देखना पसन्द नहीं करते थे। लेकिन वृन्दावनके लोगोंने बहुत आग्रह किया कि रासमें चलो, रासमें चलो। बहुत बढ़िया होता है, बड़ा आनन्द आता है, गोलोक उतर आता है।' तो वे अपनी मण्डलीके साथ—उनके साथ सैकड़ों-पचासों आदमी रहते थे—सबके साथ रासलीला देखने आये। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें हमेशा रास होता तो, रोज-रोज रास होता था, नित्य। मैं समझता हूँ कि पाँच-सात-दस वर्षतक उड़िया बाबाके आश्रममें निरन्तर रासकी परम्परा चलती रही। तो सेठजी पचास-सौ आदमियोंको लेकर आये, बैठ गये! अब महाराज! रास तो बहुत बढ़िया हुआ। सेठजीको रासमें कोई कष्ट नहीं महसूस हुआ, बैठे-बैठे देखते रहे। जब वे लौटकर अपने स्थानपर गये तो उनके परिवारमें-से दो-तीन सेठ जो बुड्ढे थे उन्होंने आकर जयदयालजीसे कहा कि सेठजी! रास देखनेमें तो हमारी बड़ी हानि हुई। बोले—क्या हुआ? बोले—बाबा, हम तो स्खलित हो गये। अब बताओ, आपको

हम सुनाते हैं कि यह पाप है, भला; यह तो मानसिक अपराध है, लेकिन हम यह पूछते हैं कि दोष उस रासका है कि उन व्यक्तियोंका है? यह तो उनके मनकी कमजोरी है न! अब सेठजीने कहा कि—भाई मामूली आदमीको रास नहीं देखना चाहिए क्योंकि इसमें तो पतनकी शंका है। कह दिया उन्होंने, निर्णय दे दिया उन्होंने! पर यह व्यक्तिका दोष हुआ ना! करपात्रीजी महाराज तीन-तीन घण्टे रासमें बैठे हैं और उनकी आँखसे झर-झर आँसू बहते रहे और फिर बादमें उठकर किसीसे मिलते नहीं, जंगलमें चले जाते और जाकर घण्टोंके बाद जब चित्त स्वस्थ होता तब लौटकर कुटिया पर आते। ऐसे पाँच सौ आदमी रास देख रहे हों, पर उसमें दो सौ-तीन सौ आदमियोंके आँखसे झर-झर आँसू गिरता रहता है! मिलनके प्रसङ्गमें भी आँसू गिरता रहता है और वियोगके प्रसङ्गमें भी आँसू गिरता है!

लोग जब यह बात सोचते है कि ये श्रीकृष्ण कैसे भगवान्, कैसे निर्विकार, तो भाई, वे जानते नहीं कि निर्विकारता कैसी होती है। यह श्रीकृष्णका वर्णन है, भला! जिसके चित्तमें विकार है उसको हिमालयकी गुफामें रहनेपर भी स्वप्न-दोष होता है, उसके मनमें विकार आता है; और जिसका मन निर्विकार है वह सड़कके चौराहेपर बैठा रहता है और उसके मनमें कभी विकार नहीं आता है। ये श्रीकृष्ण जो हैं—ये कोई मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् भगवान् हैं, और अच्युत हैं, निर्विकार हैं, गोपियोंके साथ नाचते गाते हुए भी! **उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः। उदारहास**—कई लोग मुस्कराते भी हैं और झेंपते भी हैं; परन्तु श्रीकृष्णकी मुद्रामें 'उदारहास'का अर्थ है कि हासमें उदारता है, उदीर्ण है, हँसते हैं तो उनके दाँत भी दिखते हैं, हँसनेकी आवाज भी होती है। इसके कई भेद हैं। एक स्मित होता है—कपोल लाल हो जाय, नाक भी लाल हो जाय, होंठ भी थोड़े खिल जायँ, लेकिन दाँत न दिखे। थोड़े दाँत दिख जायँ, थोड़ी आवाज आ जाय, यह हसित। विहसित प्रहसित, अतिहसित अट्टहास, हँसीके बहुत सारे भेद होते हैं। इनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें है।

रासमें श्रीकृष्णकी शोभा

(उपगीयमान . . . . वनम्)

उपगीयमान उद्‌गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥

(श्रीमद्‌भागवत, १०.२९.४४)

शरद्, ऋतु, पूर्णिमा तिथि और पूर्ण चन्द्रमाका उदय। राकेश—**राका-पूर्णिमातिथि पूर्णमासिं ईष्टे इति राकेशः,** अथवा **ईशावास्यमिदम् राकां ईष्टे इति राकेश।** चन्द्रमा आकाशमें पूर्णिमाका होनेसे उसके भीतर जो कलंक है वह एकदम स्पष्ट दिखता है। सौन्दर्यके साथ कलंकका अयुत-सिद्ध सम्बन्ध है। जबतक कलंक न लगे तबतक सुन्दरता क्या?

सह तेन यूना मिथ्यापवादवचसादभिमानसिद्धिः नन्द -नन्दन गोपीजनवल्लभ मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरके साथ अगर झूठ-मूठ भी कलंक लग जाय, मिथ्या कलंक भी लग जाय, तो भाई, लोगोंकी दृष्टिमें यह तो होगा कि उसके कुछ हैं; न हों अपनी नजरमें तो क्या, लोग तो समझेंगे कि यह भी उनकी कोई है।

व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः'—एणाङ्क माने कलंकी चन्द्रमा। जैसे कलंकी चन्द्रमा ताराओंसे घिरकर आकाशमें सुशोभित होता है और ताराएँ भी कोई पंक्तिबद्ध नहीं हैं—कोई कहीं, कोई कहीं, कोई कहीं—वैसे इन श्रीकृष्णकी शोभा देखो, धरतीपर आज वृन्दावन-चन्द्रका उदय हुआ है; ये श्यामसुन्दर, साँवरे-सलोने, यह यमुनाजीका मन्द-मन्थर प्रवाह, यह बालुकामय पुलिन, ये लता, ये वृक्ष, ये हरिण, ये मोर, ये चकोर, क्या शोभा है! गोपियोंसे जुड़कर इसकी शोभा कितनी बढ़ गयी है! यों तो चन्द्रमा स्वयं प्रकाशमान है और उसमें भी पूर्णिमाका चन्द्र तो और भी प्रकाशमान है, परन्तु कलंककी अभिव्यक्तिसे और ताराओंसे घिरे होनेपर उसकी जो शोभा प्रकट होती है, वैसी ही शोभा आज गोपियोंसे घिरे हुए इस वृन्दावन-चन्द्रकी हो रही है।

ईश्वरकी जैसी शोभा निर्गुण निराकाररूपमें, प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न होकरके, अन्तर्यामी हो करके, प्राज्ञ सर्वेश्वर सर्वज्ञके रूपमें जैसी शोभा रोज होती है उसकी अपेक्षा आज उसकी शोभा विलक्षण हुई। **व्यरोचत**—अर्थात् ईश्वरकी शोभा बढ़ गयी! गोपी न हो तो ईश्वरकी शोभा क्या? ये उपासनाके जो शास्त्र हैं न,

उनको दुनियादार लोग नहीं जानते हैं, और महात्मा लोग उनसे छिपाकर रखते हैं। शास्त्रमें वर्णन है कि चाहे कोई क्रीं-विद्या-सिद्ध हो, और चाहे ह्रीं-विद्यासिद्ध हो-चाहे कोई महाकाली,महालक्ष्मी-महासरस्वती सिद्ध हो, सिद्धिका फल होता है कि सिद्ध पुरुषके आसपास स्त्री और पुरुष मँडराते रहते हैं. हमने उपासनाशास्त्रका स्वाध्याय किया है, उसमें देवताकी सिद्धि, और मन्त्रकी सिद्धिका लक्षण दिया है—

कुरङ्गाक्षीं वृन्दं तमनुसरति प्रेमतरलम्।
वसस्त क्षोणी प्रतिरतिधरित्रीपरिवृतः॥
ऋतुकारागारं कलपति परं केलिकलया।
चिरं दूरं नित्यं स भवति भक्तः प्रतिजनिः॥

तो श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् जिनका नामस्मरण करके क्लीं-क्लीं-क्लींका जप करके, कोई सिद्ध पुरुष होता है।

यत्पादपंकजपरागनिसेवतृप्ताः योगप्रभावविधिनाऽखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति हृदयोऽपिनिलगामानातस्यक्षयाय वपुषा सुत एष बन्धः॥

वही श्रीकृष्ण जिनके मात्र स्मरणसे सिद्धि प्राप्त होती है वह श्रीकृष्ण स्वयं गोपियोंके बीचमें, वृत्तियोंके बीचमें चैतन्यके समान, अथवा इडा-पिङ्गला-सुषुम्नाके योगमें योगके समान, श्रुतियोंमें परमतात्त्विक ब्रह्मके समान, आज विशेष शोभाको प्राप्त हो रहे हैं। असलमें श्रीकृष्णमें ब्रह्मका साधारणीकरण हो गया। जिस ब्रह्मको वेदान्ती, अवाङ्मनसगोचर कहते थे, वही आज सर्वेन्द्रियगोचर हो रहा है; असलमें जो अवाङ्मनसगोचर है वही सर्वेन्द्रियगोचर है। इस बातके अनुभवमें केवल अज्ञान ही प्रतिबन्धक है, इसके सिवाय और कुछ भी प्रतिबन्धक नहीं है। जबतक नहीं पहचानते तबतक- *तद्दूरे* और पहचान लें तो— *तद्वन्तिके तदेजति*- अरे, वही नाच रहा है गोपियोंके साथ, **तन्नैजति**—कभी चुप खड़ा हो जाता है, कभी चिबुक हिलता है, कभी आँख खुलती है—**तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके**—कभी नाचता-नाचता दूर चला जाता है, कभी नाचता-नाचता पास आ जाता है, कभी **तदन्तरस्य सर्वस्य, गोपीजनस्य** कभी सब गोपीजनोंके बीचमें है; **तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**—कभी सबसे जाकर अलग खड़ा हो जाता है। त्रिभंगललितभावसे वह दृष्ट हो रहा है और उसके मुखारविन्दसे उदार हास प्रकट हो रहा है।

उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः—उदारहास माने उन्मुक्त हँसी। किसी-किसीको हँसी आती है तो वह रूमालसे मुँह ढक लेता है। अरे, ***नाचन लगे तब लाज कहाँ***

री। जब हँसने लगे तब लाज काहेकी? उदारहासका अर्थ है उन्मुक्त हँसी—खुलकर हँसना, जिसमें गाल भी लाल हो जाय, नाक भी चढ़ जाय, और दाँत भी दिखने लगें। हँसी कई प्रकारकी है—स्मित, हसित, प्रहसित, विहसित, अतिहसित, अट्टहास। जब श्रीकृष्ण हँसते हैं, तब उनके मुखसे जो हसित-छटा निकलती है, वह ऐसी जैसे—श्वेत-श्वेत चाँदनी फैल गयी हो। मुख चन्द्रमा है और जो हँसी निकलती है वह चाँदनी है। यह उदार है। हासको उद्‌दारहास क्यों कहा? तो देखो, हास जो है वह हँसनेवालीकी एक चेष्टा ही है; जैसे शक्ति शक्तिमानके अधीन रहती है वैसे हँसी हँसनेवालेके अधीन रहनी चाहिए। लेकिन यह हँसी ऐसी है कि जैसे—श्रीकृष्ण एकबार हँस दें और उसको सौ आदमियोंने देखा, तो हुआ क्या कि सबके हृदयमें श्रीकृष्ण आकर बैठ गये। यह हँसीकी उदारता देखो। हँसीकी उदारता क्या है कि वह हास हँसनेवालेका दान करता है। जैसे—कमल खिलता है वैसे—मुखारविन्द खिल गया और मुख पर एक उल्लास आया। और उसने बिना अधिकारी-अनधिकारीका विचार किये। ठाकुरजीको दान कर दिया, उधर एक गोपीको दे आया, इधर एक ग्वालेको दे आया, उधर एक चिड़ियाको दे आया, इधर एक गायको दे आया, एक बछड़ेको दे आया, देवीको दे आया, देवताको दे आया! यह हँसी क्या है—भगवान्‌के लोगोंको अपने मालिकका वितरण करती है! इसलिए हासको उदार बताया! उदार वह जो अपनी शक्तिसे अधिक, शक्तिसे बढ़करके, सबका सब उठाकरके दान कर दे। जिसके अन्दर देनेमें यह आ गया कि हम दे देंगे तो खायेंगे क्या—वह उदार नहीं, दरिद्र है। वैसे शुक्र-नीतिमें यह लिखा है कि अपने धनका पाँच विभाग करके तब दान करना चाहिए। वे पाँच भाग हैं—धर्मके लिए एक हिस्सा, यशके लिए दूसरा हिस्सा, धन बढ़े इसके लिए तीसरा हिस्सा, स्वजनोंके पालन-पोषणके लिए चौथा हिस्सा, और अपने लिए पाँचवाँ हिस्सा। परन्तु यह शुक्राचार्यकी नीति है भला, यह बृहस्पतिकी नीति नहीं है। यह वैश्य-गुरुकी नीति है, देवगुरुकी नीति नहीं है। यह वामिनीनीति है, त्रयविक्रमी नीति नहीं है। और भगवान्‌की नीति क्या है? कि प्रत्येकको दिया, और बोले—अरे लो, पूरा लो, लो पूरा! जितना देते हैं, उतना बढ़ता है। यह भगवान्‌की हँसी उदारदाता है, कृपणदाता नहीं है; कहती है—लो, हम अपने मालिकको ही देते हैं! इस उदारतासे हुआ यह कि सबके हृदयमें मालिक बैठ गया और जहाँ-जहाँ देखें, वहाँ-वहाँ हँसी। इस प्रकार हँसीकी वृद्धि हो गयी!

पानी बाढ़े नावमें घर मे बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही बड़नको काम॥

उदारहासद्विजकुन्ददीधिति —भगवान्‌का ध्यान करो, चलो भगवान्‌के राज्यमें। वह वृन्दावन-धाम! यहाँ संसारका क्लेश नहीं। अपने मनको उठा लो संसारसे, और भगवान्‌की लीलामें ले चलो! क्या हो रहा है वहाँ?

उपगीयमान उद्‌गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीम्—श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीमाला लटक रही है। श्रीकृष्णके आभूषणोंकी चर्चा श्रीमद्भागवतमें, विष्णुपुराणमें बहुत है, वह तो आप सब जानते ही हो। यह बैजयन्तीमाला जो इस समय श्रीकृष्ण पहने हैं वह श्रीराधारानीकी दी हुई है। कब दी? कि जब गोपियोंको बरदानमें दी हुई रात्रियाँ श्रीकृष्णके सामने आकर खड़ी हुईं, तब उन्होंने सोचा कि राधारानी मानेंगी नहीं; कहीं ऐसा न हो कि हम गोपियोंके साथ रास करें, और राधारानी रूठ जायँ, तब तो रासका मजा बिगड़ जायेगा; तो चलो पहले उनको मनायें पहले आया था कि—**योगमायाम् उपाश्रितः** अर्थात् **सर्वाश्रयोऽपि योगमायां उपाश्रितः** श्रीकृष्ण स्वयं सबके आश्रय होनेपर भी उन्होंने रासके लिए योगमाया (श्रीराधारानीका आश्रय लिया) तो वे जाकरके राधारानीके साथ बैठ गये। वह तो बैठी थीं—सिंहासनपर और श्यामसुन्दर गये तो नीचे बैठ गये—**उपाश्रितः**। नीचे बैठ गये, और राधारानीके पाँव छूने लगे। राधारानीने कहा—प्यारे, क्या करते हो? बोले—करते यह है कि आज मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ। तुम्हारा आश्रित हूँ। राधारानी बोलीं—अरे बाबा! सारी दुनिया तुम्हारी शरण ले, तुम हमारी शरणमें आओ। यह क्या बात? ***राधाचरणविलोडित रुचिर शिखन्दं हरिं वन्दे।*** प्यारीजी झुक गयीं। कृष्ण बोले—प्यारीजी, आज मैं गोपियोंके साथ रासलीला करना चाहता हूँ, वचनबद्ध हो गया हूँ, तो तुम्हारी प्रसन्नताके बिना तो यह रास होगा नहीं। बोलीं—प्यारे, तुम वचनबद्ध हो गये हो तो मैं भी वचनबद्ध हो गयी हूँ, क्योंकि तुम्हारी जीभ और हमारी जीभ एकमें मिली हुई है, हमारी जीभ तुम्हारी जीभ अलग-अलग थोड़े ही है। चलो चलें। कृष्णने कहा—अभी नहीं तुम जरा ठहरो। सभी गोपियाँ आयेंगी अलग-अलग। मैं उनको बुलाऊँगा, तो शायद उनका आपसमें मेल न हो। यदि मेल न हुआ और मैं रास करने लगूँ, तो उपद्रव मच जायेगा, कोई उधर रूठेगी, कोई इधर रोयेगी, कोई इधर चिल्लायेगी, कोई उधर खड़ी होगी। सब एक हो जायँ तब न रास प्रारम्भ होगा! तो सबका मन एक कैसे होगा, यह तुम कहीं आड़में बैठ कर देखना! उसी समय राधारानीने एक वैजयन्तीमाला उनके गले में डाल दी थी, जिससे गोपियोंके मनको वे जीतकर एक कर सकें। श्रीराधारानीने अपने

हाथसे बनाकरके वह वैजयन्तीमाला भगवान्‌को पहनायी थी, नहीं तो इस समय वैजयन्तीमालाका कोई प्रसंग नहीं था। यशोदा मैया तो ऐसी माला बनाकर पहनाती नहीं हैं, और गोपियाँ जो हैं वह तो दौड़करके जैसे थीं वैसे ही आयीं; तो हो न हो यह माला योगमायाके हाथोंकी बनी हुई ही थी। सम्पूर्ण योग-मायाओंकी आचार्या तो श्रीराधारानी ही हैं—सर्वलक्ष्मीमयी, सर्वकान्तिमयी, सर्वमोहनीपरा! तो उन्होंने यह वैजयन्तीमाला पहनायी।

और जब गोपियाँ आयीं, श्रीकृष्णने मना कर दिया; और जब गोपियाँ रो-धो करके एकमत हो गयीं, और भगवान् उनसे विहार करनेके लिए तत्पर हुए—**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**—तब श्रीकृष्णकी आत्मारूपमें विद्यमान राधारानी **आत्मा तु राधिका तस्य**—आकरके उनके साथ मिल गयीं। तो अब उन्हींकी पहनायी हुई वैजयन्तीमाला गलेमें लटक रही है—**मालां बिभ्रद् वैजयन्तीम्।**

अब आप देखो कि श्रीकृष्णके शिरपर मयूर-मकुट है, कानोंमें कुण्डल हैं, नासिकामें नकबेसर है, आँखोंमें प्रेम, ओठोंमें मुसकान, भौहोंमें अनुग्रह, ललाटपर गोरोचनका तिलक, और गलेमें वैजयन्तीकी माला और पीताम्बरधारी—एक बार दर्शन कर लो, कथा बादमें सुनो, एक बार अपने मन-मनमें देख लो। हम कथा आपको जो सुनाते हैं, वह इसलिए नहीं सुनाते कि हम जो कहें सो आप जाकर घरमें करना; बिलकुल कर्त्तव्यकी बात आपको नहीं बताते। यह तो जो कर्माचार्य लोग हैं, प्रचारक लोग हैं, उनका काम है। अपन तो आनन्द लेनेवाले लोग हैं। अपने आनन्दके लिए कथा करते हैं, तुम्हारे आनन्दके लिए कथा करते हैं, आनन्दके लिए कथा करते हैं। आपके अन्दर क्या-क्या गलती है और उसको आप कैसे छोड़ें, क्या उधेड़बुन करें, इसके लिए हमारी कथा नहीं है। अरे, सोचते-सोचते तुम्हारा दिमाग खराब हो जायेगा, और तुम्हारी गलतीका अन्त नहीं आवेगा! अरे, दोषोंका अन्त सृष्टिमें कभी हुआ है? तो उनको रहने दो अपनी जगहपर। छोड़ो दोषोंको और ले चलो अपने मनको भगवान्‌की लीलामें। हम ध्यानके लिए कि हमारा मन भगवान्‌में लगे, रसकी उत्पत्ति होवे, इसके लिए कथा सुनाते हैं। अस्तु।

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीम्—तो भगवान्‌के गलेमें एक माला है, और जब त्रिभङ्गललित भावसे लटकते हैं तो माला एक ओर हो जाती है; आप समझते हैं कि मालाकी क्या गति होगी? जब भगवान् बायीं ओर लटकते हैं तो लक्ष्मी और भगवान् दोनोंके गलेमें एक ही माला होती है। जो बायीं तरफ लटकते हैं तब वैजयन्तीमाला जो भगवान्‌के गलेमें लटकती है, घुटनेमें लटक जाती है। वक्षःस्थलपर जो स्वर्णिमरेखाके रूपमें लक्ष्मी हैं, वह भी उसी मालाके भीतर आ जाती हैं।

इसीसे मालाको माला बोलते हैं—**मां रमां लक्ष्मीं लाति इति माला**' मां शोभां, मां लक्ष्मीं, मां प्रभां, यह माला कैसी है—बोले वैजयन्ती है। और जब भगवान् बायीं ओर लटककर नृत्यकी मुद्रामें थोड़ा चिबुकको हिलाने लगते हैं और बाँसुरी बजाने लगते हैं, तो यह माला भी नृत्य करती है। यदि आप उस नाचती हुई मालाके हिलते हुए स्वरूपपर, तण्डित स्वरूपपर आप अपना मन जमा दें, तो आपका मन तन्मय हो जायेगा।

यह माला क्या है, अब आपको सुनाता हूँ। भागवतमें बारहवें स्कन्धके एकादश-अध्यायमें इसका नाम माला नहीं माया है—**स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।**

अरे मेरे बाप! यह माला है कि जादूका खेल है? जिसकी नाकमें इसकी गन्ध घुस जाय, बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, समाधि छोड़कर, भौंरा बनकर इसकी गन्ध सूँघनेके लिए साथ-साथ लगे रहते हैं। जिसको इस मालाका रस मिल जाय, जो उसके सौन्दर्यको देख ले, जिसको उसका स्पर्श मिल जाय, और जिसको उसका शब्द, उसकी ध्वनि मिल जाय, उसको भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाय!

अच्छाजी, इस वैजयन्तीमालाका वर्णन शास्त्रमें तीन प्रकारसे आता है। (१) एक तो त्रिगुणित सूत्र और उसमें त्रिगुणित पुष्पावली—और उनको इड़ा, पिंगला, सुषुम्नाकी जैसी ग्रन्थि होती है वैसे बिठाते हैं—त्रिगुणमयी। (२) एक दूसरे प्रकारकी होती है जो तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात और सरोरुह—पाँच प्रकारके फूलोंसे बनती है। (३) तीसरे प्रकारकी वह है जो मुक्ता (मोती), माणिक्य, मर्कत, इन्द्रनीलमणि और जरिख, इन पाँचों मणियोंसे बनती है। पाँच-पाँचसे बननेका अभिप्राय यह बताते हैं कि भगवान्‌के गलेमें कौन रह सकता है इसपर विचार करो। शान्तरति, दास्यरति, वात्सल्यरति, सख्यरति और शृंगाररति, ये पाँच स्थायीभाव हैं। मधुसूदन सरस्वतीकी दृष्टिसे तो ये रति हैं, ये भाव हैं और इनमें भक्तिरस एक है। भक्ति माने आनन्दाकार ज्ञान; निराकार-निर्विकार ज्ञान नहीं, निर्विशेषज्ञान नहीं, निर्धर्मकज्ञान नहीं, निर्बीज ज्ञान नहीं; आनन्दाकार जो ज्ञान है, उसको भक्ति बोलते हैं। ज्ञान क्यों बोलते हो? क्योंकि अज्ञानमें, जड़तामें, तो भक्ति होती नहीं, ज्ञान तो साथ-साथ रहेगा ही। अत: उल्लासात्मक जो ज्ञान है उसीको प्रेम और उसीको भक्ति बोलते हैं। मधुसूदन सरस्वती भक्तिको एकरस मानते हैं, और उसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँचोंको रति मानते हैं। रूपगोस्वामी पाँचोंको पृथक्-पृथक् रस मानते हैं; ये शान्तरस, दास्यरस,

सख्यरस, वात्सल्यरस, शृंगाररस, ये पाँचों स्वतन्त्र रस हैं, ऐसा रूप गोस्वामीका मत है।

यह वनमाला क्या है? बोले—ये जो तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात, सरोरुहके पँचरंगे फूल इसमें हैं वे इन्हीं पाँच प्रकारके रसोंके उपलक्षण हैं, और ये भगवान्‌के गलेमें लटकते रहते हैं। अर्थात् इन पाँचों रसोंके आश्रय, इन पाँचों रसोंके आलम्बन स्वयं भगवान् हैं। और यह जो पाँच रत्नोंवाली माला है उसमें पाँच रत्न क्या हैं? कि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचोंकी तन्मात्राएँ ही पाँच रत्न हैं। यह भी भगवान्‌के गलेमें सुशोभित है—इसका तात्पर्य है कि सारी सृष्टि भगवान्‌की चेरी है। देखो, भगवान्‌की पूजामें जो गन्ध दी जाती है, जैसे चन्दनकी गन्ध, धूपमें गन्ध वह पृथिवीका सार है; जो जल छोड़ते हैं, यह जलतत्त्वका सार भगवान्‌को अर्पण करते हैं; जो दीपक प्रज्वलित करते हैं, जो रंग-बिरंगे फूल चढ़ाते हैं, ये अग्निके सारका समर्पण है; जो भगवान्‌को हवा झलते हैं, पंखा झलते हैं, वह वायुके सारका समर्पण है; जो घण्टी बजाते हैं, स्तुति करते हैं, यह आकाशका सार है। इसका अर्थ है कि पंचभूतोंका समग्रसार भगवान्‌की सेवामें रखते हैं। भक्तलोग आँखसे भगवान्‌की ओर देखते हैं, त्वचासे भगवान्‌का स्पर्श करते हैं, कानसे भगवान्‌की स्तुति सुनते हैं, वंशीध्वनि सुननेका भाव करते हैं, मनसे ध्यान करते हैं, बुद्धिसे विचार करते हैं—माने अपना सर्वस्व भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण करते हैं। यह तो भगवान्‌के गलेमें माला है वह भक्तों द्वारा समर्पित भाव-सर्वस्व ही है। उस भाव-सर्वस्वको भगवान् वनमालामें मिलाकरके हृदयमें धारण करते हैं।

वैजयन्तीम्—वैजयन्तीका क्या अर्थ है? भगवान्‌ने पूछा—अरे भगतजी, तुम हारते भी हो कि हमेशा जीतते ही जीतते रहते हो? भक्त बोला—क्या करें महाराज, हमारे मनको कभी विषय-वासनाके संस्कार दबा देते हैं। हम जानते तो हैं कि भगवान् बड़े हैं, लेकिन दुनिया तो अपनी उलटी गतिसे ही चलती है। देखो, अजामिल सरीखा पण्डित विषय-वासनाके चक्करमें आ गया। रामानुजाचार्य महाराजने भगवान्‌से कहा कि महाराज, हमको तो हारनेकी कोई लाज नहीं है, हम तो जीव हैं और अनादिकालसे सृष्टिमें हैं। हमको तो कितनी बार पटके जानेकी और चित्त पड़नेकी बारम्बार आदत पड़ गयी है; हम विषयों और इन्द्रियोंके हाथ, इतनी बार हार चुके हैं कि एक बार और हार जायँ, तो हमारी क्या बदनामी होगी? अब बदनामी होगी तो आपकी क्योंकि अब हम तो आपकी शरणमें आ गये हैं। लोग यही तो कहेंगे न कि आपकी शरणमें आकर भी हार गया—क्या सेनाकी हारसे राजाकी हार नहीं होती?

त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ तेनुरूपा

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा कि हम हार जायेंगे इसका हमको डर नहीं है, पर चिन्ता हमारी यह है कि अपयश आपका होगा। लोग कहेंगे कि तुलसिया हार गया!

अब चिन्ता यह मोहि अपारा, अब अपजस जनु होहि तुम्हारा॥

तो भगवान्‌ने कहा कि देखो भगतजी! यह जो हमारे गलेमें वैजयन्तीमाला लटक रही है न, यह तुम्हारे लिए है; तुम इसको अपने मनमें बसा लो, फिर तुम कभी नहीं हारोगे! क्या बढ़िया पीले, नीले, हरे, लाल और सफेद, रङ्ग-बिरङ्गे फूलोंकी माला है यह! जरा अपनी नजर इनके ऊपर लगाओ।

अबतक इन्द्रियोंने तुमको हराया तो हराया, अब तुम इनसे नहीं हारोगे, जरा हमारी वैजयन्तीमाला पर अपना ध्यान आने दो। यह अपने भक्तोंकी विजय-वैजयन्ती है, माने यह भक्तोंका झण्डा फहरा रहा है!

'मालां बिभ्रद् वैजयन्तीम्'—अम्लान पुष्पोंवाली वैजयन्तीमाला जो है इसको त्रिगुणमयी वनमाला भी कहते हैं। भगवान्‌की यह नित्यमाला है, उसका कई तरहका वर्णन आता है। एक बार तो समुद्रमन्थनके समय जब धन्वन्तरि अमृत कलश लेकर निकले तो उन्होंने वैजयन्तीमाला भगवान्‌को अर्पित की। और एक बार जब लक्ष्मीजीने वरण किया,तो स्वयंवरमें उन्होंने वैजयन्तीमाला पहनायी। पर असलमें यह वैजयन्तीमाला रहती है भगवान्‌के वक्षःस्थल पर, यह तो इनको जब फिरसे ब्याह करना होता है तब थोड़ी देरके लिए अलग होती है। भगवान्‌को बस एक ही तो शौक है कि जब ब्याह पुराना पड़ जाता है तो फिरसे कर लेते हैं, अब महाराज आजकल तो स्त्रियाँ ऐसा स्वीकार नहीं करेंगी! पति-पत्नी लड़ते हुए मेरे पास आये—बिलकुल आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे थे। पतिने कहा—स्वामीजी, हमको श्राप दे दो, हम मर जायँ, हम जिन्दा नहीं रहना चाहते, घरवाली हमको बहुत परेशान करती है। तो मैंने समझाया-बुझाया, दोनोंमें मेल-मिलाप करवाया। आखिर शान्ति हुई। तो मैंने कहा कि तुम तो हमारी बेटी सरीखी हो, आओ, हम तुम्हारा फिरसे इनसे ब्याह कर दें! बोली—ना-ना-ना; महाराज, अगर फिरसे ब्याह करना होगा तो हम इनके साथ हरगिज नहीं करेंगे। परन्तु ये जो लक्ष्मीजी हैं न, वे हर बार भगवान्‌से ही ब्याह करती हैं। देखो, हर सतयुगमें समुद्र-मन्थन होता है। लक्ष्मी दूसरी नहीं होती, एक ही होती है। भगवान् क्या करते हैं कि समुद्र-मन्थनके समय लक्ष्मीसे कहते हैं कि अब तुम चलो समुद्रमें, घण्टे आध-घण्टेके लिए। जब समुद्र-मन्थन होता है तो समुद्रमें-से फिर वही लक्ष्मी समुद्रकी नयी

बेटी बन करके, सुकुमारी युवती कन्या बनकर निकलती हैं। तो भगवान् कहते हैं- फिरसे ब्याह रचा जायेगा। अब तुम सबके सामने बताओ कि उसी पुरातन पुरुषको पसन्द करती हो कि नहीं? बोलीं—बाबा! करती हैं तो फिरसे लक्ष्मीजी यह वैजयन्तीमाला भगवान्‌को पहनाती हैं। तो यह वैजयन्तीमाला पुरानी रहती है। वह कौस्तुभमणि भी जो उसको भी समुद्र-मन्थनके समय भगवान् समुद्रमें डाल देते हैं। वही फिर जब मन्थनसे नयी होकर निकलती है तो उसको नयेकी तरह धारण करते हैं। कौस्तुभमणि अनित्य नहीं है, वैजयन्तीमाला अनित्य नहीं है, लक्ष्मी अनित्य नहीं है, वह तो है वही-की-वही, लेकिन ये नयी-नयी प्रक्रियासे इनको धारण करते हैं—'**नूतनं नूतनं पदे पदे**'—पद-पदमें नवीनता उत्पन्न करनेके लिए, स्वादु-स्वादु बनानेके लिए, ऐसा करते हैं।

'**मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं**'—श्रीकृष्णके गलेमें वैजयन्तीमाला है, शिर पर मोर मुकुट है। आप जानते ही हैं कि यह मयूर पिच्छ राधारानीके मोरका है। कानमें मकराकृति कुण्डल हैं तो वे कामकी ध्वजा हैं। श्रीमद्भागवतमें साफ ही वर्णन है कि—'**बिभर्ति साङ्ख्यं योगं च दिव्यमकरकुण्डले**' साङ्ख्य और योग कुण्डल हैं। इसका मतलब यह है कि भगवान्‌के दो कनभरवा लगे हुए हैं, उनके कानमें सिफारिश करते हैं। साङ्ख्य कहता है, देखो! यह विवेकी है, इसको आप अपना लो। उधर योग बोलता है—देखो महाराज इसने प्राणायाम-ध्यान-धारणा-समाधि लगायी है, अब इसको अपना लो। जैसे बड़े लोगोंके पास कनभरवा लोग रहते है, कान भरते रहते हैं, सलाह देते रहते हैं, ऐसे भगवान्‌के पास दो कनभरवा हैं—एक ओर साङ्ख्य और एक ओर योग। तो भगवान् जब व्रजमें आये तो उन दोनोंसे कहा कि तुम थोड़े दिनोंके लिए वैकुण्ठमें चले जाओ। कहा—हमारे कानमें यहाँ मकराकृति कुण्डल रहेगा। मकरकुण्डलका मतलब है काम। अब काम ही कान भरता है—इनको आपकी प्राप्तिकी बड़ी कामना है, इसके मनमें आपकी प्राप्तिकी बड़ी लालसा है, बड़ी अभिलाषा है,यह आपका प्रेमी है, ये मकरकुण्डल जिसकी सिफारिश कर देंगे वह भगवान्‌को पावेगा। अब वासनावानको भगवान्‌की प्राप्ति होगी, जिसके मनमें भगवद्वासना होगी, उसको भगवान् मिलेंगे। बड़ी विलक्षण रीति है!

भगवान्‌के आभूषण बड़े विलक्षण हैं। भगवान्‌के गलेमें जो कौस्तुभमणि है—वह जीव है। **कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः**। न उसमें सूत है, न उसमें छेद है, बिलकुल पद्मराग अनुरागका रंग है उसका और गलेमें अपने आप ही चिपका रहता है। भगवान्‌के मनमें हुआ कि एक गिलास पानी पियें, तो

कौस्तुभमणि उतरकर गलेसे गया और एक गिलास पानी लेकर आया; और भगवान्‌ने पिया और पीनेके बाद फिर उनके गलेसे चिपक गया। वह चिन्मय होता है, सायुज्यप्राप्त सेवक जो है! वह कण्ठसे लगा रहता है। लक्ष्मी तो नीचे रहती हैं, कभी छातीपर कभी पाँवमें—**श्रीवत्सपदाम्बुजरजस्व**—और भक्त जीव कहाँ रहता है? बोले—गलेमें रहता है। भगवान्‌के आभूषणके बारेमें श्रीमद्भागवतमें, विष्णुपुराणमें, जहाँ मूर्तिरहस्यका प्रसङ्ग है, वहाँ इनका प्रसङ्ग है।

'वैजयन्तीं मालां बिभ्रद्'—माला शब्दमें 'मा' माने प्रभा—ब्रह्मविषयक, ईश्वर विषयक, रसविषयक, जीवविषयक, जो यथार्थज्ञान है वही 'मा' है, है; और 'ला' माने लाति, लानेवाली। उस ज्ञानका दान करनेवाली जो है, उसको खींचनेवाली जो है वह है माला। बड़े-बड़े ज्ञानियोंका ज्ञान खींच लें और बड़े-बड़े ज्ञानियोंको ज्ञान देकर बिदा कर दे कि चलो महाराज! ऐसी यह माला, अपूर्व शोभा, मनको मोहनेवाली! अब वही माला धारण करके गोपियोंके बीचमें भगवान् कर क्या रहे हैं? बोले-**उपगीयमान उद्‌गायन् वनिताशतयूथपः**। कभी गाती हुई झुण्ड-की-झुण्ड गोपियाँ कृष्णके पास आ जाती हैं। आपको सुनाया था कि तीन पद्धतियाँ रासमें हैं—एक तो है कि एक झुण्डमें एक कृष्ण और दूसरी पद्धति है कि दो गोपीके बीचमें एक कृष्ण और तीसरी पद्धति है कि जितनी गोपी उतने कृष्ण—

> **तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः, प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकृतं स्मियाः।**
> **कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषिताम्॥**

अभी झुण्डमें हैं और अभी—**वनिताशतयूथपः उपगीयमानः**, गोपियाँ जाती हुई कृष्णसे बिलकुल आकर सट जाती हैं! ***'उपमाने सान्त्येन गीयमानः उपगीयमानः'*** जैसे उपनिषद् परमात्माका गान करती हैं, तो आप जानते हैं कहाँसे गान करती हैं? वह 'उप' से गान करती हैं। माने स्वयं भगवान्‌का गान नहीं करती हैं, उनके पास बैठकर गान करती हैं—**उपनिषीदति है** ना! षद् धातु, विशरण गति, अवसादनके अर्थमें है। तो उपनिषद्‌ने अविद्याका अवसादन कर दिया, भगवान्‌को लखा दिया, दुःखका आत्यन्तिक नाश कर दिया, परन्तु भगवान्‌से एक होकर वहीं भगवान्‌के पास बैठकर।

उपनिषद्‌में है—***न विद्मो न विजानीमः। यस्यामतं तस्य मतं। अविज्ञातं विजानतां। न तत्र वाग्गच्छति। यतो वाचो निवर्तन्ते*** उपनषिद् ब्रह्मका वर्णन कैसे करती हैं? जैसे एक आदमीने तख्तेपर घड़ा रख दिया और बच्चेको कहा—घड़ेको

वहाँसे उठाओ और उसमें पानी लाकर यहाँ रख दो। अब घड़ेको बच्चा ले गया और यहाँ लाकर रख दिया। घड़ेको बच्चा खुद पहचान गया। अब बापने कहा— बच्चा जरा तख्तेको खींचकर ले आओ। बच्चेने कहा—पिताजी, तख्ता क्या होता है? बोले—भाई! जिसपर घड़ा रखा था वही तख्ता है! और अब जहाँ घड़ा नहीं है, वह तख्ता है। अर्थात्-घड़ा, घड़ेका आधार और घड़ेका अभाव जिसपर है वह तख्ता है। तो घटभावाभावोपलक्षित कौन हुआ? तख्ता? घड़ा भी तख्ते पर और घड़ेका आधार भी तख्ते पर। इसको बोलते हैं उपलक्षित। अब बच्चेने पहचान लिया कि घड़ा जिसपर रखा था उसका नाम तख्ता और घड़ा जिसपरसे हटा लिया उसका नाम तख्ता। तो उपनिषद् परब्रह्म परमात्माकी पहचान कैसे बताती है? कि उपलक्षणसे बताती है। ***प्रपंचभावाभावोपलक्षिततत्त्वं ब्रह्मत्वम्। अथवा परिच्छेदसामान्यात्यन्ताभावोपलक्षिततत्त्वं ब्रह्मत्वम्।*** अर्थात् प्रपंचके भाव और अभावका जो अधिष्ठान है वह ब्रह्म है। अब गोपियाँ कृष्णका गान कैसे करती है? **उपगीयमानः**। उपनिषद्में पूर्वाभावोपलक्षितः अपराभावोपलक्षित, अंतराभावोपलक्षित, बाह्याभावोपलक्षित कौन है? ब्रह्म है—**अपूर्वं अनपरं अनन्तरं, अबाह्यम्**। और यहाँ ब्रह्म है '**उपगीयमानः**'—गीयमानोपलक्षित। गोपियाँ जिसका गान कर रही हैं सो कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण क्या कर रहे हैं? अभी देखो कृष्णकी पहचान आती है। गोपियाँ जिसका गान करती हैं सो कृष्ण-'**कृष्णः शरच्चन्द्रकौमुदीं-कुसुमाकरं जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनामैव केवलम्।**'

विष्णुपुराणमें जहाँ रासका प्रसङ्ग आया है, ऐसा प्रसङ्ग है कि श्रीकृष्ण कहते हैं—गोपियो! देखो कैसी शरद् ऋतु है, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु चल रही है और चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक रही है; कैसे वृक्ष हैं, कैसी लता हैं, कैसी यमुना है, क्या मोर हैं, क्या चकोर हैं, क्या उत्तेजक सामग्री है! ***चन्द्रमसं शरद कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीं कुसुमाकरम्,*** देखो, शरद् ऋतुमें वसन्त आ गया! क्या फूलोंका आकर्षक वन है! देखो-देखो गोपियो। और कृष्ण वनका वर्णन करते हैं। उद्गायन। कृष्ण तो सबका गान करते हैं, और गोपी क्या बोलती है कि —***जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनामैव केवलम्*** जब कृष्ण बड़ा भारी लम्बा गाना गा लेते हैं, एक पद जब कृष्णका पूरा होता है, तो टेक देती हैं गोपियाँ— कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण। गोपियाँ केवल श्रीकृष्णका गान करती हैं, और श्रीकृष्ण उपगीयमान! **उद्गायन्**— गोपियाँ गाती-गाती कृष्णसे चिपक गयीं, और श्रीकृष्ण गाते-गाते गोपियोंके बीचमें घुस गये।

बोले—कितने कृष्ण होंगे अन्दाजसे? **वनिताशतयूथपः**' वनिताके सौ-सौ

यूथ हैं- '**वनिताशतकोटिभिराकुलिता**'। वनिता किसको बोलते हैं? यहाँ वनिता शब्दका प्रयोग क्या जाँचके किया गया है—

सर्वं परित्यज्य श्रीकृष्णार्थं वनं इता इति वनिता।

सबका परित्याग करके जो श्रीकृष्णके लिए वनमें आयीं, सो वनिता। वनिता माने ये लाल कपड़ा पहननेवाले संन्यासी, वनिता, परमहंस! भाई, ये लाल साड़ी कहाँसे आयी? यह लाल कपड़ा कहँसे आया? तो कहा—***जनितात्यर्थानुरागायाम्***—भगवान्‌के प्रति जो अत्यन्त अनुराग हृदयमें है उस अनुरागकी लाली है यह! **वनिताजनितात्यर्थानुरागायां च योषितिः**। और ***वनं इता इति वनिता।***

अब यहाँ सौ-सौ यूथ हैं गोपियोंके ऐसा कहते हैं कि करोड़-करोड़ गोपीके सौ यूथ हैं—ऐसा कहते हैं? सौ करोड़ गोपीका वर्णन तन्त्रशास्त्रमें आता है। अब ये जो लोग नहीं समझते हैं वे पूछेंगे कि इतनी गोपी भला वृन्दावनमें कहाँ? अरे, कहाँ क्या धरतीमें? अरे, यह तो ध्यानकी बात है, सूक्ष्म, दिव्यजगत्‌की बात है। ये महाराज सौ करोड़ ब्रह्माण्ड वृन्दावनके एक अल्पप्रदेशमें—यह वृन्दावन-भूमिकी महिमा है। तो अब यहाँ सौ झुण्ड हैं गोपियोंके और उनमें एक-एकके नेता श्रीकृष्ण हैं। तो सौ कृष्ण हो गये—

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्' आज ये श्रीकृष्ण वृन्दावन-भूषण हो गये! मण्डयन्=अलंकार; वृन्दावनालंकार, वृन्दावनभूषण, वृन्दावनरत्न, वृन्दावनचन्द्र! भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ रास-विलास कर रहे हैं, आज अब आप इस रास-विलासके ध्यानका ही आनन्द लेते रहिये।

रास-स्थलीकी शोभा

(नद्याः पुलिनमाविय.................तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना)

उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥
नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना॥

(श्रीमद्भागवत, १०.२९.४४, ४५)

तो चलो सहेलियो! रँगो वृन्दावनके रंग। हे सहेली, अब वृन्दावनके रंगमें रँग जाओ! सजनी, अब उस वृन्दावनके देशमें चलो जो आनन्दका देश है, दिव्य प्रेमका देश है। जैसे योगी लोग कालका दो भेद कर देते हैं एक विक्षेपकाल—एक समाधिकाल; अब कालमें भला भेद कहाँसे आया? काल तो काल ही है—योगियोंने अपने साधना-परिपाकरूप जो समाधि है उसके कालको समाधिकाल कहा है और बाकी सारा काल विक्षेपकाल है—उसी प्रकार उपासकलोग अन्तर्देशको जिसमें प्रियतमकी उपलब्धि होती है दिव्य-देश, वैकुण्ठ-धाम, गोलोक-धाम, साकेत-धाम, कैलाश-धाम इत्यादि बोलते हैं। सबसे सुन्दर देश कौन-सा है? जहाँ अपने प्रियतमकी उपलब्धि हो। सबसे बढ़िया देश कौन-सा? जहाँ अपना प्यारा मिले।प्यारा न मिले, तो स्वर्ग भी नरक है। चित्त एकाग्र न हो, तो बढ़िया-से-बढिया वस्त भी विषके समान है। तो आओ, अपने मनको उठायें, मनको मनमें-से निकालें, मनको विक्षेपमें-से निकाल लें, मनको विषयमें-से निकाल लें।

सन् १९३४-३५की बात है। प्रयागराजके पास गंगापार झूसी है। वहाँ मैं मौन रहता था, माला फेरता था; बाल बढ़े हुए थे, जूता नहीं पहनता था, और खादीकी चद्दर ओढ़ता था। बोलता तो केवल तब जब श्रीमद्भागवतकी कथा करनी होती थी। बस, एक घण्टा बोलता था। वहाँ एक महात्मा आये। उनके बाल बड़े-बड़े थे, चन्दन लगाते थे, गौड़ेश्वर-सम्प्रदायके थे और स्त्री-समुचित वेश-भूषामें रहते थे। श्रीवल्लभाचार्यजीने लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्णको स्त्रियाँ बहुत प्यारी हैं। वैसे कई पुरुष भी भगवान्का प्रेम प्राप्त करनेके लिए अपनेको स्त्री बनाकरके उनके सामने जाते हैं, नारायण, तो वे भी स्त्री वेश-भूषामें रहते थे। जब

मैं उनके सामने गोपीगीतकी कथा करता तो उनके मनसे ही मालूम पड़ता था कि वह मुझको बड़ा भावुक भक्त समझते हैं। बात तो करता नहीं था और वेदान्तकी कथा भी नहीं करता था। वैसे वहाँ भी किसी प्रसंगके सन्दर्भमें वेदान्तकी कथा एकाध-दो दिन चली, तो हमारे एक मित्र श्रीसुदर्शन सिंह चक्रने पहले तो हमसे लड़ाई की, और उसके बाद लड़ाई करके बिलकुल नंगे भाग गये; रातभर कहीं ठिठुरते रहे, छटपटाते रहे, नालेमें पड़े रहे, फिर दूसरे दिन आये। तो वे गौड़ेश्वर-सम्प्रदायके जो महात्मा थे उन्होंने हमको दो श्लोक लिखकर दिये; आपको उसका भाव सुनाता हूँ—

अलं विषयवार्तया नरककोटिवीभत्सया—बस-बस, अब विषयोंकी चर्चा मत करो; यह तो करोड़-करोड़ नरकसे भी गन्दी चीज है। बोले—अच्छा चलो, श्रुति पढ़ें। तो कहा—**वृथा श्रुतिकथाश्रमः** वह तो बहुत मेहनतका काम है महाराज और वह हमारे लिए व्यर्थ है क्योंकि कैवल्यमोक्ष उसका प्रयोजन है और वह हमें चाहिए नहीं, हमको तो अकेलेपनसे डर लगता है! ये तो शुकदेव, वामदेव आदि विरक्तोंका काम है। तब तुमको क्या चाहिए? बोले—

परं तु मम राधिकापदे रसे मनो रज्जतु।

हमको तो यह चाहिए कि श्रीराधारानीके चरणारविन्दके मकरन्द-रसमें हमारा मन डूब जाय।

एक श्लोक तो यही था। पर इससे भी विलक्षण एक दूसरा था। आप वेदान्तमें सुनते ही होंगे कि वेदान्ती लोग आत्मचिन्तन करते हैं,***आत्मानं चिन्तयामि।*** पर भक्तलोग क्या चिन्तन करते हैं? दूसरे श्लोकमें था—

दुकूलं बिभ्रणां अथ कुचयुगे कञ्चुकपटं
प्रसादे स्वामिन्याः स्वकरतलवस्तं प्रणयतः॥

छातीपर कंचुकी, राधारानी अपने हाथसे प्रसाद दे रही हैं, बड़े प्रेमसे, और हम उसको ले रहे हैं, ***स्थितां नित्यं पार्श्वे***—और हम सुकुमारी कुमारीके रूपमें हमेशा श्रीराधारानीके साथ रहते हैं, और वे बड़े प्रेमसे हमारे सिरपर हाथ रख देती हैं, हमको प्रसाद देती हैं, हमारी ओर देखकर हँसती हैं, हमसे बड़े प्रेमसे बोलती हैं, प्यारेके पास भेज देती हैं कि जाओ तुम उनको पंखा झलकर आओ, अथवा उनको पान दे आओ। वे हमको सेवा देती हैं, हमारी सारी चतुराई श्रीकृष्णकी सेवामें लग जाती है—

किशोरीमात्मानं किमपि सुकुमारी नु कलये।

हम अपनेको सुकुमारी किशोरीके रूपमें चिन्तन करते हैं। यह बात आपको क्यों सुनायी कि संसारके जो विषय हैं वे तो गन्दी चीज हैं, इनका तो ध्यान ही नहीं करना है। और अपनेको सुकुमारी, किशोरीके रूपमें, ठाकुरजीके सामने उपस्थित कर लो। ठाकुरजीका प्रेम बड़ा विलक्षण है।

हमको ऐसा लगता है कि जगत्के मूलमें जो तत्त्व है वह नाचनेवाला जरूर होना चाहिए। कारण उपादानमें नृत्य न होता, तो कार्यमें नृत्य कहाँसे आता? हमने देखा कि दुनियामें ऐसी कोई चीज नहीं है, जो नाचती नहीं है, बल्कि वह मण्डलाकार नृत्य करती है। पृथिवी अपनी धुरीमें और सूर्यके चारों ओर घूमती है। माने अपने मण्डलमें स्वयं घूमती है और समूचे मण्डलमें घूमकर सूर्यकी परिक्रमा भी कर लेती है। चन्द्रमा नाच रहा है, सूर्य नाच रहा है, नारायण! अग्नि प्रज्वलित होती है तो उसकी लपटें कैसा नृत्य करती हैं! समुद्रकी लहरें, गंगाकी लहरें कैसा नृत्य करती हैं। वायुके झकोरे कैसे नाचते हैं। आकाशमें क्या प्रकाश फैलता है झिलमिल, झिलमिल! हमारी आँख कैसी नाचती हैं; हमारा मन कैसा नाचता है, संसार उसी नर्तकका नृत्य है, यह अविद्या नदी भी परब्रह्म परमात्माके सकाशसे नृत्य कर रही है। स्वयं परमात्मा नृत्य कर रहा है—

रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी॥

आपकी आँख कभी नाचती हैं, कभी भौंहें नाचती हैं? अब एक आदमीने पूछा कि आखिर ये चैतन्य जड़ कैसे मालूम पड़ते हैं? मैंने कहा कि अच्छा, एक स्वस्थ आदमी है जिसके दोनों पाँव ठीक-ठाक हैं, और वह लँगड़ाकर चलने लगे तो क्या कहोगे ना कि मस्ती कर रहा है! यही हुई न मस्ती कि पाँव ठीक हो और लँगड़ाकर चले या कि आँख ठीक हो और काना बनकर देखे! तो मैंने कहा कि यह ब्रह्म भी मस्ती कर रहा है! यह संसार ब्रह्मकी मस्ती है, यह ब्रह्मकी स्फुरणा है, यह ब्रह्मका नृत्य है, यह ब्रह्मकी मौज है। मौज माने तरंग; जैसे समुद्रमें तरंग उठती हैं। यह ब्रह्मकी मस्ती है कि वह नाना रूप धारण करके, नाना आकार धारण करके, नाना विकार-प्रकार-संस्कार अपने-आपमें दिखा रहा है। नारायण, संसारमें दुःख नामकी वस्तु कहीं नहीं है—न जीने-मरनेमें, न मिलने-बिछुड़नेमें और न ज्ञान-अज्ञानमें—परब्रह्म परमात्मा अव्यक्त है और उस अव्यक्तकी अभिव्यक्ति यह संसार है। यह परमात्माका रास है।

यह रासलीला जो है वह परमात्माकी अभिव्यक्ति है। मैंने एक घरमें देखा—माफ करना देहातकी बात है—एक लड़की थी। उसको ब्याहसे पहले भी देखा था और बादमें भी। जब उसका ब्याह हो गया और ससुरालसे आयी, बड़े घरमें ब्याह

हुआ, तो गाँवमें, घुँघरूदार पायजेब पहनकर आँगनमें वह झमाझम चले कि सारा आँगन झंकृत-हो जाय। पहले जब वह चलती थी तो उसको ठुमुककर पाँव रखनेका अभ्यास नहीं था। लेकिन अब जब पायजेब पहनकर आयी तब ठुमुक-ठुमुककर चले, झमक-झमककर चले। यह ठुमुककर चलना जैसे उसके आनन्दकी अभिव्यक्ति थी, वैसे यह जो ब्रह्म है न, तो यह जब पायजेब पहन लेता है, नूपुर पहन लेता है तब वह नाचने लगता है। नूपुरवाले ब्रह्मका नृत्य है रास—*रसो वै सः।*

अब आप देखो—दो गोपियोंके मण्डल बन गये—**वनिताशतयूथपः**। आप थोड़ी देरके लिए बम्बईको भूल जाओ और फिर मनमें देखो—वृन्दावनकी वह भूमि, वृन्दावन जहाँ पृथिवीने अपना हृदय प्रकटकर दिया है। पृथिवीके बुलानेसे भगवान् आये हैं, इसलिए पृथिवी भगवान्‌का स्पर्श चाहती है। वृन्दावनके रूपमें इस पृथिवीने अपना हृदय प्रकट किया, और उसके लिए भगवान् वहाँ अपने चरण रखकरके चल रहे हैं। कभी आगे बढ़ते हैं, कभी पीछे हटते हैं—**उपगीयमान उद्‌गायन्**—गोपियाँ गाती हुई कभी आ जाती हैं कृष्णके पास—जैसे उपनिषदें पहले धर्मका वर्णन करें, फिर उपासनाका, फिर योगका और फिर साक्षात् परब्रह्मका ही वर्णन करने लग जायँ, तो जैसे श्रुतियाँ क्रम-क्रमसे पादविन्यास करती हुई चलती हैं, प्रथमपादका वर्णन, द्वितीयपादका वर्णन, तृतीयपादका वर्णन, चतुर्थपादका वर्णन करती हैं, वैसे गोपियाँ पाद-विन्यास करती हुई—कृष्ण-कृष्ण-कृष्णका गान करती हुई कभी श्रीकृष्णके पास पहुँच जाती हैं और कभी दूर पहुँच जाती हैं। जब वे पीछे हटती हैं तब श्रीकृष्ण उनकी ओर बढ़ते हैं, और जब वे बढ़ती हैं कृष्णकी ओर तो कृष्ण पीछे हटते हैं। यह देखो, इसमें प्रेम सम्पूर्ण हो गया। कृष्णकी ओर बढ़ना स्नेह है और पीछे हटना मान है। लेकिन जब एक मान करे तो दूसरा आगे बढ़े, और जब दूसरा मान करे तो पहला आगे बढ़े। और—**उपगीयमानः** गोपी गाती हुई कृष्णके पास आती हैं। जब वे पीछे हटती हैं, तब श्रीकृष्ण उनके पास आते हैं, जब वे कृष्णके पास बढ़ती हैं तो कृष्ण पीछे हटते हैं। जितना-जितना पकड़नेकी कोशिश करें उतना-उतना पीछे और जितना-जितना हटनेकी कोशिश करें उतना आगे—ये हटना और सटना यह शृंगाररसकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। हट-हटकर सटना, सट-सटकर हटना। ज्ञानमें हटना और सटना नहीं है। लेकिन यह प्रेम है, इसको रास बोलते हैं। वृन्दावनियोंकी भाषामें इसका एक सांकेतिक नाम है। नेमप्रेम-प्रेमनेम। प्रेमका मतलब है प्रीतमके आगे बढ़ना और नेमका अर्थ है पीछे हटना। आगे बढ़ो, पीछे हटो जैसे झूला झूलते हैं न, जैसे

हिंडोलेका सुख होता है वैसे हृदयमें प्रेम-हिंडोला डालकर, प्रेमका झूला डालकरके, कभी पीछे, कभी आगे।

वनिताशतयूथपः— सौ-सौ वनिता, सौ-सौ गोपी। वैसे गोपी भी बड़ी विलक्षण-विलक्षण हैं। एक गोपी है जिसका ध्यान श्यामसुन्दरकी बाँसुरीपर है; एक गोपी ऐसी है जो देखती है एकटक, एक गोपी है जो मौका मिले तो चिपक जाय; एक गोपी है कि चाट जाय; एक गोपी है जो मौका मिले तो चूम ले; एक गोपी है जो मौका मिले तो हाथ पकड़ ले; एक गोपी है जो पाँव-से-पाँव मिला ले; एक गोपी है कि वह मनमें देखती है। नारायण! एक गोपी है जो साँवरेपनको ही निहारती है; एक गोपी है जो वनमालाको ही निहारती है। माने जितनी अपनी वृत्ति हैं और जितनी श्रीकृष्णकी विशेषताएँ हैं—एक-एकको ग्रहण करके और एक-एक रूपमें ग्रहण करके भगवान्‌का उपगान करती हैं। गाना माने प्रेमकी बोली। प्रेमकी बोलीमें बड़ी मिठास होती है, बड़ा सुरीलापन होता है। आपलोगोंको तो मालूम पड़ता होगा कि आपकी बोली कितनी मीठी है। लेकिन जब कभी बच्चेको पुकारते हैं तो ख्याल करना, जब नौकरको पुकारते हैं तब ख्याल करना, जब लड़ने लगते हैं तब देखना! लगता है कि हमारी आवाज बहुत मीटी है, पर अपनी आवाज मीठी नहीं होती है, मीठी आवाज उसकी होती है और वह होती है जो बोली जाती है, उसके प्रति जिससे प्रेम होता है। पहले भारतमें कोई प्रिय अतिथि आता था तो मधुपर्क उसको देते थे। तो भगवान्‌के सामने अपने हृदयका मधु उपस्थित करो!

मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन् मण्डयन् वनम्—श्यामसुन्दरके गलेमें वैजयन्ती माला! यह महाराज माला क्या करती है कि श्रीकृष्ण बायीं तरफ लटकें तो वह बायीं तरफ और कृष्ण दायीं तरफ तो वह भी दायीं तरफ लटक जाती है। बायीं तरफ यह लक्ष्मीको बिलकुल ढक देती है। बोले—भाई, तुम इधर क्यों लटकते हो? तुम छातीपर दोनों तरफ क्यों रहती हो? माला कहती है—बाबा, हम अपने मनसे नहीं लटकते, जिधर हमारे प्यारे लटकते हैं उधर हम लटकते हैं, हम तो उनकी छायामें रहना चाहते हैं। माला शब्दके अनेक अर्थोंकी चर्चा हम कर चुके हैं।

व्यचरन् मण्डयन् वनम्—अभी वनकी चर्चा सुनाते हैं, क्योंकि पहले यह चर्चा की कि यह जो दिव्य देश है न, यह भक्तिमें प्रधान वस्तु है। आपके घरमें कोई आये नारायण, और पहलेसे झाड़ू भी न लगाया हो तो क्या आप अपने प्यारेका सत्कार कर रहे हैं? स्वच्छ वस्त्र भी न बिछाया हुआ हो, अपना कपड़ा भी

साफ किया हुआ न हो, यह कैसा सत्कार? जब अपने प्रिय अतिथि आते हैं तो उनके लिए घरको स्वच्छ करते हैं, कपड़ेको स्वच्छ करते हैं; ऐसे भगवान्‌को अपने हृदयमें बुलाना हो, तो हृदयको भी स्वच्छ करना होता है। इसमें भीड़ मत रखो, भगवान्‌क मिलनेका स्थान मुसाफिरखाना नहीं है जहाँ १० आदमी आये और १० आदमी गये। उसके लिए एकान्त कमरा चाहिए; और स्वच्छ चाहिए; हृदयमें वही-वही रहे, दूसरा न रहे।

अब वृन्दावनकी बात आपको सुनाते हैं। आज श्रीकृष्ण वृन्दावनमें विचरण कर रहे हैं। आप जानते हैं कि वृन्दावनका जो स्वरूप है वह बड़ा विलक्षण है। स्थूल-सूक्ष्म कारणसे परे जो ब्रह्मतत्त्व है उसका ज्ञान होनेपर फिर ब्रह्मसे भिन्न कुछ अनुभवमें नहीं आता। उसमें यह जो स्थूल जड़सृष्टि पञ्चभूतात्मक मालूम पड़ती है यह विराट् ब्रह्मचैतन्यसे पृथक् नहीं रहती; जो सूक्ष्म सृष्टि है वह हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मचैतन्यसे पृथक् नहीं रहती और जो कारणसृष्टि है वह ईश्वर चैतन्यसे पृथक् नहीं रहती। और विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर—ये ब्रह्मके ही अलग-अलग नाम हैं। पहले ब्रह्म, फिर ब्रह्मका घनीभाव ईश्वर, फिर ईश्वरका घनीभाव हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भका घनीभाव श्रीकृष्ण। बात क्या हुई कि सृष्टि जैसे ज्ञानके पूर्व थी रहती तो वैसी ही है ज्ञानके बाद भी परन्तु फिर सब चिन्मय हो जाती है। कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म के वज्र-भेद समाप्त हो जाते हैं, सब चैतन्यका विलास हो जाता है। ब्रह्म-ज्ञान होनेके बाद ये व्यष्टि जगत्‌के अभिमानी, विश्व, तैजस और प्राज्ञ और समष्टि जगत्‌के विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर सब ब्रह्मसे अभिन्न हो गये। परन्तु चिन्मयरूपमें भी स्थूलता और कारणताकी प्रकृति तो ज्यों-की-त्यों रहती है। सूक्ष्मता तो ब्रह्मचैतन्यका किञ्चित् घनीभाव कारणमें है, विशेष घनीभाव सूक्ष्ममें और अत्यन्त घनीभाव स्थूलमें है : निर्गुण ब्रह्म, निराकार ईश्वर, हिरण्यगर्भ और अपने परमप्रिय रूपमें श्रीकृष्ण। ब्रह्मका सबसे घनीभूत रूप श्रीकृष्ण हैं। नेति, नेति द्वारा सम्पूर्ण भूत और प्राणियोंका एक सच्चिदानन्दघन तत्त्वमें निषेध करने पर, ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर, ज्यों-की-त्यों जो प्रतीयमान सृष्टि है, वह वृन्दावन है। उसमें यह मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर, विचरण कर रहा है।

मैं ही हूँ व्रज तो मैं बसत यह वृन्दावन।
तो मैं ये राधाकृष्ण सदा-सदा बिहारी॥

अपना हृदय वृन्दावन है। इसमें जो आनन्द है सो राधा है और जो प्रेम है सो कृष्ण है और आनन्द कृष्ण है तो प्रेम राधा है। प्यास राधा है तृप्ति कृष्ण है और प्यास कृष्ण है और तृप्ति राधा है। ***प्यास ही को रूप मानो प्यारीजीको रूप है।***

तृप्ति माने कृष्ण और प्यास माने राधा और राधा माने तृप्ति, प्यास माने कृष्ण— *'परस्पर दोउ चकोर दोउ चन्दा'*—परस्पर दोनों चकोर हैं और परस्पर दोनों चन्दा हैं। राधा चन्दा है और कृष्ण चकोर है। और कृष्ण चन्दा हैं और राधा चकोरी हैं। यह गोपी और कृष्णका प्रेम है, और वृन्दावन प्रेमकी भूमि, रासकी भूमि है। आज जब साकार होकरके झिलमिल-झिलमिल झलकते हुए श्रीकृष्ण उसमें विहार कर रहे हैं तो आज वृन्दावनकी शोभा हो गयी—**'मण्डयन् वनम्'** और श्रीकृष्ण हो गये वृन्दावनभूषण, वृन्दावनालंकार, मण्डन माने—अलंकार।

अब भगवान्ने कहा कि आओ गोपियो यमुना तट पर विहार करें—

नद्याः पुलिमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम्।
रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना॥

'नद्याः पुलिनमाविश्य'—यह यमुना नदी है। **नदति**—जिसके प्रवाहमें ध्वनि हो वह नदी। प्रवाहित होती है तो ध्वनि होती है। बिना ध्वनिका प्रवाह नहीं होता। प्रवाहमें ध्वनि होती है। इसीसे जब हृदयमें भगवान्के प्रति प्रवाह होता है तो उसमें भी ध्वनि होती है, और उस ध्वनिमें भगवान्का नाम निकलता है— कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण। हृदयमें प्रेमका प्रवाह चला और मुँहसे कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण ध्वनि होने लगी। जहाँ प्रवाह होगा वहाँ ध्वनि होगी। आप अगर कहीं जा रहे हों, तो पाँवमें ध्वनि होगी कि नहीं? ***'वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी'***—लेकिन इतना ही नहीं, जब आप मिलनेके लिए जा रहे होंगे, तो बारम्बार उसका नाम, उसका ख्याल, मनमें आवेगा। तो प्रवाहमें ध्वनि होती है। अब चलो, यमुनाजीमें ध्वनि है। यमुनाजी कलिन्दनन्दिनी हैं और गङ्गाजी हिमनन्दिनी हैं। हिमाचल की बेटी हैं— पार्वतीजी और गङ्गाजी उनकी बहन हैं; और जिस शिखरसे गङ्गाजी निकलती हैं उसको 'हिम' ही बोलते हैं, हिमाचल बोलते हैं। गङ्गोत्रीके ऊपर, गोमुखके ऊपर जो हिमका ग्लेशियर है उस हिमसे गङ्गाजीका प्रवाह है। और यमुनाजी क्यों कलिन्दनन्दिनी हैं? तो जैसे—पहाड़की गुफामेंसे कोई धारा निकले वैसे कलिन्द नामके पर्वतकी गुफामेंसे यमुनाजी निकली हैं और गङ्गाजी जो हैं न, वह बड़ा भारी ग्लेशियर है, जैसे समुद्र होता है ऐसे गलता-सा बरफ ही बरफ, वहाँसे गङ्गाजीका प्रवाह निकलता है। गङ्गाजी चढ़ती हैं—वह तो महाराज! शंकरजीके शिरपर चढ़ गयीं। और ये यमुनाजी महाराज निकलीं कलिन्द पर्वतसे और निकलीं तो सीधे आयीं व्रजकी ओर। गङ्गाजी व्रजको बचाकर आयीं अगर व्रजमें जातीं तो बहुत मजा आ जाता। वे व्रजको बचाकर काशी चलीं। गङ्गाजीका प्रवाह काशीके लिए है। गङ्गाजीके मनमें शङ्का हुई काशीके पास पहुँचते-पहुँचते, कि मैं तो

विष्णुपदकी पुत्री हूँ, विष्णुपदसे निकली हूँ और शङ्करजीपर एक बार चढ़ चुकी हूँ तो दोबारा जाकर शङ्करजीका स्पर्श कैसे करूँ ? तो भगवान्ने कृपा करके चुनारमें अपना पाँव फिर रख दिया, गङ्गाजीने फिर उनके पदको धोया और वहाँसे दुबारा निकलीं। माने फिर विष्णुपदी हो गयीं। और फिर काशीमें जाकर शङ्करजीपर चढ़ीं और ये यमुनाजी, कालिन्दी, कलिन्द पर्वतसे निकलकर सोचने लगीं कि व्रजमें कैसे जायँ, द्वारकामें कैसे जायँ? ये पटरानी है भगवान्की। द्वारकामें चतुर्थ-पटरानी हैं भगवान्की कालिन्दी; ये ही हैं यमुनाजी। एक रूप वहाँ है और एक रूप व्रजमें है। व्रजमें श्रीकृष्ण रास करते हैं, लीला करते हैं। ये यमुनाजी आधिदैविक दृष्टिसे सूर्यपुत्री हैं, और आधिभौतिक दृष्टिसे कलिन्द पर्वतसे निकली हैं; कलिन्दनदिनी हैं। तो ये भी सूर्यमें विराजमान जो नारायण हैं उन्हींकी पुत्री हुई और गङ्गाजी भी नारायणकी पुत्री हैं।

तो ये जो यमुनाजी हैं, व्रजमें आकर बहीं तो '**नदति इति नदी**' कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण यमुनाजी बोलती हैं। आप कभी गौरसे देखो तो मालूम पड़ेगा कि उनकी हिलती हुई तरङ्ग जो है वह कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण ताल दे रही है। अब भगवान् यमुनाजीके पुलिनपर आये। पुलिनपर-क्या विलक्षण गति है ? भगवान्ने कहा—यहाँ रास-विलास कैसे हो ? तो—**नद्याः पुलिनं आविश्य**—बड़ा भारी विशाल बालुकामय पुलिन था। यमुनाजीकी जो बालुका है वह कुछ विलक्षण है; हमने बहुत नदियोंकी बालू देखी है, पर यमुनाजीकी बालुकामें एक बालू काली और एक बालू गोरी है—एक कृष्ण और एक गोपी! **हिमबालुकं**—उसको बताया—**नद्याः पुलिनमाविश्य गोपिभिर्हिमबालुकम्।** कैसी बालू थी ? जैसे यमुनाजीने अपने हाथसे कोमल-कोमल बालू सँवार-सँवार करके बिछायी हो! **कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलबालुकम्** बालूमें कण कैसे कि एक काला, एक गोरा। तो महाराज, जितने काले बालू थे उनमें तो श्रीकृष्ण प्रविष्ट हो गये और जितने गोरे बालू थे उनमें गोपी आविष्ट हो गयीं, भला! '**आविश्य**'पदका प्रयोग है न—**नद्यः पुलिनं आविश्य गोपिभिर्हिमबालुकम्।**

पूर्ण चन्द्रमाकी चाँदनी चारों ओर छिटकी हुई थी। तो मनका देवता चन्द्रमा अपनी चाँदनी बरसा रहा है, माने सबका मन रसमय हो रहा है, प्रीतिमय हो रहा है, प्रसन्न हो रहा है, आनन्दमय हो रहा है। प्रेम सबके मनमें उग रहा है और जितने बालूके काले कण उतने कृष्ण और जितने बालूके गोरे कण उतनी गोपी '**गोपिभिः आविश्य**'—अकेले नहीं। श्रीकृष्णने बालुकामें जब प्रवेश किया तो अकेले नहीं, गोपियोंके साथ प्रवेश किया। आविश्यका क्या अर्थ होता है ? जैसे भूत किसी

आदमीमें प्रविष्ट हो जाय, आविष्ट हो जाय, जैसे—क्रोधका किसीके मनमें आवेश, क्रोधावेश हो जाय, जैसे—कामका आवेश हो जाय, ऐसे श्रीकृष्णने काली बालूमें और सब गोपियोंने गोरी बालूमें आवेश किया। अब आप देखो—कितने जोड़े बन गये? यमुनाजीके पुलिनमें बालुकाके जितने दो-दो कण थे सब गोपी-कृष्ण हो गये और सब परस्परमें आलिङ्गित हो गये।

रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना।

यह विहार हो रहा है। यह भी रास है। पहले देखो— एक बालू कण गोरा एक काला एक कृष्ण, एक गोपी एक गोपी कृष्ण, एक गोपी, एक कृष्ण। अच्छा, अब वह करोड़ोंवाली गिनती है जो, वह ठीक लगती है कि नहीं? अब तो लगती है न करोड़ोंवाली गिनती ठीक?

ये कर क्या रहे हैं? बोले- **'रेमे'** रमण कर रहे हैं। एक दूसरेसे बिलकुल मिले हुए तो हैं न? बोले—भाई! यह मिलनेमें रमण कहाँ? रमणमें तो स्पन्दन होना चमहिए, चाञ्चल्य होना चाहिए। यहाँ तो दो बालूके कण आपसमें चिपटकर जैसे बेहाश हो गये हों! कहा—नहीं, ये बेहोश होकर नहीं पड़े हैं, तब क्या हो रहा है? **तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना**। वायुने कहा—कि चलो हम मदद करें! वायुदेवताने कहा—कृष्णकी लीलामें जाना और अपवित्र होकरके जाना? तो आकर यमुनाजीमें स्नान किया। शीतल हो गया और मन्द-मन्द गतिसे चलने लगा और **कुमुदामोदे**। रातमें जो कुईं खिली हुई थीं—रात्रित्रिकासीको कुमुद बोलते हैं—उनकी सुगन्ध वायुने ली। कभी गोरी बालू कालीपर आवे, कभी काली बालू गोरेपर जाय; ये उलट-पलटकर, उड़कर कण मण्डलाकार हो गये। अब रास होने लगा। बालू-कणका। बालू- कण नृत्य करने लगे, और एक-एक बालूमें गोपी और कृष्ण, गोपी और कृष्ण, गोपी और कृष्ण।

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो, माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।

'रेमे' शब्दका प्रयोग देखो न, रेमे=रमण किया बालू-कणमें रमण कैसे आया? **तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना**—यमुनाजीके जलमें स्नाान करके और उनकी लहरोंसे बिछाये हुए, सजाये हुए, सँवारे हुए, जो बालूके कण हैं उनमें कुमुदकी सुगन्ध लेकर वायुने प्रवेश किया और वे सबके सब स्पन्दिन हो गये!

अब भगवान्के रासको देखो, क्या बढ़िया बनाया है! इसको आप तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो सृष्टिका एक-एक कण राधा-कृष्ण, राधा-कृष्ण, राधा-कृष्ण!

विज्ञेयः पुरुषः कृष्णः, विज्ञेयो व्रजमध्यगः।
श्रीराधा पुरुषः कृष्णः स्त्री राधा पुरुषः कृष्ण॥

व्रजमें नरजातिके जितने पौधे थे और मादा जातिकी जितनी लताएँ थीं; और जितनी चींटी थीं, मच्छर थे, खटमल थे; बन्दर थे, पक्षी थे, पशु थे, मनुष्य थे, सर्वत्र नरजातिमें श्री-कृष्ण और मादामें गोपी सम्पूर्णव्रजमें केवल' गोपी-कृष्णका विहार है वैसे ही जैसे—सम्पूर्ण विश्वसृष्टिमें केवल माया और ब्रह्म, केवल प्रकृति और पुरुषका विहार है। अब देखो, उसमें भी आपलोगोंको एक बात ध्यानमें रखनी है। मायामें अनेकता है और ब्रह्ममें एकता है। तो गोपी अनेक हैं और श्रीकृष्ण एक हैं। परन्तु प्रकृतिमें एकता और पुरुषमें अनेकता यह सिद्धान्त आपने पढ़ा है कि नहीं? सुना तो होगा—सांख्ययोगमें प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं। एक राधा है और श्रीकृष्ण हजार-हजार रूप धारण करके उसके सामने नृत्य करके उसको प्रसन्न कर रहे हैं। आप देवीभागवतमें कभी पढ़ें—श्रीराधारानी सिंहासनपर बैठी हैं अकेली—सोलहों शृङ्गार करके, नीली साड़ी पहनकर, चन्द्रिका धारण करके और हार पहनकर बैठी हैं। हार भी मरकतमणिका, इन्द्रनीलमणिका; कानोंमें नीला कमल बड़ा ही सुन्दर! श्रीकृष्णका नीलवर्ण है न इसलिए उनके आभूषण सब नीले हैं। और सामने क्या होता है? ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों छोटे-छोटे बच्चे हैं, एक हाथ कमरपर और एक हाथ शिरपर रखा है, और श्रीराधारानी सिखाती हैं कि नाचो बेटा— ताता-थाई ताता-थेई। चार मुँहके ब्रह्मा और चार हाथके विष्णु और तीन नेत्रके शङ्कर, तीनों नन्हे-नन्हे बालकके रूपमें; एक गोरा, एक काला, एक लाल; राधारानी अङ्गुली दिखाकर कहती हैं—नाचो बेटा, नाचो बेटा, तालसे नाचो! देखो—यह स्वर बिगड़ गया, यह ताल छूट गया! ये ब्रह्मा-विष्णु महेश जो हैं उनकी छायासे पैदा हुए हैं। श्रीकृष्ण उन्हीं राधारानीको रिझानेके लिए अनेक रूप धारण करके आते हैं। वह कहती हैं-आज यह पोशाक पहनो, आज हजार बनो, आज लाख बनो, आज करोड़ बनो, आज ये नृत्य दिखाओ, आज वह नृत्य दिखाओ और श्री-राधारानीके सामने श्रीकृष्ण भगवान् नृत्य करते हैं-

रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना—इस श्लोकके बाद अब एक रासका वर्णन है। रासमें तो आप जानते हैं—**पादन्यासैः** पादका कैसे विन्यास करना, केवल एड़ी पड़े धरतीपर, केवल पञ्जा पड़े, केवल एक अङ्गुली पड़े और पाँवमें घुँघरू हैं तो केवल एक घुँघरू बजे, दो घुँघरू बजे, तीन घुँघरू बजे, पाँच-सात घुँघरू बजे—यह सब रासमें होता है। हमने तो तलवारकी धारपर और रस्सीपर भी नाचते देखा है! जैसे इस खम्भेसे उस खम्भेमें रस्सी बाँध दें—तो उस रस्सीपर नाचते देखा है। उदयपुरवाली बात तो सुनी हुई है कि ऐसे ही बँधी रस्सीपर नटिनी

नाचती हुई झील पार कर रही थी तो किसीने रस्सी काट दी; बेचारी झीलमें गिर गयी और मर गयी। लेकिन आज भी ऐसे नट हैं, जो रस्सीपर नाचते हैं, तलवारपर नाचते हैं।

पादन्यासैः भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः।

पाद-विन्यास, हस्त-विन्यास, मुसकान और भौंहोंका मेल! और महाराज, वह कमर-तोड़ नृत्य कि देखनेवाला ही डर जाय; वक्षके कपड़ेकी सम्हाल न रहे, और कुण्डल कपोलोंपर जाकरके चपलता कर रहे हैं। **भज्यन्मध्यैः चलकुचपटैः कुण्डलैः गण्डलोलैः।**

स्विद्यन्मुख्यः कबर-रशना ग्रन्थयः कृष्ण-वध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इवता मेघचक्रे विरेजुः॥

क्या रासलीलाका वर्णन है! तो अब बताते हैं,

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रज सुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

इसका बड़ा विलक्षण अर्थ है भला! यह कामके सामने झुकना नहीं है, कामको हराना है; यहाँ काम नहीं है, प्रेम है।

उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार—आया काम, कृष्णने देखा कि अच्छा बेटा आ गये। कृष्णका तो बेटा ही है काम (प्रद्युम्नके रूपमें यही आया)। कृष्णने कहा—नहीं, ठहर जाओ! एक महात्मा कहीं जा रहे थे। जैसे बम्बईमें कभी-कभी एकाएक बादल आ जाते हैं और फटाफट बरसने लगते हैं, वैसे ही बादल आये और बरसना शुरू किया। महात्माने देखा। बोले—स्टाप! अरे, उसी समय बादलोंका बरसना बन्द! तो रासलीलामें आया काम, अभी ऊपर ही था; श्रीकृष्णने नीचेसे कहा—स्टाप; भीतर प्रवेश नहीं बेटा तुम्हारा! हाँ, माँ-बापके किलोलमें बेटेका प्रवेश वर्जित है। विशुद्ध प्रेममें काम वर्जित है। कृष्ण बोले—काम, तुम जाओ स्वर्गमें, देवताओंमें जाओ, अप्सराओंमें जाओ, हमारे पास नहीं आ सकते, अब आगेकी बात फिर!

४२

रासलीलाका अन्तरङ्ग-१

(पूरी रासपञ्चाध्यायी एक दृष्टिमें)

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु-
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा-
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥

(श्रीमद्भागवत, १०.२९.४६-४८)

हमारे काशीमें एक पुराने अच्छे वक्ता हैं। एक महाराष्ट्रके विद्वान् हैं, उनकी अवस्था अब नब्बे वर्षसे भी अधिक है। वे बड़े पवित्र मर्मज्ञ वक्ता हैं। तो पहले जब वे कथा प्रारम्भ करते थे, (अब तो कथा नहीं कह सकते) तो बोलते—'सर्वे श्रोतारः सावधाना भवन्तु' श्रोताओ सावधान, माने अब डौंड़ी पिट गयी, अब नाटक प्रारम्भ होनेवाला है। सावधानका अर्थ कि एक बार जो दुनियाके साथ अपना रिश्ता है सो सब काट दो, और आओ, अपने मनको लेकर चलें वृन्दावन! आप जानते हैं वृन्दावन प्रीतिकी, प्रेमकी भूमि है। एक बार एक स्त्री एक पोटलीमें बाँधकर सिरपर रखकर चली जा रही थी। किसीने पूछा—माँ, इस पोटलीमें क्या है? तो बोली कि यह सन्तोंका अधरामृत है। बोले—भगवान्का तो अधरामृत होता है, यह सन्तोंका अधरामृत क्या है? आप समझें—जहाँ सन्तोंकी पंक्ति बैठी थी खानेके लिए, वहाँ जो सन्तोंका खाया हुआ जूठन पड़ा रह गया था, वह बीन-बीनकर उसने पोटली बनायी थी। वह जूठन प्रसादी थी जो वह लिये जा रही थी। उसीको वह कह रही थी सन्तोंका अधरामृत। गोपियोंको भगवान्का अधरामृत मिलता था और हमको यह प्रसाद मिलता है, जिनके हृदयमें भगवान् बैठे हैं।

नारायण! एक वर्णन मिलता है—एक महात्मा थे—श्रीरामकृष्णदासजी

महाराज। आप लोगोंमेंसे बहुतोंने उनका दर्शन किया होगा। बहुत पुरानी बात है— वृन्दावनके बहुत बड़े प्रतिष्ठित सन्त थे। वृन्दावनके प्रेम और वैराग्य दोनों उनके जीवनमें एक साथ देखनेमें आते थे। मैंने भी उनका दर्शन किया था। उनका यह नियम था कि रोज भगवान्‌के तीन लाख नामोंका जपना और चार बजे सायंकाल जब जप पूरा हो जाय तब भिक्षाके लिए जाना; और किसी व्रजवासीके घरकी ही रोटी लेना, दूसरेकी नहीं,—

कबहूँ कै अस करिहौ मन मेरो
करकरवा हरवागुञ्जनि को कुञ्जनि माँहि बसेरो।
भूख लगे तब माँगि खाइहौं गिनौं न साँझ सबेरो
व्रजवासिन के टूक जूठ अरु घर -घर खात महेरो॥
कबहूँ कै अस करिहौं मन मेरो॥

व्रजवासियोंके सिवाय किसीकी रोटी खाते ही नहीं थे। जिन्दगीभर वे व्रजसे बाहर गये ही नहीं, वृद्ध होकर मरे। एक दिन उनके पास एक संन्यासी आया। वह तो उपनिषद् पढ़े हुए था महाराज! बोले—व्रजमें ऐसा क्या है कि आप वृन्दावन-वृन्दावन बोलते हो? अब क्या है वृन्दावनमें—अब तो वृन्दावनमें सूखी रेत है, यमुनाजी भी छोड़कर दूर चली गयीं। श्रीरामकृष्णदासजी बोले—चलो, आज भिक्षाके लिए हमारे साथ चलो। एकके घर गये और बोले—राधेश्याम-राधेश्याम! जैसे संन्यासी लोग 'नारायण' या 'नारायण हरि' बोलते हैं। उसमें भी दो जाति हैं—जो सम्प्रदायके साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं वे तो बोलते हैं 'नारायण हरि' और जो बिल्कुल अजातवादी होते हैं, वे तो अपने मुँहसे 'नारायण हरि' भी नहीं बोलते हैं। वे तो एकदम अनन्य होते हैं, अपने मुँहसे नारायण नहीं बोलते। वे बोलते हैं—'मैया रोटी, भैया रोटी'। जैसे बच्चा बोले ऐसे। एक भगवानदासजी विरक्त थे, वे अपने मुँहसे सिवाय दो शब्दके तीसरा शब्द कभी बोलते नहीं थे, दो शब्द बोलते थे—मैया रोटी। चलते-चलते खा लिया, जहाँ मिला वहाँ पानी पी लिया। उनको अजातभिक्षु बोलते थे। तो महात्माने बोला—राधेश्याम! घरमेंसे एक माई निकली, बच्चेको गोदमें लिये दूध पिला रही थी। बोली—बाबा, घरमें रोटी नहीं है। बोले—रोटी नहीं है, तो दूध पी लूँगा। बोली—घरमें दूध भी नहीं है; लो, दूध पीना हो तो—झट अपने बच्चेके मुँहसे कटोरा हटाया और बोली —लो, पी लो। अब संन्यासी बोले—अरे राम-राम-राम! इतने बड़े महात्मा हैं, तू इनको जूठा दूध देती है? बोली—निगोड़ा कहीं बाहरसे आया है क्या? आप जानते ही हैं, निगोड़ा माने व्रजमें गाली होती है; जैसे निपोता या निपूता बोलते हैं वैसे निगोड़ा

बोलते हैं। फिर बोली—अच्छा, ले जूठा है, तो ले, ऊपर-ऊपरका जूठा गिरा देती हूँ, नीचे का पी ले।

अब आप तो बड़े मर्यादावादी हैं, आप लोगोंके सामने क्या सुनावें। स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती कहते हैं कि नालीमें बहता हुआ जो कीचड़ है और कुत्तेका भी जो जूठा है, उसको भी खाकर अगर वृन्दावनमें रहनेको मिले,और वृन्दावनका रस हमको मिले तो भी अच्छा है। प्रबोधानन्द सरस्वती कौन? जो वेदान्तियोंमें अद्वैतसम्प्रदायमें एकजीववादके, दृष्टिसृष्टिवादके प्रमुख आचार्य हैं। स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती इनका पहले नाम था, वही स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती वृन्दावनको साक्षात् परब्रह्म कहते हैं। ''वृन्दावनमें प्रेमकी नदी बहे चहुँ ओर।' तो संन्यासीने श्रीरामकृष्णदासजीसे कहा—बाबा जूठा पीते हो? महात्माने क्या कहा, आपको मालूम है। कहा—सूझता नहीं है तुमको? घरमें रोटी नहीं है, घरमें दूसरा दूध नहीं है, और अपने बच्चेके मुँहसे कटोरा हटाकर हमको दूध दे रही है; नारायण! इसका प्रेम तो देखो कि बच्चेको भूखा रख रही है, और हमको दूध दे रही है। तुम मर्यादा देखते हो?

तो अब देखो चलते हैं वृन्दावनमें! वृन्दावनका रस दूसरा है, वृन्दावनका प्रेम दूसरा है; वह पैसोंवालोंका प्रेम नहीं है, वहाँ भजकलदारम् नहीं है, वह ढोंगियोंका प्रेम नहीं है, वह धर्मात्माओंका प्रेम नहीं है! हाँ तो भगवान् जब वृन्दावनमें पहले-पहल आये तो वृन्दावनमें पहुँचनेकी खुशीमें काम (भोग)को तो इतनी जोरसे फेंका कि वह जाकर पेरिसमें गिरा; और (धन) को उठाकर फेंका तो वह जाकर अमेरिकामें गिरा; धर्मको फेंकनेमें जरा हाथ ढीला पड़ गया तो वह जाकर काशीमें गिर गया; और मोक्षको फेंक दिया हरिद्वारकी ओर! यह व्रजमें पहुँचनेकी खुशी है। भगवान्ने घर-घर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंको लुटा दिया। वृन्दावन पुरुषार्थकी जगह नहीं है, यह प्रेमकी जगह है। नारायण तो आओ वृन्दावनमें, जरा आप एकबार ध्यान करो।

पादन्यासैः भुजविधुतिभिः, सस्मितैर्भ्रूविलासैः
भज्यन्मध्यैः चलकुचपटैः कुण्डलैः गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबर-रशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥

जैसे खूब घटा छायी हुई हो, और उसमें बिजली चमक रही हो ''तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः'' काले-काले श्यामसुन्दर और बिजलीकी तरह चमकती गोपियाँ—कितनी फुर्ती होगी उन गोपियोंमें जो नृत्य करती हुई बिजलीकी तरह

चमकती हैं। ''पादन्यासैः'' पादका विन्यास—केवल अँगूठेपर नाच लेना, केवल एड़ीपर नाच लेना, केवल एक घुँघरू, दो घुँघरू, तीन घुँघरू, बजा देना; और हस्तका सञ्चालन हस्त कभी शिरके ऊपर, कभी कमरकी तरफ, कभी मुँहके पास तो कभी कानके पास; और कभी मुस्कानके साथ भौंहोंका सञ्चालन यह ध्यानकी बात है, भला, घरमें जाकर करनेकी नहीं है। यह कोई मनन करनेके लिए नहीं है कि घरमें जाकर मनन कर लेंगे; यह योगकी तरह सीखनेके बाद अभ्यास करनेकी नहीं है, अभी-अभी अपने मनको इस रासके ध्यानमें डुबा दो। एक-एक गोपी, एक-एक कृष्ण! मुखपर मुस्कान है और —

भ्रू विलास मन्दहास रदन छदन अति रसाली।
सुमिरों नटनागर बनमाली॥

नृत्यमें कमर ऐसे लचकती है कि अब कमर टूटी, अब कमर टूटी! कपड़ेका तो ख्याल ही नहीं है, हो गया आवरण-भङ्ग। अरे, आवरण-भङ्ग होने दो। '**अहं ब्रह्मास्मि**' कारक वृत्तिसे आवरण-भङ्ग होता है ज्ञानमें, परन्तु यह प्रेमकृत आवरण-भङ्ग है; इसमें मालूम नहीं पड़ता, और कपड़ा गिर जाता है!

भज्यन्मध्यैः चलकुचपटैः कुण्डलैः गण्डलोलैः॥

ये कुण्डल उनके कपोलोंका चुम्बन कर रहे हैं। '***स्विद्यन्मुख्यः***' शरीरका ध्यान नहीं है, छूट गया शरीर, पसीनेसे तर है और '***कबररशनाग्रन्थयः***' जूड़ेका जो बन्धन था और कमरमें जो बन्धन था वह भी खुल गया! अरे बाबा, कोई गाँठ नहीं रहती!

'स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः' इसके दो अर्थ हैं। लौकिक दृष्टिसे गोपीके शरीरमें अगर कहीं बन्धन था तो सिर्फ दो जगहपर—एक तो कमरकी डोरी कसकर बाँधी थी और दूसरा जूड़ा कसकर बँधा हुआ था कि नाचते समय ये छूटें नहीं। परन्तु रासमें वे टूट गयीं, छूट गयीं। '***स्रस्तस्त्रस्त निबध्दनीवि।***' आध्यात्मिक दृष्टिसे जूड़ेकी गाँठ है अविद्याग्रन्थि जिसको बुद्धि छोड़ती है। और कमरकी गाँठ है हृदयग्रन्थि—अपने-परायेका भाव जिसे प्रेम छोड़ता है। ये दोनों गाँठें गोपियोंकी छूट गयीं, टूट गयीं। जहाँ प्रेम हुआ वहाँ हृदयग्रन्थि गयी!

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणां उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

सबके हृदयमें, सबके जीवनमें, एक रति होती है; रति होती है माने जीवनमें एक रस होता है। बिना रसका जीवन तो नहींके समान है। यदि शरीर रहे

परन्तु ज्ञान (चेतना) लुप्त हो जाय तो जीवन समाप्त और यदि शरीर ही न रहे तो भी जीवन समाप्त; लेकिन शरीर रहे, चैतन्य भी रहे, परन्तु उसमें रस न रहे तो वह क्या जीवन है? इसको ही आनन्द बोलते हैं। रसविहीन जीवन तो निर्जीव है, जिन्दा भी मुर्दा है। जिसमें रसधार नहीं, वह तो पत्थर है। हृदयमें आनन्दधाराके आन्तरभावको रस बोलते हैं; और चेतनधाराके आन्तरभावको ज्ञान बोलते हैं; और सत्‌धाराका जो आन्तरभाव है वह ये रूप हैं। सत्‌धारा और ज्ञानधाराके अनुभवी लोग शान्तिका अनुभव करते हैं। और भक्त लोग, प्रेमी लोग, आनन्दधाराका अनुभव करते हैं। जिसके जीवनमें आनन्दानुभूति नहीं है, उसका जीवन जीवन नहीं है, वह तो पत्थर है; बल्कि पत्थरमें भी आनन्द है क्योंकि पत्थर बढ़ता है—ये पहाड़ोंके जो पत्थर होते हैं वे पहले छोटे होते हैं—फिर बढ़ते हैं, पहले बच्चे होते हैं, फिर बड़े होते हैं, तगड़े होते हैं, इनमें जीवन है, जैसे वृक्षमें जीवन है, लतामें जीवन है। यह बढ़ना क्या है? यदि उनको आनन्द न होता, वे सावकाश न होते, उनमें स्वातन्त्र्य न होता, तो उनके जीवनमें वृद्धि कहाँसे होती? वृद्धि होना तो आनन्दका लक्षण है। पाणिनिने पाणिनीय व्याकरणशास्त्रका प्रारम्भ किया, तो वृद्धि शब्दसे प्रारम्भ किया। पहला सूत्र वृद्धि शब्दसे प्रारम्भ होता है। फिर गुण, उसके बादमें है 'अदेङ् गुण:'। पहले ब्रह्म, फिर बादमें गुणमयी प्रकृति (सृष्टि)—प्रेमसे जैसे सृष्टि होती है, वैसे सृष्टि की है शब्द शास्त्रकी।

अब आपको फिर सुनाते हैं कि रस जीवनमें होना आवश्यक है। एक बार श्री चैतन्य महाप्रभुने रामानन्दरायसे पूछा कि रस क्या है? बोले—अन्य किसीकी जरूरत न पड़े, अपने केवल आपमें शान्त रहे, तो वह सबसे बड़ा रस है। इसका नाम शान्तरस है। चैतन्य महाप्रभुने कहा—और आगेकी बात कहो। तब बोले—अपनेमें शान्त रहें और दूसरोंकी सेवा करें। इसका नाम रस है—यह दास्यरस है। इसके आगे? तो कहा—हृदयमें सद्‌भाव बना रहे और मैत्री बनी रहे—यह रस है, सख्यरस है। इसके आगे? तो कहा केवल सद्‌भाव या मैत्री ही नहीं, स्नेह बना रहे—इसका नाम रस है; इसे वात्सल्यरस कहते हैं, जैसे माँके हृदयमें बच्चेके प्रति। और आगेकी बात! तो बोले—इसके आगे तो यह है कि मधुरभाव हृदयमें हो; पत्नी जैसे पतिसे प्रेम करती है तो पत्नीमें शान्ति भी है, पत्नीमें सेवा भी है, पत्नीमें मैत्री भी है, पत्नीमें स्नेह भी है। जो स्नेह माँ देती है वह भी पत्नी दे सकती है, जो मैत्री मित्र देता है वह भी पत्नी दे सकती है, जो सेवक सेवा देता है वह भी पत्नी दे सकती है, लेकिन साथ-साथ एक ऐसी वस्तु दे सकती है पत्नी, जो और कोई नहीं दे सकता। उसका नाम है मधुररस बोले—यह रसका परिपाक है। चैतन्य महाप्रभुने

कहा—और आगे ? बोले—इसके आगेकी बात समझमें नहीं आती। इसके आगेकी बात गोपियोंमें।

गोपी ही श्रीकृष्णको मधुररस देती हैं। वे श्रीकृष्णको रसास्वादन कराती हैं। एक सखी शब्द है, एक सखी स्पर्श है, एक सखी रूप है, एक सखी रस है, एक सखी गन्ध है। एक सखी गन्ध होकर कृष्णकी नासिकामें प्रवेश करती है, एक सौन्दर्य बनकर कृष्णकी आँखोंमें आती है। एक स्पर्श बनकर उनकी त्वचामें आती है, एक सङ्गीत बनकर उनके कानोंमें आती है—ये तत्तद् विषय बनकरके श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंका तर्पण करती हैं। इससे भी और आगेकी बात ? तो रामानन्दरायने बताया कि इससे भी आगेकी जो चीज है वह राधारानी हैं। वहाँ भोक्ता-भोग्यका विभाग नहीं है। एक गोपी चन्द्रावली कहती है—तुम भोग्य और हम भोक्ता, हम तुमको भोगेंगी। और ललिता कहती है कि हम भोग्य और तुम भोक्ता, तुम हमको भोगो, हम तुम्हारे भोग्य हैं। लेकिन राधारानीके प्रेममें भोक्ता और भोग्यका भेद नहीं, एक ही रस बारी-बारीसे, साँवरी शीशीमें आया और फिर स्वर्णिम शीशीमें गया, पीली शीशीमें गया फिर साँवरी शीशीमें गया; रस एक ही है, शीशी दो हैं। राधा और कृष्ण ये आकार दो हैं और रस एक है। अब इसके आगे महाप्रभु कुछ नहीं बोले तब रामानन्दरायने कहा—और कुछ सुनावें ? तो महाप्रभुने उनके मुखपर हाथ रख दिया—कि चुप, इसके आगेकी बात वाणीका विषय नहीं।

✤ ✤ ✤

तो प्रेमका परिपाक ही इसकी उत्तरोत्तर भूमिकाओंमें प्रकट होता है। इसलिए जिस हृदयमें प्रेम नहीं है वह हृदय नहीं श्मशान है।

जा घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।

इस श्लोकमें ऐश्वर्यपक्ष और दर्शनपक्ष दोनों है। पहले ऐश्वर्यपक्ष लेते हैं। ये कहते हैं कि भक्त जितना भलामानुष होता है न-साधनसम्पन्न, सिद्धान्त पक्का, वृत्ति सात्त्विक, उसको उठानेके लिए भगवान्‌को अपना सौन्दर्य, माधुर्य, प्रेम यह सब प्रकट नहीं करना पड़ता। अब श्रीवल्लभाचार्यके सिद्धान्तकी भूमिका आपको सुनाते हैं। जैसे—सनकादिको अपनी तरफ आकृष्ट करना हो तो भगवान्‌को कुछ नहीं करना होगा। भगवान्‌के चरणोंमें जो तुलसी लगी है न, उसकी गन्ध सनकादिकी नाकमें जहाँ पहुँची और वे तो मगन हो गये, छोड़ दिया ब्रह्मको—यह श्रीमद्भागवतमें आया है—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

सनकादिका जो चित्त है, वह अक्षरयुत है—माने ब्रह्मके साथ जुड़ा हुआ है, ब्रह्मज्योतिसे एक है। लेकिन जब भगवान्‌के चरणारविन्द, चरणकमल और तुलसी, दोनोंकी गन्ध मिलकर वायुके द्वारा उनकी नाकमें पहुँची तो यद्यपि भगवान्‌ने सङ्कल्प भी नहीं किया था कि सनकादिका उद्धार कर दें क्योंकि भगवान् जानते हैं कि सनकादि तो ब्रह्मस्वरूप हैं, उनका तो उद्धार हुआ ही है, अब उसमें क्या सङ्कल्प करना था, फिर भी हवाने स्वाभाविक रीतिसे जैसे ही भगवान्‌के चरणोंकी गन्ध सनकादिकी नासिकामें पहुँचायी, वैसे ही वे ब्रह्मध्यानसे, ब्रह्माकारवृत्तिसे, उपराम होकर 'श्रीकृष्णः शरणं मम', 'श्रीहरिश्शरणम्', 'श्रीहरिश्शरणम्' कहकर नाचने लगे।

जनकजीको हम मोहित कर लें, यह सङ्कल्प भी भगवान् रामने नहीं किया। अब महाराज सफेद दाढ़ी जनकजीकी और इतने बड़े राजा, परं वैराग्यवान् और ज्ञानी, रामचन्द्र उनको आकृष्ट करके क्या करते, यही न कहते कि अपनी बेटी हमको ब्याह दो! श्रीरामचन्द्रके मनमें यह बात बिल्कुल नहीं उठी कि हम जनकजीको मोहित कर लें, लेकिन जनकजीका क्या हाल हुआ? बोले—

सहज बिराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥
इनन्हि बिलोकति अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥

तो सनकादिको या जनकादिको आकृष्ट करनेमें भगवान्‌को कोई सङ्कल्प, कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। परन्तु महाराज कहीं-कहीं विचित्र भक्तोंसे काम पड़ता है—बोले भाई, जादू तो वह है जो सिरपर चढ़कर बोले! ये गाँवकी गोपी—श्रीमद्भागवतमें एक ऐसा शब्द है—***"क्वेमाः स्त्रियो वनचरीः व्यभिचारदुष्टाः"*** गोपीकी कोई जात है भला? किस ब्रह्मऋषि गर्ग, गौतम शाडिल्यके गोत्रमें हैं? नारायण, कोई तीनमें न तेरहमें हैं! कोई जात अच्छी नहीं। अच्छा, कोई वेदान्त सीखा था उन्होंने? प्रेमकुटीरमें उन्होंने वेदान्त सुना था, कि हरिद्वार—हिमालयमें जाकर उन्होंने वेदान्त सीखा था? कोई तात्त्विक ज्ञान नहीं उनको। तब बोले—भाई, काशीमें जाकर या गंगा और यमुनाके दुआबेमें जाकर सदाचारकी कहीं शिक्षा पायी थी? गंगा और यमुनाका जो मध्यवर्ती भाग है उसको 'दुआबा' बोलते हैं, उसको सदाचारका प्रदेश बोलते हैं। गोपियों- में क्या था? ठन-ठनपाल तो थीं। लेकिन अगलेकी भी तो मर्जी है न, अगलेने पसन्द कर ली, खुश हो गया! बोले—हमको तो गोपी चाहिए। अरे भाई, गोपी तो एकदम मस्त बैठी हुई है, उसको तो

गाय दुहनेसे, दही जमाने, मक्खन बनानेसे, गोबर पाथनेसे छुट्टी नहीं, वह प्रेम बेचारी क्या करेगी? तो कृष्णने कहा—अच्छा, हम इनके सामने अपना असीम सौन्दर्य, असीम माधुर्य, असीम प्रेम, असीम वात्सल्य, असीम सख्य, असीम सौकुमार्य प्रकट करेंगे। अपना सम्पूर्ण सौस्वर्य बाँसुरीमें भरकर अपना समूचा अधरामृत इनतक पहुँचायेंगे। गोपीके पीछे-पीछे चल दिये। नारायण, गोपी मुँह फेर लेती है, बोली नहीं। तो फिर बाँसुरी बजाना और नाचना शुरू किया। तो गोपीके मनमें आया कि जरा देख लें! देखनेमें क्या लगता है? कोई धर्म थोड़े ही बिगड़ता है देखनेमें! देख लिया। बाँसुरी बन्द हुई तो मनमें आया थोड़ी बात कर लें। इसमें क्या धर्म बिगड़ता है? जब बाँसुरी बन्द हुई तो बात कर ली! फिर मनमें आया—जरा छू लें, कैसा लगता है, देखनेमें बड़ा सुकुमार है! तो भगवान्ने अपना सौस्वर्य प्रकट क्यों किया? बाँसुरी क्यों बजायी? अपना सौन्दर्य उनके सामने क्यों प्रकट किया? अपना सौकुमार्य, अपना प्रेम क्यों बताया? उनको खींच लेनके लिए, अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए। तो अब आओ, पूरी रासपञ्चाध्यायीके अन्तरङ्गमें प्रवेश करते हैं।

यह पहले अध्यायका प्रवचन तो चल ही रहा है। इस पहले अध्यायका अर्थ क्या है कि साधन करनेमें असमर्थ जो गोपियाँ थीं, जो घरके काम-धन्धेमें व्यस्त थीं, कोई पतिको भोजन करा रही थी, कोई बच्चेको दूध पिला रही थी. कोई दूध गरम कर रही थी, कोई हलुआ गरम कर रही थी या बना रही थी, कोई आँखमें अञ्जन लगा रही थी, कपड़े पहन रही थी, ऐसी घर-गृहस्थीमें अत्यन्त आसक्त स्थितिमें जो गोपियाँ थीं, उनको भगवान्ने केवल ध्वनिसे, केवल ध्वनिके सङ्केतसे, धर्म,अर्थ, काम, मोक्ष सारे संसारसे छुड़ा करके एक परमहंस परिव्राजक जैसा परित्याग कर सकता है, जैसा वैराग्य कर सकता है, वैसा त्याग और वैराग्यका सामर्थ्य उनके अन्दर भर दिया। भागवत सुनाकर नहीं, उपनिषद्का अर्थ श्रवण कराकर नहीं, केवल ध्वनिमात्रसे उनको अपने पास बुला लिया।

अब ध्वनिसे तो बुलाया और फिर वाक्यसे मना कर दिया—आनेपर कह दिया 'लौट जाओ'। अरे, ये क्या मजाक है? तो बोले कि भगवान्की कोई बात न माने तो उसको पाप लगता है। आप जानते हैं भगवान्की आज्ञा अप्रतिहत होती है। वे किसीके लिए सङ्कल्प कर लें कि यह हमारे पास आये तो उसको आना पड़ेगा; आज्ञा दे दें कि इसको करो, तो करना पड़ेगा। भगवान्की आज्ञा अप्रतिहत होती है, माने उसको कोई टाल नहीं सकता। ऐसा सामर्थ्य सृष्टिमें किसीका नहीं। पर उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णने जब गोपियोंसे कहा कि लौट जाओ तो देखो क्या आश्चर्य कि

गोपियोंने आज्ञा टाल दी, बोलीं—हम नहीं जायेंगी। गोपीके हृदयमें यह दृढ़ता कहाँसे आयी कि हम नहीं लौटेंगी? यह दृढ़ता भी उनमें कृष्णने भर दी है कि हमारी बात मत मानो। आप देखो, शास्त्रमें ऐसा लिखा है कि गुरुकी आज्ञा माननी चाहिए, पर बोले कि अगर गुरु कहे कि तुम हमारे दर्शनके लिए मत आया करो तो? बोले कि गुरुकी आज्ञा नहीं माननी चाहिए। चेला एक गिलास पानी लेकर गया, क्योंकि गुरुको प्यास लगी थी। गुरुजी बोले—देखो भाई, तुम पानी मत लाया करो और कोई ले आयेगा। तब यह मत कहो कि गुरुकी आज्ञा है कि तुम पानी मत लाओ तो अब कैसे न मानें। देखो, सेवामें आज्ञा-पालन नहीं होता, दर्शनमें आज्ञा-पालन नहीं होता। गुरुने कहा—अरे देखो, तुम कभी हमको मत खिलाओ! अब प्रेमी कैसे मानेगा? शिष्य कैसे मानेगा? तो भगवान्‌ने आज्ञा की तुम लौट जाओ, पर गोपियोंने कहा कि कृष्ण! तुम्हारा यह वचन सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, शास्त्र अनुभवके विरुद्ध है। भगवान्‌के पास आकर कैसे लौटेंगें? हम नहीं मानेंगे तुम्हारी बात! हम वेदकी बात मानेंगी, तुम्हारी बातको नहीं मानती हैं। 'त्वत्पादमूलं भक्ताः'—कैसे लौट जायें? आजतक कोई मुमुक्षु, कोई जिज्ञासु तुम्हारे पास आकर वापस लौटकर गया है? नहीं मानतीं तुम्हारी बात।

अच्छा, अब दूसरी बात है। खुद ही तो उन्होंने मना किया कि लौट जाओ और फिर जब गोपियोंके साथ अपनी नहीं चल पाती, तो कहने लगे--आओ! आओ गोपियो! रास-विलास करो—अपनी बात पलट दी। एक बात स्वातन्त्र्यकी ऐसी विलक्षण है इस अध्यायकी, जिसकी कथा सुन रहे हैं उसीको सुनाता हूँ। क्या विलक्षण है इसमें एक बात? हे भगवान्! सचमुच गोपियोंके अन्दर मान था, मान लेकर आयी थीं। भगवान्‌ने उनका बड़ा सम्मान किया—***एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।*** तीन शब्द हैं इसमें—एक तो कृष्ण चुम्बक हैं। कृष्ण माने चुम्बक होता है। चुम्बक माने वही जो लोहेको खींचनेवाला होता है। जो चूम ले वह चुम्बक। जो लोहेका चुम्बन करे उसका नाम चुम्बक, तो कृष्ण माने कर्षति, जो अपनी ओर खींचे। जैसे चुम्बक लोहेको खींचता है वैसे कृष्ण अपनी ओर खींचते हैं। सोतेमें खींचते हैं, सपनेमें खींचते हैं, जागतेमें खींचते हैं, दूसरी बात—'*भगवतः*'—भगवान् हैं। तीसरी बात क्या बतायी कि महात्मा हैं, भगवान् हैं। महात्मा हैं, कृष्ण हैं। भगवान् हैं माने ऐश्वर्यशाली हैं, और कृष्ण हैं माने प्यारा है, और महात्मा? महात्मा, यह बड़ी विलक्षण बात है। ऐश्वर्यशाली हैं माने कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्समर्थ' हैं। ***'अन्यथा कर्तुं समर्थ'*** का क्या अर्थ हुआ? आपको रासपञ्चाध्यायीका सार सुनाता हूँ कि गोपियाँ जब श्रीकृष्णके पास आयीं

थीं—अब यह देखो श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके सम्प्रदायके अनुसार व्याख्या है—तो उनके अन्दर अभिमानकी मात्रा थी; तो जो लेकर आयी थीं वही उनको दिया। मान दिया—यह भगवान्‌का स्वातन्त्र्य है। मान दिया, तो मानमें मान डाल दिया। क्योंकि जो आदमी लाता है वही उसको मिलता है; प्रेम लाओ तो प्रेम मिलेगा। मान लाओ तो मान मिलेगा। भगवान्‌ने कहा—इनके अन्दर जो मान है वह अभी छिपा हुआ है, आगे जब हम इनके साथ रास-विलास करेंगे तो जाहिर हो जायेगा और जब जाहिर हो जायेगा तो उस समय ये सब आपसमें लड़ेंगी क्योंकि अभिमान अभिमानसे लड़ता है, मान मानसे लड़ता है। तो जिस समय रसका समय होगा उस समय ये आपसमें मान करके लड़कर के रसको किरकिरा कर देंगी। अतः क्या करना कि पहले ही उसको दूर करना। यह श्रीकृष्णका प्रेमहै, हाँ! देखो;—हमारा प्यारा सामने आये और उसके मुँहपर कहीं कोई काला दाग लगा हो तो आप पोंछ दोगे कि नहीं? है न! हमारे चश्मेमें जब चन्दन लगा होता है, फूल लगा होता है तो लोग उसको दूर कर देते हैं कि नहीं? तो कृष्णने कहा—इतना प्रेम लेकर ये गोपी आयीं, हमने इनको बुलाया। आजतक कभी किसी मानवालेको तो मैं प्राप्त हुआ नहीं हूँ, लेकिन यदि मैं कह दूँ कि गोपियो, तुम्हारे अन्दर बहुत मान है तो? अरे! कहेंगी कि हमारे अन्दर मान कहाँ? इनको तो दिखता ही कहाँ है? तो भगवान्‌ने थोड़ा और मान मिला दिया। अहा-हा, क्या सुन्दरी हो, क्या मधुर हो, हम तो तुम्हारे ऊपर लट्टू हैं, अपना प्राण देनेको तैयार हैं तुम्हारे लिए! मान देना क्या है?

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणां उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

एवं भगवता कृष्णाल्लब्धमाना महात्मानः दोनों हाथ फैलाकर भगवान् खड़े हैं कि आओ गोपियो आओ, हमारे हृदयसे लग जाओ, मैं आदिकालसे दोनों हाथ फैलाकर तुम्हारे लिए खड़ा हूँ कि एक दिन गोपी आवेगी, हमारे हृदयसे लगेगी! बाहुप्रसार है न! अब जो गोपी पास आयी, उसको लेकर हृदयसे लगा लिया—***परिरम्भकरालकोरुनीवीस्तन***—किसीका हाथ पकड़ लिया, किसीकी चोटी पकड़कर खींच ली, किसीके पाँवपर एक हाथ लगाया, किसीके हृदयको छू लिया। यह क्या है? बोले—यह सम्मान है, उनका। यह काहेके लिए किया? इसलिए किया कि जिस दोषको लेकरके वह आयी थी, उसको थोड़ा बढ़ाकर, दोषको जाहिर कर दें जिससे दोष जाहिर कर देनेपर बिल्कुल छूट जाये। इस तरह हम देखते हैं कि—***'कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथा कर्त्तुं'*** समर्थने जिसके ऊपर इतना प्रेम

नहीं करना चाहिए, उसके ऊपर भी प्रेम किया। *'मुख्यं तु तस्य कारुण्यम्'* उनके हृदयमें प्रेम है, संसारको अपनी ओर खींचनेके लिए अनुपम वात्सल्य है, महान करुणा श्रीकृष्णके हृदयमें है।

तो पहले अध्यायमें जो ***बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु*** है—यह रूपरमण है, उनके मानरूप दोषके निवारणके लिए। यह लेकिन जब मानरूप दोष आ गया—*'तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः'* तब रूप-रमणकी योग्यतापर पर्दा पड़ गया, आवरण आ गया; इसीसे भगवान् अन्तर्धान हो गये—***तत्रैवान्तरधीयत।*** कहा—अभी रूपरमणकी योग्यता इनमें नहीं है, फिर कहाँ रमण करें ये? बोले नामरमणकी योग्यता है तो ढूँढ़ो उनको जंगलमें—हे तुलसीजी! तुमको छूते हुए गये हैं, हे मालती, देखा है तुमने? हे अश्वत्थ, हे कपित्थ, हे वट, हे पीपल! तुमने देखा है? हे धरती! तुम्हारे ऊपर पाँव रखा है। देखो—दूसरे अध्यायमें यह बात आयी है। यह भगवान्के यशका वर्णन है। रूपके साथ तो विहार किया भगवान्ने शुरूमें, लेकिन जब उनको मान आ गया तो बोले—ये सामने रहने लायक नहीं हैं। अभी अकेलेमें बैठकर थोड़े दिन ध्यान करें, थोड़े दिन माला फेरें, थोड़े दिन पूजा करें; जब इनका प्रेम बढ़ेगा तब फिर हमारे पास आकर हमसे मिलने लायक होंगी। तो रासपञ्चाध्यायीका यह दूसरा अध्याय जो है न-यह भगवान्के यशका वर्णन है। इसमें गोपी ऐसा भी वर्णन करती है—**किं ते वराहवपुषःपरिरम्भ णेन,** अरी पृथिवी! वाराह अवतार उन्होंने ही लिया था और तुमसे कितना प्रेम किया था। आपको यह भगवत्प्रेमकी बात सुनाता हूँ-भगवान् गोपियोंसे कितना प्रेम करते हैं! ***वराहवपुषः परिरम्भणेन,*** प्रेमीका अगर कोई उदाहरण है पृथिवीमें, तो वाराहके बराबरका दूसरा है नहीं! वराह माने सूअर। तो वराहका सबसे बड़ा प्रेम क्या है? देखो, जब पानीमें धरती डूब गयी थी, तो खुद पानीमें डूबकर उसको निकाला, मुँहपर लेकर निकाला। और जलपर स्थापित किया। वराहका मुँह आप देखना, धरतीपर लगा ही रहता है अर्थात् पृथिवीका निरन्तर चुम्बन करना वराहका धर्म है और नारायण, पृथिवीकी जो सबसे गन्दीसे गन्दी स्थिति है वह भी वराहको प्यारी है। यही तो प्रेम है कि अपने प्रियतमकी गन्दीसे गन्दी चीज भी, गन्दीसे गन्दी स्थिति भी प्रेमीको प्यारी लगती है। इस बातका उदाहरण कहीं सृष्टिमें है तो वराहके जीवनमें है; यह भी तो भगवद्रूप है न। गोपीने यह यशका गान किया कि तुम तो इतने प्रेमी हो, पृथिवीकी गन्दगीको अपना भोग्य बनाते हो, पृथिवीकी गन्दगीको तुम खाते हो, पृथिवीसे तुम्हारा इतना प्रेम और हमको छोड़कर चले गये? समग्र यशका वर्णन है। इसमें एक वर्णन और बहुत विलक्षण है। भगवान्की

वीर्यवत्ताका वर्णन है, समग्र वीर्यका वर्णन है। वह क्या वर्णन है? अन्तर्धान होनेके बाद भी भगवान् तो परमानन्दमें ही मग्न हैं, भगवान् दु:खी नहीं हैं, गोपियाँ दु:खी हैं लेकिन भगवान् दु:खी नहीं हैं; क्योंकि जिसके हृदयमें प्रेम है वहाँ भी परमानन्द है।

अच्छा, अब गोपी-गीतका जो प्रसङ्ग है तीसरे अध्यायमें, भगवान्‌के समग्र ज्ञानका वर्णन है। उसमें भगवान्‌के प्रेमका वर्णन तो है ही, भगवान्‌के तत्त्वका भी वर्णन है—***न खलु गोपिकानन्दनो भवान्*** तथा ***विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते,*** इत्यादि।

चौथे अध्यायमें भगवान् प्रकट हुए उनका क्या सौन्दर्य वर्णन है—

"पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः" कामदेवके मनको भी मन्थन करनेवाला भगवान्‌का सौन्दर्य! मन्मथमन्मथ होकर श्रीकृष्ण प्रकट हुए। अब उसमें देखो भगवान्‌के प्रेमका वर्णन! क्या? गोपियोंने पूछा कि एक ऐसा होता है कि प्रेम करनेपर प्रेम करता है, एक प्रेम न करनेपर भी प्रेम करता है और एक प्रेम करनेवालेसे प्रेम नहीं करता है—तीनोंमें श्रेष्ठ कौन? यह गोपियोंका प्रश्न है। अब देखो—श्रीकृष्ण कितना प्रेम करते हैं! इस प्रसङ्गमें वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

श्रीकृष्णका जो सौन्दर्य है, उनकी जो श्री है, वह पराकाष्ठाको प्राप्त हो गयी! ये कपड़ेकी सुन्दरतासे सुन्दरता नहीं होती, चमड़ीकी सुन्दरताका नाम सुन्दरता नहीं है। तुलसीदासजीने इसपर व्यंग्य किया है—***विषरस भरा कनक घट जैसे।*** हृदयके सौन्दर्यका नाम सौन्दर्य होता है। गोपीने कहा—तुम प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते, कृतघ्न हो! गोपियोंके मुँहसे यह शब्द निकला कृतघ्न हो। श्रीकृष्णने कहा—कि मैं जानता हूँ कि तुमलोगोंने मेरे लिए कितना त्याग-वैराग्य किया—**मदर्थोज्झित-लोकवेदस्वानां**—मेरे लिए तुमने लोक छोड़ा, मेरे लिए वेद छोड़ा, मेरे लिए शरीर छोड़ा, मैं तुम्हारे प्रेमको पहचानता हूँ। गोपियो! इतना प्रेम होनेपर भी जो तुम्हारे अन्दर गर्व है उस दोषको धोनेके लिए मैंने यह साबुनका काम किया है; तुम्हारे हृदयमें और चिकनाई, और स्नेह, और प्रेम लानेके लिए मैं अन्तर्धान हुआ था। मैं तो कभी तुमसे उऋण नहीं हो सकता।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां—ब्रह्माकी आयु लेकर भी हम तुम्हारी सेवा करें तो हम तुमसे उऋण नहीं हो सकते! यह श्रीकृष्णके प्रेमका वर्णन है। श्रीकृष्ण प्रेम करते हैं। यह हुई प्रेम-सौन्दर्यकी बात। श्रीकृष्णका सौन्दर्य जो है वह हृदयका सौन्दर्य है। प्रेमीके प्रति कृतज्ञताका सौन्दर्य है।

अब उसके बाद रासपञ्चाध्यायीके अन्तिम अध्यायमें धर्मका वर्णन है; यह भगवद्धर्म है। यह धर्मके प्राकट्यसे धर्मीका प्राकट्य है—

पादन्यासैः भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः
भज्यन्मध्यैः चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।

यह भगवद्धर्मका प्रकाश है। जैसे सूर्यकी प्रभा जब धरतीमें छा जाती है तो यह जहाँसे आती है उस सूर्यका पता लगता है—सूर्य धर्मी है और प्रभा उसका धर्म है; इसी प्रकार जब भगवान् रास-विलास करते हैं; रसका विस्तार करते हैं तब ये रसेश्वर हैं, रसिकतत्त्वचूडामणि हैं, रसिकेन्द्रचक्रवर्ती हैं, धर्मीका यह रस-स्वरूप प्रकट होता है! और अन्तमें वैराग्य देखो—हे भगवान्! गोपियाँ तो चाहती नहीं हैं कि श्रीकृष्णको छोड़कर जायँ। गोपियोंको तो-***केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा***-अपने बालका ख्याल नहीं, अपने कपड़ेका ख्याल नहीं, छातीपर जो कपड़ा बाँधते हैं, इसका भी गोपियोंको ख्याल नहीं, नूपुरका ख्याल नहीं, कङ्कनका ख्याल नहीं, केशका ख्याल नहीं, अपने शरीरका ख्याल नहीं, सब कुछ भूल गयीं गोपियाँ और श्रीकृष्णको छोड़कर जानेके लिए तैयार नहीं—***अनिच्छन्त्यो ययुः*** पर अनिच्छा होनेपर भी घर वापस गयीं। कैसे गयीं? तो भगवत्प्रेममें जो वैराग्य है, उसका स्वरूप दूसरा है और संन्यासियोंके निर्गुण ब्रह्ममें जो वैराग्य रहता है उसका स्वरूप दूसरा है। भगवान्ने कहा—तुमको सगुण साकार ब्रह्ममें जैसा वैराग्य रहता है, वैसा रहना चाहिए; प्रेम करो हमसे, और रहो घरमें, ठीक ठिकानेसे। गोपियाँ घर जाना थोड़े ही चाहती थीं, '***अनिच्छन्त्यः***' जाना नहीं चाहती थीं। परन्तु श्रीकृष्णने भेज दिया। यह गोपियोंको घर भेजना, यह श्रीकृष्णका समग्र वैराग्य है। और हमेशाके लिए उनका ऋणी होना यह उनका प्रेम है—तो—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके प्रेममें अपने ब्रह्मत्वको, अपने गोलोकको, अपने वैकुण्ठको, अपने ईश्वरत्वको, और अपने धर्मार्थकाममोक्षको भी, अपनी भगवत्ताको भी, निछावर करके तब गोपीसे प्रेम करते हैं। इसीसे बोलते हैं कि प्रेमका राजा श्रीकृष्ण और प्रेमकी रानी गोपी। आपको इसका दूसरा पक्ष कल सुनावेंगे!

४३

रासलीलाका अन्तरङ्ग-२

(गोपी-प्रेमकी विशेषता)

प्रेमी कृष्ण हैं, और प्रेयसी प्रियतमा गोपियाँ! और श्रीकृष्ण कितना प्रेम करते हैं कि अपना समग्र भगवत्त्व, अपनी समूची सारी भगवत्ता, गोपियोंको अपनेसे मिलानेमें खर्च करते हैं। अपना सारा ऐश्वर्य, सारा धर्म, सारा यश, सारी श्री:, सारा ज्ञान और सारा वैराग्य—अपनी सारी भगवत्ता दाँवपर लगाकर भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंको अपनी ओर आकृष्ट किया—यह बात आपको कल सुनायी थी। ध्वनिके द्वारा बुला लेना, वाक्‌के द्वारा मना करना, और मना करनेपर उनके न माननेका उनके अन्दर सामर्थ्य उत्पन्न कर देना, उनके मुखसे यश-श्रवण करना, रूप-रमणमें गर्व आना, यद्यपि गोपी गर्व लेकर आयी हैं तथापि उनको स्वीकार कर लेना, गर्व देखकरके अन्तर्धान हो जाना, अन्तर्धान होनेपर भी सुखी रहना, और रूपरमणके स्थानपर नामरमण, यशोरमण, कीर्तिरमण, करवाना—पूजा करो, पाठ करो, माला फेरो—गोपीगीतके रूपमें ज्ञानका वर्णन करवाना, आविर्भावके रूपमें अपनी श्री, सौन्दर्य प्रकट करना, प्रेम-प्राकट्यके रूपमें गोपियोंके प्रेमके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, गोपियोंके ***न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं***—और उनके सामने अपनी भगवत्ताका आविर्भाव—***पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः***—अनेक रूप होना, उनके हृदयमें होना, गोपियोंका तन्मय हो जाना, और अन्तमें कह देना कि लो तुम अपने घर जाओ—यह नहीं कि रास करनेसे भगवान्‌के वैराग्यमें या अपनी असङ्गतामें रत्तीभर कमी आयी हो! गोपी जाना नहीं चाहती थीं, पर चली गयीं। **अनिच्छन्त्यो ययुः।**

श्रीमद्भागवतमेंजो श्रीकृष्णका रूप है। वह जरा प्रेमीरूप है। श्रीमद्भागवतपर जैसे श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके निबन्ध आदि अनेक ग्रन्थ हैं; सम्प्रदायके भी हैं, लेख हैं, महाप्रभुके हैं, विट्ठलप्रभुके हैं, गोकुलरायके हैं, हरीरायके हैं; वैसे चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें भी सनातन गोस्वामी, जीव गोस्वामी, रूप गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती, बलदेव विद्याभूषण अनेक महात्मा लिखते हैं। श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें

श्रीकृष्णके प्रेमको मुख्य मानते हैं। इतना प्रेम है श्रीकृष्णमें कि गोपियोंके अयोग्य होनेपर भी उनको योग्य बनानेके लिए अपनी समूची भगवत्ताका जोर लगाकरके उनको अपने विहारके योग्य बना लेते हैं। श्रीरूप गोस्वामी 'सन्दर्भ' में कहते हैं कि श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्ण तो प्रेमी हैं, कैसे उनको कुरुक्षेत्रमें जब यशोदा-नन्द मिल गये तो अपना सिर उनकी गोदमें रख दिया और रोने लग गये; यह रोनेवाला भगवान्! मइया लेती है हाथमें साँटी और वे डरते हैं। कहते हैं—मइया, मैंने अपराध नहीं किया है। मइया बाँधती है ऊखलमें, तो बँध जाते हैं। मइयाकी गोदमें सिर रखकर रोने लगते हैं। सुदामाजी आते हैं तो उनको हृदयसे लगा लेते हैं, ***प्रीतो व्यमुञ्चत् अब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः***—टपाटप आँखोंसे आँसू गिराते हैं—

पानी परातको हाँथ छुओ नहिं, नयनन के जल सों पग धोये॥

भला बताओ, जिसकी आँखसे आँसू गिरे प्रेममें वह भगवान्? स्वयं भगवान् अपने भक्तके प्रेममें रो रहे हैं। उधर कुण्डनपुरसे चिट्ठी आयी तो बोलते हैं कि ब्राह्मणदेव, हमको तो नींद ही नहीं आती। ***तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।*** हमारा ऐसा मन लग गया है वैदर्भीमें कि हमको तो रात-रात नींद ही नहीं आती। चिन्ता, अनिद्रा, रोदन, सब तो है श्रीकृष्णमें! बोले भाई—ऐसे प्रभुसे, ऐसे भगवान्से, जो इतना बड़ा हो करके अपने प्रेमीसे, अपने भक्तसे, इतना प्रेम करता है, यदि कोई प्रेम न करे, तो उससे बढ़करके बुद्धिहीन और कौन होगा!

अब थोड़ी-सी दृष्टि गोपीके प्रेम पर ***नारायण!***

उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार—एक बात आप देखो कि पढ़ते तो हैं रोज, पर बात सूझती है कभी-कभी। आप नारायण देखो, गोपियोंके बारेमें शुकदेवजीकी गवाही यह है—**तदर्थ-विनिवर्तित-सर्वकामाः**—श्रीकृष्णके लिए उन्होंने कामको भगा दिया है, लौटा दिया है कि जाओ तुम मनुष्यलोकमें जाओ, पाताललोकमें जाओ. स्वर्गमें जाओ, हमारे पास मत आओ। गोपियाँ स्वयं कहती हैं—***सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलं भक्ताः*** सब विषयोंका परित्याग करके हम तुम्हारे चरणारविन्दकी प्रेमिका हैं। बोले—फिर गोपियोंमें यह काम आया कहाँसे? गोपियाँ तो निष्काम प्रेमी हैं, गोपियोंमें काम आया कहाँसे? यहाँ आप देखो—***उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार***—गोपियोंके हृदयमें जो काम था उसको तो गोपियोंने भगा दिया था, परन्तु अब—***रतिपतिं उत्तम्भयन् उद्दीपयत्***—भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके हृदयमें एक नये कामकी स्थापना की; उनको नये दिव्यकामसे उद्दीप्त किया। माने प्राकृत कामको गोपियोंने छोड़ दिया था, जो अंग-संगसे

सम्बन्ध रखता है, जिसकी महात्मा लोग निन्दा करते हैं, जो स्वसुखकी वासना है। अब भगवान् श्रीकृष्णने अपने हृदयमें-से एक नया काम पैदा किया। वह ब्रह्माकी सृष्टिमें जो काम है सो नहीं; जो अधर्म और झूठके वशमें काम होता है सो नहीं; जो सृष्टिकी परम्परामें काम है सो नहीं। भगवान्‌ने एक भगवदीय कामकी सृष्टि की—*उद्दीपयन् उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चाकार*—एक नया काम!

अब जरा गोपियोंपर एक दृष्टि डालें। गोपीके हृदयमें काम नहीं था। श्रीकृष्णने कहा कि ओ! मेरे हृदयके काम! तुम चलकर गोपियोंके हृदयमें बैठ जाओ और वे वासनावानोंकी तरह, कामनावालोंकी तरह, लालसावालोंकी तरह व्याकुल होकर मेरी ओर आवें। तो गोपियोंका काम साधारण काम नहीं है-क्या कैसा काम है—इसकी एक-दो बात आपको सुनाते हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी वर्णन करते थे कि काममें और प्रेममें बाल बराबर फर्क है। क्या फर्क है? कि—जहाँ काम होता है वहाँ अपने प्रियतमके सुखमें सुख नहीं। है, अपने सुखमें सुख है। एक स्त्रीने समझो रातको सोते हुए अपने पतिको जगाया, उठो! वह बेचारे दिनभरके थके हुए थे; विश्राम कर रहे थे। तो उसने क्यों जगा दिया कि निद्रामें जो उनको शान्ति थी जो विश्राम था, उससे कुछ अधिक सुख देनेके लिए; सृष्टिमें निद्राके समय आदमी जितना निश्चिन्त हो जाता है, और जितना विश्राम करता है, उतना सुख संसारमें जगाकरके कोई नहीं दे सकता। समाधि और निद्रामें इतना ही फर्क है कि निद्रा प्राकृत रूपसे होती है, और समाधि जीवके प्रयत्नसे अभ्याससे होती है। अभ्यासजन्य होनेसे समाधिमें सुखकी कल्पना ज्यादा होती है। और बिना प्रयत्नके प्राकृत होनेके कारण सुषुप्तिमें उतने सुखकी कल्पना नहीं होती है। तो काममें अपने सुखकी लालसा है, अपने सुखकी वासना है, और गोपीके प्रेममें? ***तस्मिंस्तु तत् सुखे सुखित्वम्*** गोपीके प्रेमकी विशेषता क्या है? क्या गोपी कभी सुखी नहीं होती? गोपी सुखी होती है परन्तु वह अपने प्रियतमको सुख पहुँचाकर सुखी होती है। एक पत्नी हो घरमें, उसने अपनी भूखके मुताबिक बढ़िया भोजन बनाया और खूब खा लिया, अपनी क्षुधाकी तृप्ति कर ली; और उसके बाद थोड़ा-सा अपने पतिके लिए भी रख दिया। श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीने कई कहानियाँ लिखी थीं—नयी लोक-कहानियाँ, अलबेली कहानियाँ—वह तो बहुत पुराने लेखक हैं। तो ऐसा लिखा था उन्होंने कि एक स्त्री अपने पतिको तो रूखा-सूखा खिलाती थी और अपने लिए बोलती थी कि आज ऐसा व्रत है, ऐसा त्योहार है—आज छनछन त्योहार है, आज मनमन त्योहार है तो आज जो बढ़िया चीज बनेगी वह पुरुषोंके खानेके लिए नहीं है, स्त्रियोंके लिए ही है! यह क्या हुआ कि अपने

सुखमें सुखी होना। गोपीके प्रेममें क्या विशेषता है? उद्धवजीने कहा—अरी गोपियों, श्रीकृष्णके विरहमें तुमको बड़ा दुःख है, तुम हमें आज्ञा दो, हम तुम्हारे चरणोंकी धूलि अपने सिरमें लगाकर आज ही मथुरा जाते हैं और श्रीकृष्णको पकड़कर ले आते हैं। कैसे नहीं आवेंगे, हम उनके सखा हैं! गोपीने कहा—उद्धवजी, यदि हम अपना दुःख दूर करनेके लिए और अपने सुखके लिए उनको बुलाती होवें तो वे कभी नहीं आवें।

स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात्कदापि।

उनके आनेसे हमको सुख होगा—यह हम मानती हैं लेकिन हमें सुख देनेके लिए यदि उनको सङ्कोच हो तो वे कभी न आवें; हम दुःखमें प्राण दे सकती हैं, परन्तु अपने सुखके लिए हम प्रियतमको यहाँ आनेके लिए कभी जिद नहीं कर सकतीं!

जो सेवक साहिबहिं संकोची। निज सुख चहत ताहि मति पोची॥

भरतजी क्या बोलते हैं—जो सेवक अपने स्वामीको संकोचमें डालकर सुख चाहता है उसकी बुद्धि छोटी है। ***समुझहिं राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहैं गुरु साहिब द्रोही॥***

चाहे राम मुझे कुटिल समझें, मुझे अपना प्रेमी न समझें और चाहे लोग भी कहें कि भरत रामचन्द्रका, और गुरुका द्रोही है। परन्तु—

सीताराम चरन रति मोरे।
अनुदिन बढ़ऊ अनुग्रह तोरे॥

हमारे हृदयमें आपके अनुग्रहसे सीता-रामचन्द्रका प्रेम बढ़े।। न हमें लोक-प्रसिद्धिकी आवश्यकता है, न रामचन्द्रकी स्वीकृतिकी आवश्यकता है, न हम उनको सङ्कोचमें डालना चाहते हैं, और न तो हम अपना सुख चाहते हैं; हम तो चाहते हैं बाबा उनको जैसे सुख हो वही हो!

यद्यल्पापिक्षतिरुदयते तस्यमागात्कदापि—गोपी कहती है कि उनके आनेसे हमको मनोलाभ होता है लेकिन यहाँ आनेसे यदि उनको रत्तीभर भी हानि होती है तो वे यहाँ न आयें; तुम नीके रहो, वहींपर रहो। नारायण, गोपियोंके प्रेमकी विशेषता यह है कि वे अपने सुखके लिए प्रेम नहीं करतीं, वे भगवान्को सुख देनेके लिए भगवान्से प्रेम करती हैं। इसका नाम प्रेम है। तो बाल बराबर फर्क क्या है? अपने सुखसे सुखी होना—इसका नाम काम है; अपने सुख और स्वार्थके लिए चाहना इसका नाम काम हैं; और अपने प्रियतमके सुखके लिए और उसके स्वार्थके लिए उसको चाहना इसका नाम प्रेम है—

महराज राम पै जाऊँगो।
सुख स्वारथ परिहरि करिहौं सोई जेहि साहिबहि सुहाऊँगो॥

'सुख स्वारथ परिहरि'—सुख और स्वार्थ—तो मोक्षसुख भी, कामसुख भी, अर्थसुख भी, धर्मसुख भी, सुख और स्वार्थ दोनों छोड़कर 'करिहौं सोई, जेहि साहिबहि सुहाऊँगो'! प्रेमकी रीति निराली है, भला! गोपियोंके प्रेममें है ***तत् सुखे सुखित्वम्।*** गोपियाँ क्या सुखी नहीं होती हैं? जिस समय उद्धवजी आये, उस समय व्रजको देखकर यह नहीं मालूम पड़ा कि व्रजमें कोई दुःख है! वैसे ही गायें तगड़ी, बछड़े छलांग भर रहे, वैसे गाँवमें सफाई, सबके घरमें भोजन, वैसे ही सबका स्वच्छ वस्त्र, कोई प्रोषितपतिकाकी तरह उदास गोपी नहीं मिली सारे व्रजमें; और सबेरे जब उठे, तो घर-घर मणियोंके दीपक प्रज्वलित हो रहे हैं, और कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण ध्वनिके साथ, दधि-मन्थन हो रहा है; माङ्गलिक शब्द हो रहा है। उद्धवजीने कहा—बात क्या है? बोले—इनके मनमें यह है कि कहीं आज कृष्ण आ जायँ और देखें कि हमारी गैया दुबली हो गयीं,हमारा बछड़ा दुबला हो गया, हमारी गोपीके कपड़े मैले हैं, उसके शरीरपर शृङ्गार नहीं है, हमारे व्रजमें झाड़ू नहीं लगी है, तो उनके कोमल चित्तमें कितना दुःख होगा? इसलिए पहलेसे ही तैयार रहना चाहिए, बाबा, शायद आज आ जायें,आवेंगे तो जरूर! ऐसा नहीं कि वे नहीं आवेंगे! आशाबन्धन नहीं टूटता! प्रेमका यह स्वभाव है कि उसमें आशाबन्धन नहीं टूटता। जरूर आवेंगे श्यामसुन्दर और हमको यदि दुर्दशामें देखेंगे तो उनको बड़ा कष्ट होगा। यह प्रीति की रीति है।

दूसरी रीति देखो गोपी की! जैसे देखो, हमारे साधक लोग, भजन करनेवाले, आकर हमसे प्रश्न करते हैं कि महाराज! माला फेरते हैं तो भगवान्‌की याद नहीं आती,बेटे-बहूकी याद आती है,दुश्मनकी याद आती है, तो ये कैसे मिटे? और गोपी?

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्योःधन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

या दोहने—गोपी कहती है कि गाय दुहते समय बड़ी गलती हुई? क्या हुआ? कि हमारे बगलमें आकर कृष्ण बछड़ेकी तरह मुँह करके कहता है कि हमारे मुँहमें दूध दो! तो हमने तो ऐसा समझकर कि आज सारा दूध कृष्णके मुँहमें दुह रही हूँ दूध दुहा,तो बर्तन तो रह गया खाली, और दूध सारा बह गया माटीमें जब सावधान होकर देखती हूँ तो वहाँ कृष्ण था ही नहीं। देखा, उल्टा हुआ न!

एक आदमी कहता है माला फेरते हैं और घरकी याद आती है और गोपी कहती है हम घरका काम करती हैं और मन कृष्णमें चला जाता है।

एक दिनकी बात है—एक गोपी यमुनाजी गयी थी, पानी भरने; पर पानी नहीं भरा गया तो यमुनाजीसे थोड़ी दूरपर, बालूपर लगाया सिद्धासन और पीठकी रीढ़ सीधी की, और सिर सीधा किया, और आँख अधखुली करके और हाथ दोनों गोदमें रखकर बैठ गयी। थोड़ा प्राणायाम किया, और समाधिस्थ होने लगी। नारदजी आ गये। **कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण, श्रीकृष्णःशरणं मम, श्रीकृष्णः शरणं मम।** गोपी झट सावधान हुई और बोली—बाबा ठहरो, उसका नाम मत लो। नारदजीने कहा—एक बात सुनो गोपी, तुम यह कर क्या रही थी? क्या कृष्णका ध्यान कर रही थी? क्या कृष्णकी मानसी सेवा कर रही थी? बोली—बाबा! उसका नाम मत लो। आज सबेरे उठी, गाय दुहने गयी, तो धोखेमें रही, न कृष्णके मुँहमें दूध गया, न बाल्टीमें आया, सारा माटीमें गया। घर लीपने गयी तो ऐसे लगे कि आगे-आगे मैं घर लीपती हूँ और पीछे-पीछे वह नाच-नाचकर लीपा हुआ बिगाड़ देता है, तो फिर दुबारा लीपा, फिर तिबारा लीपा, पर वहाँ कृष्ण तो आया नहीं था! वह हमारे मनका भ्रम था। धान कूटने गयी चावल निकालनेके लिए, तो आकर मालूम पड़े कि मूसल पकड़ लेता है। लेकिन वहाँ तो कुछ नहीं था। बाबा—कृष्णका कोई दोष नहीं है, दोष तो मेरे मनका है जो मालूम पड़ता है कि उसने मूसल पकड़ लिया। दही मथने गयी तो मालूम हुआ कि आकर कहता है कि हमें माखन दे दो अब सारा। माखन निकला और धरतीमें गया, क्योंकि वहाँ कृष्ण तो था नहीं, बस हमको ऐसा मालूम पड़ता था। एक काम घरका नहीं हुआ, सबेरेसे पानी भरने आयी, यमुनाजीमें घड़ा डुबाया तो मालूम पड़ा कि पकड़ लिया उसने, मैं इधर खींचूँ और वह उधर खींचे; यमुना-जलमें खींचाखींची हुई। गौरसे देखा तो वहाँ कृष्ण कहीं नहीं है, वह मेरे मनका भ्रम था। तो बाबा, मैंने सोचा, कृष्णका कोई दोष नहीं है, यह मेरे मनका दोष है। तो आओ, योगशास्त्रकी रीतिसे आसन साधकर-शरीर सीधा करके, आँख अधखुली करके, प्राणायाम करके अपने मनको पहले वशमें करें। हम मन वशमें कर रही हैं, इसलिए नहीं कि कृष्णमें लगे, हम मन वशमें कर रही हैं इसलिए कि हम इसको काबूमें रखें, कृष्णसे अपने मनको हटावें। कृष्णमें मन सटानेके लिए ध्यान-उपासना, कोई समाधि नहीं लगा रहे हैं। कृष्णसे मन हटानेके लिए हम समाधि लगा रही हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनोधित्सन्ते,
बालेयं विषयेषुधित्सतितत प्रत्याहरन्ती मनः।

यस्यस्फूर्ति लवायहन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते,
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयात् निष्कान्तिमाकांक्षति॥

नारद बाबा बोले—देखोबड़े-बड़े ऋषि, मुनि, संन्यासी अपने मनको प्राणायाम प्रत्याहार आदि साधनसे अपने मनको लगाना चाहते हैं श्रीकृष्णमें, और लगता नहीं; और ये गाँवकी गँवार गोपी कृष्णमेंसे मन हटानेके लिए प्राणायाम-प्रत्याहारका अभ्यास कर रही हैं। जिसके लिए लोग बड़े-बड़े ऋषि चाहते हैं कि हमारे हृदयमें एक बार श्रीकृष्णका पीताम्बर फहरा जाय, नख-छटा चमक जाये, गोपी चाहती है कि वह हमारे हृदयमेंसे निकल जायँ और निकाले नहीं निकलता है।

तो गोपीके प्रेममें जो यह तन्मयता थी उसके कारण भगवान्‌को अपने हृदयमें बसानेके लिए नहीं, निकालनेके लिए साधन करना पड़ता था।

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधिभाजन शिर पर धरे कहति गुपालहिं लेहु॥

ग्वालिनके सिरपर दहीका बर्तन है और गाँवमें पुकारती है—कोई गोपाल लेगा, गोपाल! उसके शिरका दही उंसके लिए गोपाल हो गया है, भला!

तन्मनस्काः तदालापास्तद्विचेष्टाः तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

गोपीके हृदयमें इतनी तन्मयता इतनी तन्मयता, **तन्मनस्का स एवं मनो याषां**—गोपीका मन क्या है? कभी गोपीने अपनी आँख मोड़ी, देखें भीतर क्या है? हमारा मन क्या कर रहा है? देखा तो मन मिला ही नहीं। वहाँ क्या है? वहाँ तो कृष्ण है, मन तो है ही नहीं—

तेरी गली में आकर खोये गये हैं दोनों।
दिल तुमको ढूँढ़ता है, मैं दिल को ढूँढ़ता हूँ।

अपने दिलको ढूँढ़नेके लिए अन्तर्मुख हुए तो वहाँ दिल नहीं मिला। कौन मिला? वहाँ तो कृष्ण मिला। यह है **तन्मनस्काः** गोपीकी बातचीतमें कृष्ण—**तदालापाः**। गोपीकी चेष्टा भी श्रीकृष्णके लिए—**तद् विचेष्टाः तदात्मिकाः** गोपीकी आत्मा भी श्रीकृष्ण उन्हींका गुणगान। यह बात कृष्णने मानी—

ता मन्मनस्काः मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठं आत्मानं मनसा गताः॥

ऐसी तन्मयता गोपियोंके प्रेममें. ऐसी तन्मयता, कि गयी थी दही बेचनेके लिए—परन्तु—'**आपहि गई बिकाय**'। नारायण, दही तो बेच नहीं सकी, खुद ही बिक गयी।

और गोपीकी बात आपको सुनावें! यह आपको थोड़ीसी वेदान्तकी बात, केवल लखानेके लिए। वेदान्ती ऐसा मानते हैं कि जैसे समझो फूलका ज्ञान हो, तो वहाँ दो ज्ञान होते हैं—**इदं पुष्पं** तथा **अहं पुष्पं जानामि**—यह फूल है **इदं पुष्पम्** इसको बोलते हैं वृत्ति व्याप्ति, हमारी वृत्ति फूलमें व्याप्त हो गयी, पुष्पाकार हो गई और **अहं पुष्पं जानामि**—मैं फूलको जानता हूँ, यह फूल देखनेका फलज्ञान हुआ। इसको बोलते हैं फलव्याप्ति। परन्तु जब ब्रह्मज्ञान होता है तो '**अहमेव ब्रह्म** मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान तो होता है। परन्तु मैं ब्रह्मको जानता हूँ यह अभिमान उदय नहीं होता है। ब्रह्म घड़ीकी तरह या फूलकी तरह या किताबकी तरह या आदमीकी तरह ज्ञेय नहीं है। ब्रह्मज्ञानमें **अहं ब्रह्मज्ञानी** इत्याकारक अभिमान नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म घट-पटादि जड़ वस्तुओंके समान ज्ञेय नहीं है। अब चलो फिर वहीं चलें जहाँ ऐसा मालूम पड़ता है कि हम बड़े प्रेमी! आप देखो, प्रेमकी उल्टी रीति और विचित्र रीति! जब यह आपको मालूम पड़े कि सामने वाला हमको बहुत प्रेम करता है, हमारे लिए व्याकुल है, हमारे लिए मर रहा है, हमारे लिए दुःखी है, तो समझना कि अब हमारा प्रेम बढ़ेगा! ***जल देखे जल बाढ़ैला*** प्रेमको देख करके प्रेम बढ़ता है। और अगर तुमको यह ख्याल हो कि हमारा प्रेम बहुत है और उसका तो बहुत थोड़ा है तो समझना कि जितना-जितना उसका प्रेम कम मालूम पड़ेगा उतना-उतना तुम्हारा भी प्रेम कम होता जायेगा। यदि उसका प्रेम ज्यादा मालूम पड़े और अपना कम मालूम पड़े तब तो अपना बढ़ेगा और उसका कम मालूम पड़े और अपना ज्यादा मालूम पड़े तो प्रेम घटेगा, क्योंकि जब प्रेमका अभिमान हो जाता है कि हम तो बड़ी सेवा करते हैं, बड़ा प्रेम करते हैं, तो अभिमान है कड़ी चीज, और प्रेम है बड़ी रसीली चासनी; तो जैसे कोई कंकड़-पत्थर लेकर प्रेमकी चासनीमें डाल दे वैसे अपने प्रेमीपनेका अभिमान जो है वह पत्थर होकरके प्रेम-रसमें पड़ जाता है। श्रीराधारानी बोलती हैं—

नक्षोदीयानपि ममसखि प्रेमगन्धो मुकुन्दे
क्रन्दन्तीं मां निजसुभगता ख्यापनायप्रतीतिः।

अरी सखी! मेरे हृदयमें प्रेम कहाँ? यह तो सूखा मरुस्थल है। क्या कभी वह सौभाग्य होगा हमारे जीवनमें, जब हमारा हृदय प्रेमके अमृत-समुद्रसे लबालब भर जायेगा? वह दिन कब होगा हमारे जीवनमें? अरे, अभी तो मैं उनके देखे बिना जीती हूँ, उनको भुलाकर सोती हूँ, उनके बिना खाती हूँ, उनके बिना हँसती हूँ, उनके बिना मैं दूसरोंको आँखसे देखती हूँ, दूसरेकी बात सुनती हूँ, मैं उनके बिना जी रही हूँ और मेरा नाम प्रेमी?

एक चौथी बात प्रेमकी बड़ी विलक्षण है। कहते हैं—

ग्वालिनि प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधिभाजन शिरपर लियो कहति गुपालहिं लेहु।

इसीमें है कि हृदय एक मन्दिर हैं—

मन्दिर ज्यों दीपक बरैं लखैं न बाहर कोय।
तृण परसत परगट भयो अब गुपुत कौन विधि होय।

जैसे मन्दिरमें भीतर दीपक जलता है पर बाहरसे वह दिखायी नहीं पड़ता, वैसे हृदय एक मन्दिर है और प्रेम उस हृदय-मन्दिरकी ज्योति है, अपने हृदय-मन्दिरका प्रकाश है। वह बाहर जाहिर नहीं होना चाहिए। एक माता थी, एकसे उनका बहुत प्रेम था। सचमुच था भला। गाँवके लोगोंने पूछा—तुम उनसे बहुत प्रेम करती हो? बोली—ना-ना, मेरे अन्दर प्रेम कहाँ है? अब महाराज! गाँवके लोगोंने तो कहना शुरू किया कि इनका बहुत प्रेम है, और वह सिद्ध करने लगी कि ना-ना, मेरा प्रेम नहीं है। फिर जब ज्यादा कहा तो या तो बोले नहीं, और या प्रेमीकी निन्दा करने लग जाय। कहती थी—प्रेम होता तो भला मैं निन्दा करती? अब लोगोंने उन दोनों प्रेमियोंके बीच निन्दाको लेकर अन्तर डाल दिया। अन्तर कैसे पड़ा? यह अन्तर ऐसे पड़ा कि प्रेम जाहिर हो गया!

प्रेमाद्वयोरसिकयोरपिदीपएव हृद्वेशमभासयति निश्चलमेष भाति।

हृदयके मन्दिरमें यह प्रेमका दीपक प्रज्वलित होता है, परन्तु—**द्वारादयं वदनतश्चबहिर्गतश्चेत्**-यदि यह मुँहके दरवाजेसे निकला तो-**निर्याति-शान्तिमथवातनुतामुपैति**-तो जैसे-दियेको आँचलसे दबाकर भी चलो न, अगर बाहरकी हवा लगेगी, तो डाँवाडोल हो जायेगा, बुझ जायेगा! प्रेमको जो जितना जाहिर करना चाहता है वह भीतर उतना ही ठन-ठनपाल हो जाता है; और जो जितना भीतर गुप्त रखना चाहता है, उसके कण-कणमें, उसके रोम-रोममें, उसके तनमें, उसके शरीरमें प्रेम प्रकट होता है। गोपीमें जो प्रेम है, नारायण! उसको गोपी अपने हृदयमें छिपाकर रखती है—**गोपनात् गोपी।**

अब देखो गोपीकी बाहरी बात सुनावें—**रतिपतिं उत्तम्भयन्** गोपीके हृदयमें कृष्णके प्रति प्रकृतिसे, स्वभावसे, जन्मसे प्रेम आया हुआ था कि कृष्णको देख-देखकर हम खुश हों, सुन-सुनकर खुश हों, हूँ-हूँ कर खुश हों, हमें खुशी मिले। श्रीकृष्ण मानो—गुड़की डली हैं और हम जीभसे चाट-चाटकर उसको खुश होना चाहते हैं। अब जब श्रीकृष्णने प्रेम किया तब उलट गया मामला! बोले कि प्यारे, तुम हमारे घर भोजन करनेके लिए पधारो, हम तुम्हारे परबलका साग बन जाँये,

एक माता है, वह गाती है—तुम हमारे घर भोजन करनेके लिए पधारो तो मैं आलू बन जाऊँ, कचौड़ी बन जाऊँ, मालपूआ बन जाऊँ। क्या मतलब हुआ कि एक तो कहता है कि तुमको देखकर मैं खुश होऊँ, और दूसरा कहता है—मैं साग बनकर तुम्हारे जीभपर स्वाद हो जाऊँ। मैं गाऊँ और तुम सुनो। मैं सुन्दर हो जाऊँ और तुम देख-देखकर प्रसन्न हो जाओ। मेरे शरीरकी सुगन्ध सूँघकर तुमको आनन्द आये, मेरे शरीरके रससे तुमको आनन्द आवे। एक प्रीतिकी रीति यह हुई—**रतिपतिं उत्तम्भयन्**—श्रीकृष्णने गोपीके हृदयमें रतिपतिको जाग्रत किया।

एक प्रेम होता है, एकाङ्गी-गोस्वामी तुलसीदासजीने चातकके प्रेमकी बड़ी भारी महिमा सुनायी है। लेकिन एक प्रेम होता है—समरथ—व्रजवासियोंने इस प्रेमकी चर्चा की है। श्रीहितहरिवंशजी एक पदमें कहते है कि चकवी और चकवा—चक्रवाक और चक्रवाकीके बारेमें यह प्रसिद्ध मर्यादा है कि वे दिनभर तो साथ-साथ रहते हैं, पर रातको अलग हो जाते हैं, नदीके उस पारका चकवा चिल्लाता है, रोता है, और इस पार चकवी रोती है। सारी रात दोनों रो-रोकर चिल्लाते हैं। तो उन्होंने कहा कि क्या चक्रवाक और चक्रवाकीका प्रेम सच्चा है? तो बोले कि नहीं, जिस प्रेममें संयोगका सुख ही उदय नहीं हुआ, उस प्रेममें अभी पूर्णता कहाँ? प्रेम तो सच्चा है लेकिन प्रेम पूर्ण नहीं है। फिर बोले कि अच्छा, यह बताओ कि सारस-दम्पती जिन्दगी भर साथ-साथ रहते हैं, एक ही सरोवरमें दोनों हँसते हैं खेलते हैं, झूमते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सैर करते है, क्रीड़ा करते हैं, दिन-रात साथ-साथ रहते हैं तो क्या सारसका प्रेम पूर्ण है? बोले कि नहीं, उनका भी प्रेम पूर्ण नहीं है क्योंकि वियोगके तराजूपर जिसका प्रेम कभी तौला नहीं गया, उसका प्रेम पूर्ण है, इसका पता कैसे लगे? तो बोले—भाई सारसका भी प्रेम पूरा नहीं और चक्रवाक-चक्रवाकीका भी प्रेम पूरा नहीं, तो प्रेम पूरा होवे कैसे? बोले कि चन्द्रमा और चकोरका प्रेम पूर्ण है? तो बोले—नहीं, चन्द्रमा और चकोरके प्रेममें भला क्या रखा है? इसी प्रकार कुई (कुमुदिनी) और चन्द्रमाके प्रेममें पूर्णता कहाँ है? फिर प्रेमका पता कैसे लगे? तो बोले कि बस एक काम हमारे हाथमें दे दो, तो हम प्रेमका पता बता दें। वह क्या? कि हम दिन भरमें सौ मर्तबा चकोरको चन्द्रमा बना दें, और चन्द्रमाको चकोर बना दें। तो चन्द्रमा चकोर बनकर देखेगा कि चकोरके हृदयमें चन्द्रमासे कितनी प्रीति होती है। और चकोरको मालूम पड़ेगा कि चन्द्रमा कितना रसीला है। ***चन्दा चकोर होय पीवै*** यदि चकोर होकर चन्द्रमा अपने रसका आस्वादन करे तब उसको मालूम होगा कि चन्द्रमाका रस पीनेमें कितना स्वाद आता है। और यदि चकोर चन्द्रमा हो जाय तब देखे कि चकोर

उसके साथ कितना प्रेम करता है। मछली पानी हो जाया करे और पानी मछली हो जाया करे तब पानीमें कैसा रस है और मछलीमें कैसी प्यास है यह एक-दूसरेको मालूम पड़े जबतक दोनों अलग-अलग हैं तबतक प्यास और रस दोनोंका आस्वादन नहीं होगा। तो देखो, यहाँ कृष्ण गोपी हो जाते हैं, और गोपी कृष्ण हो जाती है। राधा कृष्ण हो जाती है और कृष्ण गोपी हो जाते हैं; इसका वर्णन है श्रीमद्भागवतमें—

कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम्। १०.३०.१५

दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥ १०.३०.३१

कोई एक गोपी हो गयी कृष्ण और दूसरी बन गयी पूतना। दूसरी बोली अरे देखो-देखो, मैं कृष्ण, मेरी गति देखो, कैसी सुन्दर चालसे मैं चलती हूँ।

कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः 'गोपी कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण करती कृष्ण हो गयी,' राधा आपहि श्याम भई'। ब्रह्म चैतन्यमें द्रष्टा और दृश्यका भेद नहीं है। जैसे ब्रह्मसत्तामें कर्त्ता और कर्मका भेद नहीं है, ऐसे आनन्दसत्तामें भोक्ता और भोग्यका भेद नहीं है। प्रेममें राधा और कृष्णका भेद नहीं है। ऐसा अखण्ड प्रेमरससे परिपूर्ण यह श्रीकृष्ण और राधाका प्रेम जो है, वह प्रेम मालिक है। और राधा-कृष्ण दोनों उसके स्वरूपके खिलौना हैं। वह प्रेम राधाको कृष्ण बनाकर खेलता है, कृष्णको राधा बनाकर खेलता है; वह दोनोंको बनाता है, बिगाड़ता है, प्रेम मालिक है। सारी सृष्टिको चलानेवाले कृष्ण हैं और कृष्णको चलानेवाला है प्रेम। प्रेम कृष्णका सेवक नहीं है, कृष्णका मालिक है।

व्रजवासियोंके प्रेमके निरूपणमें एक विशेषता है।क्या? वे कहते हैं—प्रेम समुद्र है, और राधा और कृष्ण उसकी दो तरंगें है। राधा और कृष्ण विवर्त हैं, और विवर्ती है प्रेम, आनन्द-ब्रह्म। राधा-कृष्णमें भोक्ता-भोग्यका भेद नहीं है असलमें तो प्रेम ही प्रेम है, रस ही रस है।

४४

रास का अन्तरंग-३

(गोपीमें कामका स्वरूप)

संस्कृत भाषामें एक ग्रंथ है 'प्रेमपत्तनम्'=प्रेम का शहर,प्रेमकी नगरी; 'पत्तनम्', माने शहर जैसे दक्षिणमें विजिगापत्तनम्, विशाखापत्तनम्। 'पत्तनम्'को अंग्रेजीवालोंने पट्टनम् कर लिया है। उसीसे बिहारमें जो 'पटना' शहर है वह 'प्रेम-पत्तनम्'ही है। अब उस 'प्रेम-पत्तनम्'नामक ग्रन्थमें कथा है कि ये जो वेद हैं वे तो उस प्रेमकी नगरीकी चहार-दीवारी हैं, उसकी रक्षा करती है। बड़े-बड़े इतिहास-पुराण-न्याय वैशेषिक शास्त्र सब उसकी रक्षामें लगे रहते हैं। और 'प्रेमपत्तनम्'के राजाका नाम है-'मधुर-मेचक'। मेचक माने श्याम, काला। तो मधुर कृष्ण,मधुर श्याम वहाँके राजा हैं। उन्होंने पहले एक ब्याह कर रखा था, उनकी श्रीमती थीं शास्त्राभ्यासकी पुत्री 'मति'।मतिदेवीसे ब्याह कर रखा था। बादमें कहीं अकस्मात्-'रति'से उनकी देखा-देखी हो गयी, तो घरमें ले आये 'रति'को। (रति माने प्रीति) इसपर 'मतिदेवी'को बड़ा गुस्सा आया और वह प्रेमपत्तनम् छोड़करके फिर अपने पिता 'शास्त्राभ्यास'के घर चली गयी, और पतिव्रता धर्मका पालन करने लगी। जब 'प्रीति'का राज्य हुआ प्रेमपत्तनम्में, तो उन्होंने कुछ कानून बनाये। 'मधुर-मेचक'को बिलकुल अपने वशमें करके उन्होंने पुराने सब कानून पलट दिये। उलटा हो गया सब। तो वही उलटे कानूनकी जो नगरी है उसका नाम है प्रेमनगरी; और उसका नाम है वृन्दावन! जिन्होंने यह पुस्तक लिखी है उन्होंने वहाँ बताया है कि प्रेमनगरीमें चौंसठ कानून लागू होते हैं। उनमें-से सिर्फ एक कानूनकी चर्चा मैं अभी करनेवाला हूँ क्योंकि वे सब कानून सुननेमें और समझनेमें काफी देर लगेगी।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥

तो प्रेमपत्तनम्की एक धारा मैं सुनाता हूँ। श्रीकृष्णने रासके प्रसङ्गमें क्या किया? कि गोपियोंके हृदयमें कामको उद्दीप्त किया—**उत्तम्भयन् रतिपतिम्**। कल

सुनाया था कि कामको उद्दीप्त करनेका अर्थ यह हुआ कि पहले जैसा गोपियोंके हृदयमें काम रहा ही न हो! श्रीकृष्णने कामको जागृत किया और जगानेके लिए बड़ी कोशिश करनी पड़ी—**बाहुप्रसार, परिरम्भण**—इत्यादि, जो इस श्लोकमें है। अब दुनियामें तो लोगोंके-स्त्रीके, पुरुषके-काम तो जगा ही रहता है! ऐसा कौन पशु, पक्षी, प्राणी, मनुष्य है जिसके हृदयमें काम न हो? जो लोग कहते हैं कि मैं पूर्ण निष्काम हूँ, मैं उनकी निन्दा नहीं करता हूँ, लेकिन उनके बारेमें दो बातें कहता हूँ-या तो लोग समझते नहीं कि कामका स्वरूप क्या है अर्थात् उनमें काम रहता तो है पर पहचानते नहीं हैं। और या वे जान-बूझकर ऐसा बोलते हैं कि हमें कोई इच्छा नहीं है अथवा कि मैं निष्काम हूँ। अथवा यह भी हो सकता है कि इच्छा तो है उनके अन्त:करणमें, पर अपनेको ब्रह्म मानकर बोलते हैं कि मैं निष्काम हूँ, क्योंकि जबतक अन्त:करण है तबतक अन्त:करण तो काम उपादानसे बना हुआ है ही, उसका मसाला ही काम है। तो उसमें या तो न पहचाननेके कारण निष्कामता होती है या तो पहचान करके दम्भ किया जाता है या तो उनका काम ब्रह्मज्ञानसे दग्ध हो गया है। दग्ध अन्त:करणको निष्काम बोलते हैं—दग्ध माने भस्मीभूत। शङ्करजीने जैसे कामको जला तो दिया था, परन्तु जलनेपर भी उसका शरीर ही जला, उसकी आत्मा नहीं जली, यह तो आप जानते ही हैं। तो ये भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके हृदयमें जो काम उद्दीप्त कर रहे, इसका क्या अभिप्राय है—यह हम अब इस प्रसङ्गमें लेते हैं।

प्रेमनगरीके उल्टे चौंसठ कानूनोंमेंसे एक कानून है कि—

यत्र निष्कामत्वमेव सकामत्वं, यत्र सकामत्वमेव निष्कामत्वम्

प्रेमकी नगरीमें निष्काम रहना ही कामी रहना है, निन्दित होना है; और सकाम होना निष्काम होनेसे सौ-गुना श्रेष्ठ होना है। यह वृन्दावनका कानून है, वृन्दावनधाम, भगवत्धामका कानून है। भला कोई वृन्दावनमें रहे और वह श्रीकृष्णके दर्शनके लिए व्याकुल न हो, श्रीकृष्णकी वंशी सुननेके लिये व्याकुल न हो, श्रीकृष्णके स्पर्शके लिये उसके मनमें व्याकुलता न हो, तो वह वृन्दावनका वासी अभागा है। जो भगवान्से प्रेम नहीं करता वह दुनियामें किसी-न-किसीसे प्रेम जरूर करेगा, उसको फँसना पड़ेगा, भला! प्रेम तो वह करेगा, बच्चेसे करेगा, स्त्रीसे करेगा, पुरुषसे करेगा, धनसे करेगा, स्त्रीकी त्वचाके स्पर्शके लिए तो व्याकुल है परन्तु भगवान्के स्पर्शके लिए व्याकुल नहीं है—आश्चर्य है—**यत्र सकामत्वमेव निष्कामत्वम्**—आप देखें इस कानूनका रहस्य! भगवान्के स्पर्शके लिए यदि मनमें कामना हो तो दुनियाको छूना फीका हो जायेगा।

जो मोहि राम लागते नीके।
तौ षट रस, नवरस, अमरस, रस, हो जावे सब फीके॥
जो मोहि राम लागते नीके॥

यदि हमारे मनमें भगवत्-प्राप्तिकी कामना होती, हम उनके हृदयसे लगना चाहते; तो दुनियामें किसीके हृदयसे लगनेकी इच्छा नहीं रहती। यदि दुनियाके हृदयसे लगनेकी इच्छा होती है, और भगवान्‌के हृदयसे लगनेकी इच्छा नहीं होती, और यदि इसी स्थितिको कोई उत्तम स्थिति समझता है, तो यह मनकी उत्तम स्थिति नहीं है। इसलिए भगवान्‌के प्रति सकाम होना भी निष्कामतासे चौगुना श्रेष्ठ है। भगवान्‌के प्रति कामना होनेसे संसारकी निष्कामता तो पीछे-पीछे घूमती है कि हमको वरण करो, हमको वरण करो। संसारमें आँख एक ओर जाती है, त्वचा दूसरी ओर ले जाती है, नाक तीसरी ओर ले जाती है, जीभ चौथी ओर ले जाती है, कान पाँचवीं ओर ले जाते हैं, संसारकी कामनासे तो अन्तःकरण भरा हुआ है। और इससे छुड़ानेका जो सीधा-सरल वैज्ञानिक उपाय है कि भगवान्‌का जो परमसुन्दर रूप है, उनकी जो परमसुन्दर-परममधुर दिव्य गन्ध है, उनका जो दिव्यरस, दिव्यस्पर्श है, उनकी जो दिव्यसद्ध्वनि है, वह सब हमारी इन्द्रियोंका विषय होवे।

यत्र सकामत्वमेव संसारो निष्कामत्वम्।

जिनके प्रति कामना होना, संसारकी ओरसे निष्काम रहना है और जिनके प्रति निष्काम होना ही कामी होना है। अगर कोई अभागा भगवान्‌से प्रेम नहीं करता है, भगवान्‌को नहीं चाहता है, तो वह संसारके प्रति सकाम है क्योंकि दिल और इन्द्रियाँ तो अपना काम करेंगे। कृष्णको देखना चाहोगे तो दुनियाका रूप नहीं भावेगा। श्रीकृष्णकी कामना होना सच्ची निष्कामता है, क्योंकि इस कामनासे संसारकी कामना फीकी हो जाती है। तो संसारकी कामनाको मिटानेका यही उपाय है, कि कृष्णके प्रति हृदयमें कामनाका उदय होवे!

इसीसे महात्मा लोग कैसे बोलते हैं यह बताते हैं। पहले श्रीउड़ियाबाबाजीकी बात सुनाते हैं, फिर दूसरे महात्माकी सुनावेंगे। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज गेरुआ कपड़ेका बहुत ख्याल नहीं रखते थे; कोई काला ओढ़ा दे तो काला ओढ़ लिया, कोई लाल ओढ़ा दे तो लाल ओढ़ लिया, पीला ओढ़ा दे तो पीला और खादी ओढ़ा दे तो खादी ओढ़ लेते थे। वे जब विरक्त होकर विचरण करते थे तब लाल ही कपड़ा शरीरपर रहे, इसका आग्रह वह नहीं करते थे। जब पहले-पहल वृन्दावनमें आये तो महात्मा रामकृष्णदासजीने देखा। सफेद कपड़ा देखकर उनको ख्याल हुआ कि कोई वैष्णव हैं, तो झट अपना दुशाला लाकर बिछा दिया। बोले—

महात्मा बड़े अच्छे दिखते हो, भजन करते हो, यह बताओ कि भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे होती है कि अपने पुरुषार्थसे होती है? अब रामकृष्णदासजी थे वृन्दावनी और बाबा थे गंगा-किनारेके, तो उन्होंने कहा कि अरे, बलसे साधन करो, जप करो; 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—श्रुति है; तभी परमात्माकी प्राप्ति होती है। तब रामकृष्णदासजी पास आ गये और बड़े गौरसे देखा, बोले—तू गंगा-किनारेसे आया है क्या? बोले—हाँ। उपनिषद् पढ़ता है क्या? बोले—हाँ। तो महात्माने कहा कि तुम अभी लौट जाओ, तुम अभी वृन्दावनमें रहनेके हकदार नहीं हो! लौटा दिया बाबाको।

अब एक दूसरे ज्ञानी पुरुषकी बात सुनाता हूँ। एक बड़े ज्ञानी पुरुष थे, वह आये वृन्दावनमें। देखो, भक्ति-सिद्धान्त तत्-पदार्थप्रधान सिद्धान्त है। वैष्णव लोग भी यह मानते हैं कि ईश्वर हमारे हृदयमें विराजमान है, नित्य प्राप्त है; परन्तु वे मानते हैं कि नित्यप्राप्तिमें अभक्तिके कारण,—ईश्वरकी भक्ति, ईश्वरका प्रेम न होनेसे —ईश्वर हृदयमें रहता हुआ भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। वह कैसे प्रत्यक्ष होगा? कि जब हम अपना अहङ्कार छोड़करके दैन्य स्वीकार करेंगे, शरणागत होंगे, तब ईश्वरकी कृपासे ईश्वरका प्रत्यक्ष होगा। **यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः**—जिसके ऊपर वह कृपा करता है, उसको ईश्वरकी प्राप्ति होती है। हाँ तो, एक ज्ञानी पुरुष आये वृन्दावनमें; बोले अरे-यह वृन्दावनका काम—यह भी कोई साधन है! रास करो, विलास करो, नाचो, गाओ। अरे, महात्मालोगोंका यह काम थोड़े ही है? महात्मा लोग तो जब आसन लगाकर बैठ जाते हैं तो ईश्वर भी उसका दर्शन करनेके लिए आता है। यह क्या वृन्दावनमें कि कृष्णके लिए रोओ, कृष्णके लिए गाओ? वृन्दावनके महात्माने बताया—भाई, यहाँ गोपियोंका प्रेम बड़ा विलक्षण है! बोले—'गोपियोंमें प्रेम कहाँ, गोपियोंमें तो काम है।'

महात्मा बोले—एक बात आपको बताता हूँ कि यह भगवान् जो हैं न, वही अर्थ भी हैं, वही धर्म भी हैं, और भोग भी वही हैं, और मोक्ष भी वही हैं। जो लोग भगवान्‌को पहचानते हैं, जिनकी जान-पहचान भगवान्‌से है, वे इस बातको समझते है। वे कहते हैं कि राग है कृष्णका रूप, और यह जो माया दिख रही है न, यह हैं उनका शृङ्गार; मायाका शृङ्गार धारण करके आनन्द-स्वरूप, प्रेम-स्वरूप भगवान् जो हैं वह प्रकट हो रहे हैं। यदि जीव उनको भोग दे तो स्वयं कृतार्थ हो जाय! शृङ्गार रस है और भगवान् स्वयं आनन्द-स्वरूप हैं। जीव उनको भोग दे तो भी कृतार्थ हो जाय और उनसे भोग ले तो भी कृतार्थ हो जाय। ईमानदारीकी बात यह है कि यदि भगवान्‌को धन समझकर कोई पाना चाहे कि सबसे बड़ा धन वही है

तो लोभसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी; और कोई यह समझे कि भगवान्‌का भजन ही सबसे बड़ा धर्म है, और भगवान्‌को धर्ममूर्ति समझकर उनका भजन करे तो उस धर्मसे भी भगवान्‌की प्राप्ति होगी।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मो सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति—

जो भगवान्‌को कामरूप समझे कि वही मधुर-मधुर बनकर मीठे-मीठे बनकर, रसीले बनकर, कामके रूपमें प्रकट होते हैं, तो उसे कामसे भगवान्‌की प्राप्ति होगी। और मोक्ष भी उन्हींका रूप है। कोई कहे कि मोक्ष तो भगवान्‌का असली स्वरूप है, परन्तु अर्थ, धर्म, काम गलत हैं तो मोक्ष भी असली स्वरूप नहीं है, कल्पित है। देखो, यह वेदान्तकी बात है। मोक्ष क्या परमात्माका असली रूप है? बन्धन और मोक्ष दोनों परमात्माके स्वरूपमें कल्पित हैं। व्यतिरेकदृष्टिसे कल्पित हैं तो चारों ओर कल्पित हैं, और अन्वयदृष्टिसे चारों परमात्मा हैं। एक दृष्टिसे देखो तो चारों परमात्मा हैं, और दूसरी दृष्टिसे देखो तो चारों परमात्मा नहीं हैं। जिज्ञासुके लिए चारोंसे विलक्षण परमात्मा है, और सिद्धके लिए चारों परमात्मा हैं। यह वेदान्तकी बात उस महात्माने ज्ञानीपुरुषको सुनायी।

गोपीके हृदयमें ***गुञ्जन मुरली मञ्जु मुखाम्बुज विलोकनमें***—जो काम है वह काम नहीं, प्रेम है। अरे भाई! हम तो मुँह देखेंगे! कौनसा? जिसपर बाँसुरी अधरामृतका पान करती है और मञ्जु-मञ्जु गुञ्जन करती है; बस हम तो उस मुखारविन्दको देखना चाहती हैं।

बावरी वै अँखियाँ वै जर जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो

उस साँवरे मुखारविन्दके दर्शनमें जिसपर मञ्जु-मञ्जु वंशी गुञ्जार करती है, जो काम है, वह काम नहीं, अनिर्वचनीय प्रेम है। वह केवल गोपियोंके हृदयमें प्रकट होता है।

कहनेका अभिप्राय यह कि ईश्वरविषयक काम संसारसे छुड़ानेवाला होता है और जो अपने हृदयमें विद्यमान कामका ईश्वरके प्रति उपयोग, सदुपयोग नहीं करता, वह कभी कामसे छूट भी नहीं सकता। जिज्ञासा काम नहीं है क्या? जाननेकी इच्छा; और मुमुक्षा माने मोक्षकी इच्छा। तो इच्छा होने से जिज्ञासा और मुमुक्षा भी क्या काम नहीं है? बोले—नहीं, और इच्छा इच्छा है, मोक्षकी इच्छा इच्छा नहीं है। और सब इच्छा इच्छा हैं, ज्ञानकी इच्छा इच्छा नहीं है। क्योंकि इन इच्छाओंसे सब इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं। जैसे यह बात है उसी प्रकार भक्तिकी दृष्टिसे और सब इच्छा इच्छा हैं परन्तु भगवत्प्राप्तिकी इच्छा इच्छा नहीं है। तो ये

श्रीकृष्ण तो आत्माके आत्मा हैं, ये तो त्वंपदार्थ ही नहीं, तत्पदार्थ भी हैं—इनके प्रति जो कामना है उसमें दोष कहाँ? यह तो सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त करनेवाली कामना है। यह साधनका विचार है, भला! बोले— कि नहीं, हम तो अपने मनमें काम नहीं रहने देंगे, तो तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर! बहुत बढ़िया बात कही तुमने। देखो जरा टिक जाओ, अगर सेकण्डके अगले हिस्सेमें 'ऐसा रहे' यह तुम चाहते हो तो काम है कि नहीं? 'ऐसा होवे'—यह चाहते हो, तो काम है कि नहीं? यदि तुम्हारे मनमें आता है कि हम यहाँसे घर जायँ, तो काम है कि नहीं? हम यह कथा सुनें, यह मनमें है तो काम है कि नहीं? एक कदम अगर तुम यहाँसे उठाकर अलग देशमें रखना चाहते हो तो काम है, एक क्षण भी जीना चाहते हो तो काम है, एक कण भी यदि चाहते हो—एक चावल, गेहूँके आटेका एक कण भी, अगर चाहते हो तो काम है। निष्कामताकी भ्रान्तिसे, ईश्वरको मत छोड़ देना! ईश्वरके प्रति काम कामना नहीं है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको मिटानेके लिए है। महाराज! जिनको यह विवेक उदय नहीं हुआ वे न रामको समझें न कामको समझें; झूठे ही भ्रांति हो जाती है कि हम निष्काम हैं! असलमें कामना कब मिटती है, यह भी बता देते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जिसको अपनेमें परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्ति है, उसमें कामना रहती ही है। मैं आँखवाला हूँ, तो देखनेकी इच्छा है तुम्हारे मनमें; मैं कानवाला हूँ, तो जरूर सुननेकी इच्छा है तुम्हारे मनमें; मैं नाकवाला हूँ, तो जरूर सूँघनेकी इच्छा है। मैं जीभवाला हूँ, तो जरूर खानेकी इच्छा है, बोलनेकी इच्छा है। मैं अपनेको इन्द्रियवाला क्यों मानता हूँ? बोले—भोक्ताका भाव जबतक है तबतक मैं इन्द्रियवाला हूँ, अपनेमें परिच्छिन्नपनेकी भ्रान्ति है, और तबतक मुझमें कामना भी रहेगी। अपनेको जाने तो भोक्ता और कहे कि मैं निष्काम हूँ, तो भोक्ता कभी निष्काम नहीं हो सकता! जो लोग निष्काम-निष्कामका कोलाहल करते हैं, उनसे पूछना कि तुममें भोक्तापनेका भ्रम है कि मिट गया? बोले—मिट गया। ठीक है, मिट गया तो तुम ब्रह्म हो; तब तुम ब्रह्मरूपसे निष्काम हो; और जो छोड़ा हुआ अन्तःकरण है, वह तो अपने संस्कारके अनुसार ही चल रहा है न, नारायण? तुम अन्तःकरणको निष्काम कह रहे हो कि आत्माको निष्काम बता रहे हो?

अब देखो—असलमें श्रीकृष्णके प्रति सकाम होनेको ही भक्ति-सिद्धान्तमें निष्कामता मानते हैं, क्योंकि उसमें सबकुछ ईश्वरके भोगके लिए है, श्रीकृष्णके

भोगके लिए है, अपने भोगके लिए नहीं है। अब देखो—भोगकी भी स्थिति है प्रेममें। आपको पहले बताया कि श्रीकृष्ण भगवान् परमेश्वर हैं और माया उनका शृङ्गार है, और कोटि-कोटि जीवोंके मुखसे वही अपने रसका आस्वादन कर रहे हैं, भला!

कृष्णने कैसी होरी मचाई
एक तो होरी मचै नहीं कबहूँ
एक ते करउँ बहुताई।
यहीं प्रभुने ठहराई॥
कृष्ण ने कैसी होरी मचाई॥

तो मायाका शृङ्गार करके और स्वयं पिचकारी लेकरके परमेश्वर आया और स्वयं सखी बना, और स्वयं सखा बना, और स्वयं यह होरीका खेल खेल रहा है! उसके सिवाय ना ये जीव सखा हैं, और ना जीव सखी हैं, वही खेल रहा है! तो आओ, उस खेलके लिए परिस्थिति चाहिए। क्या? वृन्दावन चाहिए, वृन्दावनधामके सिवाय उस रसकी उत्पत्ति अन्यत्र नहीं होती है।

आपको एक कथा सुनाता हूँ। जब व्रजवासी लोग सूर्यग्रहणके अवसरपर कुरुक्षेत्रमें गये तो सब मिले। श्रीकृष्ण यशोदा मैया और नन्दबाबाकी गोदमें शिर रखकर खूब रोये! कि माता-पिता! तुम्हारे बिना हमको कितना दु:ख है। श्रीकृष्ण एक-एक ग्वालसे मिले; सबको अलग-अलग ले जाकर बातें कीं। फिर सखियोंसे मिले,गोपियोंसे मिले, राधारानीसे मिले। राधारानी जब श्रीकृष्णसे एकान्तमें मिलीं तो बाहर निकलनेपर ललिता सखीसे बात की। ललिताने कहा—सखी, आज तो बड़ा आनन्द है, श्रीकृष्णसे मिलना हो गया! राधारानी बोलीं—नहीं, बहुत आनन्द नहीं हुआ। क्यों—

प्रियः सोयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्र-मिलितः
सखाहं सा राधा सदितमुभयो सङ्गमसुखम्।
तथाप्यन्तः खेलन् मधुरमुरली पञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दी-पुलिन विपिन-यशस्स्पृहति॥

सखी, वही श्रीकृष्ण हैं, श्यामसुन्दर वही, नन्दनन्दन वही, पीताम्बरधारी वही, नित्य नवकिशोर वही, परमसुन्दर वही दिव्य वस्त्र, वही प्रेमानन्द श्रीकृष्ण हैं। आज जिनसे भेंट हुई है मैं पहचानती हूँ वही है; और मैं भी वही राधा हूँ और दोनोंका मिलना भी वैसा ही हुआ है। परन्तु हमारे मनमें तो उनकी बाँसुरीवाली मूर्ति है वह बैठ गयी है—

बिन मुरली बनमाल चन्द्रिका और ना जानो नाम॥
हमारे तो वंशीवाले श्याम॥

कृष्ण तो वही थे पर उनके हाथमें बाँसुरी नहीं थी। कृष्ण तो वही थे, पर पाँवमें जो उनका ठुमुक-ठुमुक विन्यास था वह नहीं है। वह जो स्फूर्ति है वृन्दावनकी, प्रेममें जो गति है, प्रेममें जो स्थिति है, वह नहीं है!

प्रेममें गति है। जैसे गङ्गाजीकी धारा अखण्ड बहती रहती है ऐसे प्रेमकी धारा संयोग-वियोग दोनोंमें बहती रहती है। हमेशा वही-वही-वही! दुनियामें कोई चीज दिख जाय, तो मन यही कहेगा कि यह अच्छी-से-अच्छी चीज हमारे प्यारेके पास पहुँच जाय। जैसे गङ्गाजीकी धारा निरन्तर समुद्रकी ओर बहती है। वैसे हृदयकी वृत्ति-धारा निरन्तर अपने प्रियकी ओर बहती है। राधारानीने कहा— मेरा मन तो यह चाहता है कि वही वृन्दावनमें यमुनाजीका तट हो, वही विशाल पुलिन हो, और वही पञ्चम स्वरमें बाँसुरीकी तान हो; वही पीताम्बर हो, वही मोर-मुकुट हो, वही श्यामसुन्दर हों; वही चितवन हो, वही मुस्कान हो, वही पाद-विन्यास हो! तब हमको आनन्द आवेगा। हमको तो वह सब चाहिए। बिना वृन्दावनके आनन्द कहाँ?

नारायण! देखो, आपको सुनाते हैं वृन्दावनके रासकी बात। यहाँ श्रीकृष्ण कामको शान्त नहीं करते हैं, कामको जगाते हैं। तो क्यों? यह काम शरीरसे संसारका स्पर्श करनेवाला नहीं है। यह काम कृष्णका स्पर्श करनेवाला है, ईश्वरका स्पर्श करनेवाला है। यदि आपके मनमें काम हो, तो यदि वह भगवत्स्पर्शी है तो सफल है, और यदि संसारस्पर्शी है तो उसका रासलीलाके साथ सम्बन्ध नहीं है। अब देखो, एक दूसरी बात है! रासलीलाके श्रवण और वर्णनका जो फल बताया है सो क्या है?—***हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेणधीरः*** यह जो हृदयका रोग 'काम' है उसको मिटानेवाला है, रासलीलाका श्रद्धापूर्वक श्रवण और वर्णन। विचित्र है, यहाँ श्रीकृष्ण कामको जगा रहे हैं। तो एक काम वह है, जो मिटानेके लिए है और एक काम वह है जो जगानेके लिए है। ईश्वरके प्रति, श्रीकृष्णके प्रति जो काम है, वह जगानेके लिए है। इसीसे रासका वर्णन किया—

एवंपरिष्वंगकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥

परिष्वङ्ग माने हृदयसे लगा लेना, अर्थात् हृदयमें जो प्रेम है उसको जगाना; कराभिमर्श माने हाथको छूना, अर्थात् सम्पूर्ण क्रियाशक्तिको लेना। ***स्निग्धेक्षण***— अपने हृदयमें जो स्नेह है, उसको आँखोंमें भरकर सामनेवालेके आँखोंमें बरसा

देना। ***उद्दाम विलास हास***—विलास और हासमें कोई मर्यादा नहीं है। और भगवान् श्रीकृष्ण ***रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः..........***गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे हैं।

बोले—ठीक है, गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति काम होना उनकी उन्नतिका लक्षण है परन्तु श्रीकृष्णके हृदयमें गोपियोंके प्रति काम है कि नहीं? एक यह भी प्रश्न है। अरे, प्रश्न तो ऐसा-ऐसा आता है कि एकबार श्रीकरपात्रीजी महाराजसे बात हुई। तो कह रहे थे कि आजकलके लोग जैसा तर्क करते हैं, जैसी युक्ति देते हैं, उनको सुनकर तो हँसी आती है। पहलेके लोगोंने तो ऐसे-ऐसे तर्क दिये हैं, ऐसी-ऐसी युक्तियाँ दी हैं, ऐसे-ऐसे प्रश्न उठाये हैं कि यदि उनके द्वारा उठाया हुआ प्रश्न लोगोंके सामने रख दें तो उनके लिए उनका समाधान करना कठिन हो जायेगा। वह तो उन्होंने ही प्रश्न उठाया है और समाधान किया है। अब यह प्रश्न है कि गोपी श्रीकृष्णके प्रति कामना करती है तो गोपीका तो उत्थान होता है, क्योंकि संसारकी कामना छूटती है और जिसके प्रति कामना है उस भगवान्‌के पास पहुँच जायेगी। हमारे जीवनमें शरीर मोटर है, जीव इसमें मालिक बैठा हुआ है और काम इसमें ड्राइवर है। जिसकी कामना होगी उसके पास यह शरीर पहुँच जायेगा, काम जीवको ले जाकर वहीं पहुँचा देगा। लेकिन कष्णके प्रति प्रेमियोंके मनमें काम है कि नहीं? और काम है तो कृष्ण कहाँ पहुचावेंगे? उनकी क्या गति होगी? एक और प्रश्न उठाते हैं। बोले—भाई, श्रीकृष्ण तो साक्षात् ब्रह्म हैं, भगवान् हैं, और या ब्रह्मज्ञ तो हैं ही। ये तो धर्म करें अधर्म करें, न वे कर्त्ता हैं न भोक्ता हैं; इसलिए वह तो पाप-पुण्य-मुक्त हैं, उनको तो पाप-पुण्य लगेगा नहीं। लेकिन ये गोपियाँ तो ब्रह्मज्ञ नहीं हैं, ये जब धर्म का उल्लङ्घन करेंगी, उनको तो पाप लगेगा, नारायण! ये सब प्रश्न उठाकर हमारे पूर्वज महात्माओंने इसका समाधान किया है, भला! श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने यह प्रश्न उठाया है। तो अब आपको यह सुनाते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ कैसे रासलीला करते हैं।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः—

रासपञ्चाध्यायीके मूलमें यह श्लोक है। कहा—यह नहीं समझना कि कृष्ण अकेले थे, अनब्याहे थे, उनको विहारके लिए कोई प्रसङ्ग प्राप्त नहीं था, इसलिए विहार किया। बोले—**रेमे रमेशः** ये जहाँ-तहाँ सर्वत्र लक्ष्मीके साथ विहार कर रहे हैं, श्रीदेवी और भूदेवी तो बिल्कुल इनके साथ हैं। सम्पूर्ण श्रीके पति और पूर्ण भूके पति। सम्पूर्ण सौन्दर्य और माधुर्यके एकमात्र आकर, सौरस्य, सौरभ्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य, सौस्वर्य, सौहृत्य, सौहार्द्रके एकमात्र आकर, भगवान् श्रीकृष्ण! इनके यहाँ कोई कामनाके लिए अवकाश नहीं है। जैसे पुरुष स्त्रीत्वसे हीन और स्त्री

पुंस्त्वसे हीन है और इसलिए दोनों अपने-अपने अन्दर जो कमी है उसको पूरा करनेके लिए एक-दूसरेके पास जाते हैं, क्या-भगवान् भी ऐसे ही हैं—***त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी*** उसमें स्त्रीत्व भी है और पुंस्त्व भी है, वही स्त्री भी है और वही पुरुष भी है। तो उसमें स्त्री-पुरुष विषयक काम कैसे आ सकता है। बोले— विहार कैसे कर रहे हैं भगवान्? कहा—**रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः** ये रमासे भी ज्यादा सुन्दरी हैं, रमाके पति तो पहलेसे ही हैं, परन्तु गोपियाँ उन्हें लक्ष्मीसे भी ज्यादा सुन्दर लगती हैं। और विहार कैसे करते हैं? कि ***यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः***—जैसे बालक शीशेके सामने बैठ जाय, और अपने-आपको ही देखकर खेलना चाहे, अपने-आपसे ही बात करना चाहे। आपने देखा होगा, बड़े शीशेके सामने नन्हें बच्चे हाथ लगाकर अपने प्रतिबिम्बको पकड़ना चाहते हैं। श्रीकृष्णको सब गोपियोंमें कौन दिख रहा है? आप देखो—कृष्णको गोपियोंमें गोपी नहीं दिख रही है, कृष्णको गोपियोंमें कृष्ण दिख रहे हैं। ***स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।*** श्रीकृष्ण देखते है कि इस गोपीमें मैं ही हूँ,ये गोपी मैं ही हूँ। तो जैसे शीशेमें पड़ी हुई अपनी परछाईंसे बालक निर्विकार ही खेलता है—न काम है, न क्रोध है, न लोभ है, न मोह है—शुद्ध हृदय, सरल-सहज भावसे बालक जैसे अपने प्रतिबिम्बसे खेलता है, वैसे—**आत्मारामोप्यरीरमत्** आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ रमण किया।

रेमे स्वयं स्वर¯तिरत्र गजेन्द्रलीलः—यह दूसरा श्लोक आया है रासपञ्चाध्यायीमें। **सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाःशरत्काव्यकथारसाश्रयाः** शरद् ऋतुकी कथाका बड़े-बड़े कवियोंने वर्णन किया है। बोले—जितने कवि पहले हुए हैं और जो वर्णन कर चुके हैं, जो आज कर रहे हैं और जो आगे वर्णन करेंगे, उनमें जिस-जिस रसका वर्णन भूतमें हुआ है, वर्तमानमें हो रहा है और भविष्यमें होगा, अभी उन सब रसोंका सेवन भगवान् श्रीकृष्णने रासलीलाके प्रसङ्गमें किया। कहा—क्यों? बोले—श्रीकृष्ण अखिल रसामृत-मूर्ति हैं; सम्पूर्ण रस उन्हींमेंसे निकलता है; और देखो-क्रिया सब वही है, परन्तु विकार बिलकुल नहीं है, भला! गोपी हजारों हैं पर द्वैत नहीं है, भला। विहार है परन्तु काम नहीं है, काम है परन्तु विकार नहीं है। क्या लीला है! इसको बोलते हैं ब्रह्ममें ब्रह्मका स्फुरण—**ब्रह्मणि ब्रह्म भ्रम्यते;** आनन्दमें आनन्दकी तरङ्ग, चित्में चित्तका स्फुरण, सत्तामें सत्के आकार का स्फुरण। जैसें एक अखण्ड सत्तामें आकार होते हैं, एक अखण्ड चेतनमें स्फुरण होते हैं, वैसे ही एक ही परमानन्दस्वरूप भगवान् अनन्त-अनन्त गोपियोंके रूपमें स्फुरित होकरके और उनके साथ विहार कर रहे हैं। आप

सब भी गोपी हैं भला! आपके मनकी एक-एक रेखा एक-एक बिन्दु है; आपके हृदयकी पोथी, आपके हृदयके वाक्य आपके हृदयके शब्द, अक्षर, रेखा और एक-एक बिन्दु आनन्दस्वरूप है, जैसे—गङ्गाजी बूँद-बूँद हैं, पर हैं गङ्गा वैसे। यह आनन्दस्वरूप बूँद-बूँद होकरके, गोपी-गोपी होकरके, स्फुरित हो रहा है। यह परमानन्दस्वरूप चित्स्वरूप वृत्ति-वृत्ति होकरके स्फुरित हो रहा है। यह सत्ता आकार-आकार हो करके प्रत्येक आकारमें स्फुरित हो रही है।

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो, माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः सञ्जगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

गोपी है, कृष्ण हैं, गोपी है कृष्ण हैं कृष्ण है गोपी है, कृष्ण है गोपी है! एक गोपी एक कृष्ण, एक गोपी एक कृष्ण, एक गोपी एक कृष्ण! दूसरा कोई नहीं; केवल सम्पूर्ण सृष्टिमें कृष्ण और गोपी है। वृत्ति है और आत्मा है, स्फुरण है और चैतन्य है, आनन्दका समुद्र है और तरङ्ग है। और जैसे तरङ्गके द्वारा गङ्गाजी विहार करती हैं, जैसे तरङ्गके द्वारा समुद्र विहार करता है, ऐसे यह परमात्माका, परमेश्वरका, स्फुरणात्मक विहार होता है।

तो **उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार**—यह रतिपति कौन है? यह वृत्तिपति कौन है? अच्छा, शरीरपति कौन है? मालूम है? जो शरीरपति है परमात्मा, जो वृत्तिपति है परमात्मा, वही रतिपति है। चेतनकी दृष्टिसे वृत्तिपति बोलते हैं, उसीको आनन्दकी दृष्टिसे रतिपति बोलते हैं। और सत्की दृष्टिसे उसे ही शरीरपति बोलते हैं। रति माने जहाँ मन रम जाय। मनके रम जानेको रति बोलते हैं। मन कहाँ रमता है? आनन्दमें। वृत्ति कहाँसे उठती है? चेतनमेंसे। यह आकार कहाँसे बनता है? सत्मेंसे। ये सृष्टिके सारे आकार, अहं और इदं दोनों, सत्का आकार है। ये वृत्तिमें विषय और विषयी कौन है? चेतनके आकार हैं। ये भोक्ता और भोग्य, गोपी और कृष्ण कौन हैं? आनन्दके आकार है!

अच्छा, अब कल तो आपको और सुनाना है इसलिए थोड़ा-सा कलके लिए रख लेते हैं।

४५

रासलीलाका अन्तरङ्ग-४

(रासलीलाकी नित्यता और उसके चिन्तनका फल)

रासलीलाका प्रसङ्ग केवल द्वापरयुगमें जब भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव होता है, उसी समयका नहीं है। जो वस्तु एक स्थानमें, एक कालमें, एक रूपमें प्रकट होती है और मिट जाती है, उसको तो संसार बोलते हैं। परन्तु यह जो रासलीलाका वर्णन है, वह नित्य रासका वर्णन है, जो मूल तत्त्वरूपमें हो रहा है। ऋग्वेदमें कई ऐसे मन्त्र आते हैं जिनमें कहा गया है कि परमात्मा गोप है। ठीक यही शब्द है 'गोपा'—

विष्णुर्गोपा अदाभ्यः गोप माने जो गायकी रक्षा करे सो गोप; जो इन्द्रियोंकी रक्षा करे सो गोप; जो मनोवृत्तियोंकी रक्षा करे सो गोप। जो गायोंके पीछे-पीछे रहकरके उनको चरावे, इन्द्रियोंके पीछे रहे, मनोवृत्तियोंके पीछे रहे, साक्षी रहे, द्रष्टा रहे, ब्रह्म रहे, अधिष्ठान रहे, उसको 'गोप' बोलते है। एक मन्त्र हैं ऋक् परिशिष्टमें—

राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका।
बिभ्राजन्ते जने स्वा............................॥

राधासे माधवकी और माधवसे राधाकी शोभा होती है। अब यह प्रश्न उठा कि जब राधा माधव केवल द्वापरके अन्तमें प्रकट हुए, तो वेदमें जो अपौरुषेय वाणी है, ईश्वरीय वाणी है, अनादि नित्य वाणी है, राधाका, माधवका, 'गोपा'-रूपमें विष्णुका, कैसे वर्णन आता है? यहाँतक कि वेदमें व्रजका भी वर्णन आता है; **यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः** ऋग्वेदके इस मन्त्रमें व्रज शब्दका प्रयोग किया गया है। जहाँ बड़ी-बड़ी सींगोंवाली गौयें चलती हैं, आती हैं, जाती हैं अर्थात् वह व्रज गोलोक है। उसके भीतर भगवान् विहार करते हैं। फिर ये जो उपनिषद् हैं, जैसे गोपालतापिनी उपनिषद् है, राधिकोपनिषद् है, श्रीकृष्णोपनिषद् है, क्या ये प्रामाणिक हैं? तो देखो, हम सब उपनिषदोंको प्रमाण मानते हैं। जो लोग कहते हैं कि केवल दसही उपनिषद् प्रमाण हैं वे सनातनधर्मकी बातको नहीं जानते। हमारे मतमें तो

कमसे कम ग्यारह सौ इकतीस उपनिषद् होने चाहिए, अभी तो दो सौसे ज्यादा मिलते ही नहीं हैं। और प्रत्येक उपनिषद्को हम वेदरूप वैसेही अस्मर्यमाण कर्तृक, सम्प्रदायाविच्छेदेनप्राप्त अपौरुषेय मानते हैं, सबको प्रमाण मानते हैं, भला! ये जो लोग सबको प्रमाण माननेमें डरते हैं वे अपनी बुद्धिकी हीनता दिखाते हैं, शास्त्रकी अप्रामाणिकता नहीं दिखाते हैं। मानो वे शास्त्रोंमें लिखी हुई बातको जब सङ्गत नहीं बना सकते, समन्वित नहीं कर सकते, युक्तियुक्त सिद्ध नहीं कर सकते, उसको सत्य नहीं बता सकते, तो कहते हैं हम इसको प्रमाण मानते ही नहीं हैं।

एक पण्डित था—उसने अखबारमें छपा दिया कि अगर हमको इस बातमें हरा दें तो हम अपनी पत्नीको हार जायेंगे, दे देंगे। अब महाराज! अखबारमें छपी बात जब पत्नीके पास पहुँची और जब पण्डितजी घर लौटे तो श्रीमतीजी तो बहुत नाराज थीं। बोलीं—तुमने हमको बाजीपर लगा दिया? कहीं कोई बड़ा पण्डित आया और हार गये तो? पण्डितजी बोले कि पण्डितानी, तुम नाराज मत होओ, जब हम मानेंगे कि हार गये तब न हार होगी, हम तो अपनी हार कभी मानेंगे ही नहीं, कैसे कोई हरायेगा? तो महाराज, जो लोग शास्त्रकी सङ्गति नहीं लगा पाते कि इसका क्या अभिप्राय है तो उसको प्रामाणिक माननेसे ही इन्कार कर देते हैं। देखो, द्रव्यकी भूमिकामें स्थित होकर यह निर्णय होता है कि हमको क्या करना चाहिए! तथा विषयभोगमें संयम होना चाहिए या दान होना चाहिए? तथा क्या संग्रह करना चाहिए और क्या दान करना चाहिए? ये निर्णय द्रव्यकी भूमिकामें स्थित होकर होता है। क्या कर्म करना चाहिए और क्या कर्म नहीं करना चाहिए—यह कर्मेन्द्रियोंकी बात है। हमारी आँखोंसे क्या देखें क्या न देखें—यह ज्ञानेन्द्रियोंकी बात हुई। मनमें क्या संकल्प आवें, क्या न आवें, बुद्धिमें क्या निश्चित विचार होना चाहिए। आत्माका स्वरूप कैसा है? ये भूमिकाभेदसे विचार होते हैं और ये शास्त्र जितने हैं वे सब किसी न किसी भूमिकामें—द्रव्यभूमिकामें, कर्मभूमिकामें, इन्द्रिय-भूमिकामें, मनोभूमिकामें बुद्धिभूमिकामें, सङ्गत होते हैं, उनका अभिप्राय होता है, उनका तात्पर्य होता है। शास्त्रका एक वचन भी ऐसा नहीं है जिसको कोई असङ्गत, असमन्वित सिद्ध कर सके; सबका सब युक्तिपूर्ण है और अनुभवसे पूर्ण है। तो ये उपनिषदें हैं—गोपालतापिनी आदि इनमें वर्णन आता है, गोपीजनवल्लभ मन्त्रका, राधाजनवल्लभका वर्णन आता है—**कृष्णाय गोविन्दाय, गोपीजनवल्लभाय।**

अब प्रश्न यह है कि जब श्रीकृष्णने द्वापरमें अवतार ले लिया,उसके बाद ये उपनिषद् बने, कि उपनिषद् पहलेसे हैं और अवतार बादमें हुआ? तो आजकलके ऐतिहासिक लोग जो हैं, ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेवाले—वे कहेंगे कि

कृष्ण पहले हुए और उपनिषद् बादमें बने। और मीमांसाकी पद्धतिसे विचार करनेवाले जो लोग हैं वे कहेंगे कि श्रीकृष्ण नित्य हैं और उनका वर्णन भी नित्य है। गोपी नित्य हैं और उनका वर्णन भी नित्य है, राधा नित्य हैं और उनका वर्णन भी नित्य है, तभी 'गोपीजनवल्लभ'की सङ्गति लगेगी। जहाँ धर्मशास्त्रमें यह विचार आता है कि माघ शुक्ला अष्टमीके दिन भीष्म पितामहको तर्पण करनेका विधान है, वहाँ धर्मशास्त्रियोंमें प्रश्न उठा कि भीष्मके मरनेके बाद भीष्माष्टमीके दिन तर्पण करनेका विधान बनाया गया होगा! हमारे मीमांसक लोग कहते हैं—बिलकुल नहीं, चाहे भीष्म पैदा हुए हों, चाहें न हुए हों, द्वापरयुग आया हो, चाहे न आया हो; त्रेतामें जब रामचन्द्र थे, सतयुगमें जब हरिश्चन्द्र आदि राजा थे, वे भी माघशुक्ला अष्टमीको भीष्मके लिए तर्पण करते थे, क्योंकि शास्त्रमें उसका विधान है। कहा—क्यों? बोले—भीष्म तो हर द्वापरमें होते हैं, अपने पहलेवाले द्वापरके भीष्मके लिए जैसे हम आज तर्पण करते हैं वैसे उसके पहलेवाले द्वापरके भीष्मके लिए उसके पहले लोग तर्पण करते थे। इसलिए शास्त्रमें जो विधान होता है वह इतिहासको देखकरके नहीं होता है। शास्त्रमें वर्णित विधानके अनुसार इतिहासको मानना पड़ता है। यह शास्त्रकी सङ्गति है।

हम यह बात क्यों कह रहे हैं? इसलिए कह रहे हैं कि जब **गोपीजनवल्लभाय नमः** यह मन्त्र विद्यमान है, तो भगवान् श्रीकृष्ण अनादिकालसे 'गोपीजनवल्लभ' हैं और अनन्तकालतक 'गोपीजनवल्लभ' हैं। वेदका यह मन्त्र बताता है कि कृष्णकी जो रासलीला है, जो गोपी हैं, जो गोपीजनप्रिय भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो गोपीजनवल्लभ भगवान् गोविन्द हैं.ये सब अनादिकालसे हैं और अनन्त हैं। ऐसा नहीं है कि ये कभी बीचमें पैदा हो जाते हैं और तब इनकी लीला लिखी जाती है। वेदोंमें, शास्त्रोंमें, पुराणोंमें, इतिहासोंमें इनकी लीला हमेशासे वर्णित है और सृष्टिमें यह एक ऐसा स्तर है, एक मनोमय कोशका स्तर है, एक विज्ञानमय कोशका स्तर है, एक आनन्दमय कोशका स्तर है, एक ब्राह्मी स्थितिमें सच्चिदानन्दघन दृश्यका स्तर है जिसमें यह रासलीला हमेशा होती रहती है। इसलिए हमारे जो लीलाके प्रेमी हैं; श्री सूरदासजी महाराज वह वर्णन करते हैं—

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहि जानत बिहरत युगल सरूप॥

राधा-कृष्ण युगल-सरकारका विहार अपने स्तरमें होता रहता है। लौकिक देशमें नहीं, लौकिक कालमें नहीं, लौकिक पञ्चभूतमें नहीं, अपने सच्चिदानन्दघनमें जहाँ स्फुरणा है और चिन्मात्र अधिष्ठान है, उस स्तरमें जहाँ चिन्मात्र अधिष्ठान

श्रीकृष्ण हैं तो स्फुरणा राधा है, वहाँ यह अनादि अनन्त रासलीला होती रहती है

कोटि कलप बीतत नहि जानत बिहरत युगल सरूप।

कोटिकल्प कब बीत गया, इस बातको नहीं जानते हैं। '**बिहरत युगल सरूप**'—यह युगल सरकारका विहार, जहाँ आनन्द स्वयं श्रीकृष्ण हैं, जहाँ आनन्दकी स्फुरणा राधा हैं, जहाँ स्फुरणामें भासमान अनेकता गोपी है!

न आदि न अन्त विलास करैं दोऊ, लाल प्रियामें भई न चिन्हारी।

अनादि और अनन्तकालतक ये दोनों विलास करते रहते हैं, और हरक्षण नवीन रहता है, राधा और कृष्ण एक-दूसरेको पहचानते ही नहीं।

प्रथमसमागमलज्जितया पटुचाटुशतैरनुकूलम्

श्रीजयदेवजीने गाया है कि हरक्षणमें जब राधाकृष्ण मिलते हैं, तो श्रीकृष्णके मनमें वेग होता है कि राधासे मिलें, परन्तु मनमें ऐसा वेग होता है वहाँ स्थूल शरीर तो है नहीं, लौकिक द्रव्य तो है नहीं—तो मनमें सङ्कल्प हुआ कि राधासे मिलें, तो स्वयं राधाकार हो जाते हैं। वहाँका मिलन राधाकार हो जाना है। श्रीराधाके मनमें आया कि हम श्रीकृष्णसे मिलें, वह श्रीकृष्णाकार हो गयीं। राधा कृष्ण हो गयी और कृष्ण राधा हो गये; और फिर राधाकृष्ण, कृष्णराधा और हर क्षणमें मिलते हैं तो नवीन-नवीन मिलते हैं—कृष्ण पूछते हैं कि तुम कहाँ रहती हो, तुम कहाँसे आयी हो? तुम किसकी बेटी हो, तुम कौन हो? राधा पूछती हैं कि तुम कौन हो? कहाँसे आये हो? हरक्षणमें एक-दूसरेको देखकरके नया-नया प्रेम होता है! लालजीकी और श्री राधारानीकी, स्वामिनीजीकी, किशोरीजीकी, यह जो पहचान है, जो प्रीति है, जो चिन्मय आकार हैं, इनमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। चिन्मयक्षण, चिन्मयरेत, चिन्मय आकार, चिन्मयप्रेम, चिन्मयमिलन। इसप्रकार—'**रसौ वै सः 'रसं ह्येवायं लध्वा आनन्दी भवति**'—श्रुति भगवतीमें जिसका रसके नामसे वर्णन किया है, जिसका आनन्दके नामसे वर्णन किया है—'**आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्**' आनन्दही ब्रह्म है यह ज्ञान हुआ तथा '**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन**' जिसने ब्रह्मको आनन्द जान लिया उसको अब भय नहीं रहा, उसी रसब्रह्मकी यह रासलीला है, मधुर, आनन्दरूप, रसरूप।

अब देखो, जो लोग जबरदस्ती संसारसे वैराग्य करने लगते हैं उसमें दोष है। क्या? ऐसे लोगोंका दिमाग थोड़ा ऊँचा हो जाता है! दोषदृष्टिमूलक जो वैराग्य होता है उसमें भीतर द्वन्द्व होनेके कारण ऐसा होता है। पहलेकी तो है वासना, पहलेका तो है राग, और अब वहाँसे मनको लौटाना चाहते हैं, तो मनमें जो संघर्ष हुआ, द्वन्द्व हुआ, उस द्वन्द्वके कारण विक्षिप्तता आ जाती है। फिर तो साधु गाली देने

लगता है, फिर तो मुँह फेर लेता है, ढेला मारने लगता है, बाल बढ़ा लेता है—**किंभूत किमाकार** हो जाता है। कई लोग महाराज, राख पोतते हैं, कई लोग जटा बढ़ाते हैं, कई लोग मूत्रेन्दिय कटवा देते हैं, कई लोग मूत्रेन्द्रियमें पीतलका छल्ला पहन लेते हैं, और कई तो पीतलकी, लोहेकी लँगोटी बनाकरके पहनते हैं,सिकड़िया बाबा बन जाते हैं। हमारे गाँवके पास एक महात्मा थे, उनका नाम था, सिकड़िया बाबा था। यह जो इतना संघर्ष, इतना द्वन्द्व जीवनमें आता है,क्यों? कहा—वह जो दोषदृष्टिमूलक वैराग्य है उसको जो अपने जीवनमें लाते हैं कि यह बुरा है-यह बुरा है—उधर तो मन कहता है चलो, और इधर कहते हैं बुरा-बुरा, तो हो जाता है द्वन्द्व और आ जाता है पागलपन! और जो लोग महाराज, राधाकृष्णकी इस रसमयी, रसीली रासलीलाका प्रसङ्ग अपने मनमें सोचते हैं, उनके मनमें इसका भाव करनेसे, इसका ध्यान करनेसे, स्वाभाविक ही मनके साथ बलात्कार करके नहीं, मन स्वयं स्वरससे, निसर्गसे अन्तर्मुख हो जाता है। जैसे—अचिन्त्य होनेपर भी चिन्मात्रका चिन्तन किया ही जाता है; जैसे निर्विशेष सत्ता बुद्धिका विषय न होनेपर भी उसका बुद्धिके द्वारा चिन्तन करते हैं, इसी प्रकार यह जो आनन्द है, रससे परिपूर्ण आनन्द है, आनन्द ब्रह्म है, इसका जब चिन्तन करते हैं, तो हमारे मनकी स्वाभाविक वृत्ति भगवान्‌की ओर प्रवाहित होने लगती है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य उदाहृतम्॥

भगवान्‌के गुणोंके श्रवणमात्रसे हमारी मनोवृत्ति भगवान्‌की ओर प्रवाहित होने लगती है और मनकी स्वारसिकी वृत्ति जब भगवान्‌की ओर प्रवाहित होती है तो संसारसे बिना किसी संघर्षके, बिना वैमनस्यके, बिना किसी प्रकारके द्वन्द्वके, बिना दुनियामें लड़ाई लड़े, हमारा मन भगवान्‌के पक्षमें हो जाता है और संसारका पक्षपात छोड देता है। इसीलिए रासलीलाके अन्तमें यह बात कही गयी कि—

श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयाद् अथ वर्णयेद् यः—उसमें बताया—

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

यह जो हृद्रोग काम है,इसपर विजयका उपाय है कि भगवान्‌की रासलीलाका चिन्तन, इसका श्रवण, इसका पाठ किया जाय।

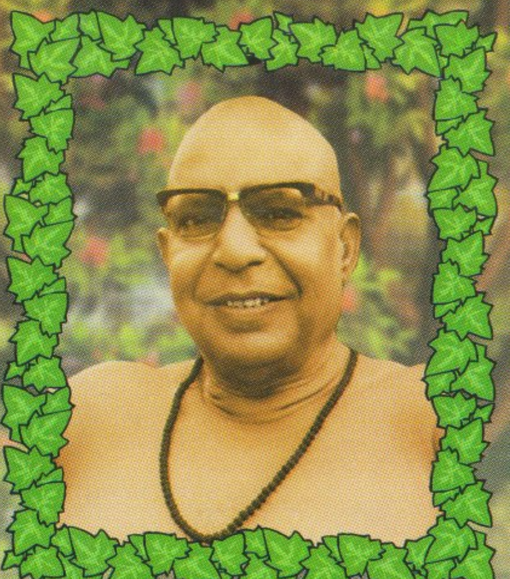
रासलीलाको ऐसा नहीं समझना कि एक दिन भगवान्‌ने शरद् पूर्णिमाको की होगी या वैशाखी पूर्णिमाको या वासन्ती पूर्णिमामें की होगी। यह जो भगवान्‌की रासलीला है इसमें जो भगवान्‌का पाँव तालसे पड़ता है उस तालसे काल बनता है

और भगवान्‌के पाँवकी जो लम्बाई-चौड़ाई, उससे देश बनता है और भगवान्‌के चरणारविन्दसे जो परागके कण छिटकते हैं उनसे ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बनते हैं। भगवान्‌के चरणारविन्दके नूपुरकी जो ध्वनि है, उससे यह वेदवाणी प्रकट होती है। भगवान्‌के चरणारविन्दकी ध्वनिका नाम नूपुर है। उसकी ध्वनि वेद हैं; उनके चरणारविन्दके परागका नाम अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड है। उनके पाँवके स्थानका नाम देश है। उनके पाँवमें जो ताल है, उससे निकलता है काल। इस प्रकार राधाकृष्णकी अनादि अनन्त रासलीला होती रहती है! वह तो हमारे हृदयमें प्रेम आवे, भगवान्‌की कृपा होवे, वह कृपा करके अपनी रासलीलामें जिसके मनको खींच ले, जिस जीवको खींच ले, आकृष्ट कर ले, वही इसी समय यहीं बैठे-बैठे उस लीलामें प्रवेश करके परमानन्दका अनुभव प्राप्त कर सकता है!

तो भाई! आप लोग बड़े प्रेमसे वर्षा सहकर, घरका काम बिगाड़कर, नीचे बैठकर, बड़ी तकलीफ सहकर, इतने प्रेमसे भगवान्‌की चर्चा सुनते हैं, कथा सुनते हैं। वैसे तो यदि हम गृहस्थ ब्राह्मण होते तो चातुर्मासभर यहीं रहते, परन्तु अब तो नारायण, चोटी नहीं, जनेऊ नहीं, तो ब्राह्मणता तो पीछे पड़ गयी। अब तो चातुर्मासका नियम तोड़ना भी धर्म है, उसका भी विधान है, उसमें किसी प्रकारकी अपत्ति नहीं है! और फिर हम तो एक बहुत बढ़िया स्थानमें, दिव्य देशमें (वृन्दावन) जा रहे हैं; वहाँ जाकर विहारीजीका झूला देखेंगे, वहाँका आनन्द लेंगे, कुछ दिन वहाँके जलवायुमें रहेंगे और फिर वहाँसे और भी रस लेकर, और भी आनन्द लेकर, और भी प्रेम लेकर, बहुत जल्दी आप लोगोंके बीचमें फिर आवेंगे; सो अब आज यहीं पूरा करते हैं। हम आप लोगोंके प्रति बहुत कृतज्ञ नहीं है नारायण, और न तो कोई आभार ही मानते हैं; और आप लोग भी कुछ कृतज्ञ मत होओ, आभार मत मानो। क्योंकि सब अपना स्वरूप ही है। और कभी आगे मान लेंगे, अभी फिर कभी मौका मिलेगा तो उसमें कृतज्ञता प्रकट कर लेगें, आभार मान लेंगे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



वृन्दावनेश्वरी राधा कृष्णो वृन्दावनेश्वरः।
जीवनेन धने नित्यं राधाकृष्णगतिर्मम ॥



....मानते हैं कि ये भागवतके बारह स्कन्ध भगवान्‌के बारह अंग हैं। उनमेंसे दशम-स्कन्ध भगवान्‌का हृदय है और हृदयमें जैसे सञ्चारी प्राण होते हैं वैसे ही पाँच प्राणके समान रास-पञ्चाध्यायीके ये पाँच अध्याय हैं। जिस समय हम रास-पञ्चाध्यायीके साथ अपने मन, अपने कान, अपने शरीरका सम्बन्ध जोड़ते हैं—माने कानसे रास-पञ्चाध्यायी सुनते हैं, शरीरको रास-पञ्चाध्यायीमें बैठाते हैं, मनसे रासपञ्चाध्यायीका चिन्तन करते हैं—उस समय हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के प्राणों के साथ हो जाता है; उनके श्वासके साथ हमारा सम्बन्ध हो जाता है।

जिसके मनमें यह लालसा होवे कि हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ बने, उसके लिए उसमें दो पहलू हैं—एक तो संसारमें अरुचि होवे और दूसरे भगवान्‌में रुचि होवे जिसकी रुचि धनमें, भोगमें कुटुम्ब-सम्बन्धमें ज्यादा है और दुनियाका काम करनेमें ज्यादा है, उसकी भगवान्‌में ज्यादा रुचि नहीं होती। भक्तोंका तो यहाँतक कहना है कि जिसकी रुचि मोक्षमें होती है, उसकी रुचि भी भगवत्-लीलामें, कथामें ज्यादा नहीं होती है। यह जो भगवत्-लीला-कथा है, यह दो तरहसे मनुष्यका कल्याण करती है; एक तो संसारमें फँसकर दुःख भोग रहे हैं उनको उधरसे छुड़ाती है; और दूसरे भगवद्-रसका दान करती है....

आइये पढ़ें, भगवद् रस प्रदान करनेवाली - रासपञ्चाध्यायी।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337